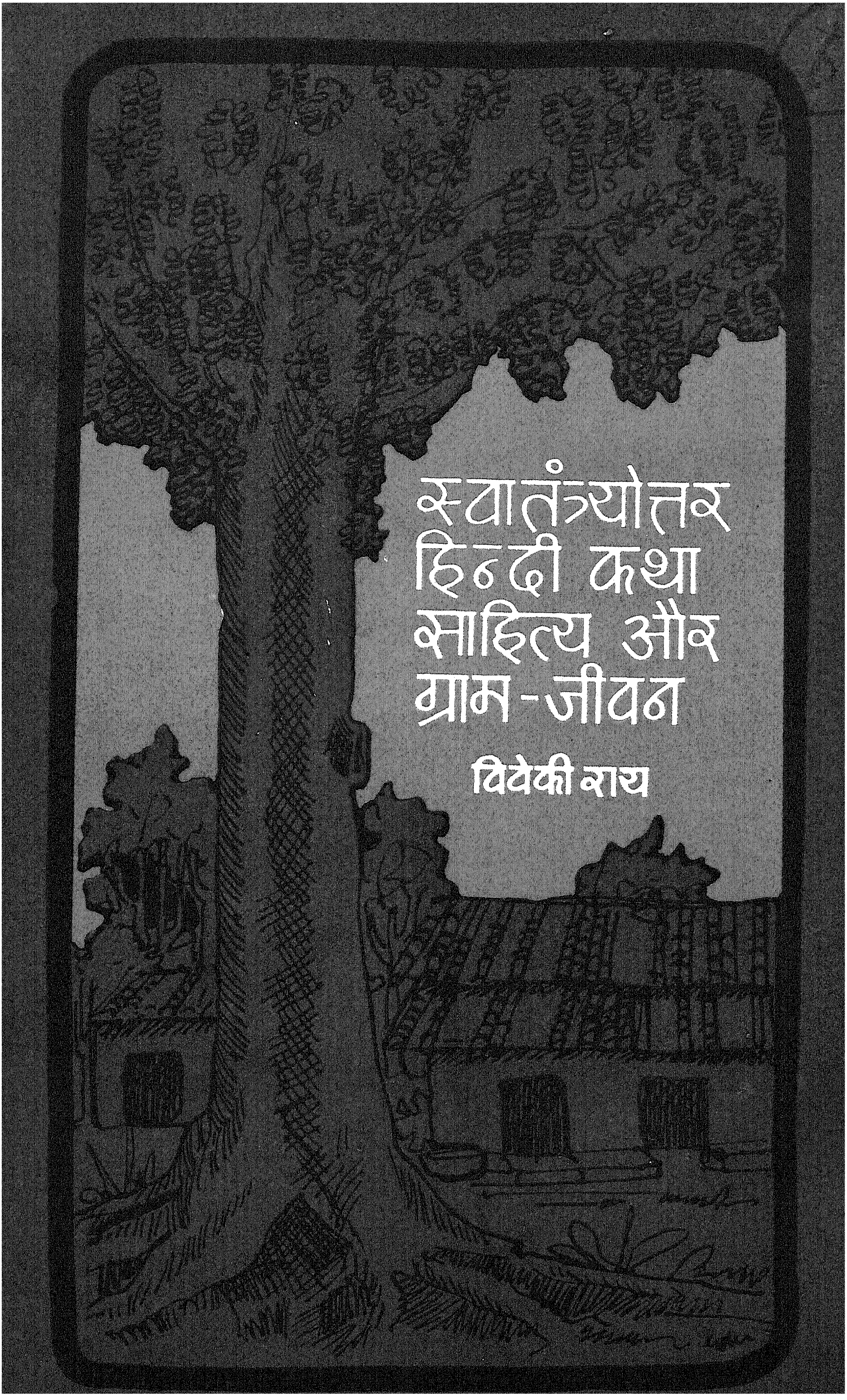

स्वातंत्र्योत्तर
हिन्दी कथा
साहित्य और
ग्राम-जीवन
विवेकी राय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य और ग्राम-जीवन

विवेकी राय
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

●

प्रथम संस्करण
१९७४

●

●

लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

मूल्य **लोकभारती**
रु॰ 100/-

श्रद्धेय
डॉक्टर केशव प्रसाद सिंह को
सादर, साभार

भूमिका

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी साहित्य में जो नया आन्दोलन आया वह मूलतया स्वतंत्रता पूर्व के फार्मूलाबद्ध मनोवैज्ञानिक अथवा प्रगतिवादी खोखले साहित्य के विरुद्ध नयी चेतना लेकर उपस्थित हुआ। 'तार सप्तक' के कवियों के आत्म वक्तव्यों को देखकर ही पता चल जायगा कि इनमें से अधिकांश कवि साहित्य में स्फूर्ति लाने के लिये ग्रामोन्मुख थे। सन् १९३६ के पूर्व प्रेमचन्द और उनके समसामयिक लेखकों द्वारा ग्राम-जीवन को पृष्ठभूमि बनाकर विशाल और मूल्यवान साहित्य चित्रांकित हो चुका था। परन्तु बीच में यह धारा खंडित हो गयी। सन् १९४७ के बाद स्वतंत्रता प्राप्त होते ही भारतीय नेतृवर्ग की तरह साहित्यकार का ध्यान भी भारतीय संस्कृति के मूल क्षेत्र ग्राम-जीवन की ओर आकृष्ट हुआ।

हिन्दी कथा-साहित्य में सन् १९५० के बाद ग्राम जीवन से सम्पृक्त अनुभूतियों पर आधारित उस नये जीवन्त साहित्य का आरंभ हुआ जो बाद में आंचलिक नाम से परिचित हुआ। इस समय सरकारी और गैर सरकारी प्रयत्नों के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र में परिवर्तन की नयी लहर दौड़ी जिसे पंचवर्षीय योजनाओं से बहुत सहायता मिली। किन्तु धीरे-धीरे समूचा निर्माण कार्य नगरों के इर्दगिर्द औद्योगिक प्रतिष्ठानों के रूप में केन्द्रित हो गया। परिणाम स्वरूप गाँवों पर पुनः अभिशाप की छायायें मँडराने लगीं।

सन् १९६० तक पहुँच कर हिन्दी-कथा-साहित्य केन्द्रच्युत हो गया। मूल्य विरोधी और विद्रोह वृत्तियों को प्रश्रय देने वाला वह साहित्य ग्राम-जीवन से दूर पड़ता गया। इसलिये बदलते ग्राम-जीवन की सम्यक् अभिव्यक्ति छूटती गयी। इस काल में ग्रामीण बदलाव और उनकी अपेक्षाओं का अध्ययन सरकार की ओर से बहुत हुआ। कई आयोग गठित हुए और अनेक तथ्य सामने आये; किन्तु साहित्य और साहित्यकार की उपेक्षा बढ़ती गयी।

इसीलिए हिन्दी साहित्य के शोधकर्ता के लिए कथा-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में स्वतंत्रता के बाद का ग्राम-जीवन एक चुनौती की तरह रहा और बदलती स्थितियों में भारतीय ग्रामीण-समाज और कथा-साहित्य के सम्बन्धों पर प्रकाश

पड़ना वांछित था। इस विषय पर कोई शोधकार्य हुआ भी नहीं था। पहले पहल हाथ डालना था। लेखकीय स्तर पर ग्राम-जीवन के चित्रण से स्वयं जुड़े रहने के कारण मेरे लिए शोध के साथ-साथ यह आत्म-समाधान का भी विषय था और मैंने इसे पूर्ण कर डालना उचित समझा।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सात अध्याय हैं। आरम्भ में प्रस्तावना, अन्त में उपसंहार, सहायक सामग्री-सूची और दो परिशिष्ट हैं।

आरम्भ की विस्तृत प्रस्तावना में सम्पूर्ण नये कथा-साहित्य (कहानी और उपन्यास) के स्वातंत्र्योत्तर विकास की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इससे ग्राम-जीवन की अभिव्यक्ति के अभीष्ट विश्लेषण का मार्ग प्रशस्त हो गया है। युगीन समस्यायें और प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध हो गई हैं कि सम्पूर्ण के आलेखन-संकेत बिना उसके अंग-विशेष का विश्लेषण अधूरा हो जायेगा। नये कथा-साहित्य में 'नयी कहानी' का आन्दोलन ऐतिहासिक दृष्टि से विशिष्ट घटना है अतः इस प्रस्तावना में उसकी विस्तृत विवेचना की गई है और यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार और क्यों नयी कहानी के आन्दोलन के बल पकड़ने के साथ-साथ ग्रामजीवनांकन की प्रवृत्ति का स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में उत्तरोत्तर ह्रास होता गया।

प्रथम अध्याय में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्राम-जीवन का अर्थशास्त्रीय और समाज-शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया है तथा उसे इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि ग्राम-जीवन के परिप्रेक्ष्य में पंचायतराज से लेकर हरीक्रान्ति तक के समस्त योजना विकासादि सम्बन्धी नये परिवर्तन के आयाम झलक उठें। स्वतंत्रता के पूर्व के भारतीय ग्राम-जीवन की एक संक्षिप्त रूपरेखा भी प्रस्तुत की गई है ताकि स्वतंत्रता के बाद के परिवर्तनों की नवीन सार्थकता अधिक स्पष्ट रूप में उभर सके। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामभित्तिक कथा-साहित्य की पृष्ठभूमि अथवा उसके उपजीव्य के रूप में संभावित इन परिवर्तनों को शुष्क तथ्यात्मक विवरण होते हुए भी इस रूप में प्रस्तुत करना इसलिए आवश्यक था कि परिवर्तित ग्राम-जीवन का समग्रबोध हुए बिना सृजनात्मक स्तर पर नये ग्राम-जीवन के प्रस्तुतीकरण का मूल्यांकन होना असंभव होता अथवा अधूरा-एकांगी होकर भ्रामक हो जाता।

द्वितीय अध्याय में स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में ग्राम-जीवन को पृष्ठभूमि बनाने वाले कथाकार और उनकी कृतियों का सर्वेक्षण किया गया है। कथा-

कारों का यह सर्वेक्षण उनकी जन्मतिथियों के आधार पर क्रम से हुआ है और प्रकाशित ग्राम-भित्तिक कृतियों की प्रमुख प्रवृत्तियों और विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन हुआ है। ग्रामभित्तिक कथा-साहित्य का वर्गीकरण सामान्य, आंचलिक, आधुनिक और समकालीन कथा-साहित्य के रूप में आरम्भ में प्रस्तुत किया है ताकि सर्वेक्षण पूर्ण तथा सार्थक हो जाय। यह प्रयत्न किया है कि प्रेमचन्द से लेकर आज तक की एक सुसम्बद्ध कथा-कड़ी उभर जाय और उसमें नये कथा-साहित्य का वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाय। उन कथाकारों का भी उल्लेख हुआ है जिन्होंने आंशिक रूप से ग्राम-जीवन का स्पर्श किया है तथा साठोतरी पीढ़ी के युवा-लेखन के अन्तर्गत चित्रित ग्राम-जीवन की स्थिति का भी सर्वेक्षण हुआ है।

तृतीय अध्याय में ग्राम-जीवन की आर्थिक-समस्याओं का कथा-साहित्य में प्रतिफलन चित्रित किया गया है। यह देखा गया है कि आलोच्य-कालावधि में जिस गति से गाँवों के पुनर्निर्माण के प्रयत्न हुए हैं और जो-जो आर्थिक परिवर्तन आये हैं उनका सम्यक् चित्रण कथा-साहित्य में नहीं हुआ है। कथाकारों ने जमीदारी, जमीदार, जमीदारी उन्मूलन और भूतपूर्व जमीदारों के नये रूप का चित्रण अधिक व्यापक रूप में किया है। सबसे अदेख योजना-विकास के आयाम हुए हैं। सन् १९६० के पश्चात् का प्रायः समूचा ग्राम-जीवन-अंकन नवपरिवर्तित परिवेश से कटा हुआ और पूर्ववर्ती स्थितियों पर आधारित है। गरीबी आदि आर्थिक समस्याओं का सामान्यचित्रण गाँव के विघटन के संदर्भ में चित्रित हुआ है। गाँवों के विघटन के द्विविध आयाम पृथक-पृथक विवेचित हुए हैं। प्रस्तुत अध्याय में उसके विघटन के आर्थिक आयाम का चित्रण हुआ है और पाँचवें अध्याय में उसके सामाजिक कोण का विश्लेषण हुआ है। भूमिहीन, भू-समस्या, भूमिसुधार और भूदान आदि को भी विस्तार पूर्वक कथा-साहित्य-संदर्भों के आधार पर विश्लेषित किया है।

चतुर्थ अध्याय में गाँव की वर्तमान सांस्कृतिक स्थिति के स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में चित्रण का विश्लेषण किया गया है। यह माना गया है कि संस्कृति मूलतः ग्राम-जीवन से सम्बन्धित है और विकृति के इस युग में भी गाँवों में वह अंशतः सुरक्षित है। इस संदर्भ में आरम्भ में सांस्कृतिक ग्राम-व्यक्तित्व के विविध स्वरूप का कथा-साहित्य में चित्रण विश्लेषित किया गया है। धर्म, विवाह, क्रीड़ा, त्योहार, मेला, लोकाचार, अन्धविश्वास, लोकगीत, लोक-कथा

और रामलीला आदि के रूप में गाँव में जो संस्कृति अवशिष्ट है वह आधुनिकता और नगर-सभ्यता के धक्के से टूट रही है। फलतः ग्राम-जीवन जड़-विरसताओं से घिरता जा रहा है। आंचलिक कथा-कृतियों में सांस्कृतिक रूप समारोह के साथ उतरा प्रतीत होता है पर आधुनिकता से प्रभावित ग्राम-कथाओं की दिशा दूसरी हो गई है। संस्कृति की रक्षा के लिए आयोजित सांस्कृतिक समारोह उसे और विकृत कर रहे हैं। शिक्षा संस्कृति से कटकर व्यवसाय के निकट आकर गाँव में अत्यन्त भ्रष्ट स्थिति में दृष्टिगोचर होती है। इसी संदर्भ में गाँव और नगर भाव की टकराहट जो नये कथा-साहित्य में आई है विश्लेषित की गई है। कृषि-सौन्दर्य से लेकर अछूतों तक की स्थितियों की कथागत अभिव्यक्ति की छानबीन की गई है।

पाँचवें अध्याय में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामभित्तिक कथा-साहित्य में चित्रित नये सामाजिक मूल्यों का अन्वेषण किया गया है। अनेक आन्तरिक और बाह्य कारणों से गाँव के सामाजिक जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन आया है। नये कथा-साहित्य की छानबीन से ऐसा लगता है कि इस परिवर्तन का जितना व्यापक चित्रण अपेक्षित था उतना संभव नहीं हुआ। चुनाव, पंचायत और विकास के चरणों का ग्रामप्रवेश एक नये सामाजिक जीवन-ध्वंसक रूप में दिखाई पड़ता है और मूल्यानुसंक्रमण की नयी पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है। नये कथा-साहित्य में इसका विधिवत् आलेखन न होने पर भी सुपुष्ट संकेत है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में मूल्यस्खलन, आधुनिकता, विघटन का सामाजिक कोण, सम्बन्धों का तनाव और भ्रष्टाचार का नये ग्रामगंधी कथा-साहित्य में प्रतिफलन देखा गया है। युगीन अनास्था, कुंठा और संत्रासादि की ग्रामस्तर पर कथागत अभिव्यक्ति कहीं प्रामाणिक और कहीं अस्वाभाविक रूप में मिलती है। नये सामाजिक मूल्यों में सबसे तीव्र संवेदना विघटन की है जिसे ग्राम-कथाकारों ने विविध कोण से उठाया है। भ्रष्टाचार का चित्रण कहीं-कहीं प्रचारात्मक रूप ग्रहण कर लेता है। इस प्रवृत्ति से विरत होकर कथाकारों ने गंभीर रूप से भी इसे चित्रित किया है। इन सब प्रवृत्तियों का सोदाहरण लेखा-जोखा प्रबन्ध में निहित है।

छठवें अध्याय का सम्बन्ध नये गाँव की समसामयिक समस्याओं से है। आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषयों की अभिव्यक्ति का विश्लेषण करने के पश्चात् अन्य अवशिष्ट विषयों को इसमें समेट लिया गया है। मुख्यतः गाँव में स्वतंत्रता के बाद जो संस्थानिक परिवर्तन हुए हैं और कथा-साहित्य में उनके

रूप और प्रभाव उभरे हैं, उसकी समीक्षा की गई है। विशेष रूप से यह बात लक्ष्य की गई है कि ग्राम-पंचायत से सम्बन्धित तत्त्वों का तो पर्याप्त चित्रण हुआ है परन्तु विकास के सन्दर्भ प्राय छूट गये हैं और जो प्रस्तुत किये गये हैं वे भी निर्माण नहीं विध्वंस के सन्दर्भ में। गाँवों में राजनीति प्रवेश, विभिन्न पार्टियों के प्रभाव, संघबद्धता की वृत्ति का विस्तार और जनवादी मोर्चों को कथाकारों ने जिस रूप में चित्रित किया है गंभीर कम, प्रचारात्मक अधिक हैं। वर्ग-संघर्ष से लेकर नक्सलवादी क्रान्ति और साम्प्रदायिक समस्या आदि के जो चित्र कथा-साहित्य में अंकित हुए हैं, उनकी विवेचना की गई है। इस क्रम में पुस्तकों के साथ सद्यः प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की रचनाओं को भी आधार बनाया गया है। प्रेमचन्द के परिवर्तित ग्रामांचल के सन्दर्भों से सम्पृक्त कर निष्कर्ष को सुपुष्ट और उपयोगी बना दिया गया है।

सातवें अध्याय में शैली-शिल्प का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सामान्य कथा-साहित्य से पृथक् सर्वथा नवीन शिल्प-प्रवृत्तियों का विकास स्वाधीनतोत्तर ग्राम-भित्तिक कथा-साहित्य में दृष्टिगोचर होता है, जिसका स्वरूप निर्देश इस अध्याय में किया गया है। आंचलिकता और आधुनिकता को शिल्प-विकास के दो छोरों के रूप में विश्लेषित किया गया है। आँचलिकता के विकास को द्विवेदी-काल से जोड़ा गया है और विश्व-साहित्य में उभरी इस प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी-आंचलिकता का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। कथानक, चरित्रचित्रण और शैली आदि में जो कुछ नवीन विकास हुआ है और वह जिस रूप में ग्राम-कथाओं में प्रयुक्त हुआ है, उसका अन्वेषण किया गया है। बिम्ब-प्रतीक आदि रूपवादी शैली और लोकभाषाओं के अध्ययन के साथ सर्वथा नये सिरे से शीर्षक-योजना आदि पर विचार किया गया है और उनका वर्गीकरण किया गया है। इस अध्याय के अन्त में स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य के विभिन्न मोड़ और उनके प्रभावक तत्त्वों की विवेचना की गई है और उसे अत्यन्त स्पष्ट करने के लिए शिल्प-विकास-निदर्शक एक सुविचारित काल-विभाजन प्रस्तुत करके उस अध्ययन को पूर्णता तक पहुँचा दिया गया है।

उपसंहार में स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य की उन आधुनिकतम प्रवृत्तियों का ग्राम-जीवन के चित्रण-संदर्भ में विश्लेषण किया गया है जिनका विकास सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। प्रमुख उपलक्षित तथ्य यह है कि ग्राम-जीवन की उपेक्षा घनी

होती जा रही है। इसी क्रम में प्रबन्ध की उपलब्धियों पर भी विचार किया गया है। अन्त में सहायक सामग्रियों की विस्तृत सूची दी गई है और परिशिष्ट में एक मास की प्रकाशित नयी कहानियों का एक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं में जो नयी कहानियाँ प्रकाशित होती हैं उनमें कठिनाई से एक प्रतिशत कहानियाँ ही ग्राम-जीवन पर आधारित होती हैं।

मेरे इस शोध प्रबन्ध की सिनाप्सिस डाक्टर शिवप्रसाद सिंह ने बनायी थी और उनसे आरंभ में बहुत मदद मिली तथा मैं उनका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। परन्तु, काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभागाध्यक्ष और निर्देशक डाक्टर केशव प्रसाद सिंह के द्वारा सुविधा और सहयोग यदि नहीं प्राप्त हुआ होता तो शायद यह कार्य अभी यों ही पड़ा रहता। डाक्टर साहब के सामने आभार की औपचारिकता तो बहुत हल्की वस्तु प्रतीत होती है। सचमुच मैं चिरऋणी हूँ।

अपने कालेज के प्रिंसिपल डा० मोती सिंह ने पुस्तकालय और पुस्तकों की भरपूर सहायता की। ऐसी सहायता श्रीमती शीला संधू (राजकमल प्रकाशन), श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन (मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ), प्रेम नारायण राय (प्रिंसिपल, सर्वोदय कालेज खरडीहा, गाजीपुर) और मधुकर गंगाधर (आकाशवाणी पटना) से भी मिली। सबके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

डॉ० सर्वजीत राय, डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० ललित शुक्ल, श्री शंभुनाथ मिश्र और रामप्रवेश शास्त्री से अनेक स्तर पर भरपूर सहयोग मिला। अतः इन सबके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

मेरे और अगणित लेखक मित्रों ने समय-समय पर अनेक प्रकार की सूचनायें-सहायतायें प्रदान की। सबके प्रति आभार।

अन्त में मैं डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (प्रयाग विश्वविद्यालय) और डॉक्टर त्रिभुवन सिंह (काशी हिन्दू विश्वाविद्यालय) के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिनके प्रोत्साहन से अपूर्व बल मिला।

पाठकों ने प्रबन्ध को पसन्द किया तो श्रम सार्थक समझूँगा और उनके सुझावों का स्वागत करूँगा।

—**विवेकीराय**

विषय सूची

(१) जमीदारी उन्मूलन—

क. जमीदारी उन्मूलन के सामान्य प्रभाव का चित्रण
ख. जमीदारी उन्मूलन के पश्चात् जमीदार
ग. 'परती : परिकथा' का जमीदार
घ. 'आधा गाँव' के जमीदार।

(२) योजना-विकास—

क. 'परती : परिकथा' का निर्माणोत्साह
ख. प्रथम दशक का उल्लास
ग. विकास की निस्सारता
घ. सहकारिता और चकबन्दी
ङ. कृषि क्रान्ति।

(३) गरीबी—

क. सामान्य गरीबी का चित्रण
ख. चमार और चमटोल
ग. आदिवासी और उनकी बस्तियाँ

(४) भूमिहीन और भूदान—

क. भू-समस्या के नये उभार का चित्रण
ख. रेणु जी का परिवर्तित दृष्टिकोण
ग. पुराने गाँव और नयी सर्वहारा करवट
घ. भू-दान चित्रण

(५) मध्यमवर्ग—

क. गाँव के सामान्य मध्यवर्गीय
ख. नारी चित्रण
ग. नौकरी की खोज
घ. निम्न मध्यवर्ग
ङ. नगरोन्मुखता
च. प्राचीन पारिश्रमिक नीति

(६) विघटन का आर्थिक कोण—

क. आर्थिक समस्यायें और विघटन
ख. नगर में समाते गाँव

चतुर्थ अध्याय

आत्मकथात्मक, वर्णनात्मक, लोककथात्मक, यात्रात्मक, संस्मरणात्मक, नाटकीय)

२. परिनिष्ठित शैली—(आदर्शवादी, यथार्थवादी)।

३. प्रयोग शैली—(पत्र, डायरी, संलाप, रिपोर्ताज, इन्टरव्यू, ललित निबन्धात्मक, व्यंग्य, फैन्टेसी, भ्रमोत्पादक, आंचलिक, लोक-भाषामूलक, मनोविश्लेषणात्मक, संगीतात्मक, तांत्रिक, गाथा, समीकरण, आवर्तक, प्रलापी, समाप्यन्तक, गीतात्मक)।

४. नयी शैली—(रूपवादी, चेतनाप्रवाही, प्रतीकात्मक, फ्लैश बैक, समग्रप्रभावी, चिन्तनात्मक, नकार शैली आदि)।

घ. रूपवादी शैली और भाषा का नया निखार

१. बिम्बबिधान (रेणु और शिवप्रसाद सिंह के बिम्ब)

२. प्रतीक और ध्वनिचित्र-मूलकता

३. भाषा के विविध रूपों का विकास—ध्वनि, अलंकार, लोकोक्ति, वर्गभाषा, प्रान्तीयभाषा, अंग्रेजी, उर्दू, भोजपुरी, अबधी, गालियाँ, अ-भाषा, मराठी मिश्रित, मिथकीय प्रयोग, 'ब्रह्मपुत्र' में भाषा प्रयोग, व्यंग्य-भाषा।

ङ. देशकाल, वातवरण और उद्देश्य

च. अन्य शिल्प-वैशिष्ट्य

(५) शीर्षक-विचार और वर्गीकरण

(६) शैली-शिल्प के प्रभावक तत्व

(७) नये कथासाहित्य-शिल्प को मोड़ देने वाली कृतियां।

(८) निष्कर्ष।

उपसंहार—(नवीन प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा और प्रबन्ध की उपलब्धियाँ) पृष्ठ ४८१-५२०

सहायक पुस्तकादि विवरण—(कथाकार और उनकी कृतियाँ, समालोचनात्मक ग्रन्थ-सूची, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों और निबन्धों की सूची,

परिशिष्ट

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य
और ग्राम-जीवन

प्रस्तावना

स्वातंत्र्योत्तर शब्द का अर्थ

'स्वातंत्र्योत्तर' शब्द और इसकी अर्थबोधक स्थिति आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य के समीक्षा-संदर्भ में एक पुष्ट विभाजक बिन्दु के रूप में आख्यायित है।[1] भारतीय जीवन में इस शब्द का अर्थ है वह कालावधि जो १५ अगस्त सन् १६४७ ई० के पश्चात् अभिभुक्त है और जिसमें आधुनिक मुक्त-जीवन की समस्त संभावनायें और देशगत बहुविध विकसनशील वृत्तियों के प्रसार की कल्पनायें हैं। निस्सन्देह शताब्दियों के दासत्व-तमस को फोड़कर

---

१. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० ७१, ८०, ८१, ८७, ६२, ६८, १३०, १५५, १५६।
हिन्दी उपन्यास—डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० ३१५।
प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास—डॉ० प्रकाशचन्द्र शर्मा महता, पृ० ३३२, ५०१।
हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन—डॉ० गणेशन, पृ० २१६।
दिशाओं का परिवेश—डॉ० ललित शुक्ल (भूमिका) पृ० १६।
नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति—डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० २१६, २३७, २३६।
हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृ० २३१।
समकालीन हिन्दी साहित्य आलोचना को चुनौती—डॉ० बच्चन सिंह, पृ० १०६।
एक दुनिया समानान्तर—राजेन्द्र यादव, भूमिका, पृ० २८।
हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—डॉ० त्रिभुवन सिंह, पृ० २२६।
हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा—डॉ० रामदरश मिश्र, पृ० ६५।

उगा स्वातंत्र्य-रवि 'देश के वैचारिक पुनर्जन्म'[1] के रूप में भारतीय जन-जीवन की एक महत्तर उपलब्धि रहा और जिसके साथ अनन्त आशाओं, आकांक्षाओं और स्वप्न-स्वरों की गूँज-अनुगूँज संलग्न रही। चाहे वह सुखद रहा चाहे संदर्भ विशेष में दुखद किन्तु भारत-भूमि पर स्वाधीनता प्राप्ति के साथ जिस नये जीवन-क्षितिज का उद्घाटन हुआ वह अभूतपूर्व रहा और उसने पुरातनता को एकबार बड़े ज़ोर से झकझोर दिया। विस्थापन, विकास और बदलाव के प्रश्न, आयाम और कोण ही नहीं उभरे अपितु पुनः विरोध-विद्रोह के उद्घोषक स्वर भी उठे। इस दो-ढाई दशक के बीच उभरी विकास और मोहभंग की समस्त विसंगतियाँ इस स्वातंत्र्योत्तर शब्द के अंचल में आयत्त हो जाती हैं जो नये हिन्दी साहित्य को नये मनुष्य और नये जीवन की खोज[2] की संज्ञा प्रदान करती हैं और महत्त्वपूर्ण बनाती हैं।

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य का भिन्नत्व

स्वातंत्र्योत्तर नये हिन्दी-साहित्य में मुख्य रूप से कथा-साहित्य का नवविकसित स्वरूप ऐसी संग्राहक क्षमता से सम्पन्न रहा कि उसमें जागतिक

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य—१३-२१-२९-३४ (सं० महेन्द्र भटनागर)।
हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ०२०-२१।
आधुनिक कथा-साहित्य और चरित्र विकास—डॉ० बेचन, पृ० १०।
हिन्दी-मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० चन्द्रकान्त महादेव वांदिवडेकर (प्रस्तावना)।
छायावादोत्तर हिन्दी-गद्य साहित्य—डॉ० विश्वनाथ तिवारी, पृ० १०४, ११३, १२२, १४१।
स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य—सीताराम शर्मा (प्रकाशकीय)।
नयी कहानी : दशा, दिशा, संभावना—स० श्री सुरेन्द्र, पृ० २२४।
'कल्पना' का नवलेखन विशेषांक-१। स० डॉ० शिवप्रसाद सिंह की संपादकीय पृ० ५।

१. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० ६।
२. एक दुनिया समानान्तर—राजेन्द्र यादव, पृ० ८।
नवलेखन विमर्श गोष्ठी—२७-२८ मार्च १९६८, वाराणसी (संयोजक-डॉ० शिवप्रसाद सिंह का वक्तव्य, पृ० १)

संदर्भ से अ-कटी नयी राष्ट्रीय चेतना और नयी मानवीय चेतना आन्तरिक स्तर पर सहज रूप में नये अनुकूल शिल्प में ढलकर अभिव्यक्त होती गई। इस कथा-साहित्य के अन्तर्गत हम उपन्यास और कहानी, जिसे 'नयी कहानी' की संज्ञा प्राप्त हो गई है और जो अपनी तीव्रतम सम्वेदनीयता के कारण आगे अ-कहानी आदि जैसे शब्दों से पारिभाषित हुई, अन्तर्भूत समझते हैं। मोटे तौर पर एक दशक की रिक्तता को छोड़कर स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य है।[1] इस कालावधि में सृष्ट उपन्यासों में, क्योंकि वह सामाजिक जीवन का समग्र चित्र है, एक ठहराव तथा मुख्यतः व्यक्ति चित्र होने के कारण कहानियों में एक उदग्र तनाव मिलता है जो उसे स्वतंत्रतापूर्व की आदर्श अथवा आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासों और कहानियों की तुलना में सर्वथा भिन्न, आधुनिक जीवन के निकट, प्रामाणिक और यथार्थ आग्रही बना देता है।

नये कथा-साहित्य का भिन्नत्व नये जीवन की जटिलता और उसके दबाव के कारण अत्यन्त स्पष्ट है। लोकतंत्र, मताधिकार और पार्टी पॉलिटिक्स के नये मौसम के साथ बाहर की हवा बदल गई और उसी अनुपात में भीतर का लोकमन भी बदल गया। यह बदलाव इतना तीव्र रहा कि आग्रह और आतुरता के रूप में प्रस्फुटित हुआ। बाह्य-स्तर पर हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आदि परिवर्तन आन्तरिक स्तर पर बहुत गझिन और अ-सपाट संश्लिष्ट भाषा में नयी कहानियों में उतरने लगे। कथा-साहित्य में पहली बार जीवन अपने इस यथार्थ रूप में, कि उसके जिये जाने अथवा भोगे जाने की प्रामाणिकता कसौटी हो गई, उभरा और उसने सारी प्राचीन परम्पराओं तथा पुराने मूल्यों को झकझोर कर उखाड़ दिया। एक ही कथाकार की पूर्व-स्वतंत्रता और स्वातंत्र्योत्तर संवेदनाओं में भारी भिन्नत्व दृष्टिगोचर होता है।[2] नव-परिवर्तित स्थितियों की स्वरूप-प्रतिज्ञा में नये कथाकारों का एक भारी दल लोकजीवन का समारोह संभवी उत्साह लेकर उदित होता है और उसके सामने राजनीतिक दृष्टि से विश्व-मंच पर समभागी बनकर उगे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय

---

१. **हिन्दी उपन्यास—डॉ० प्रतापनारायण टंडन, पृ० २९१।**
२. **समकालीन हिन्दी साहित्य : आलोचना को चुनौती—डॉ० बच्चन सिंह, पृ० १०६।**

हिन्दी साहित्य को विश्व-साहित्य की व्यापकता, विशालता और गंभीरता के सम्मुख लाने की एक कल्पना होती है जिसे एक दायित्व के रूप में वह ग्रहण करने की मुद्रा में दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए जब वह कुछ कहता है तो कथ्य की शतप्रतिशत नवीनता और शिल्प की चूड़ान्त मौलिकता उसे पुराने कथा-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित होने से वंचित कर देती है।

नये कथा-साहित्य का 'नयापन' वस्तुगत और शैलीगत दोनों ही उपलब्धियों में प्रचुर मात्रा में देख रहे हैं। वस्तु को 'आधुनिकता' ने और शैली को 'आंचलिकता' ने पहले-पहल सबसे अधिक प्रभावित किया और नयेपन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई का उद्‌घाटन बन गईं। इनके अतिरिक्त कथा-साहित्य में समग्र रूप से परिवर्तित जीवन-दृष्टि के रूप-बिम्ब नयी सर्जन-प्रतिभा को नया निखार देती लक्षित होते हैं। सर्वथा नयी विद्रोही मनोदशा पुराने शब्दों, वाक्यों और अर्थों में अभिव्यक्त होते-होते छटक जाती है। वह नये शब्द संकेतों से नयी अर्थवत्ता को नया निखार-कसाव देकर उजागर होती है। इसी के समानान्तर अज्ञात भाव से पाठकीय रुचि में एक क्रान्तिकारी नवोन्मेष होता है और परम्परित मूल्यों और सुधारवादी कार्यक्रमों में ऐसे वितृष्ण बासीपन की अनुभूति उपजती है जो कथा-क्षेत्र में सर्वथा नयी उर्वर संभावनाओं को जन्म देती है। प्रश्न कहानी को लिखने या रचने का नहीं उसे जीने का उभड़ा और इस जीवनवादी आग्रह ने आदर्श और रोमान को बहुत पीछे ढकेल दिया। इतिहास क्रम में एक सर्वथा नये और अप्रत्याशित विरोधी परिवेश की टकराहट में आहत कुंठित अहं एक नये प्रकार की अन्तर्भुक्तता और वैयक्तिकता के बीच जीने के लिए विवश, अभिव्यक्त-दशा में एक ऐसे शिल्प की तलाश करता है जो प्रेमचन्द्र जैसा 'सार्वजनिक' नहीं होता है। संक्रान्तिकालीन सामाजिक जीवन की उध्वस्त समस्वरता और चतुर्मुखी बिखराव का भरपूर प्रभाव कथा-साहित्य के संगठन पर पड़ता है और वह टूक-टूक हो जाता है। कथा-साहित्य की कथा-हीनता, उपन्यासों में खंडित कथागत एकसूत्रता और बिखराव तथा कहानियों में आई क्षण बिम्बाश्रित वैयक्तिकता आज किसी शास्त्रीय विश्लेषण अथवा कसौटी पर परखी नहीं जा सकतीं। उच्च और मध्य से परे निम्न-मध्य-वर्ग को कथा-साहित्य में एक ऐसे कोण से उठाया गया जहाँ से वह स्वयं एक 'प्रयोग' होकर 'वस्तु' को सर्वथा नयी दीप्ति देता है। यही दशा 'प्रेम' अथवा ,सेक्स' की है। यह एक विचित्र स्थिति है कि राजनीतिक अथवा सत्ता-परि-

वर्तन के साथ ही हिन्दी कथा-साहित्य में एक अभूतपूर्व नवता के आयाम उभड़ जाते हैं।

आलोच्य कालावधि का महत्त्व

नवता के ये आयाम कथा-साहित्य में, विशेषकर कहानी-साहित्य में आन्दोलन बनकर अवतरित होते हैं और नये मूल्यों, नयी प्रवृत्तियों की पुरानी से टकराहट इन आन्दोलनों के क्रम में स्पष्ट हो जाती है। संभव है उनमें 'हीन स्तर और मूल में 'कुंठा, वैमनस्य और हीन भावना'[१] कहीं हों पर स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य गत ये आन्दोलन वास्तव में पुरातनता की जड़ जकड़न को तोड़कर सहज-जीवन की तरह मुक्त भाव से सही संदर्भों में प्रसरित होने की अकुलाहट को ही व्यक्त करते हैं। नयी कहानी, पुरानी कहानी, कहानी, लघु कहानी, साहित्यिक कहानी, समकालीन कहानी, ग्रामकथा, नगरकथा से लेकर सचेतन कहानी और अ-कहानी तक के विविध आन्दोलन इस अवधि के कथा-साहित्य के महत्त्व के द्योतक हैं। उपन्यास-क्षेत्र में स्वतंत्रता के बाद 'आंचलिकता' के आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा और आंचलिक उपन्यासों के रूप में एक सर्वथा नये बोध का उदय सांस्कृतिक स्पर्श के साथ लोकजीवन के तरल राग-बोध के स्तर पर हुआ। इसके अतिरिक्त व्यक्तिवादी यथार्थ, समाजवादी यथार्थ, पनोरमिक उपन्यास[२] चेतना प्रवाही उपन्यास और सरितोपम आदि उपन्यास विधाओं की चर्चा-परिचर्चा सुनाई पड़ी। आंचलिकता का राहित्य प्रदर्शित करने के लिए स्पष्ट रूप में 'अनांचलिक उपन्यास'[३] का भी प्रयोग नये उपन्यास-क्षेत्र में होने लगा। किन्तु आन्दोलनों की तीव्रता उपन्यासों से अधिक कहानियों में ही लक्षित हुई। 'आदमी का उसके संदर्भ में प्रस्तुतीकरण'[४] अथवा 'संशोधन कम परित्याग और पुनर्मूल्यांकन अधिक'[५] अथवा 'मनुष्य को उसका परिवेश और उसकी भाषा'[६] आदि के उद्घोष के साथ सर्वथा नयी जीवन-दृष्टि इन आन्दोलनों के मूल में रही।

---

१. नई कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ ३८।
२. हिन्दी के उपन्यास साहित्य का अध्ययन—डा० गणेशन, पृष्ठ १४३।
३. राग दरबारी : फ्लैप मैटर।
४. नयी कहानी की भूमिका, पृ० ७१।
५. वही, पृष्ठ १५५। ६. वही, पृष्ठ १३०।

इन्हीं सब कारणों से तथा अन्य अनेक दृष्टियों से इस कालावधि के कथा-साहित्य का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी अवधि में कहानी का स्वरूप स्थिर हुआ।[1] इसी बीच उपन्यासों में आंचलिक रंग आता है जिसमें 'एक विशिष्ट भौगोलिक संस्कृति का ऐसा चित्रण होता है जिसमें वह भू-भाग अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ एक अलग इकाई के रूप में 'प्रत्यक्ष' हो उठता है।'[2] स्थापित, स्वीकृत अथवा संपोषित मूल्यों के प्रति चतुर्मुखी शंकादृष्टि इस कालावधि के कथा-साहित्य को नयी उपचारहीन और शुद्ध मानवीय दृष्टि प्रदान करती है। धार्मिक-दृष्टि और राष्ट्रीय-दृष्टि जैसी बँधी-बँधाई खण्ड दृष्टि का परित्याग कर आधुनिक कथा-साहित्य एक समग्र सार्वभौम दृष्टि का प्रस्तोता बन रहा है जिसमें विश्वसमाज की एक इकाई के रूप में नया मनुष्य अपनी सचाई के साथ उभर रहा है। स्वतंत्रतापूर्व के कथा-साहित्य से सर्वथा भिन्न कथ्य के कोण इस रूप में उभरे हैं कि उसमें इतिहास-चेतना की धड़कन साफ सुनाई पड़ती है। गलत और गलित परम्पराओं की अस्वीकृति और खंडन के साथ ही 'परम्परा' से जुड़े रहने की एक सूक्ष्म प्रक्रिया है कि प्रगतिशील मूल्यों का पुरस्करण होता चलता है। नये संदर्भ में जबकि मानवता अथवा आदर्शवादिता आदि जैसे शब्द अपना अर्थ खो बैठते हैं, नया कथा-साहित्य अपने दायित्व के प्रति सजग है। वह सर्वथा नयी भाषा, नये संकेत और नये माध्यम की तलाश में सफल होता है। ज़िन्दगी के गहन जंगल में छिपी पड़ी सजीव वस्तुओं का 'अन्वेषण' होता है[3] और हिन्दी कथा-साहित्य को वह गरिमा मिलती है जिसे लेकर वह विश्व-कथा-साहित्य की तुलना में अपने को हीन नहीं अनुभव करता है।

कथा-साहित्य में अभूतपूर्व क्रांति

इस प्रकार कथा-साहित्य-क्षेत्र में एक अभूतपूर्व क्रांति और एक विशाल बदलाव उभरता है। इस बदलाव की दिशा मुख्यतः ऐसी लोकोन्मुख है जिसमें 'होरी' की पीढ़ी का अवसान होता प्रतीत होता है और 'गोबर' की पीढ़ी

---

१. कहानी : स्वरूप और संवेदना की भूमिका—राजेन्द्र यादव।
२. हिन्दी उपन्यास—डा० शिवनारायण श्रीवास्तव, पृष्ठ ३१५।
३. कहानी : नयी कहानी—डा० नामवर सिंह, पृष्ठ ४९।

उसकती है ।[1] प्रतिबद्धता रहित यथार्थ और विद्रोह दो दिशाओं में, व्यक्ति स्तर पर और समाज स्तर पर, नव-परिवर्तित परिवेश और संदर्भ से जुड़कर कथा-साहित्य में अभिव्यक्ति पाते हैं । 'यदि अतीत के लेखन और नव-लेखन में कोई विभाजक रेखा खींची जा सकती है तो वह प्रतिबद्धता की होगी ।'[2] किसी 'मूल्य' के प्रति प्रतिबद्ध होने का अवकाश भी कहाँ रहता है ? ईश्वर और धर्म आदि के प्रति तीव्र शंकाशीलता का उभार तो प्रेमचन्द के युग में ही हो गया था, स्वतंत्रता के बाद देश में घटनायें इतनी तेजी से घटती हैं और बाद में मोहभंग का वात्याचक्र इतना उद्दाम होता है कि मानवता, राष्ट्रीयता और नैतिकता जैसे मूल्य भी लड़खड़ा कर टूट जाते हैं और कथा-साहित्य के संदर्भ में अभूतपूर्व गहन संश्लिष्ट स्थितियाँ स्वयं इस प्रकार उभर जाती हैं कि वह मथ उठता है। बटवारे और भीषण नरबलि, साम्प्रदायिक दंगों के साथ स्वतंत्रता की प्राप्ति, शरणार्थियों के काफले, काश्मीर एक नया मोर्चा, देशी राज्यों का विलयन, जमींदारी उन्मूलन, चुनाव, पंचवर्षीय योजनायें, पंचायत राज, भ्रष्टाचार, मँहगाई, नेताओं की नयी सामंतशाही से लेकर चीनी-पाकिस्तानी मोर्चा तक दो दशक के इतिहास में सहस्राब्दियों का बदलाव तेजी से संक्रमित हो उठता है। बड़ी-बड़ी योजनाओं के 'भाखरा-नांगल' नये आर्थिक आयाम लेकर आसमान छूते हैं जिनके नीचे हक्का-बक्का जनसामान्य हीन बौने की अभिशप्त नियति में घुलता है। अन्तर्विरोध और विसंगतियाँ समूची प्रगति का प्रतीक बन जाती हैं। सन्तुलन और समन्वय खो जाने के कारण न नई सामाजिकता की और न नई नैतिकता की ही प्रतिष्ठा हो पाती है । एक शून्य और दिशाहारा की-सी मनोवृत्ति लिए तटस्थ और निस्संग आकलन में तल्लीन इस संक्रान्तिकाल का कथाकार आन्तरिक स्तर पर सारे तूफानों को झेलता उसे प्रामाणिक स्वर देता है तथा इसी कारण से उसमें एक अभूतपूर्व क्रांति लक्षित है, ऐसी क्रान्ति कि कहीं-कहीं नये-पुराने के बीच का क्षीण परम्परासेतु भी अलक्षित हो जाता है ।

नये उपन्यासों का यद्यपि नयी कहानियों की भाँति 'आन्दोलन' के उत्साह में प्रस्तुतीकरण नहीं हुआ तथापि नये धरातल की खोज की कसमसाहट, नये

---

१. नई कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृष्ठ ८७ ।

२. समकालीन हिन्दी साहित्य : आलोचना को चुनौती, पृ० ४१ ।

मूल्य, नये संदर्भ और नये प्रयोग की अकुलाहट उनमें भी कम नहीं लक्षित होती। 'सुनीता' (१९३४) और गोदान (१९३६) से नये उपन्यासों का आरंभ होता है और इन्हीं से वैयक्तिक चेतना और सामूहिक तना की ऐसी दो धाराओं का उदय होता है जो स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में बहुत विस्तार और गहराई के साथ प्रवाहित लक्षित होती हैं। इन दो चेतनाओं का आधुनिकता और आंचलिकता की दो प्रवृत्तियों के साथ संगम उसकी गति को बहुत तीव्र कर देता है। आधुनिकता नयी प्रश्नशीलता के साथ उभड़ती है और उसकी चुनौतियों को उपन्यासकार विभिन्न स्तरों पर स्वीकारते हैं। अज्ञेय, जैनेन्द्र, अश्क, भगवतीचरण वर्मा, देवराज, धर्मवीर भारती, भगवती प्रसाद वाजपेयी, राजकमल चौधरी, रामदरश मिश्र और मोहन राकेश उसे वैयक्तिक चेतना अथवा व्यष्टि-सत्य के साथ जोड़ते हैं। नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, रांगेय राघव और यशपाल आदि आधुनिकता की चुनौती को सामाजिक, सामूहिक, प्रगतिशील, राजनीतिक अथवा समष्टि चेतना के साथ जोड़ते हैं। इन उपन्यासकारों की कृतियों में ग्राम अथवा नगर-जीवन में उभरती समाजवादी शक्तियों की पहचान भरपूर शक्ति से उठाई गई है। वृन्दावनलाल वर्मा और इलाचन्द्र जोशी इसे इतिहास और मनोविश्लेषण के धरातल पर अभिव्यक्ति देते हैं। मनोवैज्ञानिक यथार्थ को इलाचन्द्र जोशी के अतिरिक्त अज्ञेय और देवराज तथा ऐतिहासिक यथार्थ को चतुरसेन शास्त्री, यशपाल और राहुल सांकृत्यायन आदि पुरस्कृत करते हैं। राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, नरेश मेहता, रमेश बक्षी और गंगाप्रसाद विमल आदि में नयी संवेदना से जुड़ी आधुनिकता के आयाम उभरते हैं। आंचलिकता की उपलब्धियाँ फणीश्वरनाथ रेणु, रांगेय राघव, उदयशंकर भट्ट, नागार्जुन, शैलेश मटियानी, बलभद्र ठाकुर, वृन्दावनलाल वर्मा, शानी, अमृतलाल नागर, देवेन्द्र सत्यार्थी, विवेकी राय और राजेन्द्र अवस्थी में विशिष्ट हैं। रेणु में 'टेप शैली' और 'खण्ड चित्रों के संकलन तथा सम्पादन से अन्वितियों को सूत्रित'[1] करने की शैली एक नये सफल प्रयोग के स्तर पर दिखाई पड़ती है। शिल्पगत प्रयोग इस अवधि में नये निखार और नयी दीप्ति के साथ अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' (१९४१) में उभरा और हिन्दी उपन्यास में इसके साथ एक नया मोड़ आया। नववैज्ञानिक बौद्धि-

१. आज का हिन्दी उपन्यास—इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ ७७।

कता के परिप्रेक्ष्य में सर्वप्रथम इसमें 'दायित्य' और 'नैतिकता' पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया गया और अहं केन्द्रित जीवन उभरा। यह प्रयोगशीलता एक नये सम्वेदनीय स्तर पर निर्मल वर्मा के 'वे दिन' (१९६४) में उभरी। सहकारी उपन्यास-प्रयोगों की सफलता 'ग्यारह सपनों का देश' (सं० लक्ष्मीचन्द्र जैन) में ऊँचाई पर पहुँची। इस आंचलिकता से रहित आधुनिकता की चुनौती को नये बदलते ग्राम जीवन अथवा आधुनिक ग्रामबोध के स्तर पर स्वीकारने की प्रवृत्ति शिवप्रसाद सिंह ('अलग अलग वैतरणी') राही मासूम रजा ('आधा-गाँव'), विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ('रीछ'), श्रीलाल शुक्ल ('राग दरबारी') और रामदरश मिश्र ('जल टूटता हुआ') आदि में मिलती है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) के प्रकाशन के साथ हिन्दी उपन्यास में छायावादी बोध अथवा स्वच्छन्दतावाद की प्रतिष्ठा होती है और गीतकाव्य की तरलता से ओतप्रोत स्फीत भावोच्छ्वास सांस्कृतिक अथवा सामाजिक भूमियों का स्पर्श करते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, लक्ष्मीनारायण लाल और उदयशंकर भट्ट में यह बोध पाते हैं। स्वातंत्र्योत्तर नारी को भी स्वतंत्र व्यतित्व प्रदान करने की माँग तीव्र हुई और यह तीव्रता जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल और राजेन्द्र यादव में दिखाई पड़ती है। आधुनिक जीवन की जटिलता और संश्लिष्टता ने वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना को भी संश्लिष्ट कर दिया और अब उपन्यासों में वैयक्तिक सामाजिकता और सामाजिक वैयक्तिकता के नये बोधोदय की बात चली। प्रथम कोटि में 'नदी के द्वीप', 'प्रथम फाल्गुन' और दूसरे में 'बूँद और समुद्र', 'बीज' और 'अलग अलग वैतरणी' आदि की गिनती करते हैं। व्यक्तिवादी और समाजवादी शिल्प से भिन्न भूखी पीढ़ी और बीट आन्दोलन के स्वर हैं। कॅआस, हॉरर, ग्लूम और एंग्विश के ग्रिसवर्गीय बोध 'कालेज स्ट्रीट के नये मसीहा' (शरद देवड़ा) में उभरे हैं। डा० इन्द्रनाथ मदान[1] ने नये उपन्यासों के तीन मोड़ गिनाये—'गोदान', 'शेखर : एक जीवनी' और 'वे दिन'। इस संदर्भ में एक चौथा मोड़ 'अलग अलग वैतरणी' (१९६७) के प्रकाशन के साथ हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में आया है। उसमें न तो प्रेमचन्द्र और रेणु की तरह घटनाक्रम और चरित्रांकन के आधार पर निष्कर्ष-निष्पत्ति होती है और न अज्ञेय-जैनेन्द्र की भाँति किसी

---

१. आज का हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ १०१।

सुविचारित-निर्धारित निष्कर्ष को घटना क्रम, चरित्र और अन्तरसंगठन का आधार बनाया गया है। इसमें दोनों की युगपत् धूपछाँही स्थिति एक शिल्पगत उपलब्धि है। मोहभंग की जो शुरुआत 'गिरती दीवारें' (१९४७) से शुरू हुआ उसका इसमें पूर्ण निखार है। अब सिद्ध है कि मटरू और बलचनमा की समाजवादी आशावादिता सफल नहीं हुई और विषम सामाजिक शक्तियों ने गाँवों को नरक बना दिया कि सब लोग उसे छोड़कर भाग रहे हैं। यह आज का कटु सत्य है। 'गोदान' से लेकर 'अलग अलग वैतरणी' तक आधुनिक उपन्यासों की समृद्ध परम्परा[1] देखते स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में जिस तत्त्व की स्थिति समग्र रूप में लक्षित होती है वह है यथार्थ तत्त्व। डॉ० त्रिभुवन सिंह और डा० रामदरश मिश्र ने प्रेमचन्दोत्तर युग के मनोवैज्ञानिक, समाजवादी, सामाजिक, ऐतिहासिक और आंचलिक आदि उपन्यासों में यथार्थ के ही विविध आयामों को उभरते देखा है।[2]

यह संयोग की बात रही कि नई कहानियों की भाँति नये उपन्यासों में ग्राम-कथा और नगर-कथा का विवाद नहीं उठा। 'गोदान' की ही भाँति स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में मुक्तभाव से कथाभूमि नगर से गाँव और गाँव से नगरोन्मुख होती रही। 'मैला आँचल', 'बया का घोंसला और साँप', 'सत्ती मैया का चौरा', 'पानी के प्राचीर' और 'रीछ' आदि में मिलाजुला प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। 'आधा गाँव', 'नदी फिर बह चली', 'मैला आँचल', 'सती मैया का चौरा' और 'पानी के प्राचीर' ऐसे उपन्यास हैं जिनके बीच में स्वतंत्रता-पर्व मनाया जाता है। स्वतंत्रता पूर्व की आशायें और स्वातंत्र्योत्तर उपलब्धियों के आकलन का भरपूर अवकाश इनमें होता है। आधुनिकता का उन्मादी उन्मेष नयी कहानियों की भाँति इस अवधि के उपन्यासों में न होने के कारण जो ग्रामजीवन आया है वह बहुत ही सजीव और प्रामाणिक है। आंचलिकता की प्रवृत्ति का सम्बन्ध मूलतः नये ग्रामांकन से होने के कारण एक समारोह की भाँति कृषि-क्षेत्रों के दबे-ढके गाँव उभरते दीख पड़ते हैं। कोसी,[3] राप्ती[4] और ब्रह्मपुत्र[5] नदी के अंचल तो उजागर हो ही जाते

---

१. 'दिशाओं का परिवेश'—डा० ललित शुक्ल की अनुक्रमणिका।
२. हिन्दी उपन्यास—डा० रामदरस मिश्र (पृष्ठ ६१)।
हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—डा० त्रिभुवन सिंह (आठवाँ अध्याय)।
३. 'परती परिकथा' में। ४. 'टूटता हुआ जल' में। ५. 'ब्रह्मपुत्र' में।

हैं; कुमायूँ,[1] चम्बल[2] और बस्तर[3] के पार्वतीय घाटी और जंगली आदिवासी अंचल से लेकर करनट[4] और मछुआरों[5] के अंचल तक अपनी पूरी सचाई के साथ अंकित होते हैं और इन आंचलिक इकाइयों में अपनी चित्र-विचित्र भिन्नत्व-गर्भित विशेषताएँ लिए राष्ट्रीय भावात्मक एकता के मेरुदण्ड भारतीय गाँव एकबारगी आलोकित हो उठते हैं। यह आंचलिकता की प्रवृत्ति उस समय निन्दनीय हो जाती है जब वह 'अति' पर पहुँचती है और समीक्षक इसकी खूब भर्त्सना करते हैं। जब शिल्प प्रधान हो जाता है और वस्तु गौण तो इसकी छाया में जो गाँव उगते हैं वे 'गाँव' नहीं, उसके कृत्रिम संस्करण होते हैं। अन्धानुकरण की ओर भी ध्यान दिलाया गया, कटे-छँटे नगर-बोध के प्रक्षेपण की बातें भी उठाई गईं और सब मिलाकर यद्यपि आंचलिकता की निन्दा भी कम नहीं हुई; यहाँ तक कि 'अलग अलग वैतरणी', 'राग दरबारी' और 'रीछ' जैसे उपन्यासों को उसके कृती कथाकारों ने इससे पृथक घोषित कर देना भी आवश्यक समझा; तो भी आंचलिकता की लपेट में जो कुछ आया वह मुख्यतः विशुद्ध रूप से स्वातंत्र्योत्तर ग्राम जीवन से सम्बन्धित होने के कारण वरेण्य रहा। 'कोहबर की शर्त' जैसे देशकाल निरपेक्ष सनातन गाँव के अंकन वाले 'बलचनमा' जैसे स्वतंत्रतापूर्व जमींदार युग के ग्रामांकन से पूर्ण उपन्यास इस अवधि के कृतित्व को पृष्ठभूमि का वैविध्य प्रदान करते हैं।

'नयी कहानी' आन्दोलन

नयी कहानी का उदय सन् १९५० से माना जाता है[6] और अपने उदय-

---

१. **शैलेश मटियानी के उपन्यास।**
२. **'जानें कितनी आँखें', 'तीसरा पत्थर'।**
३. **शानी के उपन्यास में।**
४. **'कबतक पुकारूँ' में।**
५. **'सागर, सहरें और मनुष्य' में।**
६. **(क) नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० ३३, ५२, ८३, ९२, १०६।**
(ख) कहानी : स्वरूप और सम्वेदन—राजेन्द्र यादव, पृ० ४५।
(ग) नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति—(डॉ० देवीशंकर अवस्थी) में डॉ०

काल से ही इसने एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। डा० देवीशंकर अवस्थी उसका वास्तविक जन्म सन् १९५५ से मानते हैं जबकि 'कहानी' पत्रिका का पुनर्प्रकाशन होता है[1] और कहते हैं कि 'नयी' का प्रयोग विशेषण रूप में नहीं अपितु संज्ञा के अंग के रूप में होता है। 'कहानी' पत्रिका के सन् १९५६ वाले नववर्षाङ्क में 'नयी कहानी' की चर्चा उठी थी तथा सन् १९५७ के प्रयाग के साहित्यकार सम्मेलन में इस पर गंभीर विवाद ग्रामकथा और नगर-कथा के संदर्भ में हुआ था। नयी कहानी के 'आन्दोलन की शुरुआत'[2] और पूर्ण प्रतिष्ठा डा० नामवर सिंह के द्वारा हुई जबकि सन् १९६१ में 'हाशिये पर' उन्होंने 'कहानी : अच्छी और नयी' को न केवल पारिभाषित किया था बल्कि उसके सम्बन्ध में उठने वाले सम्पूर्ण विवादों को समेट कर गंभीर विश्लेषण प्रस्तुत किया था। वास्तव में सन् १९५० तक जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय की बौद्धिक परम्परा में विकसित वैयक्तिक और समाजवादी चिन्तन की प्रवृत्तियाँ एक ऐसे नवपरिवर्तित सामाजिक एवम् राजनीतिक परिवेश का स्पर्श करती हैं जिसमें सब कुछ अभूतपूर्व एवम् अप्रत्याशित है। विभाजित देश से उत्पन्न रक्त-रंजित समस्यायें और उत्तरोत्तर बढ़ती आन्तरिक कठिनाइयों के व्यक्ति स्तर पर संत्रासक अहसास ने सृजनात्मक प्रतिभाओं को प्रभावित किया और बुरी तरह झकझोर दिया। 'स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों में जो परिवर्तन होते रहे हैं

बच्चन सिंह का निबन्ध : परम्परा का नया मोड़ : रोमैन्टिक यथार्थ, पृ० २१९।

(घ) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी गोष्ठी, बम्बई, २४ मार्च १९६८ (रिपोर्टिंग : धर्मयुग : ४ अप्रैल १९६८) डॉ० नामवर सिंह का वक्तव्य।

(ङ) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य स०ज०महेन्द्र भटनागर (कहानी : प्रसन्न कुमार ओझा) पृ० २९।

(च) हिन्दी-साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य (सच्चिदानन्द वात्स्यायन) पृ० १०८।

(छ) छायावादोत्तर हिन्दी गद्य-साहित्य (डॉ० विश्वनाथ तिवारी) पृ० ११९।

१. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति (भूमिका)।
२. हिन्दी कहानी : इन्द्रनाथ मदान, पृ० २५।

उन्हें और उनके महत्त्व को अस्वीकार किया ही नहीं जा सकता, पर उनसे पूर्व और उनके बाद भी मनोविज्ञान के क्षेत्र में होने वाले गहन अन्वेषण और अध्ययन ने आधुनिक कहानीकारों को प्रभावित किया है। यही कारण है कि प्रेमचन्द युग की कहानी जहाँ परिस्थितियों के बाह्य-संघर्ष को व्यक्त करती है वहाँ प्रेमचन्दोत्तर कहानी मानसिक रहस्यों के विश्लेषण और चित्रण में तत्पर दिखाई देती है। इस युग के जो लेखक वाह्य राष्ट्रीय और सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित हैं वे भी रचनात्मक समस्याओं का समाधान भीतर ढूंढ़ना चाहते हैं।'[1] इस प्रकार सन् १९५० के लगभग उत्पन्न नयी कहानी का बदलाव सन् १९६० तक पहुँचते-पहुँचते कुछ स्थिर हो जाता है। उसकी भाषा बदल जाती है और शिल्प में अतिरिक्त प्रभाव के लिए काध्य-धर्मी संकेत प्रतीक, उपमा, बिम्ब, रूपक, संगीत, ध्वनियाँ, लय, मिथक, सम्वेदनीयता और रूपावरणता का समावेश हो जाता है। परम्परित मूल्यों के नकार के साथ मूल्यान्वेषण के नये आयाम उभरते हैं। ये मानदंड और परिवर्तित प्रतिमान की गंभीर चर्चा के साथ पुराने प्रतिमानों को अन्तिम रूप से नाकाफी मान लिया जाता है। यह भी मान लिया जाता है कि पूर्व-स्वतन्त्रता का हमारा सारा बोध पुरातन है। नया दौर आधुनिकता बोध का है जिसमें प्रामाणिक अनुभूति और भोगे हुए जीवन की अभिव्यक्ति की माँग है। ईश्वर, धर्म और आरोपित नैतिकता आदि से मुक्त होकर मनुष्य को उसका वास्तविक परिवेश और उसकी अपनी भाषा देने का आग्रह भी इसके साथ प्रबल हो उठता है।

इस नये संदर्भ में नये आधुनिक बोध और नये शिल्प के साथ जो कहानीकार पहले दौर में उगते हैं वे मुख्यतः ग्रामजीवन के कथाकार हैं। शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, रेणु, अमरकान्त, शेखर जोशी, भैरवप्रसाद गुप्त, शानी, शैलेश मटियानी, केशवप्रसाद मिश्र, लक्ष्मीनारायण लाल, ठाकुरप्रसाद सिंह, रांगेय राघव, विष्णु प्रभाकर, उपेन्द्रनाथ अश्क, निर्गुण, मधुकर गंगाधर और हिमांशु श्रीवास्तव आदि ने भारतीय स्वाधीनता के बाद कथा-क्षेत्र को धरती के स्पर्श से, अपने लोगों, उपेक्षित-अदेख अकुलीन, दलित और पिछड़े लोगों के सम्वेदनीय चित्रण से, नयी-नयी कथा-भूमियों के अन्वेषण से तथा मूल भारतीय आत्मा की कथागत पकड़ से अचानक इस सीमा तक समृद्ध कर दिया कि

---

१. हिन्दी-कहानी की रचना प्रक्रिया—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृ० २३१।

उनकी ग्रामजीवनमूलक कथात्मक उपलब्धियाँ विवाद का विषय बन गईं।[1] शेखर जोशी और कमलेश्वर ने जिस कस्बे के जीवन को उठाया उसमें मूलतः ग्राम-मन की अभिव्यक्ति रही और यही ग्राम-मन धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो' और मन्नू भंडारी की 'रानी माँ का चबूतरा' जैसी कहानियों में मिला। राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, भीष्म साहनी, सर्वेश्वर, बलवन्तसिंह, उषा प्रियंवदा, निर्गुण, शरद जोशी, रामकुमार, अमृतराय और मुक्तिबोध में नयी कहानी दूसरे स्तर पर उत्कर्ष पर पहुँची। उनमें आधुनिकता-बोध नगरबोध के परिप्रेक्ष्य में उभरा।

स्वतंत्रता के बाद का प्रथम दशक स्वतंत्रता-संग्राम के सिलसिले में लगाये गये 'गाँवों की ओर चलो' के सशक्त नारे से प्रभावित और उसकी अभिव्यक्ति जैसा लगता है क्योंकि स्वतंत्र होते ही साहित्यकार अपने गाँव को, अपने अंचल को, अपनी उपेक्षित धरती को हाथों-हाथ उठा लेता है। तभी देश में उद्योगीकरण की हवा चलती है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१९५६-५७ से १९६०-६१ तक) का मूल उद्देश्य देश की राष्ट्रीय आय इस प्रकार बढ़ाना रखा गया कि देश के रहन-सहन का मान ऊँचा हो और उद्योगीकरण में तेजी आये। इसके लिए मूल और भारी उद्योगों की स्थापना और विकास को प्राथमिकता दी गई। दस वर्षों का कड़ुआ स्वातंत्र्य-योग भी आड़े हाथ आया। अन्त के साथ सेक्स और संत्रास आदि के आकर्षक नारे आंदोलित हुए और साहित्य

---

१. (क) हिन्दी कहानी एक अन्तरंग परिचय—उपेन्द्रनाथ अश्क, पृ० ७९, ८०, ८१, ८३, ९९, १०६, १३३, २३६।
(ख) एक दुनिया समानान्तर—राजेन्द्र यादव, भूमिका, पृ० ४१।
(ग) हिन्दी कहानी : संदर्भ और प्रकृति—डॉ० देवीशंकर अवस्थी, भूमिका, पृ० ६०, १३९, २०३, २१२।
(घ) कहानी : नयी कहानी : डॉ० नामवर सिंह, पृ० ५७।
(ङ) हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृ० २५४।
(च) कहानी : स्वरूप और सम्वेदना—राजेन्द्र यादव, पृ० ४५-४७, ८२, ८६, १२९, १३२।
(छ) हिन्दी कहानी—इन्द्रनाथ मदान, पृ० ४२।
(ज) एक दुनिया समानान्तर—राजेन्द्र यादव (भूमिका) पृ० ४१।
(झ) नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० २९।

में अन्तर्राष्ट्रीयता के सुविधाजनक पहलू की आड़ में भारतीय साहित्य-दृष्टि की समस्वरता उखड़ गई। ग्रामजीवन अथवा भारतीय किसान की बातें दब गईं और सन् १९६० आते-आते साठोत्तरी अथवा सातवें दशक के कहानीकारों की ऐसी पीढ़ी उगी जो सर्वथा नये बोध, नये शिल्प, नयी संवेदना और नयी भूख लेकर एक नये आन्दोलन की तरह छा गई। श्री उपेन्द्रनाथ अश्क इनका नाम इस प्रकार गिनाते हैं।[1] 'विजय चौहान, प्रबोधकुमार, प्रयाग शुक्ल, महेन्द्र भल्ला, काशीनाथ सिंह, गिरिराज किशोर, भीमसेन त्यागी, अनीता औलका, इसराईल, दूधनाथ सिंह, अलोक शर्मा, से० रा० यात्री, अतुल भारद्वाज, ज्ञान-रंजन, रवीन्द्र कालिया, गंगाप्रसाद विमल, ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, मनहर चौहान, अवधनारायण सिंह, विजयमोहन सिंह, पानू खोलिया और सुद-र्शन चोपड़ा। डाक्टर नामवर सिंह, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और श्रीकान्त वर्मा की भी गणना इन्हीं सन् १९६० के आसपास उभरने वाले और 'अपेक्षाकृत नये सर्जनात्मक कृतित्व से हिन्दी-कहानी को समृद्ध करने वाले साहित्यकारों में करते हैं।'[2] इस पीढ़ी के युवा कथाकारों में विद्रोह-विक्षोभ की नयी भंगिमा और नव निरावरण आधुनिकता का ऐसा उन्मेष-अतिरेक रहा कि उन्होंने 'नयी कहानी' से अपने कृतित्व को पृथक् ज्ञापित कराने के लिए नयी संज्ञा का अनुसंधान किया। सन् १९६० के लगभग ही गंगा प्रसाद विमल ने 'समकालीन कहानी' और 'अ-कहानी' का नारा दिया। राजेन्द्र यादव ने इस पीढ़ी में तीन नये, देवेन गुप्त, सुन्दर लोहिया और ममता अग्रवाल का नाम लेकर इसे दाद दी। 'सन ६० के बाद की पीढ़ी उन्हीं साफ निगाहों से अपने युग के यथार्थ को कहानी में प्रस्तुत कर रही है जिनके लिए हम सब लगातार प्रयत्न कर रहे हैं।...वहाँ न कहानी बनाने का आग्रह है, न प्रतीकों का मोह...न अतिरिक्त रूमानी स्थितियाँ और भावुक उच्छ्-वासों का विस्तार। वह अपने तथ्य को सीधे भोगने-जीने और प्रस्तुत कर देने का यथार्थपरक प्रयत्न है।[3]

कहानी : केन्द्रीय साहित्यिक विधा

सन् १९५० और १९६५ के बीच प्रमुख साहित्यिक-विधा कहानी ही हो

---

१. हिन्दी-कहानी एक अन्तरंग परिचय—उपेन्द्रनाथ अश्क।
२. नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति—डॉ० देवीशंकर अवस्थी, पृ० २४३।
३. कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृ० १००।

गई। नयी कविता का आन्दोलन यद्यपि नयी-कहानी के समानान्तर ही चला परन्तु उसमें अपनी परम्परा से सर्वथा पृथक हो जाने का आग्रह इतने अति पर था कि वह एक विशाल पाठक समुदाय से अपरिचित होकर पिछड़ गई और नयी कहानी ने उसके विद्रोह, विक्षोभ और तल्खी को भी अपने भीतर समेट लिया। देश के कोने-कोने में व्यापक रूप से नयी कहानी को लेकर चर्चा-परिचर्चा और गोष्ठियों की धूम मच गई। सन् १९५७ के प्रयाग के साहित्य सम्मेलन में इसी का सवाल उठ खड़ा हुआ। दिसम्बर सन् १९५५ में कलकत्ते में एक अभूतपूर्व विराट् कथा-समारोह का आयोजन हुआ जिसमें तीन दिन तक एक मंच पर हिन्दी के समस्त कहानीकारों ने उपस्थित होकर आधुनिकता और नयी कहानी आदि पर मुक्त भाव से मंथन किया। इस पन्द्रह वर्ष के भीतर जितना अधिक वाद-विवाद और विचार-विनिमय तथा गोष्ठी कहानी को लेकर हुई उतनी और किसी विषय को लेकर नहीं हुई।[२] नवलेखन की विजय वैजयन्ती 'नयी कहानी' के कंधे पर आ गई। तत्सम्बन्धी नियमित-अनियमित पत्र-पत्रिकाओं में उसी की प्रधानता हो गई। निबन्ध, यात्राविवरण रिपोर्ताज़, रेखाचित्र, डायरी और पत्रात्मकता आदि सारी परिपार्श्व की समकालीन विधाओं को आधुनिकता का ताजा रूप देकर 'नयी कहानी' ने समेट लिया। अश्क जी ने एक प्रामाणिक विवरण इस सम्बन्ध में उपस्थित किया है[१]—

१. संश्लिष्ट बिम्ब	... ज़िन्दगी और जोंक	... अमरकान्त
२. सीधे सादे स्केच	... खेल, लड़के	... रघुवीर सहाय
३. निबन्ध की सी	... समाप्त	... जैनेन्द्र

---

१. **कुछ चर्चित कहानी गोष्ठियाँ—**
   (क) नवलेखन विमर्ष गोष्ठी—वाराणसी २७-२८ मार्च, १९६८। वाराणसी।
   (ख) कथा-सम्मेलन नागपुर—रिपोर्ट धर्मयुग, ९ जून, १९६८।
   (ग) हिन्दी साहित्य-सभा, श्रीराम कालेज, दिल्ली, दिसम्बर १९६५।
   (घ) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी गोष्ठी—लोकभारती, बम्बई, २४ मार्च १९६८।

२. **हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय : अश्क, पृ० १४०।**

४. संस्मरण	... अंकल	... रामकुमार
५. यात्रा विवरण	... पहाड़ की समृति	... यशपाल
६. स्मृति गुंफन मात्र	... खुशबू	... राजेन्द्र यादव
७. वर्णनात्मक	... खामोशी	... कृष्ण बलदेव वैद्य
८. चित्रात्मक	... निशा जी	... नरेश मेहता
९. डायरी	... तिष्यरक्षिता की डायरी	... नरेश मेहता
१०. पत्रों का रूप लिए	... सईदा के खत	... अमृत राय
११. लोककथा : उपन्यास के हद को छूती हुई	... नीलमदेश की राजकन्या, नीलझील	... जैनेन्द्र, कमलेश्वर।

गद्य-लेखन की इन विधाओं को नयी कहानी में समेट लेने का जो प्रयोग है उसका कारण राजेन्द्र यादव 'भीतर की एक अनाम बेचेनी और अबूझ दबाव'[1] बताते हैं। यह दबाव आज कथागत मुक्त शिल्प का प्रस्तोता है। वह उसे परम्परावाद के प्रति, सड़ी-गली रूढ़ियों के प्रति विद्रोही बनाता है। लेखक को अनुभवों का भोक्ता होते उन्हें व्यक्त करने का पूर्ण अवकाश यहाँ है। अनुभवों के सीधे साक्षात्कार की प्रवृत्ति ने उसकी लोकप्रियता को और बढ़ाया है। मनुष्य को उसके परिवेश में समग्र रूप से देखने, उसे सृजनात्मक स्तर पर सशक्त माध्यम प्रदान करने, विघटित मूल्यों के आयाम को आन्तरिक स्तर पर संवेदित करने तथा आधुनिकता को आत्मसात करने, संप्रेषित करने की सहज क्षमता कहानी से अधिक किसी अन्य विधा में नहीं है। ऐतिहासिक संदर्भ में आदिम अनुभवों से गुजरता आज का व्यक्ति-मन एक बार पुनः अभिव्यक्ति के आदिम माध्यम कथा की ओर गहरी ललक के साथ आकर्षित हुआ है। शनैः शनैः सातवें दशक के कथाकारों की रचनाओं पर से छँटता जाता अतिरिक्त बौद्धिकता का बोझ और उनकी सहज-सरल निरावरण सज्जा इस तथ्य को प्रमाणित करती है। आश्चर्य नहीं कि आठवें दशक का कथाकार अपनी ओढ़ी-सी अभिजात नागर-मुद्रा विसर्जित कर सहज भाव से पुनः लोकजीवन अथवा धरती-धर्मी ग्रामीण इकाइयों की ओर वापस लौट आवे। नागर-भाव में उसे मिला है क्या ? संत्रास, कुंठा, विघटन, अजनबीपन, व्यर्थता की अनुभूति, मर्मान्तक सेक्स-पीड़ा, विक्षोभ, विद्रोह, धुंध, निराशा, टूटन और

१. **कहानी : स्वरूप और सम्वेदना, पृ० ८१।**

दुनिया भर की गलाजत। ग्राम-मन आज भी अपेक्षाकृत अविकृत है। नयी कहानी में सन्निहित आधुनिकता की चुनौतियों को झेलने की कठोर से कठोर माटी वहाँ उपलब्ध है। कथाकार के स्पर्श से वह माटी सोना हो सकती है। प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में कथाकारों ने इसी संदर्भ में बाबा-दादा-दादी और माई को उठाया था और कहानी में अभूतपूर्व उल्लास की वह स्थिति थी। कविता के माध्यम से व्यक्त होने के लिए जो निजत्व अवशिष्ट रह जाता था उसके लिए साहित्यकार कहानी की शरण ढूँढ़ने लगे। निबन्ध और समालोचना अथवा भारी भरकम उपन्यासों में जो दृष्टिकोण व्यक्त करने पर भी फिसल कर छूट जाता था उसकी पुनः अभिव्यक्ति के लिए वह कहानीकार बनता था और यह क्रम आज तक चला आ रहा है। वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर नये कहानी-साहित्य की नींव बहुत सुदृढ़ है।

नयी कहानी का आरंभ ग्राम-जीवन से

ग्राम-जीवन से ही नयी कहानी की शुरुआत होती है। सन् १९५० के आसपास कथाकारों की जो नयी पीढ़ी उभरी वह यशपाल, जैनेन्द्र और अज्ञेय से सर्वथा भिन्न थी। उसमें नयी प्रतिभा का नवोन्मेष था, अभिव्यक्ति के नये कोणों का उभार था और धरती से जुड़ी नेहरू-युग की वह आशावादिता थी जिसने पाठकों को आकर्षित किया। जमीदारी की समाप्ति, सामुदायिक विकास योजनाओं के आरंभ और पंचायत-सहकारिता के सपनों ने उनके विश्वास को बल दिया। 'पानी के प्राचीर' का नायक नीरू अपने गाँव की बाढ़-बरसात सम्बन्धी बीहड़ताओं को झेलता 'स्वराज्य' तक आता है तो उमंग से भर जाता है। वह खुशी मनाता है और गाँव वालों को बुलाकर समझाता है—

'गाँव के चारों ओर पानी की ये दीवारें जो आप देख रहे हैं उसे गुलामी ने और भी बलवान बना दिया है।...ये हमारी फसलें लूट लेती हैं।...न सड़कें हैं न स्कूल...कर्जा का भयंकर साया...आज हमें आजादी मिली। अब ये पानी की दीवारें टूटेंगी।...खेतों में नये सपने खिलेंगे। कोई बच्चा पैसे के अभाव में पढ़ाई छोड़कर दर-दर नौकरी के लिये नहीं भटकेगा।'

उपन्यास की विधा में सीधे व्यक्त यह तत्कालीन आशावादिता और विश्वास परकता ग्राम-जीवन से सम्बद्ध कहानियों में एक नये स्तर पर अभिव्यक्त

हुई। यह वस्तु से अधिक शिल्प-स्तर का उल्लास था। तात्त्विक दृष्टि से वस्तु और शिल्प में अभेद है। द्वन्द्व और संघर्षरहित इन वैविध्यपूर्ण अनुरंजन-कारी ग्रामीण-जीवन की कहानियों के सर्वथा नये शिल्प के पीछे स्वातंत्र्योत्तर परिवेश का कौन सा दबाव था, इसे ठीक से न समझ सकने के कारण ही इन कहानियाँ को चौंकाने वाली, रीति-रिवाजों की खतौनी और चित्र-विचित्र शब्द प्रयोगों के निरर्थक चमत्कार वाली सतही घोषित कर दिया जाता है। प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परम्परा में स्वच्छन्दतावाद का चटक रंग देकर तथा 'नयी' बनाकर रेखांकित की गयी 'दादी माँ', 'कोसी का घटवार', 'जिन्दगी और जोंक', 'हंसा जाइ अकेला', 'कल्यान मन' और 'माई' आदि कहानियों में एक नयी दीप्ति थी। वे इसलिये 'नयी' नहीं थीं कि वे ग्राम-जीवन से जुड़ी थीं और प्रेमचन्द की परम्परा में थीं। वे इसलिये नयी थीं कि उनमें भारतीय जीवन का स्वातंत्र्योत्तर सुख-दुख संवेदित था। 'नयी कहानी' के इस आरंभ ने किन्तु आगे चलकर, सन् १९६० के पश्चात्, नेहरू-युग के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते जो मोड़ लिया वह ग्राम-जीवन से सर्वथा अलगाव का था और जो निरन्तर बढ़ता ही गया।

ग्राम-जीवन की उपेक्षा

नवलेखन में 'नयी कहानी' के वैशिष्ट्य के कारण इसके हिन्दी-साहित्य में अवतरण की स्थिति पर विस्तारपूर्वक विचार समीचीन होगा। इस सिल-सिले में देखा जा रहा है कि गत बीस वर्षों के दौरान नगर-बोध की कहानियाँ ही हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ मानी जाती रही हैं। इस अवधि में कथा-साहित्य में जो कुछ भी ग्राम-जीवन चित्रित हुआ वह गंभीरता से नहीं, या कौतूहल या शंका की दृष्टि से ही लिया गया। यानी उसे निर्विवाद सहमति नहीं मिली। आवश्यक न होने पर भी ग्राम-कथा और नगर-कथा (पहले-पहल १९५७ के साहित्यकार-सम्मेलन प्रयाग में) की दीवार नये अभिजात आवेश उन लोगों के द्वारा खड़ी की गई जो 'नयी कहानी' पर 'नगरबोध की' पक्की मुहर लगाकर उसे उसका पर्याय सिद्ध करना चाहते थे। यद्यपि अक्सर कहा गया कि यह विभाजन मिथ्या है[1] और कोई भी कहानी गाँव, कस्बे या

१. **'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति', डॉ० देवीशंकर अवस्थी, भूमिका, पृ० ११।**

काफे से सम्बद्ध होने के कारण अच्छी या बुरी नहीं होती,[1] तो भी किसी न किसी रूप में यह हदबन्दी आज तक चर्चित है[2] और 'आंचलिकता' पर प्रहार गुहार के साथ-साथ जारी है जबकि यह आंचलिकता आधुनिक गाँव की पृष्ठ-भूमि से सम्बद्ध एक आंशिक प्रवृत्ति मात्र है, महज़ ऊपर-ऊपर छूने वाली, तरल रागबोध को नये शिल्प की बंदिश में बाँधने वाली, कठोर यथार्थ जीवन-बोध से रहित। सन् १९५० के लगभग यह आंचलिकता आई और उसके पाँच वर्ष बाद हिन्दी कथा-साहित्य में नगरबोध अथवा काफी हाउसी आधुनिकता का जन्म हुआ। यह नागरिक आधुनिकता नयी कहानी की उस शुरुआत पर हावी हो गई जो सन् १९५०-५१ से आरम्भ हो चुकी थी।

यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस प्रकार राजनीति और आर्थिक-क्षेत्र में ग्राम-जीवन की उपेक्षा करके हम देश-देश अन्न की भिक्षा माँगते रहे उसी तरह नयी कहानी जो ग्राम-जीवन की नयी संभावनाओं के साथ आई, वह दबा दी गई और उसके स्थान पर नगरबोध वाली भिक्षान्नजीवी कहानियाँ चर्चित होने लगीं। इस प्रकार एक नया इतिहास जन्मते छटपटाने लगा। 'स्वतंत्रता के बाद के भारतीय इतिहास के अध्याय का सिर्फ एक ही शीर्षक हो सकता है, शर्मनाक भिक्षाकाल! इस भिक्षाकाल की सबसे बड़ी याचक मुद्रा का नाम है—तटस्थता।[3] (इसी तथ्य को आचार्य रजनीश ने भी फिर दुहराया)[4] और इस ऐतिहासिक यथार्थ-बोध के परिप्रेक्ष्य में कथा-साहित्य को देखकर लगता है कि जिस अन्न-संकट की सर्वत्र चर्चा रही और जिसके कारण भारत की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय भिखारी की हो गई उससे कथाकार अपरिचित रहे। 'नकली आधुनिकता के मोह में जो काफी हाउसों, बार या फिर कमरे की घुटन में ही सीमित हो गई है हम अपने देश के सबसे विशाल वर्ग के

१. उक्त पुस्तक में डॉ० बच्चन सिंह का निबन्ध 'परम्परा का नया मोड़—रोमांटिक यथार्थ'।
२. 'ये शहरी सम्बन्ध में जीने वाले लेखक' (डॉ० नागेश्वर लाल) 'धर्मयुग' ३० जून, १९६८ पृ० १७।
३. शिवप्रसाद सिंह 'माध्यम' जून '६६।
४. 'भारत का भविष्य' (आचार्य रजनीश) 'धर्मयुग' १९ मई, सन् १९६८, पृ० ९।

प्रति उपेक्षावान होते जा रहे हैं। क्या यह सही नहीं है कि किसान के जीवन के प्रति आधुनिक-भावबोध के क्षेत्र में कोई आकर्षण नहीं है।[1]

आधुनिकता की एक माँग इस रूप में प्रतिफलित हुई कि कथा-साहित्य देश की उस विशाल समष्टि से कट गया जिसके 'सहित' वह स्वतंत्रता प्राप्ति तक आया। इस विसंगति को राजेन्द्र यादव ने एक नये ढंग से स्वीकार किया है। उनका कहना है, 'आज की कहानी ने समूहगत सामाजिकता को व्यक्तिगत सामाजिकता के रूप में देखने की कोशिश की है।'[2] यह समूहगत सामाजिकता का निरस्तीकरण ही है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ग्रामजीवन को प्रभावित करने वाले तीव्रतर परिवर्तनों के उभरते नये-नये ऐतिहासिक आयाम कथा-साहित्य में अस्पर्शित रह गये। स्वतंत्रता प्राप्ति के ठीक बाद जमींदारी उन्मूलन हुआ, १९५१ से पंचवर्षीय योजनायें शुरू हुईं, १९५२ में पहला आम चुनाव हुआ, विकास प्रखण्ड बने, १९६२ में चीनी आक्रमण हुआ, देश में जागृति आई, १९६४ में जवाहर लाल जाते रहे और देश में भीषणतम मँहगाई का सूत्रपात हुआ, १९६५ में भारत-पाक युद्ध हुआ, १९६७ के आम चुनाव के बाद ९ राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें बनीं और बिगड़ीं, देश के कई भागों में भीषण अकाल पड़ा और भूमि समस्या को लेकर कई आन्दोलन उभड़े। मगर हमारा अन्तर्मुख, भ्रमित, रुग्ण-सा, नकली संत्रास-कुंठा ओढ़े विकृतमन कथाकार इन सबसे एकदम निरपेक्ष रहा। मँहगाई-बेकारी आदि से सरकार अपने तरीके से जूझती रही। योजनायें बनीं, प्रयोग हुए, सफल-असफल हुए, अर्थात् शासन-सरकार के प्रयत्न गाँवों की ओर लौटे मगर कथा-साहित्य नहीं लौटा।

ऐसा लगता है कि नई-नई सामूहिक सामाजिक स्थितियों का सामना करने की उसके पास कोई योजना नहीं। १९६२ से १९६५ तक देश गरम और उत्तेजित रहा। स्व० लालबहादुर शास्त्री ने 'जय जवान, जय किसान' का नारा दिया। 'करो या मरो' के बाद का यह भारतीय जीवन का सबसे रोमांचक नारा भी अनुगुंजित रह गया। जवान और किसान दो नहीं हैं। सीवान में जो किसान है, सीमा पर वही जवान है। गाढ़े वक्त पर किसान से राष्ट्र एक ओर उसका पसीना माँगता है तो दूसरी ओर उसका खून भी माँगता

१. शिवप्रसाद सिंह का उक्त निबन्ध।
२. 'किनारे से किनारे तक' की भूमिका।

है। किसान ने खुशी-खुशी खून-पसीना दिया किन्तु सरकार ने यदि किसान की उपेक्षा की तो साहित्य ने एकदम अपने क्षेत्र से उसे, उसकी सुख-दुख की अनुभूतियों और सम्वेदनाओं को उड़ा ही दिया। यही नहीं, जिसने उसे स्पर्श किया उसका आधुनिकता के अतिरेक में नवलेखन के समीक्षा-मंच से मज़ाक उड़ाया गया।[1] शायद 'भोगे हुए सत्य की अभिव्यक्ति' व्यक्तिगत जीवन का एक अमूर्त और मिथ्या नारा सिद्ध हुआ। 'निष्पक्ष विवेचन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि नयी कविता, नयी कहानी और उपन्यासों आदि के क्षेत्र में ग्राम-जीवन का स्वर दब रहा है। यानी भारतीय किसानों के जीवन के साक्षीभूत साहित्य का नवलेखन में करीब-करीब लोप सा हो रहा है। हमने आधुनिकता की फ़ैशन जीवी तंग आधुनिकता की ऐसी बंदिश मारी है कि सामाजिक यथार्थ से संबंधित कृषक-साहित्य हमारे लिए उपेक्षणीय हो चुका है।'[2]

नवलेखन और ग्राम-जीवन का यथार्थ

इसका सीधा अर्थ है कि नवलेखन में जो कथा-साहित्य आया है वह केन्द्र से कटा हुआ है, उसकी जड़ें उखड़ी हुई हैं, वह मात्र आत्मवंचना और परिणामतः आत्मघाती है; क्योंकि भारतीय जीवन के मेरुदण्ड गाँव हैं। इस सचाई को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता है। लेडी पर्ल बक ने अपने एक निबन्ध 'माई वर्ल्ड टू इण्डिया विद लव' में लिखा है, 'भारत के समस्त युवक भारत के गौरवाभिमानी बनें क्योंकि किसी भी राष्ट्र का निधि गाँवों में ही समाहित है। ये गाँव सभी भावी विचारकों और नेताओं के स्रोत हैं।'[3] सन् १९३४ में पहली बार लेडी पर्ल बक भारत आईं तो उन्होंने गाँवों को देखा जिसका ज़िक्र 'माई सेवरल वर्ल्ड्स' नामक अपनी पुस्तक में किया है और लिखा है, 'चीन में मैंने काफी ग़रीबी देखी पर जब मैंने भारतीय गाँवों को देखा तब पता चला

---

१. द्रष्टव्य है 'विकल्प—२' (नवम्बर १९६७) में राजेन्द्र अवस्थी की पुस्तक 'एक प्यास पहेली' की समीक्षा, पृ० १३१।

२. 'नान्यः पंथा' शीर्षक डॉ० शिवप्रसाद सिंह का निबन्ध 'माध्यम' सितम्बर १९६५ (पृ० २९)।

३. 'लेडीज़ होम जर्नल' जनवरी १९६५ (फिलेडेलफिया)।

कि उनकी तुलना में चीनी किसान सम्पन्न था। केवल रूसी किसान से जिसे मैंने वर्षों पहले देखा था भारतीय किसान की तुलना हो सकती है। यद्यपि वह रूसी भिन्न किस्म का था और अनेक प्रकार से हीन था।'[1]

रूस और चीन में क्रान्तियाँ हुईं और हालत सुधरी। क्रान्ति भारत में भी हुई पर हालत नहीं सुधरी। स्वराज्य आया मगर उसका राजरथ गाँवों की ओर न जाकर नगरों की ओर बढ़ गया। पासा नहीं पड़ा और गाँवों में फिर वही 'लख चौरासी' की दुर्गति शेष रह गई। सारा विकास गाँव के नाम पर आया परन्तु वह नगरों में सिमट गया। गाँव टूटते गये। शहर पर शहर बसते गये। भारत में शहरी जन-संख्या का प्रतिशत कुल जनसंख्या का जहाँ सन् १९३१ में ११.१ था वहाँ सन १९६१ में १७.८४ हो गया।[2] शहरी आन्दोलन, शहरी राजनीति, शहरी साहित्य; कुल टोटल हुआ नवलेखन में नगरबोध, हिन्दी कथा-साहित्य का उपजीव्य! इसीलिये नये कथाकारों की प्रशस्ति में अब यह कहा जाने लगा है, 'रोज़मर्रा की जिन्दगी में वह आधुनिक सुविधाओं के साथ आधुनिक आदमी की तरह रहने का कायल है, बदलते हुए ज़माने के साथ कदम मिलाकर चलने के लिए मजबूर है। यही वजह है कि वह दिल्ली, बंबई, कलकत्ता में ही रहने की बात सोच सकता है, क्योंकि वह मन और कर्म से दो अलग-अलग इकाइयों में विभाजित नहीं है।'[3]

दिल्ली, बम्बई अथवा कलकत्ते में बैठकर देश के दिल की धड़कन नहीं सुनी जा सकती। कथा-लेखक को रोज़मर्रा की जिन्दगी में आधुनिक सुविधाओं के साथ आधुनिक आदमी की तरह जीने का कायल अवश्य होना चाहिये पर जो इस ज़िन्दगी में सारी मेहनत के बावजूद आधुनिक सुविधायें नहीं जुटा पाते, बल्कि आधुनिक कथाकारों के लिये अन्न मुहैया करने में ही टूट जाते हैं, उपेक्षणीय नहीं होने चाहिये। इस क्रम में पटेल आयोग के कुछ आँख खोल देने वाले आँकड़े द्रष्टव्य हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश की कुल आबादी का ९२.६

---

१. **'मेरे अनेक संसार' हिन्दी अनुवाद (राजकमल प्रकाशन) पृ० ४२९।**

२. **'शहरों पर शहर बस रहे हैं' शीर्षक डॉ० अमरनारायण अग्रवाल का निबन्ध, 'धर्मयुग' २७ नवम्बर सन् १९६६, पृ० ९।**

३. **'मोहन राकेश' : 'श्रेष्ठ कहानियाँ' (सम्पादक—राजेन्द्र यादव) में कमलेश्वर का निबन्ध 'मेरा हमदम : मेरा दोस्त', पृ० २०।**

प्रतिशत गाँवों में रहता है। प्रति व्यक्ति वार्षिक आय का औसत १९४.७ रुपया है और ३३ प्रतिशत लोग ही ऐसे हैं जो प्रतिमाह २१ रुपया व्यय करते हैं। शेष लोगों के व्यय का औसत १२ रुपया है। कुछ जिलों में भूमि से सम्बद्ध मजदूरों की मजदूरी ४ पैसा से लेकर १५ पैसा रोज तक है जबकि कुल मजदूरों का ४०.९ प्रतिशत भूमि के साथ लगा है।[1]

जीवन की कठोर वास्तविकता की भूमि ये उपेक्षित ग्रामांचल हैं। आज का कथाकार किस काल्पनिक, निजी, अहंपुष्ट यथार्थ भोग को अभिव्यक्ति दे रहा है? विरूप, संत्रस्त और असंगत जीवन-स्थितियाँ शहर से भीषण गाँवों में हैं। सही वस्तु को सही नाम देने की घोषणा में खोखलापन है। सारी सचाई, यथार्थ और जीवन-सम्वेदना नगर के मध्यवर्ग और उसके प्रेम, विवाह और मूल्य-विद्रोह आदि में ही नहीं सिमटी हैं। देश के दिल की वास्तविक धड़कन सुनने में अक्षम अभिजात विशिष्ट कथाकार पलायित होकर अपने ही दिल की सड़ी धड़कन सुनने में जुट गये हैं। आयातित जीवनदृष्टियाँ जो युद्धोत्तर मूल्य स्खलन और बारूद के धुएँ की घुटन की उपज थीं, यह जानते हुए भी कि अपने विशाल कृषक-संस्कृति वाले मुल्क की प्रकृति से मेल नहीं खातीं 'नयी' होने के आग्रह के साथ नगरबोध के नाम पर प्रतिष्ठित कर दी गई। एक समीक्षक ने नयी कहानी के विकास के पहले चरण का विश्लेषण किया और जीवन की समग्रता के बीच उसकी नयी जीवन दृष्टि को गाँव, कस्बों और नगर के यथार्थ से टकराते देखा। यह सुन्दर शुभारम्भ गाँवयुक्त तो हुआ परन्तु उसके बाद क्या हुआ? गाँव लोप होते गये हैं और सन् १९६० के पहले जो छिटपुट चित्रण-वृत्ति थी भी उसे साठोत्तरी पीढ़ी ने उखाड़ फेंका।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति भी आड़े आ गई और जैसे उसपर रूस-अमरीका के दोहरे अनुशासन की छाया पड़ी, उसी प्रकार ऐहिक भोगपरक भौतिकवादी योरोपीय संस्कृति अमरीकी हिप्पियों के साथ साहित्य में भी उतरने लगी। सार्त्र, कामू और काफ्का के झंडे लहराने लगे। नकली पीड़ा के

---

१. उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिला की आर्थिक, सामाजिक आदि समस्याओं का अध्ययन करने के लिये प्लानिंग कमीशन की ओर से श्री वी० पी० पटेल की अध्यक्षता में आयोजित ज्वाइन्ट स्टडी टीम की १९६४ ई० में प्रकाशित विस्तृत रिपोर्ट के पृष्ठ ७ से लेकर १८ तक के बीच।

असली नये अन्दाज़ नये नगरबोध बनाम आधुनिकता बोध के अभिनव ताम-झाम के साथ उभरे जिन्हें सांस्कृतिक संघर्ष की संज्ञा दी गई। यह ऐसा सांस्कृतिक संघर्ष रहा जो देश के ९० प्रतिशत लोगों से असम्पृक्त रहा। मुट्ठी भर नगर के खाते-पीते मध्य और उच्चवर्गीय लोग इस अंध संघर्ष की रेवड़ी को बाँटते-खाते रहे। देखते-देखते वह विशाल भू-भाग जिसे ग्रामांचल कहते हैं साहित्य से कट गया और आज कुल साहित्य-भूमि काफी हाउस, रेस्तरां, पार्क, सड़क, सिनेमा, फ्लैट्स, लड़कियों और आफिसों आदि में सिमट गया है।

कहा जाता है कि अनुभूति की प्रामाणिकता के तकाजे पर कथा-लेखक समुदाय जिसके लिये फिट जगह नगर है और जो आज वहीं रहता है, अपने जिये हुए क्षणों और भोगे हुए सत्य को रूपायित करने में लगा है और इस प्रकार सहज ही जो साहित्य-सर्जन होता चलता है उसमें नगरबोध के स्वर की प्रधानता अपरिहार्य है। किन्तु यह अधूरा सत्य है। वास्तविकता तो यह है कि आज प्रचार, उछाल, स्वीकृति, प्रस्थापन-विस्थापन और घुसपैठ के युग में हर रचनाकार शीघ्र लोकप्रिय होना चाहता है अतः वह दूरवर्ती बीहड़ श्रमसाध्य जनमार्ग छोड़कर विशिष्ट राजमार्ग अपना लेता है यानी वह सामान्य जनता के लिये न लिखकर ड्रेन पाइप पहन कर घूमने वाले छोकरों और सेठिया लोगों की आधुनिक कही जाने वाली बहू-बेटियों के लिये अथवा लेखकों-समीक्षकों के लिए लिखता है। व्यावसायिक मनोवृत्तियों के दबाव भी काम करते हैं और 'गँवई गाहक कौन' की स्थिति बनी रहती है। चुनाव के दौरान में अपने निर्वाचन क्षेत्र में, गाँवों के बीच झोपड़ी बनाकर रहने की घोषणा करने वाली विजयी राजनेत्री त्यागपत्र देकर बम्बई में बसने, काबुल मास्को की यात्रा करने और अमरीका में घूम-घूम कर भाषण देने की इच्छा प्रकट करती है।[1] 'गाँव की ओर लौटो' के नारे का मिथ्यात्व खुलता जा रहा है। जीवन के नये संदर्भ, नये आयाम और नये परिप्रेक्ष्य जो कथा-साहित्य में उभरे वे समूचे नगर के रहे। एक दूरागत अभुक्त स्वाद-लालसा के रूप में स्वर्गीय राजकमल चौधरी भी गाँव में ही रहने का निश्चय अवश्य करते हैं[2] और उसे

---

१. १६ जुलाई १९६८ को भारत के विभिन्न समाचार पत्रों में छपे हुए श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित से सम्बन्धित समाचार के अनुसार।

२. 'युयुत्सा' अगस्त १९६७ के राजकमल स्मृति अंक में प्रकाशित स्व० राज-कमल चौधरी द्वारा लिखा गया श्री शंभुनाथ मिश्र को पत्र, पृष्ठ १९०।

छोड़कर कहीं आने-जाने का उनका मन नहीं करता परन्तु उनके साहित्य को देखते यह मात्र आत्मवंचना ही सिद्ध होती है ।

नगर से निर्वासित ईश्वर 'भूखा ईश्वर'[1] बनकर गाँवों में घूम रहा है । 'फटी मैली धोती, धँसी आँखें, लाचार कदम ! ईश्वर स्वयं अपने रूप पर सिहर उठता है ।'[2] 'प्रजातंत्र आया तो उसकी और दुर्गति हुई और वह ईश्वर भागकर स्वर्ग पहुँचा । द्वारपाल कहता है या तो 'परवाना' दिखाओ अथवा 'सोना' दो । इस पर 'ईश्वर' अपना परिचय देता है तो द्वारपाल अविश्वास प्रकट करते हुए कहता है, 'मेरा मालिक तो अब भी धरती पर पड़ा हुआ है । वह देखो शहर के बीचोबीच ईश्वर आराम कर रहा है । वहाँ उसे स्वर्ग से भी ज्यादा आराम है ।'[3] शायद द्वारपाल ठीक है और आज के स्रष्टा, आज के रचनाकार, आज के मानव-ईश्वर नगर के स्वर्ग-सुख के भीतर गाँव के अभागे बिलबिलाते ईश्वरों की स्थिति से पूर्ण अपरिचित अपने विशिष्ट नगर-बोध की सृष्टि में तल्लीन हैं ।

ग्राम-जीवन के कथाकार

एक ओर जहाँ हिन्दी में कहानियों और कहानीकारों की भारी बाढ़ आई, 'नयी कहानी' ने अपना मर्यादित स्थान बना लिया और आधुनिक साहित्य की केन्द्रीय विधा के रूप में चर्चित होने लगी,[4] दूसरी ओर अब ग्रामजीवन अथवा भारतीय कृषक जीवन को उकेरने वालों की तलाश करने पर निराश होना

---

१. डॉ० धर्मवीर भारती के कहानी-संग्रह 'चाँद और टूटे हुए लोग' की एक कहानी का शीर्षक ।

२. उक्त कहानी, पृष्ठ ७९ ।

३. 'चांद और टूटे हुए लोग' (भारती) पृष्ठ ८१ ।

४. नागपुर कथा-सम्मेलन : रिपोर्ट 'धर्मयुग' ९ जून, १९६८ । 'केन्द्रीय विधा की तलाश' (राजेन्द्र यादव)—

'शताब्दियों तक केन्द्रीय विधा रहने के बावजूद कविता पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में उतनी सार्थक दिखाई नहीं देती जितनी कहानी । इस अवधि की सारी बौद्धिक, सम्वेदनात्मक चेतना और चिन्तना का आलम्बन कहानी रही है ।'

पड़ता है। शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, अमरकान्त, रेणु, शैलेश मटियानी, पानू खोलिया, भैरवप्रसाद गुप्त, विष्णु प्रभाकर, शानी, हिमांशु जोशी, नागार्जुन, मधुकर गंगाधर, राजेन्द्र अवस्थी, रांगेय राघव, रामदरश मिश्र और केशव चन्द्र मिश्र आदि नये-पुराने सशक्त हस्ताक्षर नये क्षितिज पर उगे अवश्य पर इनमें से कुछ को छोड़कर शेष कभी कभी ही गाँवों की ओर जाने वाले लगते हैं। कुछ लोग बहुत दूर जाकर और गहरी लीक बनाकर भी नगरबोध के गहरे आकर्षण में खिंच आये। मार्कण्डेय के चार कहानी संग्रह 'पानफूल' (१९५४), 'महुए का पेड़, (१९५५), 'हंसा जाइ अकेला' (१९५७), और 'भूदान' (१९५८) ग्रामजीवन के विधिवत विशाल आलेखन के रूप में क्रमशः सामने आये। उनमें ग्राम-जीवन से एक सहज लगाव-वृत्ति, नैकट्य और अपनापन झलकता है। मगर सन् १९६० आते-आते व्यापक राष्ट्रीय मोहभंग के साथ उनका ग्राममन भी उखड़ जाता-सा प्रतीत होता है। इस समय के प्रकाशित उनके पाँचवें कहानी संग्रह 'माही' और उसकी चुनी हुई श्रेष्ठ कहानियों का संक्षिप्त संकलन 'तारों का गुच्छा' में नये रागबोध बनाम नगरबोध अथवा आधुनिकता बोध का स्वर ऊपर आ जाता है। क्या कथ्य, क्या शिल्प, सर्वत्र पहचान को धोखा होता है। उनकी 'पेचीदा' और 'सेक्सी कहानियों' पर कहीं अश्क जी झल्लाते हैं[1] तो कहीं श्रीपत राय निराश होते हैं और कहते हैं, 'इधर देखता हूँ तो मार्कण्डेय अपनी मानसिक सुस्पष्टता छोड़कर उलझाव की ओर प्रवृत्त हुए हैं। शायद उनको यह भ्रान्ति है कि उलझाव, अस्पष्टता के अवयव हैं जिनसे गहनता का भास होता है—या शायद उनको अपनी मानसिक शक्तियों पर भरोसा नहीं रहा है।'[2]

भरोसे का सन् १९६० के लगभग ही टूटना एक ऐतिहासिक क्रम है। यह ग्राम कथानकों के गिरावट का काल है। सन् १९५७ में जो मार्कण्डेय गहरी जनजीवन-सम्पृक्ति की अनुभूतियों से उद्वेलित हैं और जिनका विचार है कि 'जनता का जीवन ही वह धरातल है, जहाँ लेखक अपने अनुभव संगठित करता है।...गाँव के जीवन में नयी दृष्टि का समावेश करना तथा वहाँ के जीवन की परिवर्तित दिशा को पुरानी पीठिका में देख पाना ही नयी कहानी के सृजन

१. 'हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय', पृष्ठ २५२।
२. 'कहानी' नववर्षांक १९५९ में सम्पादकीय टिप्पणी।

में सहायक हो सकता है ।'[1] एक वर्ष बाद तक जिनका आग्रह और प्रबल रहता है, (शायद १९५७ के साहित्यकार-सम्मेलन में पठित शिवप्रसाद सिंह के निबन्ध का प्रभाव था।) और जो गाँव की कहानियों को फीकी बताने वालों को आड़े हाथ लेते हैं, ग्राम-कथानकों में नयी ताज़गी, नयी मर्मस्पर्शिता के प्रसंग उठाते हुए कहते हैं, 'कहानी को सशक्त साहित्य-विधा के रूप में एक बार फिर विचार-विमर्श का केन्द्र बनाने का श्रेय इन्हीं ग्राम-कथानकों को है।'[2] वही मार्कण्डेय १९५९-६० तक नगरबोध ओढ़कर सो रहते हैं । कथा-साहित्य के इतिहास में यह एक चिन्ता का अध्याय है। अपने छठवें कहानी संग्रह 'सहज और शुभ' (१९६४) में पुनः उलझाव छोड़कर मार्कण्डेय ग्राम-जीवन की ओर लौटते हैं। शायद 'माही' पर आई प्रतिक्रियाओं का यह प्रभाव रहा।

एक हीनत्व-ग्रन्थि कहानी लेखकों में शायद है और वे शायद यह सोचते हैं कि निम्नस्तर के ग्रामजीवन पर लिखकर वे उच्चस्तर के आधुनिक कथाकारों की कोटि में नहीं आ सकेंगे। नगर कथाकारों के प्रेस और प्रचार-साधनों का भी आतंक है। उद्योगीकरण की चकाचौंध तो आँखों में समाती है पर कृषि-विकास की पहल ओझल हो जाती है। कहानियों में रेणु भी समग्र ग्राम-जीवन को नहीं उठाते। उनकी आंचलिकता एक विशिष्ट दिशा है। उनका पहला कहानी-संग्रह 'ठुमरी' वास्तव में ठुमरी है, शाश्वत-स्वर-सम्पन्न । उसमें गाँव के समसामयिक परिवर्तित जीवन का स्वर, नयी सामाजिकता के संकेत विरल हैं। उसमें गाँव के कोमल, सनातन क्लासिक स्वर की पकड़ है, एकहरी ग्राम-संस्कृति का निखार है, तेहरी-चौहरी विकृति का उभार नहीं है। दूसरे संग्रह 'आदिम रात्रि की महक' में गाँवों के विघटन का स्वर प्रमुख है। परन्तु आधुनिक नगरबोध का प्रभाव भी कम नहीं । किसनलाल, हरबोलवा, फातिमादि और गनपत आदि जीवन्त-चरित्र हैं परन्तु वास्तव में गाँव के परिचित औसत चरित्र नहीं हैं। रेणु के साथ प्रश्न आंचलिकता का उठता है। "आंचलिकता के साधन तत्त्व हैं विशेष जनपद की संस्कृति के चित्रण, आस्था, रूढ़ि, सन्देह, आत्मविश्वास के यथातथ्य अंकन, लोकजीवन, गीति-नृत्य, लोकभाषा, मुहावरे का प्रयोग आदि। अर्थात् ग्राम-कथानकों पर आधारित कहानियों में

---

१. **'हंसा जाइ अकेला' की भूमिका में ।**

२. **'भूदान' की भूमिका (मार्कण्डेय)।**

यदि ये तत्त्व साधन न होकर साध्य हों तभी उन्हें आंचलिकता की संज्ञा दी जा सकती है।'[1] यहाँ ग्रामकथानक और आंचलिकता का पार्थक्य स्पष्ट है। साधन रूप में प्रयोग न कर जहाँ भी इसे लक्ष्य मान लिया गया है वहाँ इसकी अति ग्रामकथा को मात्र अजूबा बनाकर रख देती है। इसीलिये शिवप्रसाद सिंह इसे एक दुर्बलता मानते हैं।[2] नामवर सिंह इसे 'लोक जीवन के अन्तर्वैयक्तिक सामाजिक सम्बन्धों की समझ' का विकास मानते हैं।[3] मधुकर गंगाधर इसे 'एक किस्म की मानसिक स्थिति और कथागत दृष्टिकोण' मानते हुए इसका उत्स अमरीका को मानते हैं और कहते हैं 'स्वतंत्रता मिली तो इन्हें स्वस्थ नागरिकता की भूख जगी। अपने कण-कण को महत् बनाकर उजागर करने का प्रयास शुरू हुआ। हमारी आंचलिकता के मूल में भी वे ही बातें हैं।[4] सब मिलाकर इन्द्रनाथ मदान फरमाते हैं, 'इसके मूल में आधुनिकता की प्रक्रिया क्रियाशील थी।'[5] और वास्तव में यही आधुनिकता अर्थात् नगरबोध ग्राम-कथाओं के स्वस्थ विकास में बाधक है।

नये कथा दशक में राजनीति की तरह साहित्य की राजधानी भी दिल्ली हो जाती है। साहित्यिक मान्यताओं और स्थापनाओं के लिये रचना गौण और रचना के स्वरूप संदर्भ पर आयोजित गोष्ठियों की चर्चायें प्रमुख हो जाती हैं। ऐसे ऐतिहासिक मौके पर यदि शिवप्रसाद सिंह ने कथा-साहित्य में ग्राम-जीवन की सापेक्षता को भरपूर शक्ति से नहीं उठाया होता तो उसका भी वही हश्र होता जो आज राजनीति में हो चुका है। शिवप्रसाद सिंह के अब तक के प्रकाशित चारों कहानी-संग्रह 'आरपार की माला' (१९५५), 'कर्मनाशा की हार' (१९५८), 'इन्हें भी इन्तजार है' (१९६१) तथा 'मुर्दा सराय' (१९६६) में सर्वत्र परिवर्तनशील ग्राम-जीवन की ही प्रधानता है। 'इन्हें भी इन्तजार है' की भूमिका में नगरबोध और आयातित विदेशी संस्कृति के कुप्र-

---

१. 'हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृ० २७५।
२. 'हिन्दी कहानी : संदर्भ और प्रकृति', पृ० १४४।
३. 'कहानी : नयी कहानी', पृ० २२।
४. 'ज्ञानोदय' समकालीन कथा-विशेषांक सन् १९६४, पृ० १९६।
५. 'हिन्दी कहानी—अपनी जबानी', पृ० ४२।

भावों से विषण्ण नयी कहानी के संदर्भ में उन्होंने लिखा है', '...प्रेमचन्द की कहानियों की नींव पर विकसित हिन्दी-कथा-साहित्य उन झंझावातों से जरा भी विचलित नहीं हुआ जिन्होंने नयी कविता को भारतीय काया बदलने के लिये विवश कर दिया।' शिवप्रसाद सिंह में उलझाव नहीं है। सर्वत्र स्पष्टता और भारतीय ग्राम-जीवन के प्रति एक सही दृष्टि है। अपने निबन्ध 'आज की हिन्दी-कहानी : प्रगति और परिमिति' में उन्होंने प्रश्न जातीय साहित्य का उठाया और स्पष्ट रूप से लिखा कि आज की हमारी शहरी कथायें उस जातीय साहित्य की कोटि में नहीं आतीं जिसमें किसी भी देश की जनता के जीवन और संघर्ष आदि का चित्रण होता है। उन्होंने शहरी तथा ग्राम-कथा नाम को बेमानी बताते हुए इसके प्रचलन के भीतर छिपे तथ्यों का उद्घाटन किया : 'यह शब्द शहर के कथाकारों ने उस अछूत साहित्य से अपने को भिन्न करने के लिए प्रयुक्त करना शुरू किया जिसे ग्राम-कथा कहा जाता है। तमाशा यह कि यह 'ग्रामकथा' नाम भी उन्होंने ही प्रदान किया है और वे ही शोर कर रहे हैं कि ग्रामकथा और शहरकथा का विभाजन गलत है।...पर यह सही इसलिये है कि उन्होंने ग्रामकथा को अप्रतिष्ठित करने के प्रयत्न में इस शब्द को बहुत प्रचलित कर दिया है।[1] शिवप्रसाद सिंह बमुकाबल आंचलिकता के इस ग्रामकथा शब्द को अधिक व्यापक मानते हैं। वे आंचलिकता को एक प्रवृत्ति और इसके अतिरेक को एक दोष मानते हैं। वास्तव में उनमें ग्राम-कथा का प्रामाणिक स्वर है जो बहुत संयत और गंभीर है। उसमें वाह्य भम्भड़ और उखाड़-पछाड़ नहीं, बल्कि अन्तर्मर्म की उद्घाटन-वृत्ति है। इस आधुनिक ग्रामकथा के प्रामाणिक स्वर को उनकी कहानी 'सुबह के बादल'[2] में इस बेजोड़ रूप में देख सकते हैं।

'सुबह के बादल' का ताज़ा-ताज़ा सूर्योदय नवार्जित भारतीय स्वाधीनता का प्रतीक है जिसके परिप्रेक्ष्य में कथाकार 'दीनू' को किलकती स्वाधीनता की गलियों में छोड़ देता है लेकिन दो कदम के बाद ही जैसे वह बुझ जाता है। आगे है 'त्रास की स्थिति' जहाँ सुदामी डण्डा और गालियाँ लिये बैठी है।

१. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति (देवीशंकर अवस्थी), पृ० १३७ से १४७ तक।

२. 'इन्हें भी इन्तजार है' नामक संग्रह के अन्तर्गत संकलित एक कहानी।

भयावने बादलों के नीचे रागहीन घूर-सी खामोश ज़िन्दगी, एक चुकी-सी पीढ़ी, न खीझ न आक्रोश ! कुण्ठा, त्रास, पीड़ा और गरीबी की एक लम्बी कतार; दीनू, उसकी माँ, बहिरा, घूरे लाल, हरिया, राजी, मुंशी जी और सुदामी। जिनके बीच चलती बोलीबाजी, हँसी और लंगी मार कर गिरा देने वाली छोटी-मोटी घटनायें भी बड़ा अर्थ रखती हैं। युग की बेहूदगियों, बदतमीज़ियों, कृत्रिम-सभ्यता, राजनैतिक दकियानूसी और पीढ़ियों का विद्रोह 'कुसली' बनकर गली-गली ऐसे बिछी हुई हैं कि मुंशी जी जैसे बुजुर्ग लोग लोग फिसल कर गिर पड़े। ऐसा घनघोर टूटन और दर्द में डूबा बालक दीनू का गाँव। बाहर से किलकारी मारता 'हुर्र से' वह घर की ओर भागता आता है। यहाँ सारा घर लोहबान और किसी तीखी गंध से भरा है। शायद राजी ने अभी कै की थी। उसकी माँ का कलेजा छनछना रहा है, 'बाप रुपया कमाने गया है, हंडा लाने।' एक ही वाक्य में सारा आहत अस्तित्व हाय-हाय कर रहा। बेटे की ओर झुकती है, 'तू साढ़े साती पैदा हुआ।' घर में एक रोगी है, मुठ्ठी भर भी अन्न नहीं, फिर गुम-सुम बैठे माँ-बेटे एक दूसरे को कनखियों से देखकर आँसू बहाते हैं। मौसम बहुत उदास और गलियाँ सुनसान हैं। लोग हैं कि ज़िन्दगी की आग खतम हो गई है। सर्वत्र भय है। हरिया बाबू साहब के नाम पर, घूरे लाल अपनी उमर पर, सुदामी अकेलेपन पर और दीनू अनेक बातों को लेकर भयभीत है। इस संत्रास-स्थिति को आसाढ़ी बूँदाबाँदी और गाढ़ा रूप देती है। पूरी कहानी में बहुत खूबसूरती से आसाढ़ गमक रहा है, यद्यपि कथाकार कहीं उसका नाम नहीं लेता है। ओल्हा पाती के खेल में, बैलों के भागने में, कुसली और बेहन में सर्वत्र ऊमस वाले इस मास की चिपचिपी अनुभूति है। बाहर-भीतर सर्वत्र घुटन, स्थितियों का ऐसा दबाव कि विद्रोह घुटने टेक कर समझौता कर लेता है। 'आदमी' मर जाता है। गलत लगता है कि राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्ति मात्र से हम मुक्त हैं। संत्रास के कितने मकड़जाल किस-किस द्वार पर नहीं जकड़े हैं? सबका साक्षी बालक दीनू है। उसमें सुगबुगाता विद्रोह नयी पीढ़ी का विद्रोह है। लेकिन यह पीढ़ी अनेकशः व्यर्थताओं और अर्थहीनताओं में इस प्रकार उलझी है कि विद्रोही 'ग़मखोर' हो जाता है। वह भीतर-भीतर गम दबाकर बाहर हँसी 'अर्जित' करता है। एकदम खोखली हँसी, दबे-घुटे गाँव की हँसी, क्षुब्ध, आहत, टूटी, झूठी और उच्छृंखल हँसी।

ग्रामकथा का प्रामाणिक स्वर 'सवा रुपये' (अमरकान्त), 'गदल' (रांगेय

राघव), 'कोयला भई न राख,' (केशवचन्द्र मिश्र) 'कल्यान मन,' (मार्कण्डेय), 'काला कौआ' (शैलेश मटियानी), 'विघटन के क्षण' (रेणु), 'सूखी मछलियों की गंध' (शानी), 'चरमबिन्दु' (भैरवप्रसाद गुप्त) और 'खंडहर की आवाज़' (रामदरश मिश्र) में भी है। कथाकारों ने स्वतंत्रता के बाद वाले बदलते जीवन-संदर्भों और संघर्षों को रूपायित करने की चेष्टा की है। निश्चय ही गाँव में बदलाव की गति धीमी है और संघर्ष अथवा टूटन उतने तीव्र नहीं हैं जितने नगरों में और इसीलिए हृषीकेश जैसे समीक्षकों को ग्रामकथाओं में 'उत्कट संघर्ष का चित्रण सतही या न्यून'[1] दिखाई पड़ता है। वास्तव में ऐसे आलोचक ग्रामकथा बनाम आंचलिक कथा के भ्रम का शिकार हो जाते हैं। ग्रामजीवन एक विशेष मनोदशा है, एक सहज सरल वृत्ति है और भारतीय जीवन का शाश्वत रागबोध है। वह अकृत्रिम तलवर्ती संस्पर्श है। इसे गाँव में ही नहीं, शहर के जीवन में भी जीते हुए अगणित सुख-दुख की मूरतों में उतारा गया है। प्रेमचन्द की कहानी 'गुल्ली डंडा' की ही भाँति 'कोसी का घटवार' (शेखर जोशी), 'गुल की बन्नो' (धर्मवीर भारती), 'आर्द्रा' (मोहन राकेश), 'धरती अब भी घूम रही हैं' (विष्णु प्रभाकर), 'रानी माँ का चबूतरा' (मन्नू भंडारी), 'डिप्टी कलक्टरी' (अमरकान्त) और 'देवा की माँ' (कमलेश्वर) आदि कहानियों को भी हम ग्रामकथा की स्पिरिट में लेंगे। इनमें अपने देश की सुपरिचित धरती के एक विशिष्ट रस का निखार है और जीवित जीवन है, विजातीयता रहित मूल-चेतना का संरक्षित कोष है; कुंठा और संत्रास भी है, बेतुकी स्थिति भी है परन्तु सब मिलाकर अपरिचय और शंका नहीं झेलना पड़ता है। शिवप्रसाद सिंह ही यह नहीं कहते हैं कि ग्रामकथाओं ने 'हिन्दी कहानी की पूरी आत्मा बदल दी', डाक्टर नामवर सिंह भी कहते हैं, 'इन कहानियों ने निरर्थक प्रतीत होने वाले वर्तमान जीवन में भी शक्ति और सौन्दर्य की झलक दिखाकर जीवन की सार्थकता में आशा बँधाई हैं।'[2] सच तो यह है कि नयी कहानी का आन्दोलन 'ग्रामकथा' से ही शुरू हुआ जिसे डॉ० नामवर सिंह 'दादी माँ' कहानी के उल्लेख के साथ स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'नयी कहानी में रचनात्मक खोज की शुरुआत यहीं से हुई।'[3]

---

१. 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति' पृ० ७७।
२. वही, पृ० ७२।
३. वही, पृ० २३६-३७।

ग्रामकथा और आधुनिकता

एक बात और, नयी कहानी में, किसी विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में अंकित उन कहानियों को जो ग्रामजीवन पर आधारित हैं उसी संदर्भ की नगर-कथाओं की तुलना में बहुत सशक्त, प्रभावशाली और प्रामाणिक पाते हैं। डा० नामवर सिंह कहते हैं, 'मध्यवर्गीय जीवन को लेकर लिखी हुई आज की शायद ही कोई वास्तविक कहानी ऐसी हो जिसमें जीवन का स्वस्थ सौन्दर्य और मानव की ऊर्जस्वित शक्ति मिले। इसके विपरीत गाँव के जीवन को लेकर लिखी हुई कुछ कम वास्तविक कहानी में भी ऐसे वातावरण तथा चरित्रों के दर्शन हो सकते हैं।'[1] नयी कहानी में बिखराव, टूटन, विघटन और 'संयुक्त परिवार के उखड़ते मूल्यों' का चित्रण खूब हुआ है। ज्ञानरंजन की कहानी 'शेष होते हुए' अथवा 'पिता'[2] में नगर के मध्यवर्गीय परिवार के बिखराव को अंकित किया गया है। यही स्थिति शैलेश मटियानी की कहानी 'पुरुखा'[3] में है जिसमें गाँव के एक किसान परिवार को उठाया गया है। 'शेष होते हुए' में मझला एक तटस्थ द्रष्टा की भूमिका में प्रतीत होता है। उसमें सबके 'नकली ढंग से व्यतीत' होने का अहसास है और उसे लगता है कि,'सब लोग किसी एक स्थान से नहीं, अलग-अलग जगहों से आये हैं। 'परिवेश की घुटन और ऊमस भी खूब उभरती है, परन्तु कोई वैयक्तिक अन्तर-रस की छनछनाहट नहीं मिलती है। 'पुरुखा' में आनन्द सिंह थोकदार परिवार के प्रधान हैं। वे तटस्थ द्रष्टा मात्र नहीं, नियोक्ता और भोक्ता हैं। ग्राम-मन की सहजानुभूतियों का उद्घाटन उनमें निःशब्द होता चलता है। विघटन-संघटन का यहाँ मानसिक अनुभूत्यात्मक घात-प्रतिघात बहुत जीवन्त है। परिवार टूटने का दर्द किसमें है? इस दर्द को वह जी रहा है जो 'पुरुखा' है और उसके विशिष्ट व्यक्तित्व की यही चरम सार्थकता है। इसी प्रकार नयी कहानी की एक थीम 'तीसरे का प्रवेश है' जिसे कमलेश्वर की कहानी "तलाश', मोहन राकेश की कहानी 'ग्लास टैंक' और दूधनाथ सिंह की कहानी 'रक्तपात' तथा मन्नू भंडारी की कहानी 'तीसरा आदमी' में देख चुके हैं जहाँ अपने विविध आयाम के साथ

---

१. **'कहानी और नयी कहानी', पृ० ३८।**

२. **दोनों कहानियाँ ज्ञानरंजन के कहानी संग्रह 'फेंस के इधर-उधर' में।**

३. **मटियानी का कहानी-संग्रह 'सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ'।**

आलोच्य थीम उभरती है, परन्तु यही थीम कुणाल श्रीवास्तव की कहानी 'पराया बेटा'[1] में जब ग्राम-जीवन के नये बिन्दु पर संदर्भित दिखाई पड़ती है तो घिसी-पिटी मध्यवर्गीय कृत्रिम जीवन-स्थितियों से पार्थक्य के कारण विशेष सहज और प्रामाणिक प्रतीत होती है। आधुनिकता के नाम पर जो अन्धाधुन्ध नवलेखन प्रस्तुत हुआ है वह सिमटा, एकरस और मात्र यौन तनाव, विकृति, सेक्स और लड़कीवाद की खानाबन्दी में जकड़ा हुआ है। कहने भर के लिये उसमें परिवर्तित नये जीवन-संदर्भों के भुक्त सत्य की अभिव्यक्ति है। उसे देखते सतीश जमाली का यह कथन कि सन् १९६० के पश्चात् का अधिकांश लेखन 'शहरी साहित्य' तथा 'टी हाउस और काफी हाउस' का साहित्य होकर रह गया है,[2] शतप्रतिशत सही प्रतीत होता है। कहने के लिए यह भी कहा जाता है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बाद की असफलता अन्य टूटन और नेताओं के प्रति व्यापक मोहभंग की प्रतिक्रिया में यह नये बोध की कुंठित-त्रासित अन्तर्मुखता आई है पर यदि ऐसा होता तो भारतीय कृषक-जीवन की एकान्त उपेक्षा क्यों होती ? वास्तव में यह पश्चिमी अस्तित्ववादी दर्शन की लीला है। उत्कट देहभोगवाद और भीषण अभाव के संघर्ष की, विसंगति की यह विकृति है। महानगर बोध को मोटी घुटी धूमगंध से गाँवों की 'आदिम रात्रि की महक' दबती चली जा रही है। आधुनिकता के नाम पर कहानी की पृष्ठभूमि में रह गया मात्र नगर का मध्य और मध्य-उच्चवर्ग। शायद इसीलिए साहित्यिक-संदर्भ के स्तर पर नयी कहानी आन्दोलन को जैनेन्द्र जी 'फालतू' कहते हैं।[3]

सन् १९६८ में प्रकाशित दो चर्चित कथा-संग्रह 'अपने पार' (राजेन्द्र यादव) और 'फेंस के इधर और उधर' (ज्ञानरंजन) को देखने पर स्थिति स्पष्ट हो जाती है। 'फेंस के इधर और उधर' में एक दर्जन कहानियाँ हैं 'और नए बोध, सेक्स की खोज, ऊब और त्रास के धागों से बुनी हैं। उच्चवर्ग का दर्पस्फीत विशिष्टता-बोध मध्यवर्ग और उसके संस्कारों पर व्यंग्य करता है।[4] 'दिवा-

---

१. 'धर्मयुग' ६ जुलाई, १९६७, पृ० १९।

२. 'चोरी बनाम अश्लीलता...बनाम हिन्दी कहानी' 'कल्पना' अगस्त १९६८, पृ० ३७।

३. 'कहानी : अनुभव और शिल्प' (जैनेन्द्र कुमार), पृ० ९३।

४. 'फेंस के इधर उधर (ज्ञानरंजन), पृ० ६८, ६३, १०४।

स्वप्नों' में पहले पुरानी अविवाहिता प्रेमिका मीरा फिर नयी विवाहिता प्रेमिका मिसेज़ भट्टाचार्य और फिर प्राइवेट गर्ल डेज़ी के पीछे सपनों का जाल बुनता इन्दो जी रहा है। 'कलह' में परिवार के मालिक (पिता) के एक अति अवांछनीय सम्बन्ध का अहसास सारे सम्बन्धों को झकझोर रहा है। इसी प्रकार शेष कहानियों में काफी हाउस, तल्खी, असफल प्रेम, पड़ोस की लड़की और फिर 'छलाँग' यानी उम्र की छलाँग कि कुमारी तक न पहुँच कर उनकी माँ श्रीमती ज्वेल तक पहुँच जाना, अति आधुनिक-यथार्थ; अन्तिम दो कहानियाँ पारिवारिक हैं और महानगर के अभिजात संस्कारों तथा उनके टूटन के परिवेश को प्रस्तुत करती हैं।

दूसरे महत्त्वपूर्ण और प्रतिनिधि संग्रह 'अपने पार' (राजेन्द्र यादव) में बदलती ज़िन्दगी को 'लोगों-चीजों के प्रति रूमानी सम्बन्ध जटिल और संश्लिष्ट होते जा रहे हैं' के तीव्र अहसास के साथ प्रस्तुत करते हैं, पर यह सारा बदलाव नगर के एक विशेष वर्ग में होता है, जहाँ 'शहर की यह रात और' में कथाकार 'नाइट स्काई आफ कैलकटा...' से कथारंभ करता है। एक 'मेहमान' है उच्चवर्ग का और होस्ट में हीनभावना का जायज़ा कथाकार ले रहा है। 'दायरा' नगर की मजबूरियों से भरा कृत्रिम जीवन है तो 'फ्रेंचलेदर' एक आधुनिक जीवन भोग का पूरा मज़ाक। केसरी क्लर्क एक ही पाकिट में रामायण का गुटका और फ्रेंचलेदर लिये रहने की मजबूरी जी रहा है। (मुद्राराक्षस की एक कहानी[1] की एक पात्रा फ्रेंचलेदर में डबल रोटी का चूरा लेकर धर जाती है।) 'अनुपस्थित सम्बोधन' में लड़की सीमा, उसका बेपर्द अवचेतन और अन्त में 'चुनाव' मगर वह दूसरे प्रकार का चुनाव है, आम चुनाव नहीं। अर्थात् सभी कहानियों में उभरे एक से एक आधुनिकता के तेवर, नगर-जीवन की विसंगतियाँ और अभिजात मुद्रायें।

कमलेश्वर के संग्रह 'खोई हुई दिशायें' और 'मांस का दरिया' में अधिकांश कथाभूमि दिल्ली महानगर है, लेकिन 'नीली झील' में पहुँचकर लेखक सामान्य जन-जीवन की मर्मानुभूति को अन्तर्भुक्त कर देता है। इस कहानी में 'निर्माण' के प्रति उपरति का स्वर आदि से अन्त तक है। महेसा में ग्रामीण-मन है, अत्यन्त भोला और भावुक! वह पहली वार सड़क-निर्माण से भागता है और

---

१. जुलाई १९६८ की 'सारिका' में प्रकाशित कहानी 'प्रियदर्शी' शीर्षक।

दूसरी बार मंदिर-निर्माण से। उसमें अहिंसा वृत्ति नहीं, अतृप्त काम वृत्ति है। आरंभ में वह एक युवती मेम की नीली आँखें देखकर कंटकित होता है और उसकी प्रतिक्रिया में वह पार्वती पड़ाइनि की ओर झुकता है तथा अन्त में उसी भीतर जमी कामकुंठा के झोंक, उन नीली आँखों की अप्राप्ति की अन्तिम प्रतिक्रिया में इस नीली झील को खरीद लेता है। यहाँ सामान्य जीवन बोध और युग-बोध को कमलेश्वर एक मंच पर समानान्तर प्रस्तुत कर रहे हैं। लेकिन विशाल हिन्दी कथा-साहित्य-जगत में ऐसे प्रस्तुतीकरण की हवा नहीं दीखती। 'पिता' शीर्षक लिखी इधर की कहानियों की तुलना में शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'एक यात्रा सतह के नीचे' तथा अकेलापन और ऊब व्यक्त करने वाली थीम पर उन्हीं की लिखी हुई कहानियाँ 'नन्हो', 'मुरदा सराय', 'इन्हें भी इन्तज़ार है' और 'अरुन्धती' आदि प्रत्येक प्रकार से आधुनिक युगबोध को छूती चलती है। सिर्फ इन्हें ग्रामकथा मानकर अलग कर देने से नयी कहानी के नये आयाम ही खिसक जायेंगे। हिन्दी कहानी-क्षेत्र में दुर्भाग्यवश यही हुआ है। आधुनिकता और नगरबोध के दबाव से भारतीय जीवन के सही आधुनिक आयाम अनखुले रह गये और आज की कहानी से गाँव लापता हो गया।

पत्र-पत्रिकाओं का सर्वेक्षण

प्रयाग की 'कहानी' पत्रिका का नाम नयी कहानी के विकास के साथ जुड़ा है और भीड़भाड़ में प्रामाणिक-स्वर की खोज के लिए उसे उठाते हैं। सन् १९५५ के नववर्षाङ्क के रूप में ४०० पृष्ठों का एक ऐतिहासिक-विशेषांक उसने प्रकाशित किया। उसमें कुल ३५ कहानियों में एक दर्जन यानी लगभग ३३ प्रतिशत कहानियों की पृष्ठभूमि कृषक अथवा ग्राम-जीवन है। उसके बाद यह प्रतिशत क्रमशः अगले वर्षों में गिरते-गिरते सन् १९६८ की कुल १५ कहानियों में सभी शतप्रतिशत नगर-जीवन की कथायें हैं और इसके बाद भी यही है। सन् १९५६ के नववर्षाङ्क में इसके सम्पादक ने युद्धोत्तर कथा-साहित्य पर दृष्टि डाली तो उसे ग्राम-जीवन दिखाई पड़ा था। लिखा, 'देहात के जीवन में बहुत कुछ नया, स्वस्थ एवम् अछूता है।...वहाँ की हवा में ताज़गी है। वहाँ का मानव स्नायविक दुर्बलताओं का शिकार नहीं है, मानसिक कुंठा का बन्दी भी नहीं। यों लगता है कि जीवन में यदि कुछ शिव और सुन्दर की तलाश है तो गाँव की

तरफ चलिये क्योंकि नगरों की सड़ांध में तो जीना भी दुष्कर है।'[1]

यह गाँव की ओर प्रस्थान का स्वर बारह वर्ष में एकदम खो गया। आधुनिकता उसे पी गई और सन् १९६८ के उक्त पत्रिका के नववर्षाङ्क में सम्पादक जी 'कहानी की बात' में एक विशेष दृष्टिकोण से कहानियों के चयन की बात उठाते हुए समसामयिक भावबोध के प्रति सचेत रहने की चर्चा चलाते हैं। तब क्या समसामयिक भावबोध का अर्थ ग्राम-जीवन की एकान्त उपेक्षा नहीं हो जाता है?

पत्र-पत्रिकाओं में ग्राम-जीवन की खोज के लिए जुलाई सन् १९६८ में या इस अवधि में प्रकाशित हिन्दी की छोटी-बड़ी, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध और नयी-पुरानी तीस पत्रिकाओं का सर्वे किया।[2] इनमें मासिक, साप्ताहिक, द्वैमासिक आदि पत्रिकाओं में से धर्मयुग ने ८, हिन्दुस्तान ८, ज्ञानोदय ५, सारिका १७, नयी कहानियाँ १४, कहानी १३, कादम्बिनी ४, आवेश १५, लहर ५, माध्यम २, नईधारा ३, कल्पना २, अणिमा ७, नीहारिका १०, माया ७, कहानीकार ६, नागफनी ११, नीरा ४, लोकरंजन ५, अनाम ४, संभावना ३, कृति परिचय ५, युयुत्सा २, वातायन ३, गल्पभारती ६, हस्ताक्षर ६ और अपर्णा ने ७ कहानियाँ प्रस्तुत कीं। इनमें सरिता, कथाभारती और अनामिका की कहानियाँ मिला दी जायँ तो संख्या २०० से ऊपर पहुँच जायेगी। इनके समग्र अध्ययन से निष्कर्ष यह निकला कि इस एक मास में प्रकाशित कहानियों में एक प्रतिशत भी प्रामाणिक कहानी ग्राम-जीवन पर नहीं है। अपर्णा, वातायन, नीरा और अणिमा की एक-एक कहानियों में कथाभूमि का नाममात्र भर गाँव है। उसके ऊपर खुला नगर-बोध टंगा है। 'नई कहानियाँ' में एकमात्र गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव की कहानी 'करवटें' हैं जो नये ग्राम-मर्म को छूती है। दूसरी कहानी 'हक़' भारतीय कृषक जीवन की है पर वह तेलगू की है, हिन्दी की नहीं। इस प्रकार देखते-देखते ही आफिस और काफी हाउस आदि के बीच खेत-खलिहान वाली सुपरिचित दुनिया का लोप हो गया। हिन्दी कहानी यौन तनाव, मध्यवर्ग की मजबूरी, कुंठा, विकृति, रति-पीड़ा और जटिल जीवन की कृत्रिम नगर भूमियों में चक्कर मारने लगी है। वास्तविक जीवन-भूमियों से उसका कटा

---

१. 'कहानी, जनवरी—विशेषांक १९५६, पृ० १०।

२. इस सर्वे पर आधारित एक निबन्ध परिशिष्ट (१) में दिया जा रहा है।

होना लेखकों की एक विशेष मनःस्थिति का पता देता है। जिसमें वह राज-नायकों की तरह भारतीय ग्राम या कृषक-जीवन को अस्पृश्य-उपेक्षित अथवा तिरस्कृत करने में ही अपने आहत-कुंठित उच्च अहं को तुष्ट कर लेते हैं। जब नयी कहानी का यह हाल है तो 'अ-कहानी' का क्या पूछना है ? स्वाधीनतोत्तर प्रथम दशक की 'नयी कहानी' दूसरे दशक में साठोत्तरी पीढ़ी द्वारा 'अ-कहानी' और 'सचेतन कहानी' के रूप में रूपान्तरित हो गई। इसमें वैकृतिक संघात बहुत तीखेपन के साथ उभरे। बिम्ब, प्रतीक और नये सौन्दर्यबोध में उलझे रोमानी तत्त्वों से युक्त कहानी पूर्ण नंगी और अनौपचारिक हो गई। उसकी रूप दृष्टि और कथा-संवेदना झटके से आमूल परिवर्तित हो गई। इनमें चाहे नये स्तर पर नकार और अनास्था को प्रतिष्ठित करने वाले सैमुअल बैकट से प्रभावित 'अ-कहानीकार' हों चाहे स्वीकार और आस्था को पुनरुज्जीवित करने वाले अमरीकी एक्टिविस्टों से प्रभावित सचेतन कहानीकार हों, एक बात में दोनों समान हैं और वह यह कि उन्होंने 'नयी कहानी' के कथाकारों से भी अधिक ग्राम-जीवन के सत्य को अदेख किया है।—और इनके कृतित्व को हिन्दी-साहित्य में युवा-लेखन की प्रतिष्ठा मिल गई है।

नवीनतम युवा-लेखन

वास्तव में यह अहं-विस्फोटक युवा-लेखन है जो नयी कहानियों में आया है। इस कहानी के विशाल मूर्तिभंजक आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में उपन्यासों को देखने पर और ही तथ्य दृष्टिगोचर होता है। आधुनिकता बोध से संदर्भित युवालेखन जिस वेग से नई कहानियों में फूटा उसका उपन्यास-क्षेत्र में एकान्त अभाव रहा। नयी साँस से जुड़े अति आधुनिक उपन्यास भी घूम-फिर कर कहीं शिल्प के स्तर पर और कहीं कथ्य के स्तर पर पुराने पन को दुहराने लगते हैं। शुद्ध 'आज' इतना जटिल, गतिशील और संश्लिष्ट है कि संक्षिप्त-क्षिप्र कथा-क्षण में तो चमक जाता है परन्तु उपन्यास के भारी भरकम समय-सापेक्ष फार्म में छटक जाता है। पकड़ में नहीं आता; आते-आते अतीत हो जाता है। कथाकार के सामने विवशता होती है। वह एक पूर्ण 'समाज' को, उसके पूरे परिवेश को, पूरे संदर्भ को उठाता है। उसके नूतन-पुरातन आयामों से जूझता है। प्रयोग भी करता है, लेकिन तब सारा ज़ोर शिल्प पर

पड़ जाता है। इसीलिये 'नयी कहानी' की भाँति 'नया उपन्यास' जैसी कोई चीज़ नहीं है।

विधिवत् 'हिन्दी के नये उपन्यास की शुरुआत के साथ जोड़ी'[1] जा सकने वाली घोषणा के साथ गंगाप्रसाद विमल का उपन्यास 'अपने से अलग' सन् १९६९ में प्रकाशित हुआ। जिसमें प्रत्येक प्रकार का घेरा टूटता लक्षित हो रहा है और नयेपन के प्रस्तुतीकरण के साथ गत दशक का कहानी और उपन्यास का अन्तराल समाप्त होता दीखता है। कथाकार ने उस धुंध का सीधा साक्षात्कार आन्तरिक-स्तर पर बहुत गहरे में किया है जो आज के व्यक्ति-मानस पर छाई है और उस अनाम विक्षिप्तता से जूझने का प्रयास किया है जो आज के व्यक्ति की परिभाषा बन गई है। आज व्यक्ति-व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं रह गया है और इसी प्रकार स्थानिक विशेषताएँ भी समाप्त हो गई हैं। जड़ विरसता में सारे नाम आकर्षणहीन हो गये हैं। इसीलिए, शायद, 'नयी कहानी' की ही भाँति आलोच्य कृति में भी कोई नाम नहीं है, कोई 'स्थान नहीं है, 'मैं' के रूप में श्रावयिता है, 'वह' एक पुरुष है और एक ओर 'वह' एक नारी है। नींव में एक अभिशप्त अहसास है कि 'पिता' दूर शहर में 'उस महिला' के साथ परिवार बनाकर रहता है। जहाँ उसके उन बच्चों की ही भाँति बच्चे हैं।

यह तीखा अहसास एक परिवार को इस प्रकार विषाक्त प्रभावों से भर देता है कि सभी विकृत-विक्षिप्त हो जाते हैं। पाठक प्रत्येक क्षण एक 'परिवार' की पीड़ा की तीव्र अनुभूतियों से, उनकी घुटन, उनके संत्रास और उनके अनकहे आत्म-उत्पीड़न से होकर गुजरता है। नये और पुराने मूल्यों की टकराहट से उपन्यास झनकता रहता है। छोटे भाई के रूप में आज का 'नंगा' सत्य है जिसके लिए समाज और पुलिस की हिरासत में कोई फर्क नहीं है और माँ के रूप में एक पुरातनता का अन्त है। आदि से अन्त तक 'नयी कहानी' जैसी आधुनिकता की अन्तर्वृत्ति, मुखौटों और ग़लत समझौतों की नकार तथा नये प्रश्नों और नये बिन्दुओं को उभाड़ने वाली सृजनशीलता 'अपने से अलग' में आई है।

लेकिन यह शुरुआत अर्थात् नये उपन्यास और नयी कहानी के अन्तराल की समाप्ति कोई सार्थक मोड़ लेती नहीं दीख रही है। घूम-फिर कर वही देश

---

१. **'अपने से अलग' (गंगाप्रसाद विमल) (फ्लैप मैटर)।**

के १० प्रतिशत विशिष्ट अभिजात नागरिक लोगों के लिए अहंकेन्द्रित आधुनिकता-विलास का सेक्स आधारित प्रस्तुतीकरण हो जाता है और ठीक उसी के नीचे धरती से सम्बद्ध नये परिवेश में पनपी ग्रामांचल की नवपरिवर्तित समाज भूमि साहित्य-सम्पर्क से सर्वथा वंचित इस क्षेत्र के लिए अस्पृश्य-स्थिति में छूट जाती है। कहानियाँ इस प्रकार 'नयी' हुईं कि ग्राम-जीवन एकदम छूट गया। उपन्यासों में अभी चल रहा है और कुल मिलाकर उसका आनयन ऐसा नहीं कि कहानियों की भाँति 'नया' यानी विशुद्ध व्यक्तिवादी अथवा महानगरीय आधुनिकता के समानान्तर सेक्स विद्रोही, विकृत, कुंठित अथवा संत्रस्त स्थितियों का अलबम हो। यदि 'मैला आँचल' है तो 'जल टूटता हुआ' भी है। ग्राम-जीवन का आशावादी सामाजिक स्वर नितान्त चुक नहीं गया है। उपलब्धियों के विश्लेषण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'नयी कहानी' में यदि वह थम गया है तो आधुनिक उपन्यासों में विरल हो गया है। कथा-साहित्य के इन दो छोरों का अन्तर्विरोध व्यक्ति-जीवन और समाज-जीवन की आधुनिक पकड़ को स्पष्ट करता है। व्यक्ति में आज नागरिक आधुनिकता की देह-भोगाधारित भूख प्रबल है और यदि वह कथाकार है तो वह स्वयं और उसकी निपट निजता ही कथाभूमि हो जाती है। वृहत्तर समाज भूमि और उसका विशालांश ग्रामांचल समुदाय उपेक्षित रह जाता है। इस उपेक्षा के कारणों की तह में प्रवेश करने पर अनेक प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं।

ग्रामजीवन के प्रति उपेक्षा और विरक्ति के कारण

हिन्दी कथा-साहित्य में ग्रामजीवन के क्रमिक ह्रास, उसके प्रति विरक्ति और उपेक्षा के कारणों की खोज के पूर्व उस सूत्र का अन्वेषण हो जो उसके स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य के आरम्भ में समारोहवत् आगमन का मूल है। 'अचानक हिन्दी-साहित्य में 'गाँव' इतनी शक्ति के साथ कहाँ से आ गया ?'[1] शिवप्रसाद सिंह एक ज्वलन्त प्रश्न उठाते हैं और कहते हैं,'वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में पहली बार लेखकों की एक ऐसी जमात आई जो शहर के मध्यवर्गीय जीवन से नहीं, गाँव के कृषक परिवारों के सम्बद्ध थी। गाँव के जीवन के बारे में यह

१. **'कल्पना नवलेखन विशेषांक—१ सन् १९६९ (अगस्त-सितम्बर) में डा० शिवप्रसाद सिंह की सम्पादकीय टिप्पणी, पृष्ठ ५।**

रुझान स्पष्टतः नव-स्वतंत्र भारत के आत्मोन्वेषण की दिशा का द्योतक है।'[1] इसी तथ्य को मार्कण्डेय की कहानियों की चर्चा करते हुए नेमिचन्द्र जैन ने भी प्रकट किया। उन्होंने लिखा, 'नये-नये लेखकों ने हठात् अनुभव किया कि नगरों में उलझे हुए कुंठाग्रस्त और अपेक्षाकृत सहानुभूतिहीन जीवन की अपेक्षा शायद देहात के सहज सरल जीवन में आत्मीयता अधिक है और जीवन की नाटकीयता भी। प्रेमचन्द के बाद देहाती जीवन को लेकर इतनी कहानियाँ—यहाँ तक कि कवितायें भी—कभी नहीं लिखी गईं जितनी पिछले कुछ वर्षों में। इसका कुछ कारण तो निश्चय ही यह है कि अनुभूति की सच्चाई की खोज में बहुत से तरुण लेखकों ने देखा कि देहात के जिन परिवारों से वे आये हैं, जहाँ उनका बचपन बीता है, जिस वातावरण में पहले-पहले सपनों ने मोहक रूप धारण किया, उसे छोड़कर अथवा उसे अपने व्यक्तित्व से काटकर अपनी अनुभूति के प्रति ईमानदार और सहज तथा स्वाभाविक बने रहना असंभव है।...प्रेमचन्द के बाद से जीवन का यह पक्ष उपेक्षित पड़ा था। उसकी ओर उन्मुख होना लेखक के लिये नये भाव-जगत् की उपलब्धि थी।'[2]

इसका अर्थ यह हुआ कि कृषक-परिवार से आई पहले दौर की उस कथाकार जमात के बाद शनैः शनैः ग्रामांचल से कथाकारों का नाता टूटता गया और वे नागरिक-भाव में रमते गये। उसके बाद 'हमारे ग्राम कथाकारों ने आज के गाँवों से जीवन-सम्पर्क नहीं रखा इसलिये वे वहाँ के यथार्थ को आत्मसात करने में असफल रहे।'[3] लेकिन सवाल तब भी बना रह जाता है इस व्यापक उपेक्षा के सन्दर्भ में। स्वराज्य के बाद वह कौन सा बदलाव आया जिसने कथा-साहित्य को ग्राम-जीवन के प्रति वितृष्ण कर दिया। एक तो व्यक्तिवाद का उत्तरोत्तर प्राबल्य और सामूहिक अथवा समाज-जीवन का विघटन इसके मूल में प्रतीत होता है। यह बदलाव प्रेमचन्द के बाद से ही आरंभ हो गया था।[4] स्वतंत्रता के बाद सन् १९५५ के लगभग तक आंचलिकता और नये बदलते ग्रामांकन के संदर्भ में इस प्रवृत्ति का एक ठहराव लक्षित

---

१. डॉ० शिवप्रसाद सिंह की सम्पादकीय टिप्पणी, पृष्ठ ५।
२. बदलते परिप्रेक्ष्य (नेमिचन्द जैन) पृष्ठ १४९।
३. नई कहानी की भूमिका (कमलेश्वर) पृष्ठ २९।
४. हिन्दी उपन्यास (डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव), पृष्ठ ५०९।

होता है तथा बाद में नये औद्योगीकरण और राजनैतिक मोहभंग के प्रभाव एवं प्रतिक्रिया में उसमें तीव्र गति से विकास होता है। भारतीय जीवन में यह वह काल है जब गाँधीवादी प्रभाव पूर्णरूपेण निःशेष हो जाता है। 'नव-स्वतंत्र भारत के आत्मोन्वेषण की दिशा'[1] खो जाती है। यह आत्मान्वेषण (भारत की आत्मा गाँवों का अन्वेषण) अब नये व्यक्तिस्तर पर पीड़ा, घुटन, संत्रास और अकेलेपन के संदर्भ में होने लगता है। गाँवों का पिछड़ापन उसे नयी बौद्धिकता की लहर के आगे और फीका कर देता है। कौन उसे उठाये ? और 'आज के नवलेखन से अचानक फिर गाँव तिरोहित हो गया। ...ऐसा उन तमाम राष्ट्रीय-स्तर के क्रिया-कलापों के कारण हुआ है जो सन् १९५७ के बाद से इस राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना और जनता की आकांक्षाओं के बीच 'असम्वाद' की मोटी दीवार खड़ी करते रहे हैं। नवलेखन निरन्तर सिकुड़ कर मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोगों की चीज़ होता जा रहा है। यानी वृहत्तर समाज से वह विच्छिन्न हो गया है।...सामान्य जन से बिलगाव हुआ है और गहरा हुआ है, पर ऐसा हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में हुआ है। यानी राष्ट्रीय महत्त्व के प्रत्येक कार्य के प्रति जनता में घोर उदासीनता का भाव निरन्तर बढ़ता गया है।...यह सब क्या है ? मेरी दृष्टि में यह सब अपने को अतिरिक्त आधुनिक और अनावश्यक रूप से अन्तर्राष्ट्रीयतावादी घोषित करने के फैशन का परिणाम है।'[2]

स्वातंत्र्योत्तर प्रथम दशक में ग्राम-जीवन के उभरते ही ग्राम-कथानक बनाम नगरबोध का भी विवाद उठ गया और अक्सर जो यह कहा गया कि कथा-साहित्य में ग्राम-नगर का नारा बेमानी है, तो इसका भी प्रभाव ग्रामजीवन के प्रति विरक्ति में सहायक हुआ। क्योंकि घूम-फिर कर बात उस मुद्दे पर आ जाती रही कि आधुनिकता नगर-जीवन की पृष्ठभूमि पर लिखी कहानियों में है। आश्चर्य नहीं कि ग्राम-जीवन के चितेरे लोग हीनत्व ग्रन्थि से आक्रान्त भी हुए। 'हममें अधिकांश उस हीनत्व ग्रन्थि के शिकार हैं जहाँ कुर्ते पाजामे से कोट-पतलून आधुनिक पोशाक मानी जाती है, गाँव की अपेक्षा शहर, शहर की अपेक्षा राजधानी और राजधानी की अपेक्षा विदेश।'[3] ऐसी स्थिति में धोती-

---

१. **'कल्पना' नवलेखन विशेषांक—१ सन् १९६९, पृष्ठ ५।**
२. **वही, पृष्ठ ५-६।**
३. **कहानी : स्वरूप और सम्वेदना : राजेन्द्र यादव, पृष्ठ ९९।**

कुर्ता, हल-बैल, गोबर-सानी-पानी और सिंचाई-निराई की कथाभूमियों से गुज़रने वाला आत्महीनता के अहसास से कतराता है तो क्या आश्चर्य ? स्वतंत्रता के बाद शनैः शनै आत्मगौरव का ह्रास एक दुखद गाथा है। परान्न, परावलम्बन, मोहभंग, असफलता, नपुंसकता और घोर अंधेर के बीच खोखला लोकतंत्र राजनीतिज्ञों और सत्ताधारियों की उस विशाल पूजा का समारम्भ लेकर उदित होता है कि बुद्धिजीवी, विशेषकर कथाकार उसमें खो जाता है। डा० बच्चनसिंह लिखते हैं कि 'उसकी आइडेंटिटी खो गई है।' और 'भीड़ होकर गुज़रने के अलावा कोई चारा नहीं।...आज वह पूर्ण अकेला है, अपने कामों में, घर-परिवार में, साथियों-सहयोगियों में, प्रेमी-प्रेमिकाओं में।'[1] बुद्धिजीवी की यह कटी स्थिति और उसका अकेलापन भी एक कारण है कि वह नगर में सिमट गया है। अकेलेपन के पीड़ा-भोग के लिए नगर फिट स्थान है। ग्राम-जीवन आज भी सामाजिक उत्तरदायित्वों का जीवन है मगर 'हर जगह से जला और हताश लेखक किसी व्यक्ति या समाज के प्रति किसी भी तरह का उत्तरदायित्व ढोने के लिए तैयार नहीं।'[2] यह जड़ स्थिति कथाकार के सारे तरल रागबोध को सोखकर उसे जड़ बना देती है। उसका ग्राम-मन सूख जाता है। गाँवों में चलने वाला सरकारी विकास कार्य उसे और संक्षुब्ध कर देता है। 'फालतू और व्यर्थता की अनुभूति में घुटते युवक को लगता है कि वह स्वयं 'वह' नहीं है। ज़िन्दगी की पकड़ छूट गई है। पंचवर्षीय योजनाओं, औद्योगीकरण की बाढ़, सोशलिस्टिक पैटर्न और दैत्याकार प्लान्टों और प्रोजेक्टों की छाया में माथे पर हाथ रखकर बैठे इस बूढ़े को देख रहे हैं। किसी निर्माण में वह भागीदार नहीं है। सब नेता-अधिकारी के भाग का: उसकी योग्यता बेमतलब, उसकी सृजन शक्ति अन्तर्मुख होकर सिमट जाती है।'[3] राजेन्द्र यादव उक्त टिप्पणी के साथ इस प्रश्न का उत्तर कि क्यों ग्राम-जीवन पीछे छूट गया अंतिम और आत्यन्तिक रूप से प्रस्तुत कर देते हैं, बिना उसकी चर्चा किये, अनजाने में—कि हताश-निराश, कुंठित-संकुचित और अचेत-संज्ञाशून्य अन्तर्मुख होकर

---

१. **समकालीन हिन्दी-साहित्य : आलोचना को चुनौती (डॉ० बच्चनसिंह), पृष्ठ १२०।**

२. **एक दुनिया समानान्तर की भूमिका—राजेन्द्र यादव, पृष्ठ २८।**

३. **वही, पृष्ठ ४०।**

कथाकार नगर की ऐकांतिकता में सिमट गये। अब वे पुनः व्यर्थ ही कहते हैं कि 'सामन्ती संस्कृति की भावुकता के कारण उन्होंने (ग्राम कथाकारों ने) शहरी कथाकारों द्वारा परित्यक्त खेत-ख लिहान की बातें उठाईं।'[1] देहपीड़ा भोग में रिसते नगर-कथाकारों ने स्वेच्छा से नहीं विवशतावश आत्मानन्द, आत्म-विस्तार और आत्मान्वेषण की खेत-खलिहानी दुनिया छोड़ दी। कमलेश्वर जो 'मोहभंग' की एक विकट ऐतिहासिक गाथा[2] सुनाते हैं और विविध कला-आन्दोलनों को उससे जोड़ते हैं, उसमें एक यह चीज़ भी जुड़ जानी चाहिये। यह एक ज्वलन्त सचाई है कि 'शहर, जिला, तहसील और गाँव के स्तर पर क्षेत्रीय नेताओं का जो बुर्जुआ नया वर्ग पैदा हुआ उसने आजादी के स्रोतों को चूसना आरम्भ कर दिया।'[3] ऐसी स्थिति में होरी के बाद जो गोबर की विद्रोही पीढ़ी विकसित हुई, गहरी तल्खी में उसने उन सबकी ओर से आँखें मूँद लीं, उसके गाँव निवास छोड़कर नगर में 'वास' बना लिया। वह हल जोतने वाला ही क्यों? उसके नये चिन्तन का यह एक उभरा हुआ कोण हो गया है। इस प्रकार सब की आँखों से ओझल, कवियों-कथाकारों द्वारा अदेख, राजकाज और लालफीताशाही के मुहावरों के बीच जब अमरीकी विकास भारतीय गाँवों को स्वर्ग बना रहा है, साढ़े पाँच लाख भारतीय गाँवों का काया-कल्प साहित्यकारों के असहयोग के बीच अपने ढंग से चल रहा है। साहित्य और समाज के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध वाला सिद्धान्त चकनाचूर हो गया है। अथवा समाज की अस्वीकृति आधुनिक साहित्य की नयी मुद्रा की स्वीकृति पा रही है और हिन्दुस्तान के विशाल ग्राम-समुदाय और कृषक-समाज के सुख-दुख से सर्वथा कटा साहित्य विदेशी नारे, विदेशी वाद, विदेशी शब्दावली और विदेशी चिंतन के बीच अपने अकालजीवी धर्मशाले जैसे देश में फल-फूल रहा है तथा ऊँची मान-मर्यादा का अधिकारी बना है। अन्त में, एक और तथ्य पर ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक है। स्वतंत्रता के बाद जब लोकतंत्र का उल्लास कथा-साहित्य में उतरने लगा तो कथाकारों ने आंचलिक शिल्प में उपेक्षित गाँवों की ओर मोड़ लिया। पुनः जैसे-जैसे लोकतंत्र के प्रति लगी आशायें खंडित होती गईं

---

१. एक दुनिया समानान्तर : भूमिका, राजेन्द्र यादव, पृ० ४२।
२. नई कहानी की भूमिका (कमलेश्वर), पृ० ७१।
३. वही, पृ० ११७।

लोक-जीवन के प्रति विरक्ति भी बढ़ती गई। योजनाओं में विकास गाँवों की अपेक्षा नगरों का ही हुआ और उधर के आकर्षण जबरदस्त पड़ गये। वास्तव में देश का अन्तर्मन ग्रामोन्मुख रहा नहीं। वह अनजाने नगरता को लक्ष्य बना चुका है। हम सब इस देश के 'ग्रामीण' नहीं स्वयं को 'नागरिक' ही कहते हैं। हमारी सारी शिक्षा-दीक्षा हमें उधर ही ले जा रही है। भीतर से आदमी बदल चुका है और लगता है गाँव की बात मात्र भावात्मक सत्ता में रह जायेगी। प्लान्ट-प्रोजेक्ट और विकास-योजनाएँ सब हमें नगरीकरण की ओर ले जा रही हैं। गाँव बदल कर नगर होते जा रहे हैं। इस भीषण संक्रान्ति का प्रभाव कथा-साहित्य पर पड़ रहा है और नगर-जीवन पुरस्कृत हो रहा है।

इन सब स्थितियों के स्पष्टीकरण के लिए सन् १९४७ ई० के बाद की समग्र ग्राम-जीवन संदर्भित अभिव्यक्तियों का विश्लेषण और आकलन इस प्रबन्ध का उद्देश्य है। ग्राम-जीवन को विशाल जीवन से विच्छिन्न कर पृथक् अस्तित्व के रूप में प्रदर्शित करना अवैज्ञानिक होगा अतः पूरे नई कहानी और आधुनिक-उपन्यासों के आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में इस समस्या को उठाने और परखने का प्रयास किया गया है। समाजशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय नव-परिवर्तित आयामों और नवार्जित उपलब्धियों के बीच से गुजरते देश के समग्र जीवन में ग्रामांश की अनिवार्य महत्ता के बीच प्रश्न मात्र भावुकता का न बनकर रह जाय अतः विश्लेषण में ठोस सर्जनात्मक आधार उपस्थित किये हैं और सम्पूर्ण परिवेश के बीच उसे परखने का प्रयास किया गया है।

प्रथम अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्राम-जीवन

स्वतंत्रता-पूर्व ग्राम-जीवन

स्वतंत्रता-पूर्व का भारतीय ग्राम-जीवन ब्रिटिश सरकार की आर्थिक-औपनिवेशिकता के दुश्चक्र में पिसते घोर जीवन-दारिद्रय और उत्पीड़न की एक दारुण गाथा है। अंग्रेजी राज की छत्रछाया में सुरक्षित जमींदार और महाजन तो ग्रामीण किसान का अशेष दोहन करते ही रहे मुखिया, पटवारी, पुरोहित, नम्बरदार से लेकर चौकीदार, थानेदार तक और अमीन, कानूनगो, तहसीलदार से लेकर डिप्टी तथा कलक्टर तक शोषकों और उत्पीड़कों की एक विकराल शृङ्खला रही जो बाढ़, सूखा, अकाल, अवर्षण की अनन्त ईति-भीति तथा आसमानी-नागहानी-सुल्तानी जैसी अनवरत घहराती आपदाओं में कभी सदय नहीं रहीं। मौजा, महाल और पट्टी में विभाजित गाँवों में लगान वसूली, कुर्की, बेदखली और पिटाई की अभिशप्त नंगी तलवार सदा किसान की गरदन पर लटकी रहती। भू-स्वामी बिचौलिया जमींदार न केवल लगान उपजीवी रहा अपितु वह महाजन के ही समानान्तर (कभी-कभी उसका प्रति-स्पर्द्धी) किसान का ऋणदाता भी रहा और उनके अनन्त स्फीत ब्याज का ऐसा सत्यानाशी नागफाँस था कि शनैः शनैः रेहन-बन्धक के पेंच में कसती किसान की भूमि उदरसात् हो जाती। अपनी कूप-मंडूकता और जागतिक असम्पर्कित जड़ स्थिति में डूबे अन्धकाराच्छन्न प्रदेश के गरीब इसे भाग्य अथवा नियति की पूर्वनिर्धारित सूक्ष्म व्यवस्था मान कर चुप रह जाते।

आजीविका की पृष्ठभूमि कृषि भी किसान के निज भुजबल के अधीन नहीं थी। प्रकृति की परावलम्बिता का अतिक्रमण उसके बूते की बात नहीं थी। उसके अनगढ़ परम्परित कृषि संयंत्र और बाप-दादे के भाग्यवादी रीति-रिवाज उसे परम संकीर्ण अपरिवर्तित स्थिति में डाले रहते। देवी-देवता अथवा

भूत-प्रेत की भावनाओं में भटकता मूढ़ अशिक्षित किसान भारतीय कृषि तथा कृषक को तोड़ने वाले एक सभ्य शासक जाति के उस अलक्षित षड्यंत्र को कदापि नहीं समझ पाता कि कैसे उत्तरोत्तर अलाभकर कृषि पर बोझ बढ़ता जा रहा है और वह विपन्न होता चला जा रहा है। उत्तर प्रदेश जमींदारी एबॉलीशन कमेटी की रिपोर्ट में बताया गया है कि सन् १८७३ ई० में ५६ प्रतिशत लोग जहाँ कृषि पर आश्रित थे वहाँ आज यह संख्या ७३ प्रतिशत तक हो गई है। अंग्रेजों ने ग्रामोद्योगों को ध्वस्त तो कर दिया पर उनकी जगह अपने मुल्क की तरह यहाँ नये वैज्ञानिक उद्योग-विकास की नींव नहीं रखी और उसमें लगे लोग बेकारी में खेती पर बोझ बन गये। अनिश्चित स्वामित्व लिये बैलगाड़ीयुग के ये कोटि-कोटि कृषि-बैल काश्तकार, शिकमीदार, बटाईदार और खेतिहर मजदूर आदि जैसे विवादास्पद परिभाषा-पत्थरों को तोड़ते रहे और इस दरबार से उस दरबार तक, पंच-परमेश्वर से लेकर कचहरियों तक विक्षिप्त से डोलते रहे।

स्वतंत्रता-पूर्व का ग्रामीण किसान अंग्रेजों के आगमन-पूर्व की सामन्तवादी व्यवस्था और उनके आगमन के साथ आई पूँजीवादी व्यवस्था के दो पाटों के बीच पिसता रहा। पहली संस्कृति के रूप में अवशिष्ट थी और दूसरी सभ्यता बन कर आई तथा इसके आगमन के साथ ही ग्रामजीवन की व्यवस्थित इकाई विशृङ्खलित हो गई। सन् १७९३ के स्थायी बन्दोबस्त से यद्यपि भूमि-व्यवस्था में सुधार हुआ और लगान तथा भूमि का स्वामित्व निश्चित हो जाने से सुविधा बढ़ी परन्तु यह सुविधा शासन की सुदृढ़ता, नौकरशाही और पूँजीवादी लक्ष्यों की आपूर्ति के क्रम में शासकों के पक्ष में जिस मात्रा में बढ़ी उसी मात्रा में किसान के पक्ष में नहीं। किसान और सरकार के बीच लगान वसूली का मध्यस्थ जमींदार उग आया। लगान देने और वस्तुओं को क्रय करने के लिए कृषि-उपज बेचने की बाध्यता इसी पूँजीवादी व्यवस्था की देन रही और किसान पूर्ण रूप से परावलम्बी हो गया। उसका भाग्य खेत से उठकर बाजार में बिकने लगा। वास्तव में खेत-खलिहान की लूट से बचा-खुचा उसका अन्न बाजार में जाकर एक सर्वथा नये प्रकार के पूँजीवादी शोषण-चक्र में लुटने लगा। इस मार ने स्वतंत्रता-पूर्व के किसान को बहुत आहत किया और वह वास्तव में सर्वहारा हो गया। इसी बिन्दु के पूँजीवादी क्रोड़ से वर्गचेतना का जन्म हुआ मगर इसके ठेठ ग्रामांचल में प्रभावशाली ढंग से पहुँचते-पहुँचते तक स्वराज्य हो गया।

स्वतंत्रता-पूर्व गाँवों में थोड़ी सी जागृति काँग्रेस के आन्दोलनों और उसके रचनात्मक कार्यक्रमों के सिलसिले में आई। सन् १९२० के बाद महात्मा गाँधी का नाम भारत के गाँव-गाँव में गूँज गया और अधकचरे ही सही पर गाँवों के काँग्रेस-कर्मी नयी जागृति के अग्रदूत बने। समाज-सुधार और ग्राम-सुधार की चर्चाएँ उठने लगीं। नयी साम्यवादी और समाजवादी हवाएँ भी पहुँचीं और जमींदार-किसान संघर्ष के आयाम भी उभरे परन्तु जातिवाद के लौह गढ़ में आरक्षित गाँव, पंगु नैतिकता, मृत आध्यात्मिकता और अंधविश्वास की सुदृढ़ वायवी शृङ्खलाओं में जकड़े गाँव, वर्ण, परिवार और समाज के अलिखित कानूनों से अधिक प्रभावित प्रतिष्ठा पर प्राण देने वाले परम्परित गाँव, रामायण-महाभारत, भक्तमाल, अर्जुनगीता, व्रजविलास और हनुमानचालीसा की कथासूत्र-भूमियों में विचरणशील भोले-भावुक गाँव, नयी अंग्रेजी-शिक्षा, नयी सभ्यता, विविधवाद, वैज्ञानिक उपलब्धियों, आन्दोलन, विचार, नेतृत्व, संघर्ष और उथल-पुथल में बहुत पिछड़ गये। आन्तरिक दृष्टि से वे टूट गये, बिखर गये। मगर उनमें आमूल परिवर्तन इस कारण से नहीं दीख पड़ा कि उनकी मूल आजीविका कृषि के संदर्भ में, कृषि-क्षेत्रों के संदर्भ में कोई बदलाव तब तक नहीं आया। उसकी दशा निरन्तर गिरती गई। परम्परागत खेती इस सीमा तक अलाभकर हो गई कि गाँव छोड़कर लोग शहरों की ओर भटकने लगे। उनको जो शिक्षा दी गई वह उन्हें मात्र नौकरी-खोजी बना देती और गाँव का शिक्षित युवक चपरासीगिरी, क्लर्की और मुदर्रिसी से लेकर सिपाहीगिरी तक के सेवा-क्षेत्रों को छाना करता। संयुक्त परिवारों की विघटनोन्मुखता ने खेत के छोटे-छोटे टुकड़ों को और छोटा-छोटा कर दिया। बढ़ती आबादी और घटती पैदावार की चुनौतियों ने गरीबी की स्थिति को और भयावह कर दिया। यह तो स्वराज्य प्राप्ति के लक्ष्य का नशा रहा जिसमें लोग उसे भूले रहे और जूझते रहे। सन् १९२८ में 'टेंथ एनुअल कान्फ्रेंस ऑफ एग्रिकल्चरल इकॉनॉमिस्ट्स' के अवसर पर जे० पी० भट्टाचार्य के सम्पादन में प्रकाशित 'स्टडीज इन एग्रिकल्चरल इकॉनॉमिक्स' में बताया गया है कि सन् १९०० के बाद ४० वर्ष तक जनसंख्या ३७.९ प्रतिशत बढ़ी और इसके मुकाबले कुल कृषि-उत्पादन की औसत वृद्धि १२.६ प्रतिशत हुई। कृषि-उत्पादन की यह हीनता ही उन कारणों के केन्द्र में हैं जिन्होंने स्वतंत्रता-पूर्व के परम्परावाद और सुधारवाद के छोरों के बीच भटकते भारतीय गाँवों और किसान को अत्यन्त हीन बना दिया है।

स्वातंत्र्योत्तर बदलाव : पंचवर्षीय योजनाएँ

स्वतंत्रता के बाद भारी बदलाव अपेक्षित था और वह आया भी किन्तु ब्रिटिशकालीन भ्रष्ट नौकरशाही के चलते ग्राम-जीवन की हीनता आमूल उच्छिन्न नहीं हुई। पंचवर्षीय योजनाएँ स्वातंत्र्योत्तर भारतीय विकास की संज्ञा-समुच्चय हैं। इनकी राह से स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धात्मक समाज और वैज्ञानिक युग के नव-परिवर्तित समाज की नयी आर्थिक संस्कृति की सारी सुख-संभावनाओं के आगमन की परिकल्पना रही। वास्तव में नियोजन, मुख्यतः आर्थिक नियोजन ही आधुनिक विश्व के विकास की कुंजी है। सन् १९२८ के पश्चात् सर्वप्रथम रूस में कार्यान्वित क्रमशः सात पंचवर्षीय योजनाओं की सफलताओं के विश्वव्यापी प्रभाव से राष्ट्रीय समाजवादी लक्ष्यों की आपूर्ति, सर्वांगीण विकास और पूँजीवादी दोषों के मार्जन का उत्साह सर्वत्र फैल गया। विकसित और अर्द्धविकसित तथा अविकसित अनेक राष्ट्रों ने आर्थिक नियोजन को अपनाया। चीन ने सन् १९५३ से आरम्भ किया और दो पंचवर्षीय योजनाओं के बाद एक-एक वर्ष की अल्पकालीन योजनाएँ चलाकर आशातीत सफलताएँ प्राप्त कीं।

अर्द्धविकसित या अविकसित राष्ट्रों के नियोजन में कृषि और ग्रामोद्योग की प्रमुखता होनी चाहिए क्योंकि ऐसे राष्ट्रों में तीन-चौथाई तक लोग इसी में लगे होते हैं। ऐसी ही एक कृषि-विकास उपलक्षित, ग्रामोद्योग-प्रधान, सादगी, अहिंसा, श्रम-महत्त्व और मानवीय मूल्यों पर आधारित ३५०० करोड़ की दसवर्षीय 'गाँधीवादी योजना' सन् १९४४ में श्रीमन्नारायण द्वारा प्रस्तुत की गई थी। परन्तु स्वतंत्रता के बाद का भारतीय नियोजन विदेशी दबाव से बहक गया। उक्त गांधीवादी योजना के समानान्तर उसी वर्ष पूँजीपतियों की 'बंबई योजना' और श्रमसंघ की 'जन-योजना' भी प्रस्तुत की गई। इन सबसे भिन्न, योजना आयोग की स्वीकृति पर १ अप्रैल सन् १९५१ के संविधान में उल्लिखित प्रथम पंचवर्षीय योजना के रूप में जिस प्रजातांत्रिक नियोजन का आरंभ हुआ उस पर सन् १९४८ की उद्योग-नीति और सन् १९५० की 'कोलम्बो-योजना' का प्रभाव था। स्वतंत्रता के बाद दिसम्बर, १९४७ के औद्योगिक सम्मेलन में सर्वप्रथम गृह-उद्योगों को भी औद्योगिक नीति में सम्मिलित कर लेने की घोषणा के कारण पूँजीहीन विपन्न लोकजीवन के उन्नयन की आशाएँ बँध गई थीं।

लेकिन नियोजन में जिस विवेकशील लोकतंत्र की उपस्थिति अपेक्षित है उसका नितान्त अभाव अपने देश में रहा है और आज भी है इससे कृषि और कृषक-भारत की चुनौतियाँ अस्पर्शित रह गईं। ब्रिटिश शासन-कालीन चुनौतियाँ जैसे असमान वितरण, कृषि-उद्योग की उपेक्षा, परावलम्बन-विलासिता-प्रोत्साहन, नौकरशाही-सभ्यता-संरक्षण, निम्नस्तरीय जीवन और बाबू-वृत्ति आदि तो थीं ही, नयी स्वातंत्र्योत्तर चुनौतियाँ भी नियोजन के सामने थीं, आर्थिक असन्तुलन, युद्धप्रभाव, विभाजन, मँहगाई, अकाल, मुद्रास्फीति, भ्रष्टाचार और जनसंख्या वृद्धि आदि। इन समस्याओं के केन्द्र में थी अन्न-समस्या और समस्याओं की समस्या के केन्द्र में थी नौकरशाही। यह सड़ी हुई अक्षम नौकरशाही थी जिसके कारण २०६९ करोड़ की योजना बढ़ाकर २३७८ करोड़ की बनी तो मगर व्यय हुआ मात्र १९६० करोड़।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि को प्राथमिकता देना एक ज्वलन्त चुनौती की सीधा साक्षात्कार था। कुल व्यय का लगभग एक-तिहाई कृषि, सामुदायिक विकास, सिंचाई और बाढ़-नियन्त्रण आदि पर व्यय हुआ। जनजीवन को तोड़ने वाले विभिन्न मोर्चों को सँभालना था। कृषि और सिंचाई आदि के साथ पशुपालन, उद्यान, वन, मत्स्य, सहकारिता, राष्ट्रीय प्रसार सेवा, ग्रामीण उद्योग, चिकित्सा, जन-स्वास्थ्य, जलपूर्ति, शिक्षा, परिवहन और परिवार-नियोजन आदि के एकदम नये आयाम देशभर में उभरे। राष्ट्रीय आय १८.४ प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय १०.५ प्रतिशत बढ़ी, जिसे देखते योजना को असफल नहीं कहा जा सकता परन्तु इस योजना के प्रति जो उल्लास जन-साधारण में होना चाहिए वह नहीं दिखाई पड़ा। प्रचार का मेला लगा-लगा कर सचमुच इसे 'सरकारी-मेला' बना दिया गया जिसे या तो लोगों ने 'शंका' की दृष्टि से या 'लूट' की दृष्टि से लिया। राष्ट्रीय विकास की दृष्टि न उभर कर जाल-फरेब कर सरकारी तंत्र से अनुदान और विभिन्न मदों का पैसा ऐंठने की वृत्ति ग्रामीणों में जगी। भ्रष्ट नौकरशाही ने इसे और बढ़ावा दिया। सामूहिक ग्राम-विकास से अधिक व्यक्तिगत विकास को प्रोत्साहन मिला जिसमें सम्पन्नों का भाग अधिक हो गया।

कृषि और कृषक-क्षेत्र—गाँवों के विकास का ढोल अधिक पीटे जाने के बीच वास्तविक विकास उद्योग, औद्योगिक क्षेत्रों और नगरों का ही हुआ। पंचवर्षीय योजनाओं की तत्सम्बन्धी उपलब्धियों को देखने से यह बात स्पष्ट हो

भूमि-विकास बैंक, कृषि-वित्त निगम, कृषि-उद्योग निगम और ग्रामीण विद्युतीकरण निगम आदि संस्थाओं को सुदृढ़ करना चौथी योजना के उत्साह-वर्द्धक लक्ष्य हैं। ६७ की ग्रामीण आवास-योजना चतुर्थ योजना में पूरी होगी, गाँवों में दूर संचार की सुविधाओं का विस्तार होगा और दो हजार मील तक के कॉल की सुविधाएँ बढ़ेंगी, ये बातें कही गईं। इसकी पृष्ठभूमि में तृतीय योजना की असफलता, देश भर में अन्न की त्राहि-त्राहि, ८० प्रतिशत कृषि की प्रकृति-निर्भरता, २.५ प्रतिशत प्रतिवर्ष के अनुपात में बढ़ती जनसंख्या आदि की दुर्निवार दुस्तर चुनौतियाँ हैं। आत्मनिर्भरता और स्थिरता का उद्देश्य मात्र रखना स्वयं अपने में महत्त्वपूर्ण नहीं है। छोटे-बड़े सबको सुधरे बीज, पर्याप्त उर्वरक, खेत-खेत में पानी और आधुनिक संयंत्र की सुविधाएँ ही कृषि-क्रान्ति के बढ़ते चरण को गति प्रदान कर सकती हैं। पी० एल० ४८० के अन्तर्गत खाद्यान्नों की आयात-समाप्ति और विदेशी-सहायता की धनराशि का आधी हो जाना भी उत्साहवर्द्धक है परन्तु चौथी बार भी अन्नोत्पादन में ५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि के लक्ष्य की तुलना में उद्योग के लिए ८ से १२ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि के लक्ष्य की तजबीज भारी पड़ रही है। भारतीय कृषि-अनुसंधान परिषद् की स्थापना, कृषक-प्रशिक्षण की योजना, पंप-सिंचाई, विद्युतीकरण और कृषि अनुसंधान के लिए कृषि विश्वविद्यालयों की विस्तार-वृद्धि के साथ कुशल प्रशासन का योग मिला तो हरी क्रान्ति के लक्ष्य पूर्ण होंगे। चौथी योजना की समाज सेवा की १८१८ करोड़, ग्रामीण जलपूर्ति की १३१ करोड़, छोटी सिंचाई की १४७० करोड़, लघु ग्रामीण उद्योग की २९३ करोड़, शिक्षा की ८२२.६६ करोड़ और परिवार-नियोजन की ३१५ करोड़ और इसी तरह अन्य मदों में निर्धारित धनराशि में ग्रामांचल का विशिष्ट भाग हरी क्रान्ति को स्थायी बन सकने की दिशा में सुविचारित कदम है।

यह सब होते हुए भी चिन्तनीय यह है कि इन योजनाओं के प्रति जन-साधारण की उदासीनता दूर नहीं हुई। वास्तव में प्रश्न का सम्बन्ध उनके जीवन-स्तर में यथार्थ क्रान्ति से है जो हल हुआ नहीं। भूमि-सम्बन्धी कानूनों की उलझन, चकबन्दी का भ्रष्टाचार और बाजार की लूट यथावत् बनी है। प्रगतिशील दृष्टिकोण अज्ञान और अशिक्षा के कारण ग्राम-भूमि पर उतर नहीं रहा है। भाग्यवाद, आलस और अन्धविश्वास में डूबा 'अजगर करै न चाकरी' का विश्वासी अन्धकाराच्छन्न ग्रामांचल आज धूमधामी विकास

के बावजूद भी सामाजिक रूढ़ियों, कुरीतियों और जातिगत पचड़ों में पड़ा-पड़ा सड़ रहा है। भूमि पर जनसंख्या का दबाव कम नहीं हो रहा है। बिहार में ९२ प्रतिशत लोग गाँवों में रहते हैं और प्रति व्यक्ति भूमि का औसत ०.८२ एकड़ है। जैसे-जैसे विकास हो रहा है टूटन, विलगाव, विद्वेष, स्वार्थ, हिंसा और मनोमालिन्य की विनाश-लीला गाँवों में बढ़ती जा रही है। चौथी योजना में सिंचाई के साधनों में वृद्धि हुई है। गहन कृषि, भूमि-सुधार और व्यावहारिक मूल्य-नीति के प्रयोग से उच्च संभावनाएँ पनप उठी हैं। यह सत्य है कि नियोजन से पहले सदियों तक के प्रयास में कृषि-विकास की दर जहाँ आधे प्रतिशत से वृद्धि दर में आगे नहीं बढ़ पाई थी वहाँ तीन योजनाओं के बाद तीन-चार प्रतिशत तक पहुँचकर चौथी में पाँच-छह प्रतिशत तक पहुँच जाने वाली है परन्तु क्या नियोजन ग्रामीणों को भौतिक समृद्धि देकर आन्तरिक दृष्टि से और कंगाल ही कर देगा ? यह प्रश्न सहज ही उठ खड़ा होता है।

सामुदायिक विकास योजना

स्वतंत्रता के बाद पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भारत की आत्मा गाँवों के पुर्ननिर्माण के लिए, उनमें एक क्रान्तिकारी बदलाव लाने के लिए सामुदायिक विकास योजनाएँ ग्राम-जीवन की इकाई के आधार पर संचालित हुईं। इनमें समग्र ग्राम-विकास की परिकल्पना निहित थी। मुख्य उद्देश्य था गाँवों को आत्मनिर्भर बना देना, उनके आर्थिक और सामाजिक जीवन को पुष्ट एवं संतुलित बनाना, उनकी कृषि का आधुनिकीकरण और उनके क्रियाशील तत्त्वों को जाग्रत कर प्रखर नागरिकता में प्रशिक्षित करना। विज्ञान और प्रविधि के प्रयोग, उपयोग और समावेश से कृषक और कृषि-क्षेत्र क्यों वंचित रहें ? उनके श्रम का कोई लघु अंश भी बेकार न जाय। उनमें पूर्ण स्वावलम्बन आ जाय। कृषि के अतिरिक्त उद्योग-धन्धे गाँवों में लगें। इस प्रकार लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में यह ग्राम-स्तर पर प्रयोग रहा जिसमें नियोजित वैज्ञानिक खेती की परिकल्पना बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय की पृष्ठभूमि पर विकसित हो। गाँव में स्वायत्तशासी जनतांत्रिक ग्रामीण संस्थाओं का विकास हो। विकेन्द्रित प्रकाशित ढाँचे के अन्दर ग्रामीणों में स्वयं सुधरने की भावना जगे। उन पर बलात् लादा हुआ सुधार सफल नहीं हो सकता।

सामुदायिक विकास-योजना की बनावट इस प्रकार की सोची गई कि युग-युग से जड़ और निस्पन्द पड़े ग्रामीणों में सुधार की प्रेरणा स्वयं उनके भीतर से उठे। वे समस्याओं का सामना परस्पर सहयोग के आधार पर करें।

भारतीय जीवन में गाँव का महत्त्व देखते हुए वास्तव में यह योजना एक महान् ऐतिहासिक प्रयास थी मगर स्वराज्य के बाद अशिक्षित ग्रामीणों के आगे नौकरशाह अधिकारी इसे एक ड्रामा की तरह ले उतरे और परिणाम अनुकूल नहीं हुआ। ग्राम-जीवन में सुधार की छटपटाहट पुरानी है और गुरुदेव टैगोर के श्री निकेतन (सन् १९२०), गाँधी के सेवाग्राम (सन् १९२०), ब्राइन के गुरगाँव कार्यक्रम, युवक ईसाई समिति केरल का मार्तण्ड कार्यक्रम, केन्द्र सरकार का ग्रामीण-विकास कार्यक्रम (सन् १९३५), फिरका कार्यक्रम मद्रास (सन् १९४६) और इटावा अग्रगामी कार्यक्रम (१९४८) आदि से लेकर आचार्य विनोबा भावे के सर्वोदय कार्यक्रम तक के अन्तर्गत भारतीय ग्राम-जीवन को सुखद बनाने की रचनात्मक स्तर पर बलवती परिकल्पना की एक परम्परा रही है परन्तु ये प्रयास अखिल भारतीय प्रशासनिक रूप नहीं ले सके। स्वतंत्रता के बाद इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाया जाना शेष था।

२ अक्तूबर सन् १९५२ ई० को गाँधी के जन्मदिन के अवसर से सामुदायिक विकास-योजनाओं का शुभारंभ ५५ कार्यक्रमों को हाथ में लेकर सरकार ने शुरू किया। 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना-जाँच-समिति की सिफारिशों पर पंचवर्षीय योजनाओं के एक महत्वपूर्ण भाग के रूप में इनका संचालन हुआ। इस योजना के निर्माण में अमरीकी विशेषज्ञ, अमरीकी आर्थिक सहायता, अमरीकी परीक्षण और तकनीक ही प्रमुख रही तथा इसकी सफलता का यह आरंभिक प्रश्नवाचक विन्दु फिर कभी मिटा नहीं और योजना भारतीय गाँवों की प्रकृति से बेमेल पड़ती गई। सन् १९५३ में इसके साथ राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजना आरंभिक कार्यक्रमों के स्तर पर चलने लगी जो सन् १९५७ में इसी में अन्तर्भुक्त कर दी गई। देश में ५२६१ विकास-खण्डों का लक्ष्य था और सन् १९६४ तक पूरा देश इस सामुदायिक विकास-योजना के अन्तर्गत आ गया। सन् १९५८ में जिला परिषदों का नया गठन इस योजना की प्रशासनिक आवश्यकता के अनुरूप किया गया और क्षेत्र-विकास समितियों को उसके अन्तर्गत कर दिया गया। इस प्रकार देखते-देखते ग्राम-जीवन के प्रशासनिक ढाँचे में एक आमूल परिवर्तन आ गया। मुखिया-पटवारी-कानूनगो-तहसीलदार

वाली पुरानी लाइन के समान्तर उससे अधिक सक्रिय प्रभावशाली और अधिकार-सम्पन्न नई लाईन बन गई, सभापति-ग्रामसेवक-पंचायत मंत्री-बी० डी० ओ०-डी० पी० ओ० और विकास मंत्रालय की। अथवा ग्राम पंचायत-खंड विकास समिति-जिला परिषद्-राज्य विकास परिषद् और राष्ट्रीय विकास परिषद्। क्षेत्रीय समिति का प्रधान हो गया ब्लाक प्रमुख जिसके अन्दर विभिन्न विकास समितियाँ कार्यरत होती हैं। ग्राम इकाई को मोड़ देने वाली नई शक्तियाँ हो गई ग्राम-सेवक, पंचायत मंत्री और ग्राम-सभापति।

प्रत्येक विकास खण्ड में एक सौ गाँव, १५० वर्गमील क्षेत्रफल और साठ-सत्तर हजार के बीच आबादी रखी गई और १० ग्राम-सेवकों की व्यवस्था हुई और एक क्षेत्र विकास अधिकारी के अन्तर्गत कृषि, सहकारिता और पंचायत आदि से सम्बन्धित सहायक विकास अधिकारी की व्यवस्था हुई। सरकार ने आँख मूँद कर ग्रामविकास के इस सरकारी यज्ञ में धन स्वाहा किया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय प्रसार योजना मिलाकर ९० करोड़ की व्यवस्था थी परन्तु ४० करोड़ ही व्यय संभव हुआ। द्वितीय योजना में २०० करोड़ में १९४ करोड़ और तृतीय योजना में २६९ करोड़ व्यय हुआ। चतुर्थ योजना में २६० करोड़ धनराशि स्वीकृत है।

इतनी विशाल धनराशि व्यय कर ग्राम-स्तर पर प्रशासनिक प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण का जो महान् प्रयास हुआ उसमें कृषि, उद्योग, सहकारिता, यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रशिक्षण, गृह-निर्माण और समाज-निर्माण की समस्त सुचिन्तित विकास-दिशाओं का स्पर्श किया गया। क्रम से छाया विकास-खण्ड, राष्ट्रीय विकास-खण्ड और सघन विकास-खण्ड से लेकर सघनोत्तर विकास-खण्ड तक उसके उत्तरोत्तर विकसित स्वरूप का ढाँचा कसा गया। उन्नत बीज, खाद, कीटनाशक द्रव्य, प्रदर्शिनी, उत्तम नस्ल के पशु, पक्षी, साँड़, कृत्रिम गर्भाधान, लघु उद्योग, प्रौढ़ शिक्षा, ग्रामीण पाखाने, नाली, सोख्ता, कुआँ, पुलिया, कच्ची सड़क, पोखरा और कृषि यंत्रादि की नयी हवा चल पड़ी। भेड़-बकरी-अश्व-मत्स्य-कुक्कुट विकास से लेकर सुअर आदि के विकास तक के आयाम उभरने लगे। युवक मंगल दल और महिला मंगल दल से लेकर बोरिंग-डिब्लिंग की बातों में ग्रामीण रस लेने लगे। जापानी ढंग जैसी घनी खेती और श्रमदान जैसा नव-दान, कागजी ही सही, परन्तु एक नये समारोह के साथ ग्रामांचल में उतरे। साहूकारों के चंगुल से मुक्ति के सन्दर्भ-सूत्र पनपे

और गाँव में ही साधन-सहकारी-समितियाँ आ गईं किसान को सस्ते ब्याज और सरल नियमों पर ऋण देने के लिए। मलेरिया-सेवक से लेकर चकबन्दी अधिकारी गाँवों में घूमने लगे। अम्बर चर्खे भनकने लगे। भारत की २१४८९८ पंचायतों में ग्रामीण अपने मौलिक अधिकारों के लिए संघर्ष-रत दीखने लगे।

इतना होते हुए भी, लेकिन, समग्र उपलब्धि के रूप में लाभ हुआ भू-स्वामियों और सम्पन्न लोगों को ही। मेहता कमेटी की रिपोर्ट में स्पष्ट कहा गया कि भूमिहीनों और बेरोजगारों की समस्या जहाँ की तहाँ रह गई। जाल-फरेब, अनुदान-लूट और कागजी कामों को प्रोत्साहन मिला। जन-सहयोग बिल्कुल नहीं मिला। ग्रामीणों में सुधार-भावना उनके भीतर से नहीं जगी और फूट-वैमनस्य, बिलगाव-बिखराव गाँवों में बढ़ गया। जाति, कलह, अशिक्षा, गुटबाजी, राजनीतिज्ञों के प्रवेश और नौकरशाही मनोवृत्ति ने सामुदायिक विकास योजना को उचित दिशा में पनपने नहीं दिया।

ऐसा नहीं कि इन दोषों पर दृष्टि नहीं गई। समय-समय पर महत्त्वपूर्ण समितियों और अध्ययन-मंडलों ने इस क्रम में मूल्यवान सुझाव दिये हैं। सन् १९५५ में डॉ० दूबे के अध्ययन-मंडल ने, १९५७ में बलवन्त राय मेहता समिति ने, १९५८ में संयुक्त राज्य अध्ययन-मंडल ने, १९५९ में गोविन्दसहाय मूल्यांकन समिति ने और १९६१ में रिजर्व बैंक की मूल्यांकन समिति ने इसे निर्दोष और सच्ची जनोपयोगी योजना बनाने के लिए परामर्श दिये हैं। इन सलाहों से यद्यपि दोष-मार्जन के प्रयत्न हुए हैं तथापि अभी बहुत कमी है। ग्राम-सेवकों की संख्या बढ़ाने की बात प्रायः दुहराई गई है। सन् १९६४ तक ६१६०१ ग्राम-सेवक, ५७७१ ग्राम-सेविका और ३५१८ बी०डी०ओ० प्रशिक्षित हो पाये थे। इतने बड़े विशाल देश के परिप्रेक्ष्य में यह संख्या नगण्य है। इस समय बी०डी०ओ०, ग्राम-सेवक, ग्राम-सभापति और सरपंच आदि लोगों के प्रशिक्षण-केन्द्रों में वृद्धि कर दी गई है और कृषि कार्यक्रम भी उत्तरोत्तर पूर्व अनुभव के आधार पर विकासमान हैं। सन् १९६३ में सघन कृषि परियोजना लागू हुई। १९६४ से सघन कृषि-क्षेत्र कार्यक्रम से काम और आगे बढ़ा। १९६६ में नयी कृषि-नीति आ गई जिसे भावी कृषि-क्रांति के रूप में आँका गया। उत्तम किस्म के बीजों की इसमें व्यवस्था रही और गेहूँ में सोनारा चौसठ, लारमा, के० अड़सठ आदि, धान में ताईचून आदि, बाजरा में एच०-बी० आदि का नाम नये उर्वरकों के नामों के साथ किसान की ज़बान पर

थिरकने लगे। १९६६ में पैकेज प्रोग्राम आ गया और योजना में अपेक्षित तेजी लाने के लिए चुने क्षेत्र में जिला-स्तर पर सघन कृषि का विशेष सुझाव अमरीकी कृषि-उत्पादक दल द्वारा किया गया और कार्यान्वित हुआ जिसमें विस्तृत सिंचाई सुविधा का विस्तार हुआ। सन् १९७० में केन्द्रीय चावल अनुसंधान-समिति की ओर से घोषणा हुई कि देश में पहली बार अधिक उपज देने वाली चावल की आठ किस्मों का वितरण होगा। निस्सन्देह ३ करोड़ आदिम अनुसूचित जातियों सहित, जिनके लिए योजना में पृथक् से विकास-व्यवस्था है, भारतीय ग्राम-समुदाय के क्रान्तिकारी विकास का द्वार इस योजना से खुल जाने वाला था। यह और बात है कि अपनी अक्षमता से वह अपेक्षित उत्कर्ष अभी नहीं पा सका है और उज्ज्वल भविष्य के लिए संघर्षरत है।

पंचायत राज

स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-जीवन में बदलाव का सीधा साक्षात्कार सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत संचालित पंचायत राज से होने वाला समझा गया। वैदिक काल, महाकाव्य काल से लेकर गुप्त काल तक ही नहीं, ब्रिटिश काल तक चली आई और मार्क्स द्वारा प्रशंसित ग्रामीण गणतंत्र की प्रतीक जो पंचायतें ब्रिटिश सरकार के प्रशासन केन्द्रीकरण में छिन्नमूल हो गईं, स्वयं ब्रिटिश शासन के छिन्नमूल होने के बाद भारत में उनका पनपना स्वाभाविक था। महात्मा गाँधी ने २८-७-४६ के 'हरिजन' में लिखा—'स्वतंत्रता नीचे से आरम्भ होनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक गाँव एक गणराज्य अथवा पंचायत राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी।' गाँधी जी पंचायतों की छाया में आदर्श गाँव-निर्माण चाहते थे। शासन के विकेन्द्रीकरण की इसी नियत से सामूहिक स्वशासित ग्राम-जनतंत्र की प्रतीक पंचायतें सन् १९५९ की गाँधी-जयन्ती से आरम्भ हुई और कृषि, यातायात, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि विषयो में उन्हें गाँवों के विकास के पूर्ण स्थानीय अधिकार और सुविधाएँ दी गई अर्थात् विकास और कल्याण-योजना का दायित्व गाँव-निवासियों के सिर पर लाद दिया गया। २१ मार्च सन् १९६८ तक २,१३,५९८ पंचायतें भारत के ५ लाख ६३ हजार गाँवों में बन गईं। राज्यों ने तत्सम्बन्धी कानून बनाये। चुनाव-प्रणाली और कार्य-प्रणाली की दृष्टि से पूरे देश में एकरूपता लाने के प्रयास हुए। प्रायः मतदान को गुप्त रखा गया। आदिम और अनु-

सूचित जातियों को सुरक्षित प्रतिनिधित्व दिया गया। उत्तर प्रदेश में पहले १००० जनसंख्या पर एक गाँव-सभा का विधान था परन्तु इस दृष्टि से कि छोटे-छोटे गाँव इस स्वाधीनता लाभ से वंचित न रहें, बाद में यह संख्या २५० कर दी गई। गाँवों में इस योजना से आरम्भ में तहलका मच गया। सभापति, उपसभापति आदि के चुनावों में आम चुनावों से अधिक सरगर्मी दिखाई पड़ने लगी परन्तु धीरे-धीरे यह जोश ठण्डा पड़ गया क्योंकि यह सरकारी पंचायत-राज गाँवों को विघटित करके पूर्ण असफल हो गया।

जयप्रकाश नारायण चिल्लाते रहे, भारत में पंचायतों का असफल होना दुर्भाग्यपूर्ण होगा, पर होने वाला होता ही है। पंचायत राज की नींव ही गलत पड़ गई। बलवन्त राय मेहता कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि १० प्रतिशत ही पंचायतें कुछ सही काम करती हैं। ढाँचा तो गलत नहीं है; गाँव सभा, क्षेत्र, समिति और ज़िला परिषद्, इसके तीन स्तर भी सुविचारित हैं। न्याय पंचायत की व्यवस्था भी समीचीन है। पंचायत सेक्रेटरी से लेकर पंचायत अफसर तक सभी शृङ्खला दुरुस्त-चुस्त है परन्तु प्रश्न यह है कि जिस प्रकार पंचायत सेक्रेटरी, ग्राम-सभापति, पंच और सरपंच आदि के प्रशिक्षण के लिए व्यवस्था रही उसी प्रकार ऐसी उच्चकोटि की बौद्धिकता-पूर्ण व्यवस्था के लिए जनता के लोकतांत्रिक प्रशिक्षण की व्यवस्था कहाँ हुई ? इसे लागू करने के पूर्व परीक्षण कर लिया गया होता तो यह इस प्रकार कागजी पंचायत बनकर नहीं रह जाती।

पंचायतों से गाँवों में गलत शक्ति-संघर्ष के प्रतिकूल प्रभाव उभरे। इससे सम्पन्नों को ही लाभ रहा। यद्यपि उसे ग्रामीणों के जन्म, मरण, हाट, बाज़ार, प्रसूतिगृह, गोचरभूमि, प्रौढ़-शिक्षा से लेकर सड़क-रोशनी और मनोरंजन के संगठन आदि सैकड़ों ग्रामोत्थान के विषयों के अधिकार मिले पर इससे क्या है ? गाँव के स्थानीय नेतृत्व का विकास गुमराह हो गया। गुटबाजी, पार्टीबन्दी को प्रोत्साहन मिला। वास्तव में पंचायत की नकेल सरकार के हाथ में होना भारी दोष है। इससे यह सरकारी वोट की एजेन्सी भी कुछ सीमा तक हो गई। पंचपरमेश्वर की भावना का विकास, नागरिकता की शिक्षा, शान्ति, सुरक्षा, ग्राम-जीवन की इकाई की सुदृढ़ता, रामराज्य अर्थात् ग्रामराज्य में गाँधी के सपनों के गाँव का विकास, सारे ऊँचे उद्देश्य जातिवाद, अशिक्षा, दरिद्रता, राजनीति, नेतागिरी, स्वार्थ, लूट और नौकर-

शाही के कीचड़ में सन गये और परिणाम ठीक उलटा निकला। निस्संदेह इससे बदलाव आया, जनतंत्र संभव मतभेद उपजा, संघर्ष खड़ा हुआ और सत्ता-होड़ तीव्र हुई परन्तु पुनः उसी लोकतांत्रिक स्पिरिट में गाँव में एकमत अथवा बहुमत की प्रतिष्ठा नहीं हुई और दुर्भाग्यपूर्ण खाइयाँ ही बढ़ती गईं। फलतः पंचायतें असफल, जड़ और मृत हो गईं।

सहकारी समिति

विकास के विशाल वटवृक्ष के नीचे गाँव वालों के लिए ब्लाक और पंचायत के अतिरिक्त एक तीसरा युद्धस्थल सहकारी समिति है जहाँ वे शक्ति प्रदर्शन करते हैं। 'उन्नत खेती, उन्नत व्यापार और उन्नत जीवन' के लक्ष्य के साथ साथ पुनर्निर्माण का जो आयाम सहकारिता के रूप में उभरा है वह गाँवों के लिए यद्यपि नया नहीं है क्योंकि गाँव-जीवन का अर्थ ही रहा है सहकार का जीवन परन्तु आधुनिक काल में, विशेष कर स्वतंत्रता के बाद, यहाँ जो नयी सहकारिता आई है वह सरकारी नीति बनाम आन्दोलन के रूप में आई है। विकास-योजना अमरीका के, प्रसार-योजना रूस के अनुकरण के साथ आई तो सहकारिता जर्मनी के और भारतीय गाँवों की आकृति-प्रकृति से बेमेल पड़ने के कारण पहले दौर में असफल रही। बाद में परिवर्तित नीतियाँ और शनैः शनैः परिचय के कारण गाँव -वालों के मन को छूने लगी है।

गाँव-जीवन के उन तीन महारोगों की यह औषधि कही जाती है जिन्हें हम ऋणग्रस्तता, कृषि-उपज की विक्रय-लूट और बेकारी के नाम से पहचानते हैं। साहूकार, महाजन, व्यापारी, मंडी और आढ़तियों के चंगुल से किसानों की मुक्ति उनके लिए एक परम आह्लादकारी कल्पना है जो सहकारी समितियों से चरितार्थ होने जा रही है। गाँव स्तर पर 'प्राथमिक कृषि साख समिति' और जिला स्तर पर सहकारी बैंक हैं जो किसान को सुविधा से ऋण देते हैं। कृषि उपज की बिक्री के लिए प्राथमिक सहकारी मार्केटिंग सोसाइटी और जिला मार्केटिंग सोसाइटियाँ हैं। अल्पकालीन ऋण की व्यवस्था प्राथमिक कृषि साख समितियों से और दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था भूमि-बन्धक बैंक से होती है। साहूकार-मुक्ति और बाजार-मुक्ति के कार्यक्रम लेकर यदि ये बैंक और समितियाँ प्रभावशाली ढंग से काम करने लगती हैं तो ग्राम-जीवन सच-मुच स्वराज्य का स्वर्ग हो जायगा।

भारत में सहकारिता का प्रयत्न तो उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही हो रहा है परन्तु गाँव के सर्वसाधारण से इसका सीधा साक्षात्कार स्वतंत्रता के बाद पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से हुआ है । सन् १९५१-५२ में अखिल भारतीय ग्राम-साख सर्वेक्षण समिति द्वारा स्थिति के हुए सर्वेक्षण से पता चला कि ग्रामीण अनेक कारणों से ऋण आदि के लिए साहूकार-महाजन के ही आश्रित रहे । केवल ३ प्रतिशत ऋण साख-समितियाँ से लिये गये । इस दोष को दूर करने के लिए तृतीय पंचवर्षीय योजना में किसान की आवश्यकता-आपूर्ति के परिप्रेक्ष्य में अपेक्षित सुधार किये गये । ऋण और विक्रय-व्यवस्था के अतिरिक्त चकबन्दी, सिंचाई, उन्नत बीज, खाद, सुधरे औजार, पशुधन, उद्योग-धन्धे और गृहनिर्माण आदि में किसान की सहायता के लिए भी समितियाँ और बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ बनीं । बीजगोदाम गाँव के किसान का एक नया विश्वसनीय कृषि-मंदिर हो गया । सन् १९५६ के बाद रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष का निर्माण कर लिया तो स्थिति में और उपयोगी बदलाव आया । १९५९ के बाद सहकारी सेवा-समितियाँ बन गईं और उत्पादन आवश्यकता, खाद-बीज आदि के लिए सुविधाएँ और बढ़ीं । फसली-जमानत की भी व्यवस्था हुई और महाजनों का एकाधिकार पूर्ण रूप से खत्म हो गया । सन् १९६६ तक ५ लाख गाँव साख-समितियों में आ गये । १९६५-६६ में ३४५ करोड़ ऋण दिया गया और इस अवधि में देश भर में ३२०० विक्रय-समितियों द्वारा ३६० करोड़ की विक्रय व्यवस्था की गयी ।

इतना होते हुए भी अभी ग्रमीणों की उदासीनता और जड़ता का उन्मूलन पूर्ण रूप से नहीं हुआ । अशिक्षा, धनिकों के प्रभुत्व, परम्परा, जातिवाद, जटिल नियम, गुटबन्दी, नौकरशाही, राजनीति और राजनीतिज्ञों के प्रवेश और हस्तक्षेप आदि से मुक्त होने पर ही प्रभावशाली लाभ संभव है । धीरे-धीरे इस दिशा में ग्रामीण खुल रहे हैं । वे इस विकासी अखाड़े में अभी अन्ध-संघर्ष-रत हैं । उनमें 'स्पोर्ट्समैन स्पिरिट' आनी शेष है । ऐसा होने पर ही वास्तविक सहकार-पूर्ण उन्नत जीवन का मार्ग गाँवों में प्रशस्त होगा ।

कुटीर-उद्योग और भूमि-सुधार

स्वतंत्रता के बाद गाँवों में कुटीर-उद्योग की दिशा में कुछ प्रगति हुई । चरखे का सम्मान निस्सन्देह बढ़ा और घरों में इसका सादर प्रवेश हो गया । खादी-

ग्रामोद्योग का विशेष विकास हुआ है। तीसरी योजना के अन्त में इसमें ४० लाख व्यक्ति लगे थे। जबकि कुल बेकारी १ करोड़ की थी। चौथी योजना के आरम्भ में हथकरघा एक करोड़ लोगों की जीविका बन गया है। बताया गया है कि औसत एक बेकार व्यक्ति को काम देने के लिए बड़े उद्योग लगाने पर कई करोड़ का व्यय बैठेगा जबकि लघु अथवा कुटीर उद्योग में एक हज़ार पर्याप्त होगा। कताई-बुनाई, मिट्टी का काम, चर्म और काष्ठकला, साबुन, गुड़, मधु और तेल आदि उद्योगों के नये सिरे से विकास के साथ गाँव में एक बड़ी समस्या उठी कि इन उद्योगों में जाति स्तर पर परम्परा से लगे हुए लोग बेकार होने लगे। औद्योगिक बस्तियों का प्रसार अब गाँवों में भी होने लगा। सरकारी औद्योगिक समितियों का योग भी कुटीर-उद्योग को मिलने लगा। दूसरी पंचवर्षीय योजना से अम्बर चरखे को प्रोत्साहन मिला। चौथी योजना में ६७० करोड़ की भारी व्यवस्था तब अधिक फलवती हो सकेगी जब कृषि को उद्योग व्यवस्था के साथ जोड़ने में सफलता मिलेगी और किसान फल, तरकारी, दूध, कपास, गन्ना आदि का उद्योग-व्यवसाय के स्तर पर विशाल उत्पादन करने लगेंगे। लेकिन इस विशाल देश की जड़ता टूटने में विलम्ब हो रहा है। खेती और उद्योग के उसके दोनों हाथ खुल तो गये हैं परन्तु अभी सूने हैं। सामान्य-जन के स्तर पर अब तक ठोस रूप में कुछ हाथ नहीं लगा है। भूमि-सुधार से जिसे खेती का लाभ मिला, साधन-सुविधा सम्पन्न होने के कारण नये उद्योग का लाभ भी उसी को मिला। इसीलिए गाँव का यह वर्ग जो भूमिहीन है अपनी अभिशप्त नियति के जाल से उबर नहीं सका। यद्यपि इस वर्ग के उबार के लिए आचार्य विनोबा ने भूदान आन्दोलन चलाया और 'सबै भूमि गोपाल की' का नारा लगा।

उक्त नारे के अतिरिक्त सरकारी नीति के रूप में एक और आकर्षक नारा सामने आया, 'भूमि जोतने वालों की !' वास्तव में यह समय की बलवती माँग है। बिना भूमि-सुधार हुए विकास में गति नहीं आने वाली है। अन्य सामाजिक कारणों से भी भूमिसुधार आवश्यक था। संयुक्त परिवार के ह्रास से खेतों का टुकड़े-टुकड़े होना, कृषि पर भार और बढ़ती आबादी जैसी चुनौतियाँ सामने थीं। आर्थिक जोतों के संगठन, सहकारी और वैज्ञानिक सघन खेती तथा चकबन्दी के बिना चारा नहीं था। चकबन्दी कार्य आरम्भ तो सन् १९१२ से ही है पर इसमें तेजी स्वतंत्रता के बाद आई है और १९४७ में बम्बई के बाद

विभिन्न प्रान्तों ने तत्सम्बन्धी कानून बनाये। उत्तर प्रदेश में सन् १९५३ में और बाद में सन् १९६२ में संशोधित रूप में चकबन्दी अधिनियम प्रकाश में आया। १९७० तक देश में एक करोड़ ७५ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हो चुकी होगी। चकबन्दी से आर्थिक लाभ तो हुआ ही, एक जबरदस्त मानसिक बदलाव भी आया। परंपरागत पैतृक भूमियाँ अदल-बदल हो गईं और एक जकड़न टूटी। भूमि के साथ लगा अनन्य अपनत्व गला। प्रत्यक्ष लाभ से अन्य नये सुधारों के प्रति आस्था जगी। यद्यपि चकबन्दी के भ्रष्टाचारों से गाँव हिल गये परन्तु सब मिलाकर लाभ ही रहा।

गाँवों में सन् १९५९ से सहकारी खेती और सहकारी ग्राम-व्यवस्था का नारा भी छन कर पहुँचा है मगर ऊपर-ऊपर उड़ता यह एक हवाई नारा मात्र है। इसी तरह भूदान, ग्रामदान और प्रखण्डदान आन्दोलन हैं। सन् १९५१ से ही भूस्वामियों के हृदय-परिवर्तन के ये आन्दोलन चल रहे हैं परन्तु इससे भूमिहीनों की न तो भूमि-भूख शान्त हो पाई है और न गाँवों में कोई यथार्थ परिवर्तन आया है। सन् १९६१ तक इसमें १७.६० लाख हेक्टेयर भूमिदान, १९६७ तक ३७५२० ग्रामदान और १४२ प्रखण्डदान हो चुका है, सन् १९६९ की समाप्ति के साथ भूदान में ४२ लाख एकड़ भूमि दान में मिली। जिसमें १२ लाख एकड़ भूमि भूमिहीनों में वितरित कर दी गई। भूदान की भूमि को वितरण करने के कानून बन गये हैं। परन्तु उस दान के ऊसर-बंजर टुकड़ों से एक भावात्मक अथवा प्रचारात्मक वातावरण मात्र निर्मित हो रहा है। बिनोवा का यह आन्दोलन भी सुखी-सम्पन्न अथवा अभिजात सेवा-व्यवसायी लोगों के ही पक्ष में पड़ा।

जमींदारी उन्मूलन से अत्यधिक लाभ संभावित था किन्तु वह लाभ ठोस आर्थिक न होकर गाँवों में सामाजिक और मानसिक लाभ के रूप में सामने आया। जमींदार और जागीरदार जिनके आधीन ४० प्रतिशत भूमि थी, समाप्त हो गये और २ करोड़ काश्तकार सीधे सरकार से सम्बद्ध हो गये। इस प्रकार भूमि के मध्यवर्ती न रहे परन्तु अन्य मध्यवर्तियों के रहते गाँवों को सुख कहाँ? (सहकारिता द्वारा उनके उन्मूलन की तजबीज है) श्रम, बेगार, नज़राना, बेदखली, पिटाई, बसाव-उजाड़ और आतंक से काश्तकारों को मुक्ति मिली। उन्हें भू-स्वामित्व मिला। लेकिन प्रमुख लाभ लगान देने से सम्बन्धित रहा और 'ज़मीन जोतने वालों की' यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हुआ। जमींदारों को खुदकाश्त

और व्यक्तिगत फार्म का अधिकार मिला। बेदखली और इन्दराज-दुरुस्ती में पाँसा जमींदारों का ही पड़ता रहा और वे प्रायः भू-स्वामी के रूप में मुआवजा वगैरह पाकर और जमते गए। विकास-योजना भी उन्हें अनुकूल पड़ी। साधन, सुविधा, संस्कार और धाक का उपयोग कर हल-बैल की जगह ट्रैक्टर और खेत की जगह फार्म उन्होंने कर लिये। समस्या धरी रह गई देश के २ करोड़ भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की। उनके लिए कहीं कोई स्वराज्य नहीं आया। उत्तर प्रदेश में सन् १९५२ से जमींदारी गई। इसके पूर्व ये गरीब शिकमी-बटइया पर जीते थे। अब नये कानून के डर से वे इससे भी वंचित कर दिये गये। परती, बंजर, जंगल, तालाब और नदी आदि पर सरकार का अधिकार हो गया और इस प्रकार सम्पूर्ण देश में १७ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि सरकार को मिली तथा ५ अरब ७० करोड़ जमींदारों को पुनर्वास मुआवजा मिला। भूमिहीनों को कुछ नहीं के बराबर मिला।[1] अब सीमाबन्दी का उन्हें आसरा है परन्तु इस बीच कानून फिर भू-स्वामियों के पक्ष में पड़ रहा है। बाग और कच्चे माल की पैदावर-भूमि सीलिंग में नहीं आयेगी।[2] सो भू-स्वामियों

---

१. उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन के समय ग्राम-समाज के पास ५० लाख एकड़ भूमि थी जिसमें से ३६ लाख एकड़ अब तक बँट चुकी है। अधिकतम जोत सीमा आरोपण अधिनियम १९६० के अन्तर्गत ३० सितम्बर १९६९ तक शासन को १९१०९१ एकड़ भूमि पर कब्जा मिला है जिसमें शासने ने १०५७५३ एकड़ भूमि आवंटित की है।

('आज' वाराणसी) ६ फरवरी, १९७०।

सन् १९६१ की जनगणना में देश के १८.८४ करोड़ श्रमिकों में १३.५३ करोड़ कृषि पर अवलम्बित हैं और इनकी संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है। औद्योगिक बस्तियों, श्रमगहन कार्यक्रम, कृषि-सहायक उद्योग, मजदूरी कानून, भूदान और भूमिवितरण के सारे प्रयत्नों के बावजूद इनकी समस्या ज्यों की त्यों है।

जमींदारी उन्मूलन से जो भूमि सरकार के पास आई उसमें से ४५ लाख हेक्टर भूमि भूमिहीनों में वितरित की गई।

२. फरवरी सन् १९७० में उत्तर प्रदेश के नये मुख्यमंत्री चौधरी चरणसिंह ने घोषणा की कि जोत की अधिकतम सीमा ४० की जगह ३० एकड़

ने पूर्ण व्यवस्था, कागज दुरुस्ती और फाटबन्दी करा ली है। सन् १९७० के अलाभकर जोत (६ एकड़) लगान माफी अध्यादेश से भी मात्र लाभाभास हुआ। सो भी राजनीतिक कारणों से टाँय-टाँय फिस हो गया। भूमिहीनों की ही समस्याओं का विस्फोट नक्सलवादी आन्दोलन था और अगस्त सन् १९७० में संसोपा, प्रसोपा और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टियों ने 'भूमि हड़पो' का अभूतपूर्व आन्दोलन चलाया। इन्दिरा, जगजीवनराम और बिड़ला आदि की भी भूमियों पर अधिकार के प्रयत्न हुए। किसान सेना और भूमिसेना के संघर्ष उभरे। इस आन्दोलन का एक परिणाम यह हुआ कि प्रदेशीय सरकारों ने फालतू पड़ी जमीन, ग्रामसभाओं की बंजरभूमि, बड़े जमींदारों से निकली भूमि और भूमिदान से मिली भूमि को भूमिहीनों में बाँटने का काम तेजी से करना शुरू कर दिया।

व्यापक, आमूल किन्तु प्रभावहीन परिवर्तन

स्वतंत्रता के बाद गाँवों की व्यवस्था सर्वथा नयी हो गई है और नये-नये शब्द ग्रामांचल में एकबारगी भीड़ की तरह आ गये। निस्सन्देह इतिहास में ग्रामजीवन को इतना वैध सम्मान अब से पूर्व कभी नहीं मिला और जड़, परम्परित तथा सनातन गाँव को इतने क्रान्तिकारी परिवर्तनों के बीच से कभी नहीं गुज़रना पड़ा। लगता है, स्वतंत्रता के बाद जो कुछ सरकार के विकास प्रयत्न हुए उनमें ७५ प्रतिशत का सम्बन्ध ग्रामांचल से है। इससे ही यह सिद्ध है कि यथार्थ दृष्टि से गाँव समुदाय ही भारत है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

होगी और उसमें बाग आदि भी सम्मिलित होंगे। इसी के साथ उन्होंने ५ बीघे के जोत की लगान-मुक्ति की घोषणा की। आसाम में जोत की अधिक सीमा १५० से ७५ बीघा कर देने का सुझाव सन् १९७० में आया। बिहार में हदबन्दी कानून से ११ वर्ष में ७ एकड़ भूमि राज्य सरकार को मिली। यदि भ्रष्टाचार न हुआ होता तो १ लाख एकड़ भूमि मिलती। बिहार में भू-स्वामियों पर जमीन बेचने के सम्बन्ध में पाबन्दी लगा दी गई है। पश्चिमी बंगाल में १५ से २५ एकड़ तक जोत-सीमा निर्धारित की गई।

ग्राम-पंचायत और विकासादि से सम्बन्धित शब्द जैसे ग्राम-सभा, न्याय-पंचायत, सभापति, पंच, सरपंच, पंचायत मंत्री, ग्राम-सहायक, ग्राम-सेवक, ग्राम-सेविका, ग्राम-लक्ष्मी, खड़ंजा-सोख्ता पिट-कम्पोस्ट, बी० डी० ओ०, ए० डी० ओ०, पी० ए० (प्रोग्रेसिव असिस्टेंट) और ब्लाक प्रमुख; भूमि व्यवस्था से सम्बन्धित जैसे लेखपाल, भूमिधर, सीरधर, चकबन्दी; चकबन्दी से सम्बन्धित सी० ओ०, ए० सी० ओ०, चक, चकरोड; कुछ भावात्मक शब्द—भूदान, श्रमदान, पदयात्रा, गाँधी चबूतरा, वनमहोत्सव, युवक मंगल दल, महिला मंगल दल, बाल मंगल दल, सांस्कृतिक कार्यक्रम, मलेरिया उन्मूलन, चेचक उन्मूलन, डी० डी० टी०; कृषि के सम्बन्धित नलकूप आपरेटर, और रासायनिक खादों के नाम, पंपिंग सेट के पुर्जों के नाम, बोरिंग, कीटनाशक दवाओं के नाम, डिबलिंग जैसी पद्धतियों के नाम, धान-गेहूँ आदि विकसित बीजों के नाम और इसी प्रकार नसबन्दी, लूप, ब्लैक, राशन-टेस्ट वर्क, कन्ट्रोल, कोआपरेटिव से लेकर कुंटल-किलोग्राम तक; और ऊपर से छन-छनकर आये घेराव, दल-बदल, हड़ताल और नक्सलवाड़ी जैसे शब्द, प्रगतिशील किसान, सर्वोत्तम किसान 'कृषि पंडित' और किसान की पास बुक जैसे हज़ारों शब्द बदलाव की हज़ार-हज़ार भाषा लेकर गाँवों में उतर आये। उच्च स्तर पर 'भारत कृषक समाज' का गठन हुआ और 'ग्रामसेवा डिप्लोमा' और 'ग्रामीण इंजीनियरिंग डिप्लोमा' की व्यवस्था हुई। कुछ नये नारे जैसे 'जय जवान जय किसान' अथवा 'दो या तीन बच्चे होते हैं घर में अच्छे' 'हम दो : हमारे दो' भी आयें। चुनाव के रास्ते एम० एल० ए०, एम० पी०, नारा, वोट, पोस्टर, पोलिंग आदि शब्द आये।

मगर गलत नौकरशाही इस गरिमा को वहन करने में सर्वथा अक्षम सिद्ध हुई। बी० डी० ओ० गाँव में ठाटबाट के साथ 'कागज के गुलाम' बनकर कागजी विकास करने लगे। 'ब्लाक' का अर्थ 'ब्लैक' जैसा हो गया। ऋण और अनुदानों की मुफ्तखोरी एक नयी परम्परा चली। सरकार मानो एक ऐसी चीज हो गई कि ब्लाक के रास्ते लूटो। अधिकारी-कर्मचारी लूटते हैं और जनता भी उसी रास्ते लगी। अहलकारों को खिलाओ, फिर अपने खाओ, यही विकास है। गाँव विकास के लिए प्रशिक्षित नहीं हुए। विकास को उन्होंने लूटपाट समझा। इस दिशा में उन्हें प्रशिक्षित कौन करे ? विकास-अधिकारी साल में औसतन आध-दस घण्टे और ग्राम-सेवक औसतन साल में पन्द्रह-बीस घण्टे तक गाँव में 'आन ड्यूटी' रहते हैं। (कागज पर चाहे जो हो !) इस अल्प समय में

भी उनका सम्पर्क शुष्क कागजों से होता है न कि जीवित इन्सानों से ! यह बी० डी० ओ० स्वराज्य के बाद का ऐसा गजटेड आफिसर आया जो गाँव को दिया गया और यह डी०एम०, एस०डी०ओ० की नागरिक लाइन का विशुद्ध 'हाकिम' निकला। इसके रहते विकासखण्ड लूट-खसोट और छीना-झपटी के केन्द्र हो गये। ग्रामीणों का जितना नैतिक पतन स्वराज्य के बाद के बीस वर्षों में हुआ उतना ३०० वर्षों की अंग्रेज़ी अमलदारी में नहीं हुआ था। चार-छह अच्छे बड़े लोगों के प्रसिद्ध गाँवों को छोड़कर शेष गाँवों में ग्राम-सेवक जाते भी नहीं और न ग्रामीणों को पता है कि इस नाम का कोई उनका कहीं 'सेवक' है ! वास्तव में सरकार ने ग्रामीणों के लिए क्या-क्या किया और कौन-कौन लोग उसके अभ्युत्थान में लगे हैं, इसकी उसे कोई खबर नहीं है। तथाकथित 'सेवक' लोग भी 'नौकरी' करते हैं और कागज का पेट भरते हैं। 'राजकाज' की भाषा भी अभी बदल नहीं सकी है। स्थितियों की जकड़न बड़ी मुश्किल से टूटती दृष्टिगोचर हो रही है। स्वयं अपने प्रयत्न से गाँव वाले अपनी शैक्षिक और परिवेशगत असमर्थता के कारण बहुत धीरे-धीरे विकास की ओर बढ़ रहे हैं। कुछ तीव्र बदलाव और विकास वर्तमान परिवर्तित कृषि-नीति के कारण गाँवों में आता दीख रहा है और यह सिंचाई, खाद और विकसित बीजों के मार्ग से आ रहा है और इतने तेज धक्के से आ रहा है कि बावजूद धाँधली के वह प्रभाव दिखा रहा है। 'धर्मयुग' (२५ जनवरी सन् १९७०) में डा० हरदयाल ने एक निबन्ध लिखा, 'गाँवों की बदलती तस्वीर' और लिखा, 'क्षेत्र विकास के केन्द्रों से कर्ज उन्हीं को मिला है जिन्हें उसकी आवश्यकता नहीं है। सहकारी समितियों से बीज-खाद इत्यादि सम्पन्न कृषकों को ही मिलता है। मैंने यहाँ तक देखा है कि सहकारी समितियों की तरफ से बीज का गेहूँ उन लोगों को भी बँटा जो कृषक नहीं हैं।' २५ फरवरी और १ फरवरी सन् १९७० के 'दिनमान' में हिन्दी के श्रेष्ठ विद्रोही कवि 'निराला' के गाँव गढ़कोला का सर्वेक्षण छपा और २२ वर्षों का विकास देखकर स्तब्ध रह जाना पड़ता है। वहाँ ग्रामविकास नाम की कोई चीज नहीं है। जो कुछ भी है उसका आधार जातिगत है और धनपतियों तक सीमित है। वहाँ आज भी पहुँचना बहुत दुष्कर और श्रमसाध्य है। निम्नवर्ग राजनीतिक अधिकारों से सर्वथा वंचित है। ग्राम-सेवक जाति के किसी जीव की वहाँ कोई आहट नहीं। राजनीतिक नेता अपने मौसम में यानी चुनाव के दिनों में वोट माँगने जाते हैं। गाँव के

लोगों को नये विकास और राजनीतिक सरगर्मियों का कुछ पता नहीं है। ३ मई सन् १९७० के 'दिनमान' ने कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु के साक्षात्कार का विवरण प्रकाशित किया। रेणु ने 'परती परिकथा' में नव-निर्माण, भूमिहीन-समस्या, प्रोजेक्ट-सफलता आदि के संदर्भ में जो विश्वास प्रकट किया वह टूट रहा है। भूमिसुधार कानून, सर्वे, सर्वोदय, भूदान, राजनैतिक दल और कृषि-क्रान्ति सब समस्या को और उलझानेवाली वस्तुएँ सिद्ध हो रहे हैं। आज भी भूमिहीन जहाँ के तहाँ हैं और उनमें से कुछ असामाजिक होकर नक्सलपंथी बनाने लगे हैं। यह सब गंभीरता से देखकर ऐसा लगता है कि पंचायत और क्षेत्र-समिति आदि के रूप में जनता को जो सरकार के समानान्तर व्यवस्था दी गई उसकी महत्ता और उत्तरदायित्व को उसने आत्मसात् नहीं किया और सारा विकास एक तमाशा की तरह हो गया। यह दूसरी बात है कि तमाशा ही तमाशा में अनायास कुछ गंभीर परिणाम निकलने लगे तो उस ओर धीरे-धीरे रुझान बढ़ी है। इसी 'तमाशे' से जुड़ा एक और बड़ा तमाशा चलता रहा; वह है आम चुनाव का तमाशा। चुनाव और वोटदान ने गाँव वालों को गलत दिशा दी है क्योंकि सिद्धान्त की ऊँची बातें उनकी समझ के बाहर थीं और उन्होंने इसे गोल-गिरोह के रूप में लिया। गाँव-गाँव में नये किस्म की गोलबन्दी हुई। राजनीतिज्ञों ने उनके पारस्परिक भेद-भाव को बढ़ावा दिया, बिलगाव बढ़ाया, हिंसा-द्वेष को उकसाया। इस नये धक्के से टूटते गाँव और भी टूट कर बिखर गये। गाँवों में राजनीति का प्रवेश महा अशुभकर हुआ।

सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार भारत की आबादी ४३९२३५००० है। यहाँ ५६४७१८ गाँव हैं तथा २६९० शहर हैं। ३५९४३५६०७ लोग गाँवों में रहते हैं जो पूरी जनसंख्या का ८१ प्रतिशत है। पूरे देश में साक्षर लोगों की संख्या १९.६१ प्रतिशत है और गाँवों में २ प्रतिशत है। इसी दो प्रतिशत शिक्षित ग्राम समुदाय पर इतना बौद्धिक, सुचिन्तित, सूक्ष्म, सैद्धान्तिक और आधुनिक लोकतंत्र लाद दिया गया जब कि वह अभी अपनी परम्परागत पारिवारिक इकाइयों में आदिकालीन-मध्यकालीन संस्कारों से प्रभावित ईर्ष्या, रूढ़िवाद, निषेध, संदेह, पूर्वाग्रह और संवेगशीलता आदि को जीता अपने आदिम अविकसित ग्राममन को लिये गहरी उलझन की स्थिति में था। निस्सन्देह उसे सभी दिशाओं से उठाने के प्रयास स्वतंत्रता के बाद हुए हैं पर शताब्दियों की

मोटी तह वाली जकड़न शीघ्र टूटती नहीं दीख रही है। गाँवों के मुख्य धन्धे कृषि को आर्थिक नियोजन के सिलसिले में गतानुगतिकता के भँवरजाल से मुक्त करने के लिए उसका व्यापारीकरण, विशिष्टीकरण, उद्योगीकरण, यंत्रीकरण और सहकारीकरण किया गया। गो-सदन, गो-संवर्धन, प्रदर्शिनी, पुरस्कार, कृत्रिम गर्भाधान, पशुचिकित्सालय, अच्छी नस्ल के पशु, साँड़, चारा, चरागाह और तत्सम्बन्धी परीक्षण आदि की व्यापक व्यवस्था हुई। १९६० में केन्द्रीय गो-सम्वर्द्धन परिषद् की स्थापना हुई। पूरे विश्व के पशुधन का एक-चौथाई भारत में है और वह पूरे देश की आय के ७ प्रतिशत का स्रोत है। इस पर पाँच-साला आयोजनों में करोड़ों रुपया व्यय किया गया। लेकिन गाँव की रूढ़ि-प्रियता, असाहसवृत्ति और कूपमंडूकता टूटे तब तो। उत्तर प्रदेश में वृद्धावस्था पेंशन योजना सन् १९५७ से लागू है परन्तु प्रायः गाँवों के निराश्रित बूढ़ों को इसकी कोई खबर नहीं। मंत्रियों, नेताओं और चलते-पुरजे विशिष्ट लोगों के क्षेत्र के कुछ सीमित भाग्यवान लाभान्वित हो पाते हैं। इस विकास-काल में गाँवों की स्थिति सुधरी है परन्तु उसका एक दूसरा कारण भी है। युद्धकाल से अन्न का भाव चढ़ना शुरू हुआ और स्वराज्य आते-आते मँहगाई भी आई। सन् १९४७ से कन्ट्रोल शुरू हुआ। नेहरू जी के मरने के बाद भाव एकाएक आसमान छूने लगा। यह किसानों के हक में अप्रत्याशित और अयाचित महालाभ सिद्ध हुआ। यद्यपि अन्न के अनुपात में ही वस्त्रादि अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ भी मँहगी हुईं परन्तु सीमित आवश्यकताओं वाले किसान को मँहगाई बरदान सिद्ध हुई और उसके दिन लौटे। यद्यपि नगर का मँहगाई के विरुद्ध हल्ला सुन-सुनकर ग्रामीण भी इसे लेकर रोते रहे परन्तु इस काल में उनका यथार्थ लाभ हुआ। उनकी इस सुधरी स्थिति को पूर्ण रूप से विकास योजनाओं का प्रभाव माना गया, जो नितान्त भ्रामक है। इसके बाद सरकार की ओर से भाव के स्थिरीकरण के प्रयास हुए। खाद्यान्न का राजकीय व्यापार, खाद्य-क्षेत्रनिर्धारण, खाद्य-निगम (१९६५), कृषिमूल्य आयोग (१९६५) और खाद्यान्न नीति समिति (१९६६) और अन्यान्य विषयक निगमों की स्थापना इसी प्रयास के द्योतक हैं परन्तु सब मिलाकर भाव जो चढ़ा सो बहुत नहीं उतरा और किसान को इसका बराबर लाभ मिलता गया।

गाँवों को बदलने के चतुर्मुखी प्रयासों में सरकार की ओर से क्रमशः सघनता आती गई है। भारत के १५२ जिलों में रहने वाली १४ जनजातियों के

विकास के लिए जन-जातीय विकासखण्ड बने और उनके आवास, कृषि, उद्योग, कुआँ और अन्य कल्याण-कार्यों की व्यवस्था हुई । भारतीय सड़क कांग्रेस के सुझाव पर केन्द्रीय सरकार की १९४३ की २० वर्षीय नागपुर योजना में १५० हजार मील लम्बी ग्राम-सड़क की योजना (३० करोड़ व्यय) थी जिसे कुछ हेर-फेर के साथ पंचवर्षीय योजनाओं में पूरा किया जा रहा है । गाँवों में भूमि की कटान, ऊसर बंजर का पुनरुद्धार, रेह का निवारण और पानी की निकासी जैसी समस्याएँ हैं । चौथी योजना में इस पर २१८ करोड़ रुपये व्यय की व्यवस्था है और १५५० अधिकारी इस कार्य पर डटे हैं । बाढ़ और उससे होने वाली प्रतिवर्ष की १०० करोड़ की क्षति को रोकने के लिए केन्द्रीय बाढ़-नियन्त्रण परिषद् बन गई है और करोड़ों रुपये की व्यवस्था है । इसी क्रम में स्वतंत्रता के बाद ८००० किलोमीटर लम्बे सुरक्षात्मक बाँध बने और ४५०० गाँवों को बाढ़ से बचाने के लिए खतरे के बिन्दु से ऊँचा किया गया । परन्तु ओवरसियर और इंजीनियरों से सम्बन्धित ये मिट्टी के आँकड़े परम अविश्वसनीय हैं । अनेक गाँव कागज में ऊँचे हो गये हैं और वास्तविकता यह है कि वे जहाँ के तहाँ हैं । चौथी योजना में किसानों के लड़कों ये लिए ३०० व्यावसायिक कृषि विद्यालय शुरू करने का प्रबन्ध है । मिडिल स्कूल-स्तर के प्रतिभाशाली ग्रामीण छात्रों को जो प्रत्येक विकासखण्ड से दो की संख्या में होंगे एक विशेष परीक्षा के बाद एक-एक हजार की छात्रवृत्ति की व्यवस्था हो रही है । राष्ट्र-संघ के तत्त्वावधान में दिल्ली में भारतीय कृषि अनुसंधान संस्था की स्थापना हुई है । सब मिलाकर ऊँचे पैमाने पर भारतीय गाँव, कृषि और किसान के पुराने ढाँचे को बदल देने के ज़बरदस्त प्रयत्न हो रहे हैं । बिजली उत्पादन सन् १९४७ में जहाँ १४ लाख किलोवाट था वहाँ सन् १९६९ में ६० लाख किलोवाट हो गया । इसका एक बड़ा भाग गाँवों को भी मिला । १९६९ में भारत के ७०००० गाँवों में बिजली पहुँच गई है और १०८०००० नलकूपों का विद्युतीकरण हो गया है । गाँवों में विद्युत्-प्रसार को कृषि की ओर मोड़ दिया गया है । उसकी छोटी-छोटी समस्याओं की ओर भी ध्यान गया । नेशनल सेंपल सर्वे ने १९५३-५४ ई० में ९४३ गाँवों का सर्वे करके देश की ग्रामीण आवासीय स्थिति का पता लगाया । उसमें ज्ञात हुआ कि ८५ प्रतिशत घर मिट्टी के और ६० प्रतिशत फूस की छप्पर वाले हैं । ग्रामीण गृह-विस्तार योजना (स्वयं सहायता योजना) सन् १९५७ से लागू हुई जिसके अन्तर्गत

आवासीय चुनौतियों को ग्राम-स्तर पर स्वीकारने की व्यवस्था है। गाँवों में डाकखानों का विस्तार हुआ। सन् १९६९ में देश में कुल १०३३७१ डाकघरों में से ९३३०५ गाँवों में हैं। चालू योजना में २००० नये टेलीफोन केन्द्र गाँवों में खोले जा रहे हैं। सन् १९५४ से ग्रामीण कल्याण-विस्तार योजना में विकास-खण्ड के चुने हुए गाँवों में प्रशिक्षित दाइयों को देने की व्यवस्था हुई। इसी वर्ष से नेशनल वाटर सप्लाई एण्ड सेनीटेशन प्रोग्राम चालू हुआ जिसमें ३६९ शहरी योजना और ३४८ ग्रामीण योजनाएँ स्वीकार की गईं। गाँवों में उच्च-शिक्षा प्रसार-विषय में परामर्श देने के लिए सन् १९५६ में कौंसिल फार रूरल हायर एजूकेशन गठित हुई। फसल सुरक्षा-विभाग ने चूहों तक की गिनती कर ली और कहा कि देश में मनुष्य की आबादी के छह गुना यानी २४० करोड़ चूहे हैं। इस प्रकार छह चूहें मिलकर एक आदमी का भोजन चट कर डालते हैं। चूहों के अतिरिक्त आवारा पशु, बन्दर, चिड़ियाँ और टिड्डियों आदि पर अनुसंधान हुए और रोक-थाम के प्रोग्राम बनाये गये। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में कृषि और ग्राम-जीवन को तीव्र विकास प्रदान करने वाली संख्या को सुदृढ़ करने का संकल्प निहित है। इन संस्थाओं में कृषि-मूल्य आयोग, भूमिहीन श्रमिक आयोग, कृषि-वित्त निगम, ग्रामीण-विद्युतीकरण निगम, कृषि उद्योग निगम, भूमि विकास बैंक, पंतनगर का कृषि-संचार केन्द्र, उत्तर प्रदेश का पुल-निगम, डेरी निगम, सिंचाई-शोध-संस्थान रुड़की, लघु-कृषक-विकास एजेंसी, विकास अन्वेषणालय, फसल बीमा योजना आदि हैं। इस प्रकार न केवल भारत का राष्ट्रीय कैलेण्डर बदला बल्कि भारत के सिर का आसमान और पैरों के नीचे की ज़मीन को बदल देने के आयाम उभरे। अगणित चुनौतियों को लेकर आई स्वाधीनता ग्रामांचल में उतरे, ऐसे कदम उठे। लेकिन अभी तक ठोस सफलता का ठहराव नहीं मिल पाया है।

मार्च सन् १९७१ में मध्यावधि चुनाव के बाद नयी लोक-सभा का गठन हुआ तो विजयिनी प्रधान मंत्री इंदिरा जी ने देश की गरीबी दूर करना लक्ष्य घोषित किया। योजना-आयोग के नये गठन के विषय में भी विचार हुआ जिसकी अदूरदर्शिता के फलस्वरूप कृषि और उद्योग में बराबर असन्तुलन बना रहा और निरन्तर नौकरशाही का विस्तार होता गया। ३ करोड़ व्यय करके सन् ७१ में कृषि-सर्वेक्षण-आयोग गठित हुआ और उसने ज़मीन की किस्म तथा खेती की पद्धतियों आदि का सर्वेक्षण आरम्भ किया। पाँच लाख भारतीय

गाँवों में बिखरे छह करोड़ खेतों की सर्वप्रथम 'कृषि गणना' हुई। धीरे-धीरे व्यवहार रूप में इस तथ्य की राजकीय स्वीकृति मिलने लगी है कि वास्तव में भारतीय अर्थ-व्यवस्था का मेरुदण्ड कृषि ही है। तो भी पर्याप्त विलम्ब हो चुका है। कृषि और कृषकों की उपेक्षा का ही परिणाम है कि अब भी देश में प्रतिवर्ष दस लाख बेकार बढ़ते चले जा रहे हैं।

सन् १९७१ में हुई जनगणना के आँकड़े इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण संकेत करते हैं। कुल आबादी ५४ करोड़ ७० लाख है जिसका लगभग पंचमांश ही अर्थात् १० करोड़ ९० लाख जनसंख्या शहरों में रहती है, शेष लोग गाँवों में निवास करते हैं। ४२·८७ प्रतिशत लोग कृषक हैं और २५·७६ प्रतिशत लोग खेतिहर मजदूर हैं। खेतिहर मजदूरों का प्रतिशत बढ़ गया है क्योंकि १९६१ की गणना के अनुसार यह १६.७ था। साक्षरता का प्रश्न और टेढ़ा है। भारत में इस जनगणना के अनुसार केवल २९·३४ प्रतिशत लोग ही साक्षर हैं। शहरी क्षेत्रों में साक्षरता ५२·४८ प्रतिशत है जब कि ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता का प्रतिशत २३·०६ है। बेकारी और निरक्षरता एक ओर है और सात प्रतिशत वार्षिक की दर से होने वाली मूल्यवृद्धि दूसरी ओर है। ग्रामीण भारत के लिए यदि कुछ आशाजनक है तो वह है कृषि-क्रांति। सन् १९७०-७१ में १० करोड़ ७८ लाख टन की भारी उपज ने पिछले समस्त कीर्तिमान को तोड़ दिया है। चतुर्थ योजना के लक्ष्य निर्धारित समय (७३-७४) के पूर्व ही प्राप्त हो रहे हैं। सर्वप्रथम देश में अधिक अन्न की बात सोची गई। कृषि विकास निगम पंतनगर से यू०पी० ३०१ आदि अधिक उपज देने वाली नीरोग-निर्दोष गेहूँ की किस्में खोजी गई। दूध के बराबर प्रोटीन वाली मक्के की नस्ल आविष्कृत हुई। सन् ७० तक गेहूँ प्रति हेक्टर १२१·९८ कुंटल और आलू प्रति एकड़ ९२ कुंटल तक पहुँच गया। १९७१ में शांति का नोबेल पुरस्कार कृषि वैज्ञानिक डाक्टर नोर्मन अर्नेस्ट बोरलाग को जो बौनी जाति के लारमा-सोनारा आदि के आविष्कारक हैं, मिलने से भारतीय कृषि-क्रांति को बहुत बल मिला। कृषि क्रांति में सबसे बड़ा दोष यह समझा जाता है कि उससे बड़े किसानों को ही लाभ मिलता है। इसके परिहार के लिए चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में जिलों में सीधे छोटे किसानों और बेकारों को लाभ पहुँचाने के लिए विकास-एजेंसियाँ बनाने का प्रावधान है। कृषि क्रांति में बाधक नक्सली आँधी के शमन के लिए नक्सलवाद के गढ़ मुशहरी प्रखण्ड (मुजफ्फरपुर-बिहार) में सर्वोदयी नेता

जयप्रकाश नारायण जुटे हैं और असली ग्राम-स्वराज्य उतार लाने के लिए कृत-संकल्प हैं। इस प्रकार जहाँ तक प्रयत्नों का सवाल है सरकारी और गैर-सरकारी सभी प्रकार के प्रयत्न चल रहे हैं। सन्तोषजनक परिणाम में बाधक तत्त्व नौकरशाही है। ग्राम विद्युतीकरण निगम १९७०-७१ की रिपोर्ट से विदित हुआ कि उक्त अवधि में उत्तर प्रदेश सरकार को २·३५ करोड़ का ऋण स्वीकृत हुआ। इस धनराशि में से प्रदेश ने केवल १·३२ करोड़ रुपये का ही उपयोग किया। इस प्रकार एक करोड़ का जो उपयोग नहीं हुआ उसका साफ अर्थ है कि ग्राम-विकास की दिशा में नौकरशाही की वह अक्षमता जो स्वराज्य के बाद दासता की देन के रूप में उभरी अब भी यथावत् विद्यमान है। सरकार नहीं, सरकारी अधिकारी और कर्मचारी ग्राम-विकास में बाधक सिद्ध हो रहे हैं।

ग्राम विकास अथवा कृषि-विकास के सन्दर्भ में ७१-७२ में एक और तथ्य ज्ञात हुआ। विश्व बैंक से कृषि के लिए भारत को २३६४४७ करोड़ ऋण प्राप्त हुआ जिसमें से केवल १३०७४ करोड़ का ही उपयोग हुआ तिस पर भी गाँव की ओर लौटने का नारा बुलन्द हुआ। साढ़े ५१ खरब की पाँचवीं पंच-वर्षीय योजना का लक्ष्य ही हुआ गरीबी हटाओ। योजना आयोग ने गरीब की परिभाषा निर्धारित की। बताया गया कि गरीब वह है जिसकी प्रति मास ३७·५० रु० से कम आय है और ऐसे गरीबों की संख्या देश में २२ करोड़ है। इन्हें ही गरीबी हटाओ-योजना से प्रभावित किया जाना है। इधर कृषि क्रांति लड़-खड़ाने लगी। जुलाई, ७२ में गेहूँ के निर्यात की चर्चा चली और जनवरी, ७३ में आयात अनिवार्य लगने लगा। बाह्य परिवर्तन और सुधार बहुत ज़ोर पर है पर आन्तरिक दशा सुधार और ठोस उपलब्धि अभी भविष्य में हैं। डाक तार विभाग ने नया नारा दिया, 'हर गाँव में टेलीफोन।' सड़क-विभाग पाँचवीं योजना में प्रत्येक डेढ़ हज़ार आबादी वाले गाँव को पक्की सड़क से जोड़ देगा। डाक्टरों और इंजीनियरों की ग्राम-सेवा अनिवार्य हो जाने वाली है। लघु कृषक योजना, त्वरित योजना, नियोजन का विकेन्द्रीकरण और मुख्यतः प्रमुख आधार ग्राम-क्षेत्र का होना आदि सब सामने आ रहा है। स्वतंत्रता की रजत जयन्ती मनायी गई तो विकास क्षेत्रों में एक-एक जयन्ती ग्राम अर्थात् आदर्श ग्राम बनने लगे। अगर ये आदर्श ग्राम कागज पर न बनते तो कितना अच्छा होता! सन् १९७२ में पंचायतों के चुनाव से लेकर जोत हदबन्दी की जो उपलब्धियाँ सामने आयी हैं, वे बहुत आशा और उत्साहप्रद नहीं हैं। पचीस

वर्ष बाद भी भारत के ९० हज़ार गाँवों में से ५७ हज़ार गाँवों में पेय जल-संकट है। नगरों में कितना ग़लत समझा जा रहा है कि कृषि क्रांति और यातायात आदि के विकास के साथ गाँव के किसानों में समृद्धि आ गयी है। वास्तव में गाँव में बहुत विचित्र और नयी स्थिति उत्पन्न हो गयी है। आयी समृद्धि के नीचे ध्यानपूर्वक देखने के बाद ग़रीबी अपने पूर्वरूप में जमी दृष्टिगोचर हो रही है। अनार्थिक जोत लिये मशीनीकरण में अक्षम छोटे किसान जो लगभग ७० प्रतिशत हैं, हरित क्रांति की ढोल में पोल सदृश हैं।

गाँव की हीन स्थिति, औद्योगीकरण और अकाल

स्वातंत्र्योत्तर ढाई दशक में नगरों में बढ़ती वैभवशील स्थितियाँ और विस्तृत जीवन सुविधाएँ जिस प्रकार ज्वलन्त सत्य हैं उसी प्रकार एक दूसरा सत्य है गाँवों का दारिद्रय। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग गाँव छोड़कर शहरों की ओर बेतहाशा भागने लगे हैं। आधुनिक लोगों का आकर्षण नगर हो गया है। गाँव नरक मान लिये गये हैं और शहर स्वर्ग। कभी ठीक इसका उलटा था। गाँव में सफाई, सौन्दर्य, सुरक्षा, सामूहिकता, खाद्य-सामग्री की सहज-शुद्ध आपूर्ति की विशेषताएँ थीं और ये विशेषताएँ नगरों में प्रत्यावर्तित-स्थानांततित हो गई हैं और इनका विलोम आज गाँवों में जम गया है। 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है?' आज कोई व्यंग्यरूप में ही कह सकता है। तथा 'क्यों न इसे सबका मन चाहे' का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। गाँव का एक बालक जब आँखें खोलता है तो शहर के सपने के साथ। पढ़ने के लिए उसका शहर जाना अति श्रेष्ठ। विवशतावश ही गरीब अपने लड़कों को गाँव-गँवई के स्कूलों में पढ़ाते हैं। नौकरी के लिए शहरों की खाक छानना स्थायी नियति है। गाँव के सुविधा प्राप्त लोग नगरों में बसते जा रहे हैं। ग्रामजीवन की अपेक्षा उन्हें वहाँ विकास की अधिक सुविधाएँ और अधिक साधन मिलते हैं। कचहरियाँ नगरों में हैं, सड़कें नगरों तक ले जाती हैं और आज समग्र जीवन का प्रवाह उधर ही है। नगर में जो गया सो गाँव लौटने से रहा। जिस युग में हम साँस ले रहे हैं उस वैज्ञानिक युग के सुख गाँवों में नहीं हैं। वहाँ आधुनिक जीवन की भूख नहीं मिट सकती है। गाँव में वही रह जाता है जो बैल है। ये 'बैल' भी जब-तब उभड़ते हैं तो पगहा तुड़ाकर शहर भाग खड़े होते हैं। गाँव की हलवाही से शहर का रिक्शाचालन उत्तम। गाँव की मुदर्रिसी से शहर की दरबानी

भली ! बढ़ती आबादी, टूटते संयुक्त परिवार, शिक्षा का विकास और नये-नये सम्पर्क सब नगरोन्मुखता को बढ़ावा देने वाले हैं । कभी 'गाँव की ओर लौटो' का नारा लगा था और स्वाधीनता आन्दोलन और राष्ट्र के नवनिर्माण के नशे में राजनीति और जन-नेताओं के साथ गाँव की ओर लौटने के संदर्भ को जोड़ा था परन्तु आज वह टूट गया ।

यह ग्राम-जीवन के प्रति गहरी विरक्ति का दौर है । इस विरक्ति के दो पहलू हैं । एक हीनता-भाव : यह गाँव वालों का स्वयं गाँव के प्रति है और दूसरा उपेक्षा : यह शहर वालों का गाँव वालों के प्रति है । एकाध वर्ष नगर-निवास करके बाद में जब गँवार सँवरी-सुधरी मुद्रा में गाँव पहुँचता है तो वह सबको—यहाँ तक कि अपने माँ-बाप को भी—हीन समझने लगता है। नगर के तेवर ही कुछ और हैं जो गाँव से किसी छोर पर मिलते ही नहीं हैं । जिसे हम आधुनिक 'सभ्य आदमी' कहते हैं वह गाँव में रहने की कल्पना भी नहीं कर सकता। बिजली, पानी परिवहन, मनोरंजन और शिक्षा आदि की औसत सुविधाएँ जो आधुनिक सभ्य आदमी के लिए अनिवार्य हैं, गाँवों में नहीं । अभी आधुनिकता ग्राम-परिवेश और कृषि-संदर्भों से नहीं जुड़ पाई है । नगर का आदमी गाँव में पिकनिक के मूड में जाता है और गाँव का आदमी नगर में शिक्षा, चिकित्सा, मुकदमा अथवा क्रय-विक्रय आदि के लिए जाता है । ग्रामजीवन आज अधूरा, एकांगी और परावलम्बनयुक्त है । बात-बात में नगर का आसरा है । पहले खाद्यान्न गाँव से नगर की ओर जाता था और स्वराज्य के बाद नगर से गाँव की ओर जाने लगा । गाँव की नकेल अब नगर के हाथ में है । ऐसी स्थिति में इसके प्रति एक तीव्र विरक्ति स्वाभाविक ही है । गाँव का एक दो बैल रखने वाला औसत किसान परेशान है, शायद ही दोनों जून ठीक से भोजन मिलता है और शादी-वादी से लेकर ऋणग्रस्तता तक अनेक महारोग । उसके मुकाबले नगर का एक पान-बीड़ी की गुमटी वाला व्यक्ति अधिक शान्ति से जीवन गुजारता है । ग्राम-भाव में एक बहुत बड़ा महादोष यह आ गया है कि सभी अपने-अपने को न देखकर सारी शक्ति दूसरों को 'देखने' में लगा देते हैं। इसलिए केवल 'बात' के लिए अकारण वैर-विद्वेष बहुत शीघ्र पनपते हैं। स्वराज्य के बाद अनेक कारणों से यह रोग बढ़ गया है । एक पुरानी कहावत के अनुसार नगरों में देवता और गाँवों में भूत-प्रेत रहते हैं, यह आज की स्थिति में बहुत सही और सटीक बैठता है । विकास के नाम पर गाँवों में जो कुछ

थोड़ा-बहुत बदलाव आया है वह है आर्थिक बदलाव; अन्यथा सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक प्रत्येक दृष्टि से गहरा पराभव दीख रहा है। पहले वहाँ अशिक्षितों की भरमार थी और अब शिक्षित-अशिक्षितों की बाढ़ आ गई है। वहाँ ऐसा मोटा कूड़ा है जो बहुत जोर लगाने पर भी साफ नहीं हो पा रहा है।

उसकी पुरातन दरिद्रता और देश के औद्योगिक प्रतिष्ठानों के विकसित वैभव में कोई सामंजस्य नहीं प्रतीत हो रहा है। गाँधी जी भारत के औद्योगीकरण के पक्ष में नहीं थे। उनका कथन था कि—वह युद्ध, हिंसा, वर्गभेद और शोषण को प्रोत्साहन देता है तथा आदमी मशीन हो जाता है प्रकृत्या भारत कृषि व्यवसायी उत्तम सिद्ध होगा। सम्पूर्ण देश की पूँजी और कुल श्रम का अधिकांश कृषि पर लगना चाहिए। औद्योगीकरण के प्रभाव से भारत की समाज-व्यवस्था और संस्कृति नष्ट हो जायेगी। इस प्रकार के विचारों के चलते भी योजनाओं में औद्योगीकरण को प्रमुखता मिली। वह तीव्र गति से हुआ और भारत विश्व के प्रमुख आठ औद्योगिक मुल्कों में से एक हो गया। जापान को छोड़कर एशिया में औद्योगिक क्षेत्र में वह सर्वोपरि कहा जाने लगा। भारत की कुल जनसंख्या का ३ प्रतिशत बड़े उद्योगों में लगा है। सन् १९५६ से देश में नयी उद्योग नीति लागू हुई है, जिसका उद्देश्य समाजवाद की ओर धीरे-धीरे देश को ले जाना है। यद्यपि लघु और कुटीर उद्योगों को गाँवों तक ले जाने का प्रयत्न हो रहा है और चौथी योजना में गाँवों के विद्युतीकरण के लिए २५० करोड़ रुपयों की व्यवस्था है तथापि देश के विशाल औद्योगिक प्रतिष्ठानों, प्लान्टों और प्रोजेक्टों को देखते हुए यह ग्रामोद्योग उपक्रम एक बचकाना प्रयास सा लगता है।

सन् १९५७ में रूसी स्पुतनिक द्वारा अन्तरिक्ष युग शुरू हुआ और सन् १९६९ में अमरीका ने चन्द्र-विजय कर ली। इन बारह वर्षों में भारतीय गंगा में भी बहुत पानी बह गया। फरक्का, तिस्ता, चम्बल, तुंगभद्रा, कोयना, रिहंद, नागार्जुन सागर, हीराकुंड, भाखड़ा और कोसी आदि परियोजनाओं की गगनचुम्बी आशाएँ निखरने लगीं। इस्पात, उर्वरक, भारी मशीन उद्योग, तेल, लोकोमोटिव, कोयला, लोहा और बिजली आदि के भारी बुनियादी उद्योगों ने देश की काया पलट देने में सहायता की। इन उद्योगों के साथ चीनी, चाय, साइकिल, रेडियो, सिगरेट, घड़ी और मोटर आदि के उप-

भोक्ता उद्योगों का भी देश में विकास हुआ। सन् १९५४ से देश ने अणु शक्ति के उत्पादन और शान्ति-कार्यों के लिए उसके प्रयोग का श्रीगणेश किया और ट्राम्बे की अणु रिएक्टर (भठ्ठी) 'अप्सरा' का उद्घाटन हुआ। परमाणु शक्ति उत्पादन में तारापुर (बम्बई), राणाप्रताप सागर (राजस्थान) और कलपक्कम (मद्रास) के परमाणु शक्ति केन्द्र सक्रिय हैं। चौथी योजना में इसके और विस्तार की विशाल परिकल्पना है। सन् १९५१ में ७५ करोड़ की पूँजी लगाकर फर्टिलाइजर कारपोरेशन आफ इण्डिया के अन्तर्गत सिन्द्री फर्टिलाइजर का विशाल प्रतिष्ठान उभड़ा जिसने अमोनिया सल्फेट की आपूर्ति के क्रम में कृषक-भारत की बहुत मदद की। अकूत धनराशि नींव में झोंक कर उठे इन विशाल औद्योगिक प्रतिष्ठानों से एक सर्वथा नये समृद्ध भारत का उदय होने लगा। हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड में ६०० करोड़ की पूँजी लगी है और इसी प्रकार टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, बोकारो स्टील लिमिटेड, हैवी इंजिनियरिंग कारपोरेशन लिमिटेड और हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड आदि डेढ़-दो दर्जन बड़े उद्योग स्वतंत्र भारत को एक नया गौरव और नयी दीप्ति देने में लगे हैं। इन महत्तम औद्योगिक प्रतिष्ठानों के आगे लुहार की भाथी वाला हल-बैल का सनातन गाँव कितना हीन लगता है ? एकदम उदास, सुनसान, धुंधयुक्त और मटमैला ! आधुनिक आदमी जो जागतिक अथवा राष्ट्रीय प्रगति से सम्यक् रूपेण अवगत है गाँव को क्यों न भुला दे ? कहते हैं, अब गाँव नहीं रह जायेंगे। बेशक गाँव नहीं रह जायेंगे परन्तु खेत-खलिहान और बाग-बगीचे तो रहेंगे ? हरित उद्योग तो रहेगा ? लेकिन, अभी देश में जो है और जैसी प्रगति है उसे देखते वह दिन निकट नहीं प्रतीत हो रहा है। अभी तो उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों की ९० लाख एकड़ भूमि में ७७ लाख एकड़ भूमि कृषि-योग्य है जिसमें ७१ लाख एकड़ में ही खेती होती है और इसमें भी ५७ लाख एकड़ भूमि ही नयें-पुराने साधनों से सिंचित है। भारत में जोती जाने योग्य भूमि १३ करोड़ ८० लाख हेक्टर है जिसमें केवल २० प्रतिशत में ही सिंचाई व्यवस्था है, सो भी पूर्ण अनिश्चित है। देश में अभी १ करोड़ ७५ लाख हेक्टर कृषि-योग्य भूमि परती पड़ी है। मध्य प्रदेश में ९३ प्रतिशत कृषि-क्षेत्र असिंचित हैं। गुजरात में तीसरी योजना के अन्त तक १० प्रतिशत क्षेत्र ही सिंचित था। सरकार अन्नोत्पादन के विषय में बावजूद विकास के बारम्बार 'मौसम के साथ देने' की बात

दुहराती है। इन्हीं प्रकृति-निर्भरता आदि कारणों से कुछ लोग 'हरी क्रान्ति' को भ्रम कहते हैं। यानी खेती जैसी सनातन चीज भी चारों खाने चित है। अभी भी भूमि अछूती है, अभी आसमान के भरोसे लोग हैं और आये दिन अवर्षण का अकाल घहराता रहता है।

जैसलमेर और बाड़मेर (राजस्थान) के गाँवों में दस वर्ष से अवर्षण जन्य भीषण अकाल रहा। एक करोड़ प्रभावित लोगों की स्थिति सुधार के लिए २० लाख नित्य व्यय होता रहा! अकाल पड़ने पर कीड़े-मकोड़े की तरह पटपटाकर मरना भी ग्रामवासियों की ही स्थायी नियति है। तुगलक, अकबर, शाहजहाँ और औगरंजेब से लेकर ईस्ट इंडिया और ब्रिटिश काल में यहाँ जितना अकाल सत्य था उतना ही आज भी सत्य है। समूचे वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास को कलंकित करने वाला यह महादैत्य यहाँ अजेय वना है। सन् १७७० ई० में बंगाल के आधे लोग अकाल में मर गये। सन् १७९२ में मद्रास, १८०३ में बम्बई और १८३७ में उत्तर भारत के प्रदेशों को इसने आक्रान्त किया। कुछ मिलाकर ईस्ट इंडिया काल में बारह और ब्रिटिश काल में दस अकाल पड़े। लाखों-करोड़ों की मौत, क्षति और उजाड़ होती रही। सन् '४३ में बंगाल फिर भुन गया। यह युद्ध काल था और जमाखोरी की घिनौनी व्यवसाय वृत्ति की काली वेदी पर अठारह से लेकर पैंतिस लाख लोगों की बलि चढ़ गई। यह उस युग की बात है जबकि उसे रोकने के संचार आदि सारे वैज्ञानिक साधन उपलब्ध थे। दम तोड़ने वाले अधिकांश बंगाल के ग्रामीण थे जो अन्न के दानों की तलाश में महानगर कलकत्ते तक अपना अभिशप्त कंकाल लिए रेंगते चले आए। कहा जाता है कि तब देश के हाथ बँधे थे परन्तु उनकी मुक्ति के बाद भी कहाँ दीखता है पुरुषार्थ? १९६५-६६ में देश के अधिकांश भागों में एक साथ ही अकाल पड़ा। उत्तर प्रदेश-बिहार में २४ करोड़ की क्षति हुई। १९६६-६७ में पुनः अकाल। बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान, पश्चिमी बंगाल की ९ करोड़ जन-संख्या बुरी तरह चपेट में आ गई। गाँव वीरान हो गये। कृषि और पशुधन का संहार हो गया। अकाल पीड़ितों की सहायता बाढ़-पीड़ितों की भाँति सरकारी और गैरसरकारी प्रयत्नों से चलने लगी। प्रधानमंत्री कोष से भी सहायता मिली। दया, दान और धर्म इस देश की प्रकृति है और लगता है कि अब भी राजा-महाराजाओं की सरकारें हैं अतः दान-दया के यश लूटती हैं। अमरीका के सार्वजनिक नियम ४८० (पी० एल०

४८०) के अन्तर्गत अमरीकी गेहूँ, दलिया और मिल्क पाउडर आदि की बाढ़ आई और देश डूबने से बच गया। सारे संसार में भुखमरी से आक्रान्त एक महादरिद्र देश के रूप में भारत का दयनीय चित्र प्रचारित हुआ और कोने-कोने से सहायता आई जो कुछ ग्रामीणों तक पहुँची, कुछ नगरों में ही बन्दर-बाँट हो गई। राजनीतिज्ञों की गोटी सदा अकाल के चलते लाल होती रही।

लेकिन धन्यवाद है इस १९६६-६७ के अकाल को जिसने सदियों के गुमशुदा ग्राम-जीवन के सम्मान को पुनः वापस कर दिया और विकराल स्थितियों के भारी दबाव से हरित-क्रान्ति के आयाम स्वयमेव निखर आये। भारत में 'स्वराज्य' का तीन शब्दों वाला वह साधारण गणित भूल गया था कि स्वराज्य=भारत के किसानों को रासायनिक खाद+सिंचाई का पानी+उन्नत बीज! और अकाल में झटके से यह उछल कर समझ के ऊपर आ गया। अन्यथा न जाने अभी कितने दशक तक यह देश उद्योगीकरण, कच्छपगतिक योजना और हाकिमाना विकास के मायाजाल में डहकता रहता। निस्सन्देह सरकार के प्रयत्नों को नहीं, किसानों को दाद दी जायेगी कि उन्होंने नये कृषि पैटर्न को जो आकाश में झूल रहा था उछल कर लोक लिया और बीस वर्ष बाद ग्रामांचल में सच्चे स्वराज की एक हलकी सी यथार्थ अनुभूति का अनुभव लोगों ने किया। मुठ्ठी भर अन्न और चुटकी भर आटे के लिए छिछियाते राशनिंग और अन्नाभाव के चिचोरे नागरिकों ने गहराई से अनुभव किया कि अब बिना खुलकर भारतीय किसानों को बढ़ावा दिए प्राणों की रक्षा असंभव है। उद्योगपतियों ने अब तक के उपेक्षित कृषकोपयोगी पंपिंग सेट आदि के निर्माण में अधिक रुचि दिखाई और सरकारी सिसकार पर हरी क्रान्ति आशाओं की नवप्रभात लालिमा लिए निखर गई।

हरी क्रान्ति

२५ नवम्बर सन् १९६८ के 'आर्थिक जगत' (कलकत्ता) में श्री डी० एन० आर० वेव का एक निबन्ध प्रकाशित हुआ, 'आज की खेती और उसका भविष्य' शीर्षक में। उसमें सन् २०००० ई० की कृषि की रूपरेखा के बारे में फोर्ड कंपनी के विचारों का उल्लेख है। उसका संक्षिप्त आशय यह है कि तब किसान के जूतों पर कभी भी मिट्टी नहीं लगेगी। वह अपने कार्य के दिनों

को एक कृषि-संचालन कक्ष में बैठकर बटन दबाने में बितायेगा। तब मिट्टी की जुताई ऊपर उड़ते हुए एग्री होवर क्राफ्ट से निकलती हुई अल्ट्रासोनिक तरंगों द्वारा की जायेगी। एकड़ों लम्बी-चौड़ी मूल्यवान फसलों को बड़ी-बड़ी प्लास्टिक की चादरों से ढककर रखा जायेगा ताकि उन पर मौसम का कोई असर न पड़े। गेहूँ और जौ की औसत पैदावार ६ टन की हो जायेगी। बीजों को वर्ष के किसी भी समय बोया जायगा और खेत के मजदूर सफेद कालर वाले कर्मचारी बन जायेंगे।

भारतवर्ष में जहाँ जल-सम्पदा तो अमरीका के बराबर ही है पर कृषि-भूमि उससे तिगुनी है यह विवरण हम हसरत भरे मन से पढ़ते हैं। अपनी हल-बैल वाली सनातन खेती के परिप्रेक्ष्य में यह विवरण अलादीन के जादुई चिराग के करिश्मे जैसा लग सकता है, पर धन्यवाद है इस कृषि क्रान्ति को जिसके प्रथम चरण की होनहार सफलताओं ने वह सब प्रत्यक्ष कर दिया जिसे जीते फोर्ड कम्पनी की भविष्यवाणी अपनी धरती से दूर नहीं प्रतीत होती।

इस क्रान्ति की किन्तु भित्ति ही अभी कच्ची है। भारत में कृषि आज भी प्रकृति की दया पर निर्भर है। भारत की कुल कृषि-भूमि का एक-तिहाई भाग ही अभी सिंचित है। अभी जो कुछ चमत्कार है वह 'संकरओज' के अनुसन्धान का है जिसके क्रम में भारी उर्वरकों के अवशोषण क्षमता वाली गेहूँ आदि की बौनी फसलें विकसित हुईं। जहाँ विकसित बीज के नाम पर गेहूँ की किस्मों में पंजाब ५९१ और पूसा ५२ को ही लोग जानते थे वहाँ सन् १९६४ में मैक्सिको से 'सोनारा ६४' और 'लरमा रोहा' की बौनी बीज किस्में आईं। इनका रंग लाल था। पन्त नगर और पूसा में इन किस्मों पर अनुसन्धान हुआ। एक साल बाद शर्बती रंग का 'गेहूँ सोनालिका ३०८' निकला। और इसके बाद सोना २२७, सफेद लरमा, एस ३३१ आदि त्रिजोनी बौने गेहुँओं की एक से एक बढ़कर उपजाऊ उन्नत किस्में निकलीं। धान, ज्वार, बाजरा और मक्के की भी उन्नत किस्में जारी हुईं और सन् १९६८-६९ में ९४० लाख टन की भारी खाद्यान्न उपज हुई (वास्तव में उपज का यह आँकड़ा कृषि-क्रान्ति की प्रगति के कुछ अवरुद्ध होने की ओर भी संकेत करता था क्योंकि ६७-६८ में कुल उत्पादन ९५१ लाख मेट्रिक टन हुआ था जो २८.२ प्रतिशत वृद्धि का द्योतक था। यह अवरोध मौसम सम्बन्धी था।) और १९६९-७० में १०२० लाख टन खाद्यान्न के लक्ष्य की सफलता सम्बन्धी आशा बँध गई। सन् १९४७

में खाद्यान्न-उत्पादन ५ करोड़ टन और १९६९ में १० करोड़ टन अर्थात् दूना हो जाना मोटे रूप में कृषि-क्रान्ति कहा गया। १६ फरवरी सन् १९६९ के 'दिनमान' ने इस संबंध में एक टिप्पणी प्रकाशित की जिसमें कहा गया कि 'सिंचाई साधनों का विस्तार, अधिक उत्पादन वाले बीजों का आविष्कार, नवीन प्रणाली से कृषि करने की तकनीकों का अपनाया जाना और अधिकाधिक यंत्रचालित कृषि-साधनों का उपयोग ही कृषि-क्रान्ति की परिभाषा बन गई।' इस तथ्य की समीक्षा करते हुए उसने लिखा कि 'भारतीय कृषि को समझने के लिए आवश्यक है कि कृषि को कृषक-समाज की एक इकाई न मान कर समाज रचना के अंग के रूप में देखा जाय। जो लोग कृषि को पृथक् इकाई मानकर विश्लेषण करते हैं वे इस प्रयास में वस्तुतः उसके ऊपरी ढाँचे में ही उलझे रह जाते हैं। सामाजिक रचना, सांस्कृतिक परम्परा और अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में कृषि को देखा जाना चाहिए। कृषि केवल व्यवसाय नहीं वरन् कृषक के लिए वही जीवन-दर्शन है।' इस टिप्पणी में मुख्य बल इस बात पर है कि भारतीय कृषि को मात्र खाद-बीज और कृषि-यंत्रों तक सीमित न समझा जाय। उससे मानसिक स्तर पर परिवर्तन अपेक्षित है। कृषि में जो अप्रत्याशित उपज देखते हुए कृषि-क्रान्ति कही जाती है उसकी कसौटी यह है कि वह शहरों में आने वाली ग्रामीणों की बाढ़ को न केवल रोक दे बल्कि प्रवाह को उलटा कर दे और यह क्रान्ति न केवल ग्रामीण-क्षेत्र से संपृक्त रहे अपितु अखिल भारतीय समाज संरचना को प्रभावित करके उसके आर्थिक और सांस्कृतिक मूल्यों को आमूल परिवर्तित कर दे।

कृषि-क्रांति की पृष्ठभूमि में उन्नत बीज हैं। उन्नत बीज के लिए सन् १९६३ में राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना हुई। उन्नत बीजों की परीक्षा के लिए प्रयोगशालाएँ बनीं और भारी सफलताएँ मिलीं। सन् १९६१ में संकर मक्का, ६४ में संकर ज्वार और १९६५ में संकर बाजरा जारी हुआ। मक्के की पैदावार प्रति हैक्टर ६० क्विन्टल संभावित हो गई। इस प्रकार बीज के द्वारा युगान्तर आरम्भ हुआ। पहली बार 'बीज' और 'अनाज' का अन्तर उभरा। तराई विकास-निगम (पंत नगर) नये उन्नत एवं संकर बीजों को उपलब्ध कराने में क्रियाशील है। इन बीजों और नयी तकनीक द्वारा अब एक प्रगतिशील किसान १२० दिन में प्रति हेक्टर ५० क्विंटल पैदावार काट सकता है। यदि उसने फसल के दो चक्र अथवा तीन चक्र कर दिये तो इससे दुगनी

और तिगुनी पैदावार उठा सकता है। जिस देश में प्रति आठ व्यक्ति में से एक व्यक्ति किसान है उस देश में कृषि की ये नयी संभावनाएँ निस्सन्देह एक नये युग का सूत्रपात करने वाली प्रतीत होती है। पद्मा धान ११० दिन में, टाईचून १२० दिन में और आई० आर० एट्० १२५ दिन में पककर तैयार होता है तो अब नये अनुसन्धान से ८५ और ९५ दिन के बीच तैयार होने वाली नस्ल निकल गई है। इसकी पैदावार भी प्रति हेक्टर ५–६ टन होगी। अब पानी की भी उतनी आवश्यकता नहीं रही। भारतीय वैज्ञानिकों ने पौधों को निरन्तर जलमग्न रखे बिना धान की अच्छी फसल की खोज कर ली है। इसमें छह गुना कम जल अपेक्षित होगा। सन् १९६७-६८ में ६० लाख ४० हजार हेक्टर भूमि में जहाँ उन्नतिशील बीज बोये गये वहाँ सन् १९६९-७० में १ करोड़ ९ लाख २० हजार हेक्टर भूमि में उन्नतिशील बीज बोया जा रहा है। धान की हंस, साकेत, नेटिव ८, टी० २१, एन०एस० जे० २०५ आदि किस्में भी बहुत क्रांतिकारी हैं। आगे और अनुसंधान जारी है।

उन्नतिशील बीज चाहे वह गेहूँ के लारमा, सोनारा, शर्बती सोनारा, कल्याण सोना, सोनालिका से लेकर लालबहादुर, नर्वदा ६, और १५९३ तथा १५५३ आदि तक हों, चाहे धान के काशी, वरुणा, पद्मा, जया, टाईचून आदि हों, चाहे गन्ना के सी०ओ० १३०५, सी०ओ०एस० ५६२ आदि हों, चाहे संकर मक्का, किसान, जवाहर, गंगा १०१ आदि; बाजरा एच०बी० १ आदि, ज्वार सी० एस०एच० १,२ आदि हों सब पानी का खेल है। सिंचाई सुविधा होने पर ही इनसे अभीष्ट पैदावार संभव है। सन् १९४६ में महात्मा गांधी ने कहा था कि सभी गाँवों को सिंचाई की सुविधा उपलब्ध कराने से ज्यादा कोई जरूरी काम और नहीं हो सकता। यह सुविधा उपलब्ध न होने पर खेती एक जुए से ज्यादा और कुछ नहीं हो सकती। स्वराज्य के बाद भी वास्तव में खेती के नाम पर जुआ ही होता चला आया है। वैसे नलकूप की योजना तो सन् १९३३ से ही चालू है पर प्रथम योजना में इसका विस्तार हुआ और ४४०० नलकूप बने। बाद में इनकी संख्या बढ़ती गई परन्तु इतने बड़े विशाल देश को देखते गिनती के नलकूप कितना पानी देंगे? लघु, मध्य और बड़ी सिंचाई योजनाएँ, उठाऊ योजना, नहर, बाँध और पम्प नहर की योजनाएँ शुरू हुईं। १९७१-७२ ई० तक देश को खाद्यान्न में आत्मनिर्भर बनाने का लक्ष्य रहा। बड़ी योजनाओं में कुतुबमीनार से तिगुनी ऊँचाई वाला संसार का सबसे बड़ा

बाँध भाखरा और पुनः वैसी विशाल रिहन्द और हीराकुंड जैसी योजनाएँ उभरीं। सिंचाई पर अब तक ४५०० करोड़ रुपया व्यय हो चुका है। चौथी योजना के संशोधित परिव्यय में छोटे कृषि फार्मों के विकास पर ७७ करोड़ और जलपूर्ति पर व्यय बढ़ाकर १ अरब २० करोड़ कर दिया गया है। सन् १९४७ में ५ करोड़ एकड़ में सिंचाई-सुविधा थी और वह १९६९ में साढ़े ९ करोड़ एकड़ तक खिंच गई। लेकिन प्रश्न है कि यह अभी इतनी ही क्यों? इतनी महत्व-पूर्ण वस्तु की प्रगति में इतना धीमापन क्यों? ऐसा लगता है कि यदि १९६६-६७ का अकाल न आया होता, यह सिंचाई ऐसी ही कच्छपगति से चलती। अकाल के समय बोरिंग और पंपिंग सेट के विस्तार ने गाँव में अनुकूल प्रभाव दिखाया। तीसरी योजना की समाप्ति तक देश में कुल ५१४२३१ पंपिंग सेटों थे। इधर अकेले १९६६-६७ में १३२७६ पंपिंग सेट लगे और इसके पश्चात् तो गाँवों में इनकी बाढ़ आ गई। चौथी योजना में साढ़े बारह सौ पंपिंग सेट और नलकूपों को बिजली मिल रही है। आगे और सघन विस्तार सुविचारित है। गाँवों के बाहर पंपिंग सेट और निजी नलकूपों के नये-नये मंदिर खड़े हो गये। किर्लोस्कर, कूपर, भारत, इमानी, राजहंस और किसान आदि इनके नाम ग्रामांचल में गूँजने लगे। पाताल से पानी निकालने वाली ये हल्की मशीनें ग्रामांचल में सच्चे स्वराज्य का अग्रदूत बन कर छा गईं। किसानों को इनके लिए अनुदान आदि के रूप में भी गहरी रकम मिलने लगी। ग्राम सभाओं को नलकूप के लिए २०००० रुपये तक का ऋण देने की व्यवस्था हुई। सुविधाओं का विस्तार चौथी योजना में और बढ़ा। गाँवों में बिजली का विस्तार भी सिंचाई सुविधा को मोड़ देने लगा। सन् १९६९ तक विद्युत् नलकूपों की संख्या १०८८००० हो गई। सन् १९४७ में २००० गाँवों में बिजली थी और सन् १९७० तक एक लाख गाँवों में बिजली पहुँच रही है। सबसे अधिक प्रभावकर हो रही है उठाऊ पंपनहर योजना और इसका विस्तार कृषि-क्षेत्रों को नयी आशाओं से बाँधने जा रहा है। स्वयं किसान भी इन सबमें गहरी दिलचस्पी लेने लगा है। स्वराज्य के प्रति शंकालु किसानों की दृष्टि भी बदल रही है।

कृषि क्रान्ति में चमत्कारी योग उर्वरकों का है। खाद के प्रयोग से भूत जैसी पैदावार सामने देखकर किसान का भटक खुल गया और आलस भी गलने लगा है। अब उसे आसानी से समझाया जा सकता है कि भारत में

गोबर जलाने की क्षति प्रतिवर्ष एक दर्जन सिन्द्री के कारखानों को जला देने के बराबर है। गाँव में किसान के लिए अब नेत्रजन, सुपरफास्फेट, पोटाश, अमोनियम सल्फेट, यूरिया, डाई अमोनिया, म्यूरिट आफ पोटास आदि शब्द अपरिचित नहीं रह गये। खाद के उपयोग की ओर रुझान का पता इसी से लग सकता है कि सन् १९६७-६८ में जहाँ १६.८ लाख टन उर्वरक की खपत हुई वहाँ १९६९-७० में में ३३ लाख टन और १९७३-७४ में ५० लाख टन की खपत अनुमानित है। योजनारंभ में इसकी खपत ५ हजार टन थी। उर्वरक निगम ट्राम्बे द्वारा प्रस्तुत १००-१०० किलोग्राम के सन्तुलित खाद के थैले 'सुफला' किसानों में लोकप्रिय होते जा रहे हैं। अर्थात् अब वह केवल कम्पोस्ट पर निर्भर न रहा। उनका यह अन्ध विश्वास भी अब धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है कि रासायनिक खाद के प्रयोग से खेत ऊसर हो जायेंगे। अथवा इन खादों के प्रयोग के बाद आई पैदावार अखाद्य होती है। भारत की तात्कालिक आवश्यकता पैदावार वृद्धि अथवा कृषि क्रान्ति के चरण को उर्वरक अभियान बहुत मजबूत करता है। उर्वरकों की सेवा के संदर्भ में सिन्द्री फर्टीलाइजर कारपोरेशन गत १८ वर्षों से देश की बड़ी सेवा कर रहा है। कृषि-क्रान्ति को सफल बनाने में उसका योगदान महत्वपूर्ण है। उर्वरकों के उत्पादन के साथ उसने मिट्टी के निःशुल्क परीक्षण का एक विभाग खोला है जहाँ देश के कोने-कोने से किसान मिट्टी भेजते हैं। सम्प्रति उसने एक भू-परीक्षण का एक सचल दल तैयार किया है। जो देश में घूमकर भू-परीक्षण के साथ किसानों को खाद के प्रयोग के बारे में परामर्श देगा।

हरित क्रान्ति के उदग्र चरण आधुनिक कृषि-यंत्रों के अभियान हैं। उर्वरक सिंचाई-सुविधा और उन्नत बीज ही नहीं, उन्नत औजार भी उसी के समानान्तर आवश्यक हैं। 'हल' अब कृषि का भावात्मक प्रतीक मात्र रह जाय तो उत्तम। विकसित संयंत्रों के लिए ११ राज्यों में कृषि-उद्योग निगम की स्थापना हुई है। इसके अतिरिक्त आटोमोबाइल्स व ट्रेक्टर विकास परिषद् भी क्रियाशील हैं। देशी कारखाने कृषि-संयंत्रों की माँगपूर्ति में सक्षम हैं। ट्रेक्टर-निर्माण में देश आत्मनिर्भर हो गया है। देश में सन् १९४५ में जहाँ ४५२१ ट्रेक्टर थे वहाँ सन् १९६९ में उनकी संख्या ७०,००० हो गई। ट्रेक्टर के अतिरिक्त बोने, खाद देने, जोतने, सींचने, कटाई-दँवाई करने

की मशीनों की माँग होने लगी। खाद-पानी और नये बीज देकर गेहूँ की जो असाधारण पैदावार होने लगी [आधुनिकतम विकसित गेहूँ के बीज 'लाल बहादुर' के एक-एक पौदे में एक सौ से लेकर पौने दो सौ तक कल्ले निकलते हैं और प्रत्येक कल्ले में सुपुष्ट दानों वाली एक-एक बालिश्त की बालें] ऐसी पैदावार की दँवाई बैलों से असंभव-सी हो गई है अतः दँवाई-ओसाई की मशीनों की लोकप्रियता गाँवों में बढ़ने लगी। गाँव का किसान अब इस लाइन पर सोचने लगा है कि देश के कारखानों में सिंचाई आदि के सस्ते कृषि संयंत्रों को न बनाकर भारत का नागरिक पूँजीपति इस ईर्ष्या के कारण कि ये सुविधाएँ मिल जायँ तो किसान उद्योगपतियों से बहुत शीघ्र आगे बढ़ जायेगा, अड़ंगे लगाता रहा है। यह उसकी जागृति और आत्म-विश्वास का लक्षण है। चौथी योजना में किसानों के लड़कों के लिए ३०० व्यावसायिक कृषि-विद्यालय खोलने का प्रबन्ध राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में दिल्ली स्थित भारतीय कृषि-अधुसंधान-संस्था के अन्तर्गत है। यह भी सोचा जा रहा है कि नयी खेती के लिए नये प्रकार का प्रशासनिक ढाँचा तैयार हो जिसमें कृषि-स्नातकों को वैज्ञानिक कृषि के लिए गाँवों की ओर मोड़ा जाय। उन्हें निर्धारित कृषि फार्म दिये जायँ। उन्हें कार्य के प्रति उत्तर-दायी बनाया जाय। परिवर्तित स्थितियों में जहाँ यह विचार होने लगा है कि गाँव के भू-स्वामी किसान के कृषि-विज्ञान में प्रशिक्षित पुत्रों को नौकरी की जगह भूमि का तकनीकी उपयोग कर कृषि-व्यवसाय में लगाना श्रेयस्कर होगा वहीं यह भी विचार चलने लगा है कि भूमिहीन कृषि-विज्ञान में प्रवीण होकर बीज, नर्सरी, उत्पादन, सिंचाई और यंत्र आदि के सिलसिले में सलाहकार बनकर प्रगतिशील किसानों की सेवा कर सकते हैं। यंत्रोप-करण के सलाहकार और उन्हें किराये पर देने वालों की तथा सम्बन्धित यंत्रों के मिस्त्रियों की माँग गाँव में बढ़ती जायेगी। चौथी योजना में एक करोड़ की एक 'कृषि-यंत्र-किराया-केन्द्र' की योजना है। आरंभ में ५० केन्द्र खोले जायेंगे। तमिलनाडु में किराये के ट्रैक्टरों की व्यवस्था पंचायतें करती हैं।

कृषि धीरे-धीरे उद्योग का रूप लेने लगी है। अन्य उद्योगों की भाँति इसमें विज्ञान और प्रविधि के उपयोग की तथा पूँजी विनियोग की सफलताएँ संभावित लगने लगी हैं। कृषि-इंजीनियर, शस्यविज्ञानी, पादपप्रजनन विशेषज्ञ

और कृषि अर्थशास्त्री इसे पूर्ण वैज्ञानिक रूप दे रहे हैं। खेत की मिट्टी की जाँच के संस्थान बन चुके हैं। गाँवों में परम्परागत विश्वास ढहकर नया दृष्टिकोण बनने लगा है। चौथी योजना में ४ करोड़ एकड़ कृषि-भूमि की बढ़ोतरी भी हो रही है। कृषि क्रान्ति का वातावरण शनैः शनैः घना होता जा रहा है। इसका प्रथम चरण ही इतना प्रभावशाली रहा कि अप्रैल सन् १९७० से गेहूँ-क्षेत्र समाप्त हो गया और १९७१ तक गल्ले के आयात से मुक्ति की संभावना सुदृढ़ हो गई। २०० से ऊपर जिलों में सघन कृषि-कार्यक्रम चलने लगा है। कई प्रदेशों में वायुयान से कीटनाशक औषधियों का फसलों पर छिड़काव-कार्य आरम्भ है। वाराणसी रेडियो स्टेशन सूरज निकलने के साथ ही नित्य नयी खेती का प्रचार करता है और किसानों में लोकप्रिय होता जा रहा है। वाराणसी के अतिरिक्त लखनऊ, इलाहाबाद, रामपुर, पटना आदि स्थानों से भी ग्रामीण भाइयों के कार्यक्रम में कृषि-प्रचार हो रहा है। सन् १९६० से स्थापित उत्तर प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय पंत नगर (नैनीताल) में वर्ष में दो बार कृषि-मेला का आयोजन होने लगा है। यहाँ से प्रकाशित 'किसान-भारती' और 'फारमर्स डाइजेस्ट' नामक पत्रिकाएँ हरित-क्रान्ति में योगदान दे रही हैं। फसल प्रतियोगिताओं के लिए पुरस्कार-पदक दिये जाने लगे हैं। अखिल भारतीय फसल प्रतियोगिता १९६९-७० की गेहूँ, रबी, ज्वार, चना और आलू में आयोजित है जिसमें प्रथम पुरस्कार ३ हजार रुपये का है तथा द्वितीय-तृतीय पुरस्कार क्रम से १२०० रुपये और ८०० रुपये के हैं। विजेता को 'कृषि-पंडित' की उपधि ऊपर से। उत्तर प्रदेश में 'लघु-कृषक-विकास-योजना' जो २० करोड़ की है, ४० जिलों में चौथी योजना में लागू होगी। इससे छोटे किसान सीधे लाभान्वित होंगे। विकास की दिशा न केवल खाद्यान्न है बल्कि भिंडी, लौकी, कद्दू, लौकिया, करेला, तोरई आदि सब्जियों पर भी वैज्ञानिक अनुसंधान और प्रयोग हुए हैं तथा इनके उन्नत बीज और उन्नत पद्धतियाँ खोजी गई हैं। खेती में फसलों को कीड़े-मकोड़ों से बचाने के लिए, उनकी बीमारी की कीटनाशक औषधियों के निर्माणार्थ हिन्दुस्तान इन्सेक्टीसाइड्स संस्थान, दिल्ली की स्थापना हुई है। राजकीय शाक-भाजी अनुसंधान केन्द्र कल्याणपुर (कानपुर) इस दिशा में सक्रिय है। ३० से ३५ क्विंटल प्रति हेक्टर पैदावार वाली ब्रेग, हार्डी आदि सोयाबीन की फसलें जारी की गई हैं। पशुओं के लिए रिजका,

बरसीम, जई, ज्वार और ग्वार आदि चारा फसलों की विकसित विधियाँ भी खोज निकाली गई हैं। एक कमी अवश्य खटकती है। नक़दी फसलों में से गन्ना मूँगफली की पैदावार में तो विकसित विधियों का प्रयोग हुआ है और सफलता मिली है, परन्तु जूट, कपास और तेलहन आदि पर नये अनुसंधान अभी शेष हैं। काफी और रबर को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कृषि-क्रान्ति की धूमधाम के नीचे बढ़ती आबादी का यथार्थ भी अभी सिसक रहा है। प्रतिवर्ष पैदावार की बढ़ती का रेट १.३ प्रतिशत है और आबादी का २.५ प्रतिशत है। यदि परिवार नियोजन का लक्ष्य पूरा होगा तब भी सन् २००० में भारत की आबादी ८९ करोड़ हो जाना संभावित है। यदि परिवार नियोजन असफल हुआ तो वह अनुमानतः १ अरब १० करोड़ हो जायेगी। उसके मुकाबले खाद्यान्नों में ५० प्रतिशत से लेकर ६० प्रतिशत उत्पादन वृद्धि अपेक्षित है। जो अभी दूर की चीज है। किसान को जितना प्रोत्साहन मिलना चाहिए नहीं मिल रहा है। उत्तर प्रदेश में सिंचाई के रेट में २५ प्रतिशत वृद्धि कर दी गई है। किसान को खेती के लिए जो ऋण मिलता है उस पर ९॥% ब्याज भी बहुत अधिक है। व्यावसायिक बैंकों से ऋण सुविधा मिली भी तो वे अभी किसान से दूर पड़ रहे हैं। भारत में प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण हो जाने से किसानों आदि को कृषि सम्बन्धी ऋण की सुविधाएँ बढ़ी हैं तथा १९७०-७१ के बजट में छोटे किसानों और खेत-मजदूरों की सहायता के लिए ४५ अभिकरण बनाये गये। इनमें कृषि-ऋण की प्रमुखता है। परन्तु प्रश्न इनके उचित और प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वयन का है। बावजूद चकबन्दी के जोत अलाभकर रह गये हैं। प्रत्येक मौजे में एक-एक, दो-दो चक होने के कारण चकबन्दी के बाद भी एक औसत किसान के पास चार से लेकर १० तक खेत हो जाते हैं और इस प्रकार खेतों के टुकड़ों में कमी नहीं हुई। दस एकड़ से अधिक वाले केवल ४ प्रतिशत ही फार्म हैं। इस स्थिति में पूर्ण उन्नत खेती की क्या आशा की जाय ? पूर्णतया अमरीकी कृषि-विशेषज्ञों पर निर्भरता भी चिन्तनीय है। उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब, राजस्थान, आन्ध्र, उड़ीसा, मैसूर आदि ८ राज्यों में जो कृषि-विश्वविद्यालय हैं, जहाँ से भारतीय कृषि-क्रान्ति का संचालन होता है, सबमें अमरीका की किसी न किसी यूनिवर्सिटी के कृषि-विशेषज्ञों का दल है जो प्रमुख परामर्श स्रोत है।

इस चित्र का एक अत्यन्त नैराश्यपूर्ण पहलू भी है। समस्त योजनाओं और कृषि-क्रान्ति की प्रगति के होते भी यह निर्विवाद है कि सम्पन्नों और विपन्नों के बीच की खाई चौड़ी हुई है। लाभ छोटे किसानों अथवा भूमि-वंचित ग्रामीणों को नहीं हुआ। कुछ लोगों की यह आशंका कि हरित-क्रान्ति से असन्तुलन बढ़ेगा, निर्मूल नहीं है। कृषि के व्यवसाय रूप में परिणत होते ही व्यवसायी इधर आकर्षित होने लगे हैं और किसानों की भूमि को ललचाई दृष्टि से देखने लगे हैं। गाँवों में सम्पन्न कृषकों का नया वर्ग पनपने लगा है। सुविधाओं के केन्द्रीकरण की दृष्टि से यह वर्ग भूतपूर्व जमींदारों की कोटि का अप्रजातांत्रिक निखार ले सकता है। भूमि सुधार भी गले पड़ गया। घूसखोरी और भ्रष्टाचार ने ग्रामीणों को चूस लिया। बोरिंग कराने में किसान त्राहि बोल देता है। दौड़-धूप, बाबुओं की पूजा और मंजूरी में ही अनुदान का चौथाई निकल जाता है। नलकूप आये दिन बिगड़े रहते हैं। निजी पंपिंग सेट आये तो मगर उनकी मरम्मत आदि की कोई व्यवस्था नहीं। उन्नत बीज और खाद में मिलावट की समस्या है। चकबन्दी आदि के अशेष दोहन-चक्र में सन्तोष की जगह असन्तोष ही बढ़ता दृष्टिगोचर होता है। प्रशासन से कागजी और मौखिक प्रोत्साहन तो मिलता है पर यथार्थ सहयोग नहीं मिलता है। कृषि विकास में स्वयं कृषि विभाग अपने कागजी कार्यक्रमों के कारण बाधक है। ऐसी स्थिति में सरकारी प्रयत्न और योजनाएँ भूमि पर उतर कर अपेक्षित वातावरण नहीं पैदा कर पातीं। एक ओर कृषि-क्रान्ति के आयाम लक्षित हो रहे हैं तो दूसरी ओर लाल क्रान्ति के संदर्भ उभर रहे हैं। सन् १९६७ से नक्सलवादी आन्दोलन की लहर आई। भूमि सुधार के विलम्ब से इसे प्रोत्साहन मिल रहा है। भूमिहीनों की भूमि-भूख को उत्तेजित कर एक राजनैतिक दल अपने नेतृत्व को पैना कर रहा है। वास्तव में वह भूमिहीनों की समस्या नहीं, अपने स्वार्थ को हल करना चाहते हैं। भूमि-सुधार नहीं, विप्लव उनका लक्ष्य है। वे भूमिहीनों का हिंसात्मक आन्दोलन और रक्तपात के लिए आह्वान कर रहे हैं। कृषिभूमि पर बलात् कब्जा, फसल लूट की प्रवृत्ति बढ़ रही है। जयप्रकाश नारायण कहते हैं कि इसके मूल में भूमि-सुधार का कागजों पर रह जाना है और उनकी दृष्टि में भूदान ही इसका एक मात्र उपचार है। जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि आज गाँवों में अनिश्चितता, असंतुलन और तनाव की स्थिति है। इसी से असम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आंध्र, केरल, महाराष्ट्र,

काश्मीर, पंजाब और उत्तर प्रदेश में नक्सलवाद फैला है। 'क्लास' विकसित हो रहा है पर 'मास' की कठिनाइयाँ और बढ़ रही हैं और वह विस्फोटक स्थिति में है। कृषि-क्रांति को पूर्ण सफल और सार्वजनीन बनाने के लिए भूमि-व्यवस्था को कोई क्रान्तिकारी मोड़ देना वांछनीय प्रतीत होता है।

ग्रामोत्थान की नयी दिशा और घना कुहरा

स्वातंत्र्योत्तर ग्रामोत्थान कार्यक्रम में जैसे-जैसे प्रशासनिक यत्न सघन होते गये हैं वैसे-वैसे स्वयंसेवी जन-संस्थाएँ बिखरती गईं और उनके ग्राम सुधाराकांक्षी योगदान उत्तरोत्तर ढीले पड़ आज पूर्णतया चुक गये हैं। समूचा ग्राम-विकास वाह्य आर्थिक दृष्टि से संकेन्द्रित रह गया है। आन्तरिक स्तर पर समाजोत्थान संभव नहीं हुआ है। इसके विपरीत इस दिशा में गहरा ह्रास हुआ है। उदाहरणार्थ, स्वतंत्रता-पूर्व गाँवों में पुस्तकालय खोलना एक उत्साहवर्धक कार्यक्रम था। स्वराज्य मिलने के दो-एक वर्ष तक इस उत्साह में तीव्रता रही परन्तु इसके पश्चात् राजनीति, चुनाव और पार्टीबन्दी की ऐसी हवा आई कि चलते हुए पुस्तकालय टूटते गये। खुले पुस्तकालय बन्द हो गये और सरकारी अनुदान पर चलने वाले पुस्तकालय कालान्तर में लोगों के निजी पुस्तकालय हो गये हैं। पठन-पाठन की हवा गाँव में जो दास युग में थी, मुक्त होते ही समाप्त है। समाचार-पत्र जहाँ कहीं आते हैं, राजधानियों की राजनीतिक हलचलों को देखने के लिए ही आते हैं। यह राजनीतिक हलचल एक नंगा नाच अथवा एक भ्रष्ट उच्छृङ्खलता है, जिसका प्रयोग गाँव के 'चलते लोग' अपने गाँव में भी करता है। फलतः गाँव की सुपरिचित आकृति विकृत होती चली जा रही है।

पंचायतों से जो जागृति आई उसकी दिशा स्वस्थ नहीं निकली। अशिक्षा और अबौद्धिकता ने उसका उपयोग इस निरंकुशता के साथ किया कि उसे लोकतांत्रिक उपलब्धियों से सर्वथा वंचित रह जाना पड़ा। निरंकुश नेतृत्व और अनुशासनहीन शक्ति प्रदर्शन के साथ निकृष्ट स्वार्थपरता के धुंध में सारे आदर्श विलुप्त हो गये। शिक्षा प्रसार द्रुत गति से हुआ पर उससे कोई गुणात्मक जीवन मूल्य नहीं निष्पन्न हुआ। सब से चिन्तनीय स्थिति प्राथमिक शिक्षा की हुई। वोट के भिक्षुक नेतृवर्ग से गाँवों में अयोग्य और कामचोर शिक्षकों को अनैतिक संरक्षण मिला। स्कूल के नाम पर कबूतर खाना, अध्यापक के नाम पर

घरेलू कामकाज के बोझ से दबे दीनहीन-से उखड़े हुए लोग और शिक्षा के नाम पर नर-वानरों की घेराबन्दी ही आज गाँव में पाते हैं। स्वयं ग्रामीणों में अपने बालकों की शिक्षा के प्रति कोई रुचि विकसित नहीं हुई। वास्तव में वे नये अर्थ केन्द्रों में उलझे हुए प्रतीत होते हैं। सहकारी समितियाँ, ब्लाक पंचायत आदि ऐसे अर्थ स्रोत की भाँति हैं जिनसे लाभान्वित होने के लिए वह जी-तोड़ श्रम करते हैं। लेकिन यह लाभ क्या सामान्यजन को मिल पाता है ? इन पर उन धनी नेता-किसानों का ही अधिकार होता है जो अधिकांश पुराने जमींदार हैं और उनकी मनोवृत्तियों में किसी प्रकार के लोकतांत्रिक परिवर्तन नहीं आये हैं। वे नये सामंतवादी एकाधिकार और निरंकुश स्वेच्छाचारिता को नयी स्थिति में कुछ अधिक खुलकर जीने लगे हैं। इस प्रकार मृत जमींदार नयी मुद्रा में जी कर खड़ा हो गया है। पुराने जमींदार में क्रूरता के साथ कहीं न कहीं कोमलांश भी था परन्तु लोकतंत्रीय ग्रामीण भू-स्वामी का एक तिनका भी बहुजन-हिताय खिसकता नहीं दीखता है। सम्पूर्ण गाँव का विकास अथवा राष्ट्रीय हित जैसी दृष्टि का समूल उन्मूलन तथा सहकार का सत्यानाश नव-परिवर्तित ग्राम-जीवन का एक ज्वलन्त सत्य है। ६५०० करोड़ विदेशी ऋण का रुपया पानी की तरह प्रवाहित हुआ परन्तु देश की आत्मधारा सूख गई। जड़, सम्वेदनशून्य और भ्रष्ट-अक्षम प्रशासनतंत्र एक ओर, स्वार्थलिप्त, पद-लोलुप और आदर्शहीन नेतृवर्ग दूसरी ओर; ग्राम-मन पर जो प्रभाव तेईस वर्ष में पड़ा वह घोर अशिव-अशुभकर सिद्ध हुआ। गाँव जहाँ गाँव के लिए जीता था वहाँ विकास के बाद ग्रामीण अपने लिए जीने लगे। विकास दमघोंट हो गया। बाहर से समृद्ध करके भीतर से उसने गाँव को कंगाल कर दिया।

हम अनुभव करते हैं कि गाँव भीषण संक्रान्तिकाल से गुज़र रहा है। उसकी इकाई का स्वतंत्र घटक अब टूट कर विलीन होने जा रहा है। स्वतंत्रता के बाद उस पर दो दशक के पड़े प्रभाव दो हजार वर्षों के बदलाव को संक्रान्त करने जा रहे हैं। उसका राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक ढाँचा अनतिदूर भविष्य में पूर्णरूपेण संभवतः अपरिचित होने जा रहा है। चुनावों के पंचवर्षीय बसंत में बौराये राजनीतिक सज्जनों का जो भीषण समागम गाँवों में होता है, वह गाँव को आपाद-मस्तक झकझोर देता है। लेकिन किस आत्मोत्कर्ष के संदर्भ में ? उत्तर कठिन है। सभ्य-सुसंस्कृत अथवा आधुनिक नागरिकों का ग्राम-सम्पर्क निस्सन्देह अधिक बढ़ा। स्वयं गाँव के भीतर

उसकी संभावनाएँ वृहत् रूप में पल्लवित हुईं। उच्च शिक्षा-प्राप्त गाँव के युवक, पंचायत और विकास आदि के क्रम में आये अधिकारी और वहाँ निवास करने वाले कर्मचारी, चकबन्दी के क्रम में लगी ग्राम-कचहरियाँ और उससे सम्पर्कित नगरों से ग्रामोन्मुख वकील समुदाय आदि वाह्य प्रभावों और सम्पर्कों ने अपना प्रभाव समवेत रूप में छोड़ा है। समाचार पत्र और आकाशवाणी ने गाँव के पार्थक्यभाव को गलाया है। उसका सनातन मौलिक रूप, सीधा-सरल और भावात्मक रूप अब सर्वथा नया आकार ग्रहण करने जा रहा है। इस नवीन आकृति में नागरिक मुद्रा का उभाड़ अधिक प्रत्यक्ष है। गाँवों का नागरिकीकरण विकास की स्वस्थ स्थिति होगी अथवा अस्वस्थ दिशा, यह तो प्रश्न ही पृथक् है। विकास की गति को, जो किसी अदृष्ट नियति से प्रेरित है और जो दुर्निवार है, प्रश्न रोकने और मोड़ने का भी नहीं है। प्रश्न उसमें योग देने का है। स्वतंत्रता के बाद उसमें योग देने वाले सहस्र-सहस्र संदर्भ उभरे। हमारी शिक्षा, मनोरंजन, विकास, विद्युतीकरण, परिवहन-विकास, सहकारिता, चकबन्दी और चुनाव आदि के लोकतंत्रीय प्रयोग सब गाँव को कहाँ ले जा रहे हैं ? संयुक्त परिवारों और उनकी मान्यताओं का टूटना, नयी आर्थिक जीवन-दृष्टि और अर्थ-व्यवस्था का नवोन्मेष, राजनैतिक विचारधाराओं और राजनैतिकों का ग्राम प्रवेश तथा कृषि-विकास आदि के साथ ही नगर-सम्पर्क एवम् उससे उद्भूत मानसिक स्तर का परिवर्तन ग्रामीण समाज की सीमित लघु इकाई को एक विशाल प्रसार देने लगा है। 'अपने में पूर्ण' की सनातन ग्रामीण परिकल्पना का अब कोई अर्थ नहीं रह जाता है। सीधे दिल्ली का प्रभाव गाँव पर या गाँव के व्यक्तियों पर पड़ने लगा है। अब ऐसी स्थिति नहीं कि सत्ता-परिवर्तन अथवा राजनैतिक क्रांतियों की आँधियाँ ऊपर ही ऊपर उड़ गईं और गाँव उनसे सर्वथा अप्रभावित रह गये। नये समाज की संरचना में गाँव वृहत्तर भारतीय समाज का एक अंग बनकर विकसित होने जा रहा है न कि अपनी पृथक् संकुचित सत्ता के सुरक्षित अहंकार-दुर्ग में वह समाधिस्थ रहने का आग्रही बना रहेगा ? यही वह संक्रान्ति की स्थिति है जिसकी प्रसववेदना से पूरा ग्रामीण-समाज उन्मथित है और नये गाँव के जन्म की प्रतीक्षा है।

किन्तु, वर्तमान स्थितियाँ निराशाजनक ही अधिक सिद्ध हो रही हैं। आज गाँव का अर्थ है अरक्षित, असहाय, निराधार, नंगे-भूखे, बेरोजगार, कुंठित लोगों का एक अन्धकाराच्छन्न संसार जो पुराना रह न सका और नया आकार भी

ग्रहण न कर सका। कृषक, जिसके पास जमीन है, जी रहा है परन्तु नागरीकरण की पहली चपेट में तेली, धोबी, नाई, लोहार, सोनार और चमार आ गये। इनके परम्परागत व्यवसाय पर प्रश्नवाचक चिह्न लग गया। यंत्रीकरण की एक हलकी लहर में इनकी आजीविका की जर्जर नौका डूब गई। गाँव के सोनार को 'स्वर्ण नियंत्रण' निगल गया। सोनार एक नये 'हरिजन' निकल गये और गाँव का हरिजन एक नये सरकारी सवर्ण के रूप में विकसित हुआ। लगता है समस्त शासकीय योजनाओं-सुविधाओं के चलते भी बाईस वर्ष में जैसे हिन्दुस्तान मूलतः जहाँ का तहाँ है वैसे ही यह हरिजन समुदाय भी खैरा पीपर बना 'कभी न डोलै' की संकल्पित जैसी अवस्था में पड़ा है। कुछ भाखरा-नांगल जैसे गगनगुम्बी बाँधों का निर्माण जैसे राष्ट्र के नवोत्थान का प्रतीक नहीं है उसी प्रकार गाँव के हरिजनों का सरकारी सेवाओं में आ जाना मात्र पिछड़ेपन से मुक्ति का लक्षण नहीं है। वास्तविक विकास का वह एक क्षण भी मूल्यवान होता और तेईस वर्ष की तुलना में वरेण्य अथवा सर्वोपरि उल्लेखनीय उपलब्धि के रूप में गृहीत होता जब इस राष्ट्र के नागरिक राष्ट्र की दृष्टि से किसी समस्या पर निजी स्वार्थों को तिलांजलि देकर सोचते तथा उसकी छाया गाँव पर पड़ती कि वह सहयोग-सद्भाव के स्तर पर, सामूहिक जीवन विकास की विचार-भूमि पर कुछ सोचता। लेकिन यह हवा आज कहाँ है ? कैसे निश्चयपूर्वक कहा जाय कि गाँव का अथवा देश का विकास हो रहा है ?

खाद, पानी और विकसित बीजों के प्रयोग से पैदावार तो बढ़ी है। परन्तु क्या वह उस गति से बढ़ी है जिस गति आबादी में वृद्धि हो रही है। गाँव के अकिंचन श्रमजीवियों के घरों में 'पुत्र-रत्नों' की उत्पत्ति के अखण्ड स्रोत खुल पड़े हैं। नंगे-भूखे, चिथड़े लपेटे, काले-कलूटे, घिनौने माटी के ढेले जैसे अभिशप्त शिशुओं का गली-गली मेला लगा है। छोटी जातियों के इन बुभुक्षित शिशुओं की भीषण बाढ़ गाँव को कहाँ ले जा रही है ? धूल-माटी में लोट कर बढ़े इन संख्यातीत बुभुक्षित-विक्षुब्ध 'रुद्रों' की भीड़ को क्या अगले दशक झेल सकेंगे ? सरकारी तंत्र के परिवार नियोजन कार्यक्रम उन्हीं स्थानों तक पहुँच जाते हैं और कागजी आँकड़ों की सेवा-सुरक्षा-सापेक्ष जुटान कर पाते हैं जहाँ तक सुविधाजनक आवागमन के साधन हैं। परन्तु खोह-खन्दक से घोर बीहड़ ग्रामांचलों में जहाँ की माँदों में जीवोत्पत्ति के सघन स्रोत हैं नहीं पहुँच

पाते और संगीन युगीन चुनौतियाँ ज्यों की त्यों रह जाती हैं। सम्पन्न ग्रामीणों के भवन खड़े हो रहे हैं। भीतर कमरों में सोफा सेट लग रहे हैं। बैठक में रेडियो-ट्रांजिस्टर का संगीत गूँज रहा है। रेफ्रीजेटर, पंपिंग सेट के साथ बुक होता है। हाथी बेचकर कार आती है। खेत बढ़कर फार्म हो रहे हैं। लड़के-बच्चे दो-चार सौ की नौकरी छोड़कर घर आकर खेती में जुट रहे हैं और टेरलिन झाड़कर कियारी बराते हैं। अब उन्हें इसमें अधिक द्रव्योपार्जन के सुयोग प्राप्त होते हैं, परन्तु उनके खेतों में काम करने वालों का क्या प्रजातांत्रिक हृश्र हुआ ? वे लाखों-करोड़ों टस से मस भी हुए ? विकास का कौन सा भाग उन्हें मिला ?

१ मार्च सन् १९७० के 'दिनमान' में इस सम्बन्ध में एक मार्मिक टिप्पणी प्रकाशित हुई। कहा गया, केन्द्रीय खर्च का जो हिस्सा गाँवों में पहुँचता है उसको भी समझना जरूरी है। चौथी योजना के प्रारूप में खेती के लिए २२०० करोड़ रुपये की व्यवस्था सरकारी क्षेत्र में और १८०० करोड़ रुपये की निजी क्षेत्र में की गई है। खेती के सम्बन्ध में सरकार का सारा आग्रह इन दिनों खास किस्म के बीजों और रासायनिक खाद के इस्तेमाल पर रहा है। दिल्ली में अच्छी किस्म के गेहूँ के बीज पिछले दिनों ५० रुपये किलो तक बिके हैं। इसी से नतीजा निकाला जा सकता है कि खेती सम्बन्धी सरकारी नीति का लाभ केवल सिंचाई वाले इलाके में और वह भी केवल बड़ी जोतों वाले धनी किसानों द्वारा उठाया जा सकता है। सरकारी सहायता के साथ निजी खर्च की जो शर्तें आमतौर पर जुड़ी रहती हैं, उनके फलस्वरूप इस सहायता का लाभ भी बड़े किसान ही उठाते रहे हैं और आगे भी उठाते रहेंगे।

'इसके कुछ व्यापक आर्थिक-सामाजिक नतीजे भी निकलते हैं। क्योंकि गाँवों में भी अधिकांश हरिजन-आदिवासी और लोध, दुसाध, माली, मदिगा, पदयाची आदि पिछड़े समूहों के लोग ही छोटे किसान और भूमिहीन होते हैं। इसलिए इन्हीं को 'विकास खर्चों' का कोई लाभ नहीं मिलता। सामुदायिक विकास, पंचायती राज, सहकारिता, सभी सरकारी और अर्द्धसरकारी संस्थाएँ बड़े किसानों के हित में काम करती हैं। इन्हीं पिछड़े समूहों के बच्चे प्राथमिक शिक्षा से भी वंचित रहते हैं, सरकारी और गैरसरकारी रोजगार से भी और इन्हीं पर बढ़ते दामों और अप्रत्यक्ष करों की मार भी सबसे अधिक पड़ती है।'

स्वातंत्र्योत्तर विकास-क्षितिज के उद्घाटन के समानान्तर एक और सामा-

जिक आयाम ग्रामांचल की नयी करवट के रूप में उभरा। उसकी सामाजिक एकता और पारस्परिक राह-रस्म, भाई-चारा और भोज-भात खत्म हो गया। पटवारी, मुखिया, पुरोहित और पंच आदि की जगह सभापति-सरपंच आदि नयी व्यवस्था के लोग आ गये। सत्ताधारी-नेतृवर्ग परस्पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करा कर ही अपने प्रजातांत्रिक स्वार्थों की सिद्धि सोचता है। अन्य राजनैतिक दल भी यही कार्य करते हैं। पुरानी-सड़ी जातियाँ राजनीति से बँध-कर पुनः पनपना उठी हैं और गाँवों में अद्‌भुत पार्थक्य-भाव आ गया है। एक गाँव में कई गाँव हो गये। भीषण बिलगाव- बिखराव और बैर-विद्वेष की स्थितियाँ उत्पन्न हो गईं। एकता पूर्णरूपेण समाप्त हो गई। लोग अपने-अपने गोल-गिरोह के हितचिन्तक रह गये। इनके अन्ध-हित आपस में शतशः टक्कर लेने लगे। मारपीट, फौजदारी और मुकदमेबाजियों में आश्चर्यजनक अभिवृद्धि हुई। सामान्य मारपीट की जगह हत्याकांड बढ़े, चोरियों की जगह डाके की प्रवृत्ति बढ़ी। डर-भय और संकोच जाता रहा। नंगा-नाच शान की वस्तु हो गया। समाज में जो कुछ गर्हित और निन्दनीय रहा, नये ग्रामीणों ने उसे महत्ता और पौरुष की संज्ञा प्रदान की। गीत-गायन, मनोरंजन और त्यौहार सब फीके पड़ गये। कुछ गाँव के लोग गये साहित्य की भाँति 'नगर-बोधी' चल निकले। इन 'चलते लोगों' के चलते 'उत्कोच अनिवार्यता' की स्थितियाँ प्रकृति बन गईं। सामाजिक बुराइयाँ और कुरीतियाँ और अधिक बद्धमूल होती गईं। तिलक-दहेज बढ़ा। कहते हैं, जब एम०एल० ए० आदि लोगों ने अपना वेतन बढ़ा लिया, सुविधाएँ बढ़ा लीं तो क्यों न हम अपने पुत्रों का मूल्य बढ़ा लें? ग्रामकन्याओं में कुछ अध्यापिकाएँ बनी, कुछ ग्रामसेविकायें और ग्राम लक्ष्मियाँ बनीं, परन्तु इससे उनकी मूल स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। उनका जन्म परिवार पर आज भी एक अभिशप्त वज्राघात है और विवाहो-परान्त आज भी परिवार में उनका जीवन नरकतुल्य और अगणित बन्धनों में कसा विवश, रुग्ण और घोर व्यथाकारक है। ऐसा नहीं कि आधुनिकता ग्रामीणों से अदेख है अथवा वे उससे परिचित नहीं हैं परन्तु परिचय होना और बात है और उसका भोग और बात है।

उत्थान और पतन की यह विसंगति आज के ग्रामजीवन का एक ज्वलन्त सत्य है। एक कोण से देखने पर उसमें नव विकास का लहराता स्वर्ग शस्य अठखेलियाँ कर रहा है और दूसरे पहलू के उभरते ही चतुर्दिक् सांस्कृतिक-सामा-

जिक पराभव का रौरव नरक अपनी अखिल विरूपता लिए परम घिनौना साक्षात्कार बना रही है। कहते हैं कि परम्परा और आधुनिकता के दो ध्रुवान्तों के बीच आज का ग्रामजीवन अटका परम अनिश्चय की स्थिति में है। यह अपने पुरानेपन के सुखद व्यामोह को विस्मृत करने में हिचक रहा है और नवीन वैज्ञानिक नवोत्थान की प्रगतिशील शक्तियों को भी वह अत्यन्त प्रत्यक्ष होने के कारण अस्वीकार नहीं कर पाता है। नवपरिवर्तित जीवन संदर्भ और जागतिक स्थितियों के समानान्तर वह अपने निजत्व को मोड़ देने के लिए उत्सुकता व्यक्त कर रहा है। क्योंकि परम्परायें तो सड़ गई हैं और पुरातनता मात्र एक निष्क्रिय भावात्मक सत्ता रह गई है। उसमें जीवन स्पन्दन नहीं रह गया है परन्तु उसकी अपरिभाषित विवशताएँ उसके सामने हिमालय बन कर खड़ी हैं। वह पथभ्रष्ट होने के लिए, प्रवंचित होने के लिए, उत्पीड़ित होने के लिए और सर्वस्वापहृत होने के लिए जैसे विवश है। वह आज आन्तरिक्ष युग में जैसे त्रिशंकु की कथा की एक बार पुनः सत्य पुनरावृत्ति कर रहा है। गाँव-गाँव नहीं रह गया और नगर होना अभी तक दुःस्वप्न है। वह जीवन्त विरोधाभास है। वह अपने अधिकारां के बोध के साथ नये प्रजातांत्रिक मूल्यों को आत्मसात करने के लिए उदग्र है तो यह भी सत्य है कि वह अपने अधिकारों से पूर्णतया अनभिज्ञ है। आज के गाँव को देखते समाजवाद का नारा एक भारी भ्रम है। वह सामन्तवाद का खंडहर मात्र है। स्वाधीनता के पश्चात् वह समन्वित रूप में विकसित नहीं हुआ है। उसके भीतर सिर उठाते पक्के प्रासाद उसके उत्थान के द्योतक नहीं। वह मूलतः किसी नगर का प्रसाद होता है। वहाँ जो कुछ अपनी उपलब्धि है वह है नारकीय सड़ाँध जिसमें मनुष्य के लिए सांस लेना भी दुष्कर है। रगड़े-झगड़े और वैर-विरोध का घुटा हुआ विषाक्त अखाड़ा आज के गाँव का शृङ्गार है। परस्पर गुत्थम-गुत्थ ग्रामीण, प्रत्येक प्रकार के उच्च मूल्यों से वंचित अशिक्षित या अर्धशिक्षित, राजनीति शोषित, पंचायत के प्रेत और विकास के बहेलिया बने भविष्य में कौन सा आकार ग्रहण करने जा रहे हैं, कहना कठिन है। स्वराज्य ने निस्सन्देह उन्हें तोड़ दिया। वहाँ बिजली तो पहुँची परन्तु अंधकार बढ़ गया। सड़कों ने उन्हें नगरों से जोड़ना शुरू किया परन्तु उस जनता के जंगल में 'मंगल की घड़ियाँ नहीं उतरीं और न ही उसकी एकाकिता गई। नयी खेती ने भाग्यवाद को चुनौती दी मगर उसकी आन्तरिक स्तर पर ग्रामीण द्वारा स्वीकृति शेष है। चकबन्दी से धरती

के प्रति जड़ भावुक व्यामोह टूटा, बापदादे के नियमों की हद टूटी और परम्परा विखंडन का प्रत्यक्षीकरण हुआ परन्तु उससे लगी काली-कथाओं का कलुष-प्रभाव समकालीन जन-मानस में जाने कितने दिन झेलेगा। नयी खेती के प्रभाव से दिनभर ताश-चौसर में या निठल्ले बैठे गाँव के लोग कामकाजी तो हुए पर इससे प्रथम तो बदलाव एक वर्ग विशेष में प्रतिफलित हुआ, दूसरे उनका उदार ग्राम-मानस और तनाव-पूर्ण ही हुआ। पंचायत-ब्लाक आदि समानान्तर व्यवस्थाओं से, न्यायालयों के ग्रामीकरण से आत्मविश्वासपूर्ण वातावरण की संभावना तो बढ़ी पर गाँवों में संप्रति बौद्धिक पृष्ठभूमि की एकान्त अनुपस्थिति से प्रभाव विपरीत ही प्रतिलक्षित होता है और सारा परिवेश शंकाशीलता के धुंध में डूबा मिल रहा है। कृषि-क्रान्ति से धरती का अशेष रस फूटकर प्रवाहित भी हुआ पर तत्वतः उससे भरे पेट वालों की ही स्फीत मिथ्या तृष्णा प्रशमित होती दीख पड़ी। युग-युग से भूखे-प्यासे अतृप्त जन उससे वंचित ही रहे। इन सब अतियों के छोर पर पड़ा गाँव स्वातंत्र्योत्तर विकास-तंत्र में उध्वस्त हो रहा है अथवा प्रतिष्ठापित हो रहा है, कहना कठिन है। मरणोन्मुख पीढ़ी दिन गिन रही है और नयी पीढ़ी अपने नये सपनों को साकार करने के लिए उसे छोड़कर भाग रही है। विकास के तेईस वर्षीय प्रयत्न गाँवों से भगदड़ को रोक नहीं सके हैं। अब कृषि-क्रान्ति कसौटी पर चढ़ी है। उसे गाँव की रक्षा करनी है क्योंकि 'गाँव हमारे देश की बुनियादी इकाई है। नयी पीढ़ी गाँव से विरक्त होती गई। शहर जिनकी ओर वह दौड़ी स्वयं संस्कारच्युत हैं। गाँधी ने सलाह दी थी कि गाँवों की और लौटो। हमारे स्वातंत्र्योत्तर इतिहास ने प्रेरणा दी कि शहरों की चमक-दमक की ओर भागो। गाँव से नयी पीढ़ी उखड़ी, शहर उन्हें ठीक तरह से बसा नहीं पाया। अतः आज वे मानसिक रूप से बुरी तरह उखड़े हुए और दिग्भ्रमित हैं। पुरानी पीढ़ी गाँवों में पुराने खंडहरों की तरह धीरे-धीरे धूल में मिलती जा रही है और गाँव से उखड़ा युवा उन्हें भूल जाना चाहता है क्योंकि उसके लिए वह असंगत हो चुकी है।'[1]

●

---

१. धर्मवीर भारती 'धर्मयुग' १७ अगस्त सन् १९६९, पृ० ३८।

द्वितीय अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में ग्राम-जीवन

(कृतियाँ और कृतिकारों का सर्वेक्षण)

(१) वैविध्य और काल-दृष्टि

हिन्दी-कथा साहित्य जिसने स्वाधीन भारत की साहित्य-सम्पदा को नयी अर्थवत्ता और नयी दीप्ति प्रदान की; परम्परा, प्रगति और प्रयोग की गुणात्मक उपलब्धियों से परिपूर्ण है। विज्ञान और प्रविधि के जीवन-रूपान्तरकारी आयाम स्वातंत्र्योत्तर नानाविधिक आन्तरिक और बाह्य नवपरिवर्तित स्थितियों के संयोग से कथा-साहित्य को जो अपेक्षित मोड़ देते हैं यद्यपि वह नगराभिमुख है तथा भू-संपृक्ति और ग्रामजीवनांकन की परम्परा अद्यावधि बदलते साहित्यिक प्रतिमानों के अनुरूप अपने को ढालते हुए अक्षुण्ण और अप्रतिहत है। नये कथाकारों ने, परिवर्तित ग्राम-रुचि और परिवेशगत यथार्थ को जिये गये जीवन की प्रामाणिकता के स्तर पर बाँधने का प्रयत्न किया है। भौगोलिक इकाइयों में प्रसरित विविधवर्णी ग्राम-छवि, जो इस विशाल भारत देश की मौलिक विशिष्टता है, नये कथा-साहित्य में नवीन आभा के साथ उजागर हुई है। सर्वाधिक जागरूकता इस पक्ष में पड़ी है कि समस्याओं के जंगल में व्यक्ति अदेख, अपूछ किंवा उपेक्षित न रह जाय और एक गहरी अकुलाहट लिये वैयक्तिकता का उभार इस अवधि में हुआ है। आधुनिकता, जो मूलतः अनास्था विद्रोह और संत्रास से सम्बन्धित है, ग्रामांचल में ठीक उसी रूप में नहीं पहुँची है जिस रूप में नगर जीवन को उसने आक्रान्त कर लिया है तथापि अपने स्तर पर गाँव भी इसकी चुनौतियों को झेलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराने गाँव टूट कर सर्वथा नवीन आकार ग्रहण करने जा रहे है। आर्थिक और प्रशासनिक परिवर्तनों के झटके ने उन्हें आन्तरिक स्तर पर तोड़ा हैं। 'पुराना'

एक व्यामोह की भाँति पीछे छूटता जाता है और संक्रमण-काल-चक्र में नया गाँव अभी कोई सुनिश्चित आकार ग्रहण नहीं कर पा सकने की छटपटाहट, संघर्ष, अन्तर्विरोध और विघटन-विद्रूपता लिए जी रहा है। भारत सरकार के समूचे योजना विकास का तीन-चौथाई यद्यपि ग्रामाधारित है और शताब्दियों से पददलित देश को सर्वथा नवीन आकार देने का इतना विशाल प्रयास इतिहास में प्रथम बार हुआ है तथापि साहित्यकारों द्वारा इसकी कम उपेक्षा नहीं हुई। शायद स्वयं की उपेक्षा की यह उनकी प्रतिक्रिया रही है और ग्राम-जीवन तथा उनके नये बदलाव सब 'अछूत' विषय जैसे हो गये। सन् १९४७ के बाद के समकालीन विकासाश्रित ग्राम-संस्कार व्यंग्य के उपादान-रूप में विशेषकर ग्रहीत हुए। इस मर्म का स्पर्श करते ही ऐसा प्रतीत होता है कि कथाकार की सृजनात्मकता की आन्तरिक मनोभूमि छूट जाती है और वह विक्षुब्ध स्थिति में पक्ष अथवा विपक्ष की बाह्य प्रचारधर्मिता के निकट आ जाता है। समकालीन ग्राम-जीवन की स्थितियों के अंकन-संदर्भ में कथाकार राजनीतिक प्रभावों से अछूता रह जाय, यह असंभव है, किन्तु आलोच्य पृष्ठभूमि पर सशक्त राजनीतिक अभिव्यक्ति का अभाव-अनुभव ही हाथ लगता है। विपरीत इसके देश-काल निरपेक्ष सनातन रागबोध का स्वर ग्रामगंधी रचनाओं के सहकार में अधिक मर्मस्पर्शिता के साथ मुखरित होता है।

लेकिन यह स्वर विरल है। मूल्य, प्रतिमान, परिप्रेक्ष्य, बोध और संदर्भों की क्षिप्रगतिक परिवर्तनशीलता अनेक स्तरों पर कथ्य को ऐसा मोड़ देकर प्रस्तुत करती है जिससे वह जिये जा रहे जीवन से जुड़ा प्रतीत होता रहे। इसी लिये वस्तु के साथ शिल्प में स्पष्ट परिवर्तन आया है। परम्परागत शिल्प का बन्धान तोड़कर नये उपन्यासों ने जो नया रूप ग्रहण किया है मुख्यतः वह 'बिखराव' वाला रूप है तथा ग्राम जीवनाधारित उपन्यासों में यह बिखराव बहुत साफ रूप में दृष्टिगोचर होता है। 'मैला आँचल', 'अलग-अलग वैतरणी', 'आधा गाँव', 'बलचनमा', 'पानी के प्राचीर', 'राग दरबारी', 'सागर, लहरें, और मनुष्य', 'जाने कितनी आँखें' और 'रीछ' आदि ऐसे उपन्यास हैं जिनमें किसी केन्द्रीय पात्र या पात्री की कहानी नहीं बल्कि समग्र गाँव या अंचल की कहानी पूरे बिखराव के साथ चलती है। इसी प्रकार काल की दृष्टि से इस अवधि में ग्राम जीवन पर आधारित कुछ उपन्यास ऐसे प्रकाशित हुए जिनमें सन् १९४७ के पूर्व की घटनायें चित्रित हैं, जैसे 'नेपाल की वो बेटी', 'रतिनाथ

की चाची', 'कोहबर की शर्त', 'कब तक पुकारूँ', 'दो अकालगढ़' और 'मशाल'। दूसरे प्रकार की ऐसी कृतियाँ हैं जो ठीक स्वराज्य होने तक का ग्रामांकन कर समाप्त हो जाती हैं, जैसे 'आधा गाँव' और 'पानी के प्राचीर'। तीसरे प्रकार की वे कृतियाँ जिनमें स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रसंग बीच में आया है और उसके पूर्व तथा पश्चात् की ग्राम-स्थितियों का दिग्दर्शन होता चलता है, जैसे 'नदी फिर बह चली', 'सती मैया का चौरा', 'भूदानी सोनिया', 'रीछ', 'ब्रह्मपुत्र', 'स्वप्न और सत्य', 'इंसाफ' और 'लोहे के पंख' तथा चौथे प्रकार के वे उपन्यास हैं जिनमें विशुद्ध रूप से स्वाधीनता के बाद के परिवर्तित ग्राम-जीवन को संदर्भित किया गया है। ऐसी कृतियाँ ही अधिक हैं जिनमें प्रमुख हैं, 'जलूस', 'मैला आँचल', 'परती परिकथा', 'ग्राम सेविका', 'अलग-अलग वैतरणी', 'घने बने', 'दुखमोचन', 'अमरबेल', 'चौलीदामन', 'रागदरबारी', 'जल टूटता हुआ' और 'कलावे' आदि। इस संदर्भ में एक पाँचवीं काल-वृत्ति भी प्रकाश में आई है जिसमें एक ही लेखक ने स्वाधीनता-प्राप्ति को सीमा-रेखावत् परिकल्पित कर उसके पूर्व और पश्चात् की स्थितियों को एक ही अंचल विशेष के परिप्रेक्ष्य में इस कौशल से संग्रथित किया है कि वे नाम-ग्राम में पृथक् होकर तथ्यतः पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध जैसी ग्रहीत हो सकती हैं। ये कृतियाँ हैं 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ'।

नयी कहानी में जिये जीवन की प्रामाणिकता का क्षणवादी आग्रह प्रमुख रहा अतः इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं मिला कि स्वतंत्र देश में पराधीनता काल की स्मृतियों को पुनरुज्जीवित कर कथात्मक स्वरूप प्रदान किया जाय। तो भी ग्रामस्तर पर हुए सर्वाधिक विशाल परिवर्तन जमींदारी उन्मूलन के नये सुखकर आयाम को संवेदित करने के लिए पुरातन पीड़ा-युक्त जमींदार-काल की रोमांचकता को 'मार्कण्डेय' और 'शिवप्रसाद सिंह' ने कुछ कहानियों में रूपायित किया है। शैलेश मटियानी की अधिकांश आंचलिक कहानियाँ स्वतंत्रता पूर्व की हैं परन्तु इस तथ्य का प्रकटीकरण अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन-साध्य है। क्योंकि, वास्तव में, उनकी कहानियाँ देशकाल-निरपेक्ष सनातन पार्वतीय राग-बोध से अनुगुंजित हैं और समसामयिकता तो क्या सामयिकता का भी प्रभाव प्रायः कहानियों में अलक्षित है। उनमें सामान्य ग्रामछवि से भिन्न प्रकार की द्रावकता है परन्तु अन्ततः वह विशुद्ध ग्रामछवि है। नयी कहानियों में ग्राम-नगर जीवन के घालमेल की संभावना दोहरी बुनावट के तिरस्करण के साथ ही कम

हो गई। इतना अवश्य है कि कुछ कथाकारों (जैसे रेणु) की कहानियों में ग्रामांकन नगर-बोध से अप्रभावित नहीं है। कुछ कथाकारों (जैसे शानी) की कृतियों में ग्राम-जीवन का आभास मात्र होता है। कुछ कथाकारों (जैसे मधुकर गंगाधर और रामदरश मिश्र) की कहानियों में ग्रामबोध और नगर-बोध की टकराहट प्रायः मिलती है। यह टकराहट बोध-स्तरीय है। भोग-स्तर पर वह किसी एक ही छोर पर रहती है। उपन्यासों में यह स्थिति नहीं है। 'रेणु' के उपन्यासों में प्रभावक सूत्र नगरों में रहते हैं और ग्राम-जीवन का हिल्लोल उनके संचालन से सम्पृक्त रहता है। लक्ष्मीनारायण लाल 'बया का घोंसला और साँप' में गाँव, नगर तथा कस्बे की सार्वत्रिक सैर करा देते हैं। 'रींछ' जैसे उपन्यास की बुनावट में गाँव-नगर का भाग आधा-आधा है। 'अलग-अलग वैतरणी' समूचा ग्राम-जीवन है और नागार्जुन भी प्रायः गाँव में ही रमे रहते हैं। 'रागदरबारी' के ग्राम-जीवन पर 'नगर' छाया है तो 'देहरी के आर-पार' के नगर-जीवन पर ग्राम-बोध छाया हुआ है। 'तीन वर्ष' और 'भूले बिसरे चित्र' में आंशिक रूप से ग्राम-जीवन चित्रित हुआ है।

(२) वर्गीकरण

यदि ग्राम-जीवन परक स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य का मोटे तौर पर वर्गीकरण किया जाय तो इसके अन्तर्गत कहानी और उपन्यास दोनों के अन्तर्भूत अथवा परिगृहीत होने के कारण तथ्य दृष्टि से रचनागत प्रतिपाद्य अथवा उठाये गये कोण निर्णायक होंगे कि कोई रचना किस कोटि में आती है। इस न्याय से सर्वप्रथम सामान्य कथा-साहित्य, आंचलिकता से प्रभावित कथा-साहित्य, आधुनिकता से प्रभावित कथा-साहित्य और समकालीनता से प्रभावित कथा-साहित्य; ये चार वर्ग व्यक्ति की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रतीत हो रहे हैं।

(१) सामान्य कथा-साहित्य

सामान्य कथा-साहित्य परम्परागत मूल्यों और मानवीय संभावनाओं से संपृक्त सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि पर बाह्य प्रभावमुक्त आदर्शवादी अन्तर्वैभव को पुरस्कृत करता हुआ आज भी जीवित है। इसका आयाम-चतुष्टय बहुत स्पष्ट हैं।

क—देशकाल निरपेक्ष सनातन मूल्य :—नैतिक, सामाजिक अथवा सांस्कृ-

तिक मूल्यों के प्रति आस्थावान कथाकार लोक-कथा के तारों से इस प्रकार की कृतियों में जीवन की मिठास को बुनता प्रतीत होता है और उनकी कृति में देशकाल-निरपेक्ष सनातन रागबोध एक अतिरिक्त आकर्षण के साथ निखरता दिखाई पड़ता है। किन्तु ऐसी कृतियाँ असाधारण क्षमता सापेक्ष होती हैं। 'मुख सरोवर के हंस' (शैलेश मटियानी) और 'सुबह से पहले' (मधुकर गंगाधर) जैसे उपन्यास और 'रसप्रिया' (रेणु), 'भाई' (मार्कण्डेय), 'काला कौआ' (मटियानी), 'बरगद का पेड़' (शिवप्रसाद सिंह) और 'कोयला भई न राख' (केशवप्रसाद मिश्र) जैसी कहानियाँ ऐसी ही कला-क्षमता पर प्रकाश डालती हैं।

ख—प्रेमचन्द की परम्परा के परिप्रेक्ष्य :—नये कथा-साहित्य में उक्त प्राचीन परिप्रेक्ष्य का वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टि से स्पष्ट उभार दृष्टिगोचर होता है। आदर्श, आदर्शोन्मुख यथार्थ, आशावाद, मानवतावाद, नैतिक मूल्यों का पुरस्करण, आस्थावाद, गांधीवाद और हिन्दू-मुसलिम एकता के स्वर तो मिलते ही हैं, अन्य विषय यथा गरीबी, सामाजिक कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ, विवाह, दहेज-समस्या, वेश्यावृत्ति, जातिवाद, बाल-जीवन, पशुप्रेम, पारिवारिकता, शुद्ध-स्वर्गीय प्रेम, सतीत्व, मुकदमेबाजी, गाँवों का पिछड़ापन, भूतप्रेत, जमींदारी अत्याचार, साधु-जीवन और स्कूल मास्टर आदि की पृष्ठभूमियाँ भी प्रेमचन्द-काल से रस ग्रहण करती प्रतीत होती हैं। इस कोटि के उपन्यासों में 'बया का घोंसला और साँप', 'नदी फिर बह चली', 'माटी की महक', 'धरती की आँखें', 'महल और मकान', 'अचल मेरा कोई', 'पतवार', 'शेष-अशेष', 'बोलते खंडहर' और 'बबूल' आदि की और कहानियों में 'डिप्टी कलक्टरी' (अमरकान्त), 'महुए का पेड़' (मार्कण्डेय), 'तबे एकला चलो रे' (रेणु), 'हुस्ना बीबी' (रामकुमार), 'घुरहुआ' (भैरवप्रसाद गुप्त) और 'बेहया' (शिवप्रसाद सिंह) आदि की गणना की जाती है।

ग—विशिष्ट लोक-जीवन :—यह जो कहा जाता है कि जीवन की इकाई अविभाज्य है और तात्विक दृष्टि से नगर, कस्बे और गाँवों के जीवन में कोई अन्तर नहीं तथा इनकी विभाजन दृष्टि कृत्रिम है, तो इसी तथ्य को साकार करता हिन्दी में कुछ ऐसा जीवन्त कथा-साहित्य स्वतंत्रता के बाद आया है जो नगर अथवा कस्बे की पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी अटूट भाव से ग्राम-मन से जुड़ा हुआ है। इसमें पूर्वाग्रह रहित तरल लोक-जीवन की

अन्तर्स्पर्शी धड़कन और भोले भाव-संयुक्त श्रमसंभवी रागात्मकता है। धरती के संस्पर्श से जीवन में सुख-दुख से ऊपर उठा जो एक सहज रसावेश फूटता है वही इन कथा-कृतियों में मिलता है। 'बन्द गली का आखिरी मकान', 'गुलकी बन्नो' (धर्मवीर भारती), 'सजा', 'रानी माँ का चबूतरा', 'नशा' (मन्नू भंडारी), 'आर्द्रा' (मोहन राकेश), 'देवा की माँ', 'या कुछ और' (कमलेश्वर) आदि कृतियों को देखकर विशिष्ट-लोकजीवनांकन की यह पृथक्ता सहज ही आभासित हो जाती है।

घ—सहज-सशक्त रेखाचित्र-वृत्ति :—स्वतंत्रता संग्राम की अवधि में निरीह की तरह दिखलाई देने वाली साधारण जनता की जो दुर्दम शक्ति फूट निकली और गांधी के रूप में जो मानव की महाविस्मयकारी क्षमता प्रदर्शित हुई उसका प्रभाव तत्कालीन कथा-साहित्य पर तो पड़ा ही, सर्वाधिक प्रभाव स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य पर परिलक्षित होता है। अपने बीच नित्य रहने वाले सामान्य जनों के भीतर कथाकार ग्राम-जीवन स्तर पर उस व्यक्ति वैचित्र्य को रेखांकित करता है जो पुरुष-सत्ता के रूप में स्वतंत्र-भारत की पृथक् इकाई के रूप में लक्षित होता है और नारी-सत्ता के रूप में भारत-माता की कल्पना के अनुरूप सेवा-त्यागमयी अथवा अखण्ड शक्तिमत्ता की प्रतिमूर्ति जैसे चित्रित होती है। विशिष्ट पुरुष चित्र के लिए 'बलचनमा' (नागार्जुन), 'हंसा जाई अकेला', 'गुलरा के बाबा' (मार्कण्डेय), 'बहाववृत्ति', 'शाखामृग' (शिवप्रसाद सिंह), 'रहीम-चाचा' (शानी), 'रिद्धी बाबू' (भगवतशरण उपाध्याय), 'सेवा-त्यागमय, करुणा नारी चित्र के लिये' 'शुभो दीदी')शेखर जोशी), 'नन्हों', 'दादी माँ' (शिवप्रसाद सिंह), 'जलवा' (रेणु), 'माता' (शैलेश मटियानी), तथा पुरुषत्व संबलित अद्भुत कर्मठ नारी चित्रों के दर्शनार्थ 'नैना जोगिन' (रेणु), 'फूल' (भैरवप्रसाद गुप्त), 'एक और जिन्दगी' (रामदरश मिश्र), 'सियार पूजा' (लक्ष्मीनारायण लाल) और 'गदल' (रांगेय राघव) शीर्षक रचनायें देखी जा सकती हैं।

(२) आंचलिक कथा-साहित्य

आंचलिकता और आधुनिकता नये कथा-साहित्य के दो महत्वपूर्ण छोर हैं। स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में ग्राम-जीवन का अवतरण प्रायः आंचलिकता के ही संदर्भ में समझा जाता है किन्तु आंचलिकता ग्रामांकन की एक शैली

मात्र अथवा ग्रामभित्तिक नये कथा-साहित्य की एक प्रवृत्ति मात्र है तथा मुख्यतः बहिर्वृत्ति है। ग्राम-स्तर पर निम्नलिखित रूपों में इसका आनयन पाते हैं।

क—अविकसित जंगली आदिवासी क्षेत्र :—इस प्रकार के क्षेत्रों में सर्वाधिक अंकन मध्य प्रदेश के बस्तर आदिवासी क्षेत्र और बुन्देलखण्ड क्षेत्र का हुआ है। इसके अतिरिक्त संथाल परगना, मालवा और राजस्थान के आदिवासी क्षेत्र को पृष्ठभूमि बनाकर कथा-साहित्य में जन-जीवन उपस्थित किया गया है। इसमें विशेष दाय उपन्यास-साहित्य का है। शानी के उपन्यास बस्तर के आदिवासी क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। राजेन्द्र अवस्थी और वृन्दावनलाल वर्मा ने बुन्देलखण्ड के आदिवासी क्षेत्र को लिया। 'कलावे' (जयसिंह) में मालवा के दक्षिणी पठार के भील-जीवन को और 'कब तक पुकारूँ' (रांगेय राघव) में राजस्थान के करनट जाति का चित्रण है। रांगेय राघव की कहानी 'गदल' भी आदिवासी जीवन पर ही आधारित है। 'रथ के पहिये' (देवेन्द्र सत्यार्थी) में आदिवासी गोंड़ जाति और 'वनविहंगिनी' (रामचीज़ सिंह) में संथाल परगना की भील जाति के जीवन को अंकित किया गया है। डा० श्याम परमार ने 'मौर झाल' में भीलों का जीवन चित्रित किया है।

ख—प्रादेशिक रूपाभा :—आंचलिक उपन्यासों के क्रम में भारत जैसे विशाल और वैविध्य-वैचित्र्य-सम्पन्न राष्ट्र की प्रादेशिक रूपाभा जिस चटकीलेपन के साथ अंकित हुई वह एक विशिष्ट उपलब्धि है। इस कोटि के आंचलिक उपन्यास भारतीय भावात्मक-एकता के आधार को परिपुष्ट करते हैं और सामान्य जीवन की भू-खण्डगत विलक्षणता अनुरंजन भी कम नहीं करती। पंजाब, बिहार, पूर्वी उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी उत्तार-प्रदेश, मणिपुर, पूर्णिया, बुन्देलखण्ड, छत्तीसगढ़, काश्मीर, राजस्थान, महाराष्ट्र, अवध, नेपाल, अंडमान, तिब्बत, अफ्रीका, मारिशस, मिथिला, दरभंगा से लेकर बाबर जौनसार आदि तक की प्रादेशिक इकाई को उसकी मौलिक पृथक्ताओं की अन्तरंग-बहिरंग झलकियों की धूपछाहीं चित्रावलियों के साथ प्रस्तुत किया गया है। 'रेणु' ने बिहार के पूर्णिया जिले के गाँवों को लिया तो उसमें प्रथम बार 'मैला आँचल' में सर्वाधिक पिछड़े गाँव का प्रतिनिधि चित्र आया। दूसरी बार 'परती परिकथा' में समृद्ध और विकसित गाँव का चित्र आया। बलभद्र ठाकुर ने 'मुक्तावनी' में मणिपुर के, 'लहरों की छाती पर' में अण्डमान के तथा 'नेपाल की वो बेटी'

में नेपाल प्रदेश की झाँकी प्रस्तुत की। गोविन्द वल्लभ पन्त के उपन्यास 'मैत्रेय' में तिब्बत का जीवन लिया गया है। 'लोक-परलोक' और 'आठवीं भाँवर' में पश्चिमी उत्तर-प्रदेश और 'बबूल', 'जल टूटता हुआ', 'पानी के प्राचीर', 'कोहबर की शर्त' में पूर्वी उत्तर-प्रदेश तथा बालशौरि रेड्डी के उपन्यासों में दक्षिणी भारत की आंचलिक इकाई रेखांकित हुई है। अभिमन्यु अनन्त 'शबनम' का उपन्यास 'और नदी बहती रही' भारत के एक अंग मारिशस के जीवन पर आधारित है। बलवन्त सिंह ने अफ्रीका की जुलू नामक आदिवासी कबीलों के अतिरिक्त मुख्यतः पंजाब-प्रदेश और नागार्जुन ने बिहार के जन-जीवन को रूपायित किया। दयानाथ झा का उपन्यास 'जमींदार का बेटा' मिथिला प्रदेश की मार्मिकताओं का चित्रफलक है। 'पत्थर अल पत्थर' में काश्मीरी जन-जीवन के सौन्दर्य को अंकित किया गया है और इसी प्रकार अन्य आंचलिक उपन्यासों में प्रादेशिक विशेषतायें नये आकर्षण के साथ विन्यस्त होकर उसे नवीन दीप्ति प्रदान करती हैं। 'मोंगरा' (शिवशंकर शुक्ल) में छत्तीसगढ़ी जीवन है।

ग—पार्वतीय जन-जीवन :—शैलेश मटियानी के आंचलिक कथा-साहित्य में मुख्यतः कुमायूं-प्रदेश के पहाड़ी गाँवों और वहाँ की सामान्य जनता के जीवन की छवि-लेखा सघन रागात्मकता के साथ अंकित हुई है। यह उनका निजी अस्पृष्ट क्षेत्र है। कूर्मांचल के अतिरिक्त अल्मोड़ा क्षेत्र को भी उन्होंने अपने कथात्मक संस्पर्श से आलोकित किया है। बलभद्र ठाकुर ने अपनी कृति 'देवताओं के देश में' और 'आदित्यनाथ' को कुलू के पार्वतीय जीवन पर आधारित किया है। गोविन्द वल्लभ पन्त के उपन्यास 'प्रगति की राह', 'जल समाधि', 'फारगेट मी नाट' भी कूर्मांचल को चित्रित हैं। 'बुरूंश फूलते हैं' में हिमांशु जोशी भी कूर्मांचल को केन्द्र बनाते हैं और इसी क्षेत्र का एक गाँव अंकित किया गया है 'गगास के तट पर' (श्री जगदीश-चन्द्र पाण्डेय) नामक कृति में।

घ—नदी-जीवन-प्रतिष्ठा :—सरितांचलिकता की प्रवृत्ति हिन्दी कथा-साहित्य में स्पष्ट है। भैरवप्रसाद गुप्त के 'गंगामैया' और देवेन्द्र सत्यार्थी के 'ब्रह्मपुत्र' नामक उपन्यास तो अन्वर्थ हैं ही, राप्ती नदी के कछार अंचल को रामदरश मिश्र ने अपने उपन्यासों में आख्यायित किया है। आंचलिक कथा-साहित्य में सबसे चटक चित्र कोसी नदी और उसके अंचल का आया

है। फणीश्वर नाथ रेणु, मधुकर गंगाधर, मायानन्द मिश्र के उपन्यास क्रमशः 'परती परिकथा', 'सुबह से पहले' और 'माटी के लोग सोने की नैया' में कोसी अंचल, उसकी बाढ़ विभीषिका और उसकी विध्वंसक आधिदैविक मातृ रूपात्मकता को लोक-कथा और लोक-गीतों के माध्यम से अंकित किया गया है।

ङ—भौगोलिक ग्राम-इकाई-अंकन :—आंचलिकता की एक नयी प्रयोग-प्रवृत्ति प्रदर्शित की डाक्टर राही ने। उन्होंने अनुभूति की सघन प्रामाणिकता के लिए एक लघुतम वास्तविक इकाई, अर्थात् गाजीपुर जिले के एक गाँव गंगोली को जो उनकी जन्मभूमि है, लिया। उसे भी पूरा नहीं, आधे भाग को लिया और एक 'गुजरने वाले समय' की कहानी प्रस्तुत की। इस प्रकार कल्पना-रहित भौगोलिक आधार-भूमि पर पारिवारिक सत्य स्मृतियों का उपन्यस्त रूप अपूर्व है। आंशिक रूप से यही प्रवृत्ति केशव प्रसाद मिश्र के उपन्यास 'कोहबर की शर्त' में भी है। उन्होंने भी बलिया जिले के अपने ही बलिहार-चौबेपुर गाँव को लिया परन्तु इसकी कहानी कल्पनाश्रित अधिक है।

च—समुद्रतटीय जीवन छवि :—हिन्दी-आंचलिक उपन्यास में विश्व-आंचलिक उपन्यास की समस्त प्रमुख प्रवृत्तियाँ प्रतिफलित दृष्टिगोचर होती हैं। उदयशंकर भट्ट ने 'सागर, लहरें और मनुष्य' में बम्बई के पार्श्ववर्ती मछुवारों के गाँव बरसोवा और उनके समुद्रतटानुवर्ती आंचलिक जीवन का प्रभावशाली चित्रण किया। इसी बरसोवा ग्राम को आधार बनाकर राजेन्द्र अवस्थी की आंचलिक कहानी 'खारी बोतल : भारी लहरें' लिखी गई।

छ—शरणार्थी कालोनी और नगर आंचलिकता :—स्वातंत्र्योत्तर नयी स्थितियों में विस्थापितों के द्वारा नये गाँवों की संरचना एक ऐतिहासिक सत्य है। पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों द्वारा बसाई 'नोबीनगर' कालोनी का चित्रांकन रेणु के उपन्यास 'जलूस' में है। इसमें सर्वथा नवीन आंचलिक मनःस्थिति मिलती है। एक स्थिति यह भी उतरती है कि नगर का निकटवर्ती ग्रामांचल नगर में समाता जाता है। नगर के बढ़ते भाग के रूप में पटना के पास बनती एक कालोनी का चित्रण किया है मधुकर गंगाधर ने 'मोतियों वाले हाथ' में। नागर आंचलिकता का एक प्रयोग किया है रेणु ने 'दीर्घतपा' में। अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' में तथा गिरधर गोपाल ने 'कुहासे और कन्दील' में यदि लखनऊ नगर को रेखांकित किया है तो कृश्नचन्दर ने 'एक

करोड़ की बोतल' में बम्बई को। लेकिन नागर आंचलिकता की प्रवृत्ति हिन्दी में विकसित नहीं हुई।

(३) आधुनिक कथा-साहित्य

आधुनिकता का उत्स यद्यपि नगर है और वह मूलतः नगरबोध है तथापि अनेक स्तरों पर वह ग्रामजीवन के संदर्भ में अभिव्यंजित हुई है। वस्तु और शिल्प दोनों ही रूपों पर उसका प्रभाव लक्षित है। विद्युत् और संचार साधनादि के प्रसार के साथ जैसे-जैसे गाँवों का नगरीकरण होता जा रहा है कथा-साहित्य में उभरे उसके नये आयाम आधुनिकता से बोधित होते जा रहे हैं। सामान्यतया निम्न रूपों में इसकी अभिव्यक्ति लक्षित होती है।

क—कुंठा-संत्रासादि नये बोध :—स्वतंत्रता के बाद हिन्दी कथा-साहित्य विश्व कथा-साहित्य के समानान्तर अद्भुत तीव्र गति से आया है और उसमें अभूतपूर्व क्रांति संघटित हो गई है। ग्राम-कथानकों में भी मोहभंग, सेक्स-पीड़ा, टूटन, संत्रास, कुंठा, मृत्युबोध, यांत्रिकता, विसंगति, गलत समझे जाने की नियति, अनास्था, अस्वीकार, नये बनते-बिगड़ते सम्बन्ध, अवसाद, जड़ता, संकट, मूल्यानुसंक्रमण, घुटन, अकेलापन, पीढ़ियों का संघर्ष, विघटन, अहं का विस्फोट, विद्रोह, खोखलापन और ग्रामबोध तथा नगरबोध की टकराहट आदि नये बोध की अभिव्यक्ति मिलती है। नया बोध मुख्यतः नई कहानियों में अभिव्यक्त हुआ है और बाह्य से अधिक आन्तरिक स्तर पर हुआ है। मोहभंग की अभिव्यक्ति 'प्रलय और मनुष्य' (मार्कण्डेय), तथा 'शहीद दिवस' (शिवप्रसाद सिंह) में, गाँवों के विघटन का चित्रण 'विघटन के क्षण' (रेणु) और 'पुरूरवा' (मटियानी) में, टूटन का चित्रण 'खंडहर की आवाज़' (रामदरश मिश्र) 'नयी पौध' (विष्णु प्रभाकर) में, संत्रास और मृत्युबोध 'मुरदा सराय' (शिवप्रसाद सिंह) में, ग्रामबोध और नगरबोध की टकराहट 'संतरण' (मधुकर गंगाधर) और 'टूटता हुआ पुल' (डा० लक्ष्मीनारायण लाल) में, पीढ़ियों का संघर्ष 'रिश्ते' (पानू खोलिया) और 'पिता' (रामदरश मिश्र) में, अमरकान्त की कहानी 'हत्यारे' में युवा पीढ़ी का खोखलापन, शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'मरहला' में अकेलेपन की अनुभूति और काशीनाथ सिंह की कहानी 'संकट' और 'आखिरी रात' में सेक्स-पीड़ा, अन्तर्विरोध और वैयक्तिक यथार्थ का चित्रण बहुत चटक है। नये बोध ग्राम-स्तर पर नये उपन्यासों में

से 'अलग-अलग वैतरणी', 'आधा गाँव', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'राग दरबारी', 'अँधेरे के विरुद्ध', 'जल टूटता हुआ' और 'परती परिकथा' में बहुत व्यापक अभिव्यक्ति पाते हैं।

ख—विद्रोह वृत्ति :—नयी हवा से नगरों की अपेक्षा कुछ कम प्रभावित गाँव का स्वर यद्यपि आशा-आस्था का स्वर है तथापि हिन्दी कथा-साहित्य में उसके भीतर गहरे अन्तर्विरोधों में उभरे संक्षोभ और विद्रोह के विसंवादी स्वर भी झनकते मिलते हैं। नागार्जुन के 'बलचनमा' में यह विद्रोह एक स्तर पर है और रेणु के जितू में दूसरे स्तर पर राजनीतिक विद्रोह ही विद्रोह नहीं रहा। आन्तरिक स्तर पर इसके अन्यान्य महत्वपूर्ण मोर्चे खुले हैं। नैतिकता के प्रति विद्रोह के आगे परम्परा और परम्परित मूल्यों के प्रति विद्रोह, व्यवस्था और स्थापित जीवन के प्रति विद्रोह से लेकर सम्बन्धों में विशेषकर 'पिता' के प्रति विद्रोह आदि के चित्रों से स्वातंत्र्योत्तर ग्रामांकन अरिक्त है। 'एक यात्रा सतह के नीचे' और 'आदिम हथियार' (शिवप्रसादसिंह), 'रक्तपात' (दूधनाथ सिंह), 'प्रेतमुक्ति' (शैलेश मटियानी), 'मुक्ति' (रामदरश मिश्र) और 'आखिरी रात' (काशीनाथ सिंह) आदि कहानियों में तथा 'अलग-अलग वैतरणी', 'रीछ', 'मशाल', 'सूखा पत्ता' और 'राई और पर्वत' आदि उपन्यासों में विद्रोह बहुत स्पष्ट है।

ग—छुट्टियों में देखा गाँव :—जिये गये जीवन वास्तव और अनुभूतियों की प्रामाणिकता के आग्रह के कारण स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में, विशेष रूप से नई कहानी में ग्रामजीवन के चित्रण के सन्दर्भ में एक नयी मुद्रा उभर आई। कथाकार सुरक्षित स्थान होने के कारण अब नगर में निवास करता है और जब-तब छुट्टियों में गाँव पर जाता है तो देखे हुए गाँव का अंकन अपनी कहानी में करता है। नगर निवासी होने के कारण उसका परिप्रेक्ष्य आधुनिक होता है जिसमें देखा गया गाँव सर्वथा नये कोण से उभरता है। 'रीछ' नामक उपन्यास का नायक विमल प्रारम्भ में अध्ययन के लिए फिर सेवा और नेतागिरी के क्रम में निवास तो नगर में करता है परन्तु उनका मन गाँव में अटका रहता है और छुट्टियाँ उसकी गाँव को नया मोड़ देने में खपती हैं। 'आदमी जमाने का' (हिमांशु जोशी), 'परती और परदेशी' (हिमांशु श्रीवास्तव), 'हाथ का जस और वाक का सत्त' (रेणु), 'खुली खिड़की' (राजेन्द्र अवस्थी), 'बोलने वाले जानवर' (शानी), 'खाली घर' (रामदरश मिश्र) और 'एक यात्रा सतह के नीचे' (शिवप्रसाद सिंह) में छुट्टियों में देखे गये गाँव की झलक है।

इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक प्रसार नयी कहानियों में हुए ग्रामांकन में दृष्टिगोचर होता है। सन् १९६० के वाद ही एतद्विषयक यह विशिष्ट विधा प्रतीत होती है। 'दरार दर दरार' (गोपाल उपाध्याय), 'बेकार' (रामजी मिश्र), 'तनहाई' (बल्लभ सिद्धार्थ) और 'वापसी का सूरज' (अभिमन्यु अनन्त) आदि नयी पीढ़ी के लब्धप्रतिष्ठ कथाकारों की कहानियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त सिद्ध होंगी। उपसंहार में इस प्रवृत्ति का विस्तारपूर्वक विश्लेषण और चित्रण किया जायेगा।

घ—यथार्थवाद :—यथार्थवाद आधुनिकता की अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट रचना-भूमि है। ग्राम-जीवन को अंकित करने वाले नागार्जुन के उपन्यास सामाजिक यथार्थ के ज्वलन्त लेखा स्वरूप हैं। साम्यवादी चेतना और समाज की प्रगतिशील शक्तियों की पहचान को उन्होंने प्रतिष्ठित-पुरस्कृत किया है। उपन्यासकार भैरवप्रसाद गुप्त ने भी यही कार्य अपनी कृतियों में किया है। श्री बलभद्र ठाकुर के उपन्यास भी प्रगतिशील कृतित्व की कोटि में आते हैं। वैयक्तिक और मनोवैज्ञानिक यथार्थ ग्रामजीवनाश्रित उपन्यासों से अधिक कहानियों में अभिव्यक्त हुए हैं। 'कोसी का घटवार', 'हंसा जाइ अकेला', 'ज़िन्दगी और जोंक', 'दो दुखों का एक सुख', 'आदिम रात्रि की महक' 'एक यात्रा सतह के नीचे' और 'एक ही चाहना' आदि कहानियों में वैयक्तिक यथार्थ की सशक्त पकड़ है। मधुकर गंगाधर की कहानी 'अन्धी रोशनी' जैसी कहानियों में मनोवैज्ञानिक यथार्थ है।

ङ—लघु मानव चित्रण और दलितोन्मेष :—आधुनिक कथा-साहित्य में समाज के अदेख-अस्पर्श्य हीन लोगों को मानवीय-स्तर पर सम्मान प्रदान किया गया। ग्रामजीवन के चित्रण में ऐसे पात्रों को प्रायः उठाया गया है और उनमें वास्तविक भारत के रूप का दर्शन किया गया है। नागार्जुन का 'बलचनमा' मधुकर गंगाधर के उपन्यास 'फिर से कहो' का नायक एतवारी (बनिहार) 'बबूल' का नायक महेसवा (चमार) इसी कोटि के हैं। लघु मानव कहानियों में अधिक उभरे हैं। शिवप्रसाद सिंह की विभिन्न कहानियों के पात्र जैसे कबरी (डोम की बेटी), मंगरू लोहार, बिहारी नचनिया, बदलू मुसहर, तिउरा (मुसहर-पुत्री), गुलाबो (चमाइन), बक्कस नट और टीमल कुम्हार बहुत जीवन्त हैं। इनके अतिरिक्त शैलेश मटियानी का भिखारी डोम, मन्नू भंडारी की गुलाबी मजदूरिनी, हिमांशु जोशी का बिरजू (सर्वहारा), भैरवप्रसाद गुप्त

का घुरहुआ, अमरकान्त का मूस गड़ेरिया और लेखक का दूखन, सभी दलितोन्मेष की प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। इसी झोंक में प्रेमचन्द के दो बैलों की तरह आधुनिक कथा-साहित्य में मूक-अबोल जानवरों को भी उठाया गया। 'सरवइया' (मार्कण्डेय) और 'मुहम्मद तेली और बदरी' में यदि बैल हैं तो 'तवे एकला चलो रे' (रेणु) में एक पाड़ा को पात्र बनाया गया।

(४) समकालीन कथा-साहित्य

स्वतंत्रता के पश्चात् योजना-विकासादि से सम्बन्धित बदलाव के जो ग्राम-जीवनपरक नये आयाम कथा-साहित्य में उभरे वे समकालीन संदर्भों से जुड़े होने के कारण यद्यपि नव-विकसित प्रबुद्ध नागरिक रुचि-सम्पन्न पाठकों के लिए विशेष आकर्षक नहीं सिद्ध हुए तथापि वास्तविकता यह है कि इनका चित्रण अनेक दृष्टियों से युक्ति-संगत था। राष्ट्र की लक्ष-लक्ष ग्राम इकाइयाँ नवाकार पाने के लिए संघर्षरत हैं तो कथाकार कैसे उनकी उपेक्षा कर जाय ? समसामयिक परिवर्तित स्थितियों की झाँकी कथा-साहित्य में निम्न रूप में आई है—

क—योजना-विकास-संदर्भ :—कथाकारों ने यदि विकास की सफलता का चित्रण किया है तो उसकी असफलता को भी अत्यन्त तीखेपन के साथ अंकित किया है। इस क्रम में, पंचायत, पंचायत सेक्रेटरी, ग्राम-सेवक, सभापति और सरपंच आदि का भी चित्रण हुआ है। नये गाँव की संरचना, सहकारी खेती, भूमि-सुधार से लेकर कृषि क्रान्ति तक दृष्टि गई है। 'परती परिकथा', 'धरती मेरी माँ', 'बदलती राहें' और 'ग्रामसेविका' आदि उपन्यासों में यही विकास-स्वर है। सहकारी खेती की सफलता 'अमरबेल', 'उदय किरण' और 'माटी के लोग सोने की नैया' में ध्वनित है। कहानियों में मार्कण्डेय की रचनाएँ 'दौने पत्तियाँ', 'उत्तराधिकार' और 'आदर्श कुक्कुटगृह' विकास के खोखलेपन को चित्रित करती हैं। 'आदमी ज़माने का' (हिमांशु जोशी), 'प्यासी धरती सूखे ताल', (कंचनलता सब्बरलाल), 'निशानी अंगूठा ज़िन्दाबाद' (लेखक) में विकास के नये कोण को उभारा गया है। 'घाव' (मधुकर गंगाधर) में ग्राम-सेवक को और 'धरती-विहंसी' (प्रकाश सक्सेना) में पंचायत सेक्रेटरी और 'वापसी' (मटियानी) में पंचायत को चित्रित किया गया है। 'रामबाबू बी० डी० ओ० से मिले' (विवेकी

राय) और 'महुआ और साँप' (केशवप्रसाद मिश्र) में विकास अधिकारी की सुधि ली गई है। 'अँधेरे के विरुद्ध' उपन्यास में भी विकास अधिकारी और विकास ही प्रमुख रूप से संदर्भित है।

ख—समसामयिक विशिष्ट घटनावली :—स्वतन्त्रता के बाद की सर्वाधिक प्रभावशाली घटना है देश का विभाजन और तज्जन्य लोमहर्षक नरबलि के विनाश चक्र, जिस पर 'झूठा सच' जैसा विशाल उपन्यास लिखा गया। 'चोली दामन', 'इंसाफ', 'कठपुतली', 'काले कोस' आदि उपन्यास तथा 'मलवे का मालिक' (मोहन राकेश), 'हिन्दू मुसलिम भाई भाई' (अज्ञेय), 'दरारें' (अमृत राय), 'सीमा' (बलवन्त सिंह), 'सीमान्त' (मनोज वसु) आदि कहानियाँ प्रकाशित हुईं। हिन्दू-मुसलिम एकता पर 'टोपी शुक्ल' और 'धरती की आँख' जैसे उपन्यास और 'किसकी पाँखें' (शिवप्रसाद सिंह) जैसी कहानियाँ आईं। जमींदार-अत्याचार-गाथा 'महुए का पेड़' (मार्कण्डेय), 'पलाश के फूल' (अमरकान्त), 'गाय की चोरी' (कमलेश्वर) जैसी कहानियों में निखरी तो जमींदारी उन्मूलन के बाद के जमींदारों के पैंतरे 'अलग-अलग वैतरणी', 'जल टूटता हुआ', 'हाथी के दाँत', 'लहरें और कगार' आदि उपन्यासों और 'उत्तराधिकार' (मार्कण्डेय), 'आखिरी बात' (शिवप्रसाद सिंह) जैसी कहानियों में चित्रित हुआ। अकाल की पृष्ठभूमि 'महाकाल' और 'विषाद मठ' जैसे उपन्यासों और 'दानाभूसा' (मार्कण्डेय), 'मुर्दों का गाँव (धर्मवीर भारती), 'चरम विन्दु' (भैरवप्रसाद गुप्त), 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' (रामदरश मिश्र), 'अज्ञात मेहमान' (रामनारायण उपाध्याय)' 'पर्जन्य कुंड (महादेव शास्त्री जोशी) और 'नया कंगाल' (जानकी रमन तेलगु) जैसी कहानियों में अंकित हुई। कोसी की बाढ़ को 'सुबह से पहले में' मधुकर गंगाधर ने और 'पुरानी कहानी नया पाठ' में रेणु ने चित्रित किया। रोमांचक बाढ़-चित्र 'संज्ञापुत्र' (रामेश्वर प्रेम), 'बढ़ता हुआ पानी' (सुनील कुमार फुल्ल), 'अधर माझी' (सुशील जाना) और 'बाढ़ की जमदाढ़ में' नामक कहानियों में देखा जा सकता है। 'तीसरा पत्थर' और 'कागज की नाव' नामक उपन्यास डाकू और उनके हृदय-परिवर्तन की समस्या को उठाते हैं। 'विनाश के बादल' और 'देश नहीं भूलेगा' में चीनी आक्रमण संदर्भित है। 'सूरज किरन की छाँव' में वर्तमान परिवेश में ईसाई धर्म-प्रचार की स्थितियों का अंकन हुआ है। 'कफनचोर' में धर्मवीर भारती ने अन्न-वस्त्र के नियन्त्रण को तथा

'सत्त बोले मुक्त है' शीर्षक कहानी में वृन्दावनलाल वर्मा ने तस्कर व्यापार को चित्रित किया है। 'सफेद हाथी' (लक्ष्मीनारायण लाल) में राज्यों के विलय से उत्पन्न स्थितियों का साक्षात्कार है। इस प्रकार कथाकारों ने स्वातंत्र्योत्तर घटनाओं को विधिवत् उठाने और उजागर करने का प्रयास किया है। 'स्वर्ग की सीढ़ी' शीर्षक कहानी में डाक्टर मुक्तेश्वर तिवारी 'बेसुध' ने वैज्ञानिक प्रगति के युग में अन्धविश्वास पर आधारित गोदान के बल पर स्वर्ग जाने की आकांक्षा पर करारा व्यंग्य किया है। जिसकी पृष्ठभूमि में स्पुतनिक द्वारा रूस के वैज्ञानिकों का जीवित कुत्ता अन्तरिक्ष में भेजने का सरल प्रयोग है।

ग—नये परिवर्तन :—निस्सन्देह सन् १९४७ के बाद बहुत तीव्रगति से ग्रामीण जीवन में परिवर्तन आया है। इस बदलाव की दिशा रेणु के उपन्यास 'मैला-आँचल' में यदि निराशावादी है तो 'परती परिकथा' में आशावादी है। 'स्वप्न और सत्य', 'धरती मेरी माँ', 'बदलती राहें', 'ग्राम-सेविका' आदि उपन्यास तथा 'केंचुल और गंध' (मधुकर गंगाधर) जैसी कहानियों में भी आशावादी बदलाव लक्षित है। 'आधा गाँव', 'जल टूटता हुआ' नामक उपन्यास और शिवप्रसाद सिंह की 'सुबह के बादल' और 'खैरा पीपर कबो ना डोले' जैसी कहानियों में बदलाव का निराशावादी स्वर है। नैतिक स्तर पर यह बदलाव 'मैली धरती के उजले हाथ' (राजेन्द्र अवस्थी) और 'आवरण' (शैलेश मटियानी) तथा 'कर्मनाशा की हार' (शिवप्रसाद सिंह) में चित्रित है। समग्र रूप से गाँवों का उखड़ते अथवा टूटते जाना 'अलग-अलग वैतरणी', 'परिवार' आदि उपन्यासों में तथा ,सूर्या', (मार्कण्डेय), 'खंडहर की आवाज़' (रामदरश मिश्र) आदि कहानियों में बड़ी स्पष्टता के साथ अंकित हुआ है। पूँजीवादी अर्थचक्र, नगर का क्रूर अभिजात, अहं-विस्फोट और ग्राम-उपेक्षा, 'देश के लोग' (अमरकान्त) और 'मनहूस' (मधुकर गंगाधर) में चित्रित है।

वर्ग-संघर्ष भी एक समसामयिक सत्य है। 'मशाल', 'टूटते बन्धन' उपन्यास और प्रकाश सक्सेना की कहानी 'धरती की करवट' में वर्ग-संघर्ष चित्रित है। 'अलग-अलग वैतरणी' में इसके बहुत प्रभावशाली रूप से साक्षात्कार होता है। वर्ग-संघर्ष की रोकथाम सर्वोदय और भूदान से होती नहीं दीख रही है। 'भूदानी सोनिया' और 'भूदान' आदि उपन्पासों से यह तथ्य प्रकट होता है। नागार्जुन ने 'दुख मोचन' में सर्वोदयी भावना

को उतारा मगर 'बलचनमा' का संघर्ष अधिक सत्य प्रतीत होता है। चुनाव से गाँव-जीवन का आन्तरिक परिवेश प्रभावित हुआ है जो 'संकट ग्रस्त' (मधुकर गंगाधर) और 'नयी कथा' (विवेकी राय) में बहुत साफ हो जाता है। रेणु के 'आत्मसाक्षात्कार' शीर्षक कहानी में राजनीति के ग्राम प्रवेश की विभीषिका अंकित है। घूस और भ्रष्टाचार 'बे बात की बात' (राजेन्द्र अवस्थी) और 'चूहे, अंग्रेजी तथा घूस' तथा 'सामलगमला' (विवेकी राय) में अंकित है। 'रागदरबारी' में शिक्षण संस्थाओं के व्यापक भ्रष्टाचार का रहस्योद्घाटन हुआ है। गाँव छोड़कर शहर की ओर भगदड़ अथवा नगराकर्षण की प्रवृत्ति रेणु की कहानी 'उच्चाटन और 'एक शब्दहीन कहानी' (मटियानी), 'दुश्मन (पानू खोलिया), 'नौकरी पेशा' (कमलेश्वर) में आलेखित है। कृषि-क्रान्ति के आयाम 'सुधारक' और 'बदलाव' शीर्षक कहानियों में उभरे हैं।

(३) ग्राम-जीवन के स्वातंत्र्योत्तर कथाकार और उनकी कृतियाँ

क—प्रारम्भिक कथाकार

उन्नीसवीं शताब्दी के अवसान के साथ राष्ट्र भारती के अंक में ऐसी कथाकार-विभूतियाँ आविर्भूत होती हैं जिनसे हिन्दी कथा-साहित्य का शृङ्गार होता है। प्रेमचन्द (१८८०), प्रसाद (१८८९), वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९), विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक (१८९१), राधिकारमण सिंह (१८९१), चतुरसेन शास्त्री (१८९१), राहुल सांकृत्यायन (१८९३), शिवपूजन सहाय (१८९३), उषादेवी मित्रा (१८९७), गोविन्द बल्लभ पंत (१८९८), उदयशंकर भट्ट (१८९८), भगवतीप्रसाद बाजपेयी (१८९९), अनूपलाल मंडल (१९००), पाण्डेय बेचनशर्मा 'उग्र' (१९००), इलाचन्द जोशी (१९०२), रामवृक्ष बेनीपुरी (१९०२), भगवती चरण वर्मा (१९०३), विनोदशंकर व्यास (१९०३), यशपाल (१९०३), प्रतापनारायण श्रीवास्तव (१९०४), जैनेन्द्र कुमार (१९०५), चन्द्रगुप्त विद्यालंकार (१९०६), शान्तिप्रिय द्विवेदी (१९०६), हजारीप्रसाद द्विवेदी (१९०७), मन्मथनाथ गुप्त (१९०८), देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' (१९११), और अज्ञेय (१९११) आदि इस तथ्य के प्रमाण हैं।

इनमें अनेक कथाकार हैं जिन्होंने स्वातन्त्र्योत्तर ग्रामभित्तिक कथा-साहित्य को समृद्ध किया है और कुछ कथाकार हैं जिन्होंने ग्रामजीवन-सन्दर्भों का

आंशिक स्पर्श किया है। चतुरसेन शास्त्री की कृति 'उदयास्त' (१९५८) में गाँव और नगर के किसान, मजदूर तथा शरणार्थियों के जीवन-संघर्ष-क्रम में कांग्रेसी-शासन की दुर्बलताओं को उद्घाटित किया गया है। राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास 'जीने के लिये' (१९५०) में रामपुर गाँव के बाल-अनाथ देवराज की समूची जीवनगाथा वास्तव में दुनिया में जीने के लिये असामाजिक तत्त्वों के विरुद्ध संघर्ष की कथा है। पूँजीवादी अतियों का मार्मिक विश्लेषण उनके लोकजीवन-सम्पन्न कहानी संग्रह 'बहुरंगी मधुपुरी' (१९५४) में हुआ है। आचार्य शिवपूजन सहाय की कृति 'देहाती दुनिया' (१९२५) हिन्दी की प्रारम्भिक आंचलिक कथा-कृति कही जाती है। भगवती प्रसाद बाजपेयी ने 'पतवार' (१९५२) और 'भूदान' (१९५५) इन दो उपन्यासों में ग्राम-जीवन का अंकन किया है जिनमें पहला गाँधीवाद से उत्प्रेरित है और दूसरा अपनी संज्ञा को विश्लेषित करता है। भगवतीचरण वर्मा के 'भूले बिसरे चित्र' (१९५९) में आंशिक ग्रामजीवन है। उपन्यासों में लोकभाषा की विधिवत् प्रयोग-प्रतिष्ठा इसी उपन्यास से आरम्भ होती है। इन्हीं आलोच्य सन्दर्भों में प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यास 'विनाश के बादल' का भी उल्लेख आवश्यक है जिसे उन्होंने भारत-चीन सीमा-संघर्ष की पृष्ठभूमि पर अंकित किया है।

यशपाल के उपन्यास 'मनुष्य के रूप' (१९४९) की नायिका सीमा एक पहाड़ी गाँव की लड़की है जो सास-ससुर और जेठानियों के अत्याचार से संत्रस्त होकर धनसिंह ड्राइवर के साथ पलायित होती है और धनसिंह की गिरफ्तारी के बाद लाहौर और बम्बई के बीच शरीर-लोभी व्यवसायियों के बीच झूलती है। कथाकार के विशाल उपन्यास 'झूठा सच' (१९५८) में बँटवारे के लोम-हर्षक सन्दर्भों में लोकजीवन का उध्वस्त रूप दृष्टिगोचर होता है। अज्ञेय का कहानी संग्रह 'ये तेरे प्रतिरूप' (१९६६) भी विभाजन-जन्य रक्तपात सन्दर्भों की कथाचित्रावलियों से परिपूर्ण है और 'हिन्दू-मुसलिम भाई-भाई' जैसी कहानियों में तत्कालीन सामान्य जन-मानस की प्रतिध्वनि है। ताराशंकर बन्द्योपाध्याय (१८९८) का उपन्यास 'गणदेवता' सन् १९२५ से लेकर १९५९ के बीच प्रकाशित समूचे भारतीय साहित्य में सर्वश्रेष्ठ घोषित हो कर सन् १९६७ में ज्ञानपीठ पुरस्कार से गौरवान्वित हुआ। मूल बंगला में यह सन् १९४२ में प्रकाशित हुआ। इसमें सन् १९२४ से सन् १९३० तक की बंगग्राम-भूमि का

नवजागरण चित्रित है । जमींदार-किसान संघर्ष के बीच नयी अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक जागरण, दलितोन्मेष और व्यापक राष्ट्रीय क्रान्तिधारा की आरम्भिक आहट सब बहुत कुशलता के साथ अंकित है । बंगग्राम-भूमि के साथ इसमें अखिल भारतीय ग्राम-संस्कृति के मूल स्रोत के परिनिष्ठित चित्र बहुत सूक्ष्म सांकेतिकता के साथ उकेरे गये हैं । महिमामयी प्रकृति के क्रोड़ में संघर्षरत कृषक-जीवन का यह महाकाव्यात्मक उपन्यास देवगुरु जी और श्रीहरि घोष की टकराहट को नयी अर्थवत्ता और युगीन संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करता है, जिसमें एक ओर प्रगतिशील नव-मानवतावाद है और दूसरी ओर परम्परा के साथ सत्तात्मक सुरक्षा है ।

गोविन्द बल्लभ पन्त के विस्तृत औपन्यासिक लेखन में उनके चार उपन्यासों में ग्राम-जीवन का अंकन हुआ है । 'प्रगति की राह' (१९४८) में गाँवों की शिक्षादि समस्या को उठाया गया है । 'जल समाधि' (१९५३) आंचलिक उपन्यास है जिसमें कुमायूं प्रदेश के दो गाँवों के जन-जीवन का अंकन है । 'फारगेट मी नाट' (१९५६) भी एक आंचलिक उपन्यास है और 'कागज की नाव' (१९६०) में डाकुओं के हृदय-परिवर्तन की समस्या है ।

ख—प्रमुख कथाकार

वृन्दावनलाल वर्मा (सन् १८८९)

वर्मा जी ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में प्रख्यात हैं परन्तु बुन्देलखण्ड अंचल के जन-जीवन को अपने उपन्यासों में चित्रित करने के कारण उनकी गणना आंचलिक उपन्यासकारों की कोटि में होती है । इस क्षेत्र में अनेक दृष्टि से वे प्रेमचन्द की परम्परा को पुरस्कृत करते हैं । उनके उपन्यासों में से 'कभी न कभी' (१९४५), 'कचनार' (१९४८), 'अचल मेरा कोई' (१९४८), 'अमरबेल' (१९५३), 'मृगनयनी' (१९५८) और 'उदयकिरण' (१९६०) में ग्राम-जीवन का दर्शन होता है ।

'अमरबेल' स्वातन्त्र्योत्तर भूमि-सुधार के परिप्रेक्ष्य में अंकित किया गया है । जमींदारी उन्मूलन की आहट से उपन्यास का आरम्भ होता है । सरकारी तन्त्र की ओर से महान् अनुकूल परिवर्तन की आशा बँधती प्रतीत होती है । समग्र रूप में इसमें जमींदारी-उन्मूलन के पश्चात् भू-जीवियों को सहकारी खेती का नया कार्यक्रम प्रदान किया जाता है । सुहाना बागुर्दन के जमींदार देशराज

के हृदय परिवर्तन की परिस्थितियों को अंकित किया जाता है। और जिला कोआपरेटिव अफसर राघव की सफलता के साथ सहकारी खेती का झंडा बुलन्द होता है। इसमें गाँधीवादी आदर्श की छाया है। किन्तु वर्मा जी के एक अन्य उपन्यास 'उदयकिरण' में सामाजिक यथार्थ का आदर्शोन्मुख प्रगतिशील दृष्टिकोण लक्षित होता है। उदय और किरण, गाँव के युवक और युवती, के अदम्य साहस और अथक संघर्ष से स्वातन्त्र्योत्तर विकास की किरण का उदय होता और गाँव में सहकारी खेती, पंचायत पाठशाला तथा चिकित्सालय आदि की सफलता के साथ अभूतपूर्व नवोत्साह आ जाता है। उपन्यास का अन्त उदय और किरण के पवित्र परिणय-सूत्र में आबद्ध हो जाने से होता है।

उदयशंकर भट्ट (सन् १८९८)

भट्ट जी के 'सागर लहरें और मनुष्य' (१९५६), 'लोक परलोक' (१९५८), 'शेष-अशेष' (१९६०), और 'दो अध्याय' (१९६२) में ग्राम-जीवन का चित्रण है परन्तु कथाकार की सर्वाधिक प्रौढ़ और चर्चित कृति है, 'सागर, लहरें और मनुष्य' (१९६४) जिसमें औपन्यासिक शिल्प का व्यक्तिवादी प्रस्तुतीकरण सर्वथा नये ढंग से हुआ है। मुख्य रूप से इसमें बम्बई के पास के बरसोवा ग्राम और वहाँ के मछुआरों का जीवन-संघर्ष चित्रित है। गाँव की नगरोन्मुखता को एक नये आन्तरिक स्तर पर यहाँ प्रस्तुत पाते हैं। ग्रामबाला रत्ना में एक गहरा द्वन्द्व है। वह गाँव और नगर के दो ध्रुवान्तों पर आजीवन भूलती रह जाती है। गाँव के सच्चे प्रेमी यशवन्त को छोड़कर बम्बई के धनपति माणिक की ओर वह उन्मुख होती है। मत्स्यगंधा बनने के लिए बचपन का संकलिपत संस्कार इतना प्रबल है कि नगर से फिसल कर चोट खाकर भी वह उसके आकर्षण को नकार नहीं पाती है और उस मृग-मरीचिका में पर्याप्त उहकने के बाद अपना ग्रामीण निजत्व प्राप्त कर पाती है। किन्तु, इस सुखान्त प्रेमकहानी से परे महत् मूल्य है इसके आंचलिक शिल्प का जिसमें समुद्रतटीय ग्राम-जीवन और वहाँ के दुर्दम, संघर्षरत मछुआरों का सागर-सहचर जीवन अंकित है। आरम्भ के समुद्री तूफान में कथाकार बहुत कौशल के साथ जीवन-तूफान का अन्वेषण करता है।

देवेन्द्र सत्यार्थी (सन् १९०८)

आपका प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यास 'ब्रह्मपुत्र' १९५६ ई० में प्रकाशित

हुआ। वर्षों तक ब्रह्मपुत्र नदी को जीकर कृतिकार ने उसे शिल्प में ढाला है। उसने 'लोकभाषा की राजकुमारी' की भाँति ब्रह्मपुत्र की सहज भाषा को सहेजा है। पौराणिक अनुश्रुतियों के आधार पर ब्रह्मपुत्र की उत्पत्ति के साथ उसके रूप, विस्तार, महत्ता और भूगोल-इतिहास आदि के आलेखन के पश्चात् कथा-भूमि दिसांगमुख गाँव में लेखक प्रवेश करता है जहाँ चहल-पहल का केन्द्र एक स्टीमर घाट है। धरती पर ब्रह्मपुत्र, उसमें नीचे भरी मछलियाँ और ऊपर उड़ती सारसों की पंक्तियाँ, प्राकृतिक परिवेश से समृद्ध हाथियों वाले मनमोहक देश की छवि को कथा-पट में उकेर कर कथाकार ने बहुविध जीवन का जीवन्त चित्रफलक बनाया है।

'ब्रह्मपुत्र' को महाकाव्यात्मक उपन्यास कहा जा सकता है। पराधीनता के धुंध पूर्ण युग, जिसमें क्रान्ति और राष्ट्रीय आन्दोलनों के सूत्रपात होते हैं, से लेकर गाँधीयुग, स्वतन्त्रतागम और वर्तमान मोहभंग तक की स्थितियों को चित्रित किया गया है। क्रान्ति का केन्द्र एक गाँव है जो भारत का प्रतीक है और नर-नारी, ऊँच-नीच तथा सभी वर्ग-समुदाय का उसमें सहयोग मिलता है। नदी, गाँव और समस्त रम्य जनपद को भावाकुल संदर्भों में परिकल्पित कर एक सन्तुलित सहज कहानी प्रस्तुत की गई है। गाँव बूढ़ा (मुखिया) नीलमणि, धर्मानन्दी मछुआ, अब्दुल कादिर किसान, धनसिंह चाय वाला, रतन नापित, नीरद एक लेखक, देवकान्त क्रान्तिकारी, देश-भक्त नागा-लड़की गुइडालो, अंग्रेज लड़की लिली, मछुआ पुत्री आरती, जूनतारा, बादल मल्लाह और हाथी-मास्टर राखाल काका आदि एक पूर्ण समाज के जीवन्त पात्र उन सामाजिक स्थितियों और शक्तियों को आकार देते हैं। जो एक समय का सत्य है। दासत्व की मनःस्थितियों के बीच क्रान्ति की एक क्षीण धारा देवकान्त के साथ आती है और शनैः शनैः वह ब्रह्मपुत्र-सी विस्तीर्ण हो जाती है। प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ पराभूत होती हैं परन्तु अन्त में कथाकार अनुभव की इस कटु-भूमि पर कि जिस स्वराज्य के लिए लोगों ने खून बहाया वह यह स्वराज्य नहीं है, बहुत ब्योंत से उतार कर पाठकों को चिन्ताग्रस्त मुद्रा में खड़ा कर देता है।

देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र' की परम्परा में निर्मित दूसरा आंचलिक उपन्यास है 'दूधगांछ' जिसे आदिवासी संथाल-जीवन की झलकियों से समृद्ध किया गया है। उसके प्रमुख पात्र गोविन्दम् के रूप में भारतीय लोक-मानस

का सहज रूप बहुत मुग्ध भाव से उकेरा गया है। इसी प्रकार 'रथ के पहिये' में भी आंचलिक संस्पर्श है और आदिवासी गोंड़ जाति के जीवन को अंकित किया गया है। भारत-पाकिस्तान विभाजन की समस्या पर सत्यार्थी जी का उपन्यास है 'कठपुतली' जिसमें साम्प्रदायिक विद्रोह, लोमहर्षक अत्याचार और हत्या-बलात्कारादि का बहुत ही प्रभावशाली चित्रण हुआ है।

सत्यार्थी जी के दो अन्य उपन्यास 'धीरे बहो गंगा' (१९४८) और 'बेला फूले आधी रात' (१९४८) भी पर्याप्त चर्चित हुए।

नागार्जुन (सन् १९१०)

आंचलिक पृष्ठभूमि पर सामाजिक यथार्थ को रूपायित करने वाले नागार्जुन प्रथम उपन्यासकार हैं। उनमें स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील शक्तियों की गहरी पहचान है। उन्होंने बिहार प्रान्त के एक विशेष ग्रामांचल के कोटि-कोटि अबोल मानवों को वाणी दी है।

'बलचनमा' (सन् १९५२) की पृष्ठभूमि में दरभंगा जिला है और समय १९३७ का है। 'कमीना' परिवार का निरीह बालक बलचनमा आरम्भ में गाँव के एक भू-स्वामी के यहाँ चरवाह बनता है। पुनः उनके एक सम्बन्धी फूलबाबू की सेवा में जाता है। उस निरक्षर बालक को वहाँ प्रथम बार बाहर के संसार से साक्षात्कार होता है। सविनय अवज्ञा आन्दोलन में फूलबाबू गिरफ्तार होते हैं। गाँधी सम्बन्धी अलौकिक भावापन्न किम्वदन्तियाँ सर्वसाधारण में गूँज रही हैं और सबका प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से बलचनमा पर पड़ रहा है। वह कांग्रेस का स्वयंसेवक बन जाता है और आश्रमी-संस्कृति उसकी मानवीयता को खोलकर फैला देती है। कांग्रेस-मंच से पृथक् होकर स्वामी जी किसान मजदूरों को जगा रहे हैं। 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' के साथ 'कमाने वाला खायेगा' का नारा गूँज रहा है। इस नवीन पंक्ति में आकर कथान्त में बलचनमा मालिक मजूर संघर्ष में आहत होता दीखता है। मगर कथाकार उसे नेता होने से बचा लेता है। इस प्रकार प्रेमचन्द से आगे संदर्भ तो नहीं है परन्तु अछूती भूमियों के संस्पर्श की विशेषता द्रष्टव्य है। कथा में सनसनी कम, सिधाई अधिक है पर प्रभाव कम नहीं है।

'बाबा बटेसर नाथ' (सन् १९५४) — इसे यथार्थ रूप से राजनीतिक उपन्यासों की कोटि में रखा जा सकता है। जैकिसुन अपने नये संगठन के

बल पर और साम्यवादी दल के सहयोग से कांग्रेस शासन को गिराता है। उसमें राजनीतिक चेतना अपने गाँव रूपौली के प्राचीन बटवृक्ष से प्राप्त होती है जो उसे कम्पनी के शासक और चम्पारन सत्याग्रह से लेकर बाढ़-अकाल आदि की विभीषिका की अनेक सनसनीदार कथाएँ सुनाता है क्योंकि वह सबका साक्षी है। अतीत की ये घटनाएँ जैकिसुन में विद्रोहाग्नि भड़काती हैं। शिल्प-दृष्टि से इस उपन्यास में प्रथम बार नूतनता का मौलिक निखार मिला।

'दुखमोचन' (सन् १९५७) सर्वोदयी विचारधारा से प्रभावित इस उपन्यास में सन् १९५५ को पाँच हज़ार से ऊपर की आबादी वाले टमकाकोइली गाँव के परिप्रेक्ष्य में अंकित किया गया है। दुखमोचन बाढ़-पीड़ितों की सहायता करता घूमता है। मलेरिया-कालाजार में जनता की सेवा करता है। ग्राम-पंचायत में गुटबन्दी है। चौधरी टाइप के स्वार्थी लोग गाँव में भरे हैं। जात-पाँत के टंटे-बखेड़े हैं परन्तु दुखमोचन सबसे ऊपर है। कलकत्ते में लगी अच्छी-भली नौकरी परित्याग कर ग्राम-सेवा में रत है। गाँव के विकास का ऐसा वातावरण बना रहा है कि लोग मिलजुल कर अपने गाँव को ऊँचा उठायें। वास्तव में यह व्यामोह-काल की अर्थात् मोहभंग पूर्व की स्वप्नशील आदर्शवादी मनःस्थितियों के चित्रण का उपन्यास है जिसमें सच्चा ग्राम-सेवक दुखमोचन चित्रित है। वह यश कामी नहीं है। उसका कोई आन्तरिक व्यक्तिगत जीवन नहीं है। वह समाज जीवन के लिए अपने निजत्व की इकाई को पूर्णतया विसर्जित कर देता है। उसके करते गाँव पंचायतें सफल हैं और रामराज्य आ-सा रहा है।

'बरुण के बेटे' (सन् १९६६) में स्वातंत्र्योत्तर जमींदारों की वह धाँधली चित्रित है जो वर्ग संघर्ष को जन्म देती है। गोठियारी गाँव के मछुआरे अपनी जीविका के एक मात्र साधन गढ़पोखर को भूतपूर्व जमींदार के चंगुल से बचाने के लिए 'मछुआ संघ' बनाते हैं और एक जुट होकर गहरा संघर्ष करते हैं।

'नई पौध' (सन् १९६७)—गाँव के खोखा पंडित छह कन्याओं को बेचने के बाद सातवीं बिसेसरी के लिए भी हज़ारों रुपया लेकर एक समृद्ध वृद्ध को ठीक करते हैं और स्वातंत्र्योत्तर नया खून इसे सहन नहीं कर पाता है। इस प्रकार गाँव में उभरती नयी पीढ़ी को, जो सड़ी-गली रूढ़ियों को अस्वीकार करती है, 'बमपार्टी' के युवकों की कहानी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मगर इस पार्टी का केवल एक ही करतब वृद्ध-विवाह की रोकथाम उपन्यास में

कुछ अधिक विस्तार के साथ आया। समस्या पुरानी है पर उपन्यासकार की अंकन मुद्रा में आधुनिक विद्रोह और अस्वीकार का तेवर बहुत स्पष्ट है।

'इमिरितिया' (सन् १६६८) नागार्जुन का पहला उपन्यास है जो आंचलिकता और समाजवादी प्रचार से हटकर नयी भाषा की पकड़ और आन्तरिकता के स्तर की सँभाल की दृष्टि से बहुत सफल है। जमानिया गाँव के मठाधीश का अधिकारी चेला आशीर्वाद रूप में भक्तों की पीठ पर हल्के-हल्के बेंत लगाता है। एक दिन वह भक्ति के आधिकारिक आवेश में एक साधु स्वामी अभयानन्द की पीठ पर हाथ कड़ा करके कोड़े लगा देता है और फिर यह केस कोर्ट में जाता है कि उसके 'बाबा', उनके चेले मस्तराम और चेलिया इमिरिती दास सबको जेल की हवा खानी पड़ती है। इसी मुख्य कथा के परिप्रेक्ष्य में साधुता के चिराग तले का अँधेरा उजागर किया गया है। उनका शोषक, धूर्त, पाखंडी, चरित्रहीन, क्रूर, भ्रष्टाचारी, चोर और तस्कर व्यापारी रूप अत्यन्त आधुनिकतम शैली में चित्रित हुआ है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (सन् १६१०)

अश्क जी का उपन्यास 'पत्थर-अल-पत्थर' (१६५७) एक आंचलिक उपन्यास है जिसमें भू-स्वर्ग काश्मीर का अपरिसीम प्राकृतिक सौन्दर्य उसके एक गाँव परहेजपुर के प्ररिप्रेक्ष्य में अंकित हुआ है। कथाकार ने उक्त अकिंचन कृषकों के गाँव के निवासी घोड़वान हसनदीन को पीड़ित मानवता के प्रतिनिधि रूप में चित्रित किया है। भाषागत प्रयोग और चित्रण-भंगिमा से स्थानीय रंग स्पष्टता के साथ उभरते हैं। एक अन्तर्विरोध बारम्बार उभरता है कि प्रकृति ने इतना अकूत प्राकृतिक वैभव प्रदान करके भी वहाँ के निवासियों को इतना हीन क्यों बनाया ? आस्था और यथार्थ की टकराहट में हसनदीन टूट रहा है और व्यवस्था, विशेषकर पुलिस की व्यवस्था उसके प्रतिकूल पड़ रही है तथा आन्तरिक स्तर पर वह सारी विसंगतियों को झेलता संघर्षरत है। अश्क जी के अन्य उपन्यासों और अनेक कहानियों में आंशिक रूप से ग्राम-जीवन का सहज संस्पर्श है।

विष्णु प्रभाकर (सन् १६१२)

'कहानी' के वार्षिक विशेषांक १६५५ ई० में प्रकाशित कहानी 'धरती अब

भी घूम रही है' से विष्णु प्रभाकर की ख्याति बहुत बढ़ी। नीना और कमल नामक दो मासूम बच्चों की कहानी में संदर्भित न्याय-व्यवस्था को चुनौती बहुत मार्मिक है। उक्त पत्रिका के १९६१ के वार्षिकांक में प्रकाशित कथाकार की 'नयी पौध' शीर्षक कहानी भी बहुत मार्मिक है। स्वातंत्र्योत्तर विषम स्थितियों का विक्षोभकारी रूप इसमें रोमांचक ढंग से चित्रित हुआ है। नयी पौध का कोई भविष्य नहीं दीखता। स्वप्न में नहीं सत्य रूप से लोग दारिद्रय की विवशताओं से हारकर अपनी सन्ततियों की हत्या कर रहे हैं। कथाकार का 'निशिकान्त' शीर्षक उपन्यास भी एक आंचलिक उपन्यास है।

अमृतलाल नागर (सन् १९१६)

नागर जी के प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यास 'बूँद और समुद्र' (सन् १९५६) में नागरिक-आंचलिकता है परन्तु आपके 'महाकाल' (सन् १९४७) नामक उपन्यास में बंगाल के दुर्भिक्ष को ग्रामभूमि पर अंकित किया गया है। इस उपन्यास में मोहनपुर ऐंग्लो बंगाली स्कूल का हेडमास्टर पाँचूगोपाल मुखर्जी गाँव के जमींदार दयाल और व्यवसायी मोनाई के अमानवीय अत्याचारों के बीच 'महाकाल' का साक्षी, द्रष्टा और भोक्ता है। कथाकार उसके अन्तः-संघर्ष को आन्तरिक स्तर पर दुर्भिक्ष के संदर्भ में चित्रित करता है। एक ओर कर्त्तव्य और मानवीयता है और दूसरी ओर तीव्र भूख की ज्वाला है। कथा-कार ने अकाल की स्थितियाँ और मानवीय पैशाचिकता का बहुत ही यथार्थ और रोमांचक चित्र उपस्थित किया है।

यज्ञदत्त शर्मा (सन् १९१६)

शर्मा जी ने अपने उपन्यासों में ग्रामजीवन का मार्मिकता के साथ अंकन किया है। 'इंसान'(१९५१)विभाजन जन्य हत्याकाण्ड, 'अंतिमचरण' (१९५२) में कांग्रेस आदि पार्टियों की स्वार्थ वृत्ति, 'निर्माणपथ' (१९५३) में राष्ट्रो-त्थान जिसमें स्वाधीनता के बाद का मालिक-मजूर सहकार गांधीवादी पृष्ठभूमि पर है, तथा 'बदलती राहें' (१९५४) में वर्तमान पंचवर्षीय योजनाओं के ग्राम-विकास-संदर्भ चित्रित हैं। इनके अतिरिक्त 'महल और मकान' (सहकारिता आदि से संदर्भित), 'बाप-बेटी' (ग्राम स्तर पर आधुनिकता की विभिन्न चुनौ-तियाँ), 'परिवार' (सम्मिलित कुटुम्ब की समस्या), 'भुनिया की शादी', 'मधु',

'दो पहलू', और 'इंसाफ' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'इंसाफ' में ग्राम-जीवन के नवीन आयाम उद्घाटित हैं। स्वतंत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर परिवर्तित स्थितियों को श्यामू किसान के माध्यम से कथाकार ने प्रस्तुत किया है और आदर्शवाद को पुरस्कृत किया है।

कर्तारसिंह दुग्गल (सन् १९१७)

कर्तारसिंह दुग्गल प्रसिद्ध पंजाबी लेखक हैं। उनकी रचनाओं में पंजाबी धरती की सोंधी सुगन्ध है। हिन्दी में प्रकाशित उनका उपन्यास 'चोली दामन' (सन् १९६८) विभाजन की पृष्ठभूमि पर आधारित है और हिन्दू-मुसलिम एकता की आदर्शवादिता से ओतप्रोत है। धमियाल गाँव का सबसे सीनियर सरदार सोहणे शाह अपने मुसलमान दोस्त की कन्या सतभराई के साथ विभिन्न शरणार्थी कैम्पों में भटकता है और मज़हब नहीं मानवता का स्तर इस प्रकार सदा सिर रहता है कि अन्त में अपनी बलि देकर सरदार उसकी रक्षा करता है। तत्कालीन दंगे और नरबलि की स्थितियों, घटनाओं आदि के रोमांचक विस्तृत विवरण के साथ शरणार्थी कैम्पों के यथार्थ से भी लेखक हमारा परिचय करा देता है। गांधीवादी नीतिमत्ता की अति यद्यपि कहीं-कहीं खोखली नारे-बाजी से अधिक नहीं जँचती तथापि उपन्यास-भूमि की सजीवता कहीं मुरझाती नहीं प्रतीत होती है।

भैरवप्रसाद गुप्त (सन् १९१८)

समाजवादी व्यवस्था से प्रभावित सामाजिक अन्तर्विरोधों का ग्रामस्तर पर बहुत ही प्रभावशाली चित्रण भैरवप्रसाद गुप्त ने किया है। उनमें क्रान्तिकारी शक्तियों की पहचान है। गुप्त जी का उपन्यास 'मशाल' (सन् १९५१) श्रमिक-वर्ग की समस्याओं को प्रकाशित करता है। 'गंगा मैया' (सन् १९५३) में बलिया जिले के एक गाँव को पृष्ठभूमि बनाया गया है और स्वतंत्रतापूर्व के किसान-जमींदार संघर्ष को उदयशील साम्यवादी चेतना के परिप्रेक्ष्य में अंकित किया गया है। मटरू पुलिस और जमींदार की प्रतिगामी शक्तियों से खुलकर जूझता है। 'सती मैया का चौरा' (सन् १९५९) एक विशालकाय उपन्यास है जिसमें पराधीनता युग से लेकर स्वतंत्रता संघर्ष, स्वतंत्रता, जमींदारी उन्मूलन और विकासारंभ तक की स्थितियों को आशा-आस्था के नवोल्लास में चित्रित

किया गया है। गाँव के दो शिक्षित युवकों, एक हिन्दू और दूसरा मुसलमान, मुन्नी और मन्ने द्वारा विरोधी परिस्थितियों के बीच गाँव के पुनर्निर्माण की कहानी है। मन्ने को पाँच-पाँच मोर्चों पर जूझते चित्रित किया है, अध्ययन और परीक्षा का मोर्चा, प्रेम और विवाह का मोर्चा, साम्प्रदायिकता बनाम मानवता का मोर्चा, घर-गृहस्थी के संचालन और व्यवस्थापन का मोर्चा, और गाँव की स्वार्थसिक्त कुत्सित राजनीति का मोर्चा! गाँव में एक सती मैया का चौरा है जो चुनाव आते-आते संघर्ष का विषय बन जाता है। सन् १९५१ तक की उस राष्ट्रीय मनःस्थिति का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है जिसमें एक ओर विकास की छटपटाहट है, दूसरी ओर स्वातंत्र्योत्तर उकसती लज्जाहीन नंगई और गुंडई की प्रवृत्ति है। संघटन और विघटन एक ही रंगमंच पर दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आहट मिलती है कि नहर निकल रही है, साधारण स्कूल इन्टर कालेज हो गया, गाँव की धरती करवट बदल रही है; किन्तु इस विकास की आशावादिता के साथ ही उपन्यासान्त में मन्ने लाठी के असाधारण प्रहार से आहत होता है और विकासमान ग्राम फिर प्रतिगामिता के धुंध में समाता-सा आभासित होता है। 'जंजीरें और नया आदमी' (१९५६) तथा 'धरती' (१९६४) में ग्राम-जीवन का मार्मिक रूप से स्मरण किया गया है। 'जंजीरें और नया आदमी' में अंग्रेजी राज की चक्की में पिसते उपेक्षित-उजड़े ग्राम-जीवन की दारुण गाथा है और 'धरती' में मध्यवर्गीय नैरेटर मोहन गाँव से कटकर नगर में रहता है। वह एक लेखक है। घर से माँ की बीमारी का तार आता है और गाँव जाने की समस्या के परिप्रेक्ष्य में गाँव में बीते बचपन का स्मरण करता है और एक-एक को पत्नी को सुना डालता है। यात्रा के अन्त में उसके महत्वपूर्ण मुलाकाती भी वही निकलते हैं जो उसी के समान धरती से कटे हैं और दुखी हैं। अतीत को एक निरामिष रोमानी-स्पर्श देकर लिखा गया उपन्यास ग्राम-जीवन और धरती के प्रति नया प्रगतिशील दृष्टि-कोण उपस्थित कर रहा है। 'महफिल' (१९५८) नामक कहानी संग्रह की कई कहानियों में लोकजीवन की सहज अभिव्यक्ति मिलती है। 'आँखों का सवाल' (१९६४) और 'बलिदान की कहानियाँ' (१९६३) आदि में भी आंशिक रूप से ग्राम-जीवन का स्पर्श है। 'बाँदी' (१९७१) में कथाकार ने जमींदार युग और जमींदारों के अन्तःपुर की विलास-लीलाओं को अंकित किया है। 'कहानी' के नववर्षाङ्क १९५९ में प्रकाशित गुप्त जी की 'फूल' शीर्षक कहानी और 'धर्मयुग'

१ अक्तूबर १९६७ में प्रकाशित 'चरमबिन्दु' शीर्षक कहानी में समसामयिक ग्राम-जीवन की बहुत सशक्त पहचान प्रस्तुत की गई हैं।

कंचनलता सब्बरवाल (सन् १९१८)

आपका कहानी-संग्रह 'प्यासी धरती सूखे ताल' (१९६०) ग्राम-जीवन का समस्यामूलक चित्रण प्रस्तुत करता है। इसमें प्रेमचन्द की परम्परा की सहज ग्राम-जीवन-माधुरी है। सामुदायिक विकास योजना की आहट और उसके प्रति उत्साह 'प्यासी धरती सूखे ताल' में है। अकाल और अवर्षण की पृष्ठभूमि पर यह आदर्शवादी कहानी बुनी गई है। एक नारी के उत्साह से पुरुषवर्ग में नवोत्साह संक्रामित होता है और मिलजुल कर सामूहिकता की शक्ति का आह्वान होता है। 'फूलों की सुगन्ध : काँटों की चुभन' (१९६५) आपका एक अन्य उपन्यास भी है।

बलभद्र ठाकुर (सन् १९१८)

हिमालय-कथा-माला के अन्तर्गत बलभद्र ठाकुर के कई आंचलिक उपन्यास क्रम से प्रकाशित हुए। 'मुक्तावली' (१९५८), 'नेपाल की वो बेटी' (१९५९), 'देवताओं के देश में' (१९६०), 'घने और बने' (१९६१) तथा 'लहरों की छाती पर' (१९६२) में आंचलिकता के सर्वथा नये आयाम का उद्घाटन हुआ है। बलभद्र ठाकुर में प्रगतिशील दृष्टिकोण है और सर्वत्र साम्यवादी स्वर है। विचित्र भौगोलिक विशेषतायें कथा भाग से सहज सम्पृक्त होकर कथाकार की मौलिक कथा प्रतिभा का परिचय देती हैं। 'मुक्तावली' में मणिपुर अंचल को लिया गया है और सांस्कृतिक स्तर पर नयी हवा और जनवादी चेतना की प्रतिष्ठा की गई है। 'नेपाल की वो बेटी' और 'घने और बने' में ईमानदारी के लिये उपमान किन्तु दरिद्र-अभावग्रस्त नेपाली डुटिपाल जाति का चित्रण है। जीवित रहने के लिए कड़ा संघर्ष उन्हें करना पड़ता है। कथानक सन् १९२० के लगभग का है और नेपाली वीरांगना हेमा का चित्रण नवोदित स्वाधीन चेतना के संदर्भ में किया गया है। सामन्तवादी शासन के लौह-पाश में जकड़ा नेपाली जन-जीवन जहाँ एकदम जड़वत्, निस्पन्द एवम् विमूर्छित है वहाँ हेमा की प्रगतिशील और निर्भीक साहसिकता समस्त प्रकार की जकड़न को चुनौती देती लक्षित होती है।

'देवताओं के देश में' बलभद्र ठाकुर का निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है जिसमें कुलू अंचल के पार्वतीय सौन्दर्य को तराशा गया है तथा नत्थी जैसी तेजोद्दीप्त राष्ट्रीय चेतना से पूर्ण नारी पात्र को उभाड़ा गया है। कथाकार हिमगिरि की उपत्यकाओं और चीड़, देवदारु के हरे-भरे जंगलों में जहाँ के पवित्र जन-जीवन ने सुमेरचन्द जैसे छलछन्दी और मक्कार लोगों के होते भी अपनी सहजता, सुन्दरता और साधुता को विसर्जित नहीं कर दिया है, मेखली देवी के पवित्र मंदिर की चढ़ान, ढमढमाक की ध्वनि, कोलाहल, जलूस और 'नड़वदा' आदि के सर्वथा नये दृश्यों को खोलता है। बीच-बीच में स्वाधीनता संग्राम की आहट भी मिलती रहती है। चन्द्रखणी शिखर और भोजपत्र वृक्ष के पत्रों की लहराती छटा सब अद्‌भुत लगती है। सबसे अद्‌भुत हैं इस अंचल के गाँव, नीचे की ढालों पर मीलों दूर ! कथाकार मलाण गाँव ले चलता है, 'छप्परों पर काली-भूरी स्लेटों की चमक' वाला गाँव ! जहाँ देवता का राज्य है, जहाँ धान की रोपनी का विचित्र जलूस निकलता है और 'देश सा म्हारा ऋषी मुनीरा' के गीत गूँज के बीच स्वतंत्रता आन्दोलन की सशक्त गरमाहट जहाँ नयी आभा विकीर्ण करती है।

'देवताओं के देश में' धनी वृद्ध बुधरामा की युवती पत्नी नत्थी विद्रोह के प्रथम स्तर पर अपने अवांछित पति से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष करती है और अपने चहीते युवक पति निरतू के साथ पलायन करती है। बड़ी कठिनाई से वह कानून, व्यवस्था और सुमेरचन्द के छलछन्द से बच निकलती। इस बीच उसकी घनिष्ठता बढ़ जाती है परिव्राजक प्रमोद से जिसकी प्रेरणा से भारतमाता की मुक्ति के लिए वह उग्र विद्रोहिणी हो उठती है और ब्रिटिश सरकार की क्रूर पुलिस-शक्ति से जूझ पड़ती है। चौथा उपन्यास 'घने और बने' एक प्रकार से 'नेपाल की वो बेटी' का दूसरा भाग है क्योंकि उसमें उक्त उपन्यास की वीरांगना नायिका हेमा के दो पुत्रों—घने और बने—के जीवन-संघर्ष को चित्रित किया गया है।

कथाकार के पाँचवें उपन्यास 'लहरों की छाती पर' का प्रस्तुतीकरण अंदमान और निकोबार अर्थात् कुख्यात 'कालापानी' के देश के जनजीवन की स्वातंत्र्योत्तर स्थितियों के आलेखन के रूप में हुआ है।

फणीश्वर नाथ 'रेणु' (सन् १९२१)

फणीश्वर नाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल' (सन् १९५४) के प्रकाशन के साथ

हिन्दी कथा-साहित्य में एक नये युग का प्रारम्भ होता है। आंचलिकता की प्रवृत्ति का उभार तो प्रेमचन्द (सन् १८८० से १९३६) काल में ही हो गया था और 'बलचनमा' (१९५२) से उसकी शिल्पगत नवीनता भी कुछ-कुछ उभर आई थी परन्तु उसका पूर्ण निखार तथा उसके विशुद्ध रूपवादी शिल्प का उद्घाटन 'मैला आँचल' से हुआ। इसमें कथाकार ने सन् १९४६-४७ के संक्रान्तिकालीन ग्रामीण लोक-मानस का आनयन नवीन स्फूर्ति और तटस्थ विश्लेषणपरक संवेदनीयता के साथ किया है। पूर्णिया जिले के एक सर्वाधिक पिछड़े गाँव मेरीगंज को पृष्ठभूमि बनाकर पिछड़ेपन, दलबन्दी, विघटन, गिरावट, अन्तरविरोध, नवचेतना, चतुर्मुखी अवमूल्यन, विद्रोह, नैतिकता के उखड़ते शिविर, बेदखली, हलचल, नये बनते-बिगड़ते सम्बन्ध और स्वराज्य के साथ ही गाँव की सामाजिकता और सहकार वृत्ति के पराभव की कथा सर्वथा नयी सशक्त भाषा में प्रस्तुत की गई है। प्रथम बार एक सम्पूर्ण आंचलिक इकाई की टटकी गाथा समारोहवत्, किंचित् वरेण्य उच्छृङ्खलता के साथ हिन्दी कथा-भूमि पर 'मैला-आँचल' के साथ उतरी।

रेणु का दूसरा उपन्यास 'परती परिकथा' (१९५७) नयी कल्पनाओं और नये सपनों का उपन्यास है। कथाकार ने इसमें पूर्णिया जिले के अत्यन्त समृद्ध और विकसित गाँव परानपुर को पृष्ठभूमि बनाया है और वहाँ की सैकड़ों एकड़ विस्तृत 'धूसर-वीरान' वन्ध्या धरती माता की पीड़ा को शब्दांकित किया है। अपनी धरती, चिड़ियाँ, परती, पांडुलिपियाँ, भैंसवार, कथाकार, किम्वदन्तियाँ, घाटबाट, लोकगीत, लोककथा, स्थानीय इतिहास, विश्वास, कहावतें, शब्दावली और विकासशील सच्चे ग्रामांचल का रूप सजीव और समग्र अनुभूति के साथ साकार हो उठता है। गाँव में स्वातंत्र्योत्तर जागृति और नवचेतना के साथ नव-विकास के आर्थिक कार्यक्रम स्थानीय जमींदार जितेन्द्र के द्वारा उपस्थित किये जाते हैं जो इस मार्ग में आने वाली शतशः पुरातन पंथी बाधाओं का साहस और सूझ के साथ अतिक्रमण करता स्वप्नसिद्धि के लिए संघर्ष करता है तथा सफल हो जाता है। गाँव के जमींदार का प्रथम बार एक शुभावह रूप इस उपन्यास में उभरा जो गाँव की गन्दी, संकुचित स्थानीय राजनीति से ऊपर उठकर सार्वदेशिक विकास-धारा की पकड़ और वैज्ञानिक युग की उपलब्धियों के ग्रामस्तर पर कृषि-विकास में प्रयोग-परिचय का अग्रदूत बनता है। उसमें प्रगतिशील और नव-विकसित ग्राम-सेवक चेतना है।

मुख्य कथाकेन्द्र है कृषि-विकास में वैज्ञानिक अनुसंधान की नवीनतम उपलब्धियों का उपयोग कर गाँव की उस विशाल परती को तोड़ना जो अगणित अन्धविश्वासों, अन्धपरम्पराओं और जड़ताओं की परती है तथा जिसके रहते सारे विकास की प्रगति पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा है। इस सांस्कृतिक परती को मथकर आर्थिक कार्यक्रमों के नवांकुरों को विकसित करना एक महत्तम लक्ष्य है। इस लक्ष्य के लिए, लुत्तो जैसे अधकचरे स्वार्थी लंगीबाज कांग्रेसी नेता ही नहीं कम्यूनिस्टों आदि के संयुक्त मोर्चों का कई-कई बार जितेन्द्र सामना करता है और बहुत संयम और धैर्य का परिचय देता है। कोसी प्रोजेक्ट की सफलताओं और भविष्य की सुखद झलक दिखाकर विरोधियों के प्रलोभनों और बहकावों से वह ग्रामीण जनता को उबार कर नव-निर्माण और कृषि-क्रान्ति के प्रति आशावान बनाने में सफल होता है। परम्परा और प्रगति के संघर्ष के साथ नये परिवर्तित मूल्यों की पुनर्स्थापना और ग्राम-संस्कृति का आधुनिकता के स्तर पर पुनरुद्धार इस कृति की उपलब्धि है।

रेणु का तीसरा उपन्यास 'दीर्घतपा' (१९६३) एक बहक है और ग्राम कथाकार ने इसमें नागर-आंचलिकता का प्रयोग किया है। बांकीपुर की एक समाजसेवी संस्था है 'विमेंस वेलफेयर बोर्ड' और इसके प्रेसिडेंट राज्य के मुख्यमंत्री हैं। इस संस्था के 'वर्किंग-विमेन्स-होस्टल' की सुपरिन्टेन्डेन्ट मिस बेला गुप्त की कर्तव्यपरायणता और भ्रष्टाचार के विरोध में संघर्ष की सजीव कथा है। चौथा उपन्यास 'जलूस' (१९६५) आंचलिकता का सर्वथा मौलिक उद्घाटन है। स्वतंत्रता के पश्चात् विभाजन-विस्थापन के साथ विस्थापित लोगों की नयी बसी शरणार्थी-बस्तियाँ भी एक ज्वलन्त सत्य हैं। प्रस्तुत कृति में यही सत्य अंकित है। मैमनसिंह जिले के जुमापुर गाँव के शरणार्थियों का एक दल पहले बेतिया कैंप में पहुँचता है फिर वहाँ से पूर्णिया में गोड़ियार गाँव के पास एक 'कालोनी' बसाई जाती है। शरणार्थी उसे नवीन नगर (नोबीन नगर) कहते हैं परन्तु डिप्टी मिनिस्टर नबी साहब के उद्घाटन के साथ कागज पर उसका नाम हो जाता है 'नबीनगर!' अन्य गाँव वाले उसे पाकिस्तानी टोला कहते हैं। यह शरणार्थियों को बेहद खटकता है। वे कालोनी कमेटी बनाते हैं और अपना पार्थक्य बनाये रखते हैं। वे मेल-जोल के विरोधी हैं। स्वयं को बंगाली और पुराने गाँव वालों को हिन्दुस्तानी कहते हैं।

इस प्रकार घूमफिर कर रेणु पुनः पूर्णिया में आ जाते हैं और धनी गाँव

परानपुर तथा गरीब गाँव मेरीगंज के बाद सर्वथा नये प्रकार के गाँव का, जो एक लोमहर्षक इतिहास की उपज है, चित्रण करते हैं। इस कालोनी में पवित्रा नामक एक नारी के कारण लाख कुंठा और भग्नाशा के रहते हुए मानवीयता का स्तर मिटता नहीं है। शरणार्थियों के साथ आये उनके सांस्कृतिक कार्यक्रमों के नये परिवेश में खपत की विसंगति मनोरंजक भी कम नहीं होती है। समय के साथ लोगों में विक्षोभ और टूटन गाढ़ी होती जाती है और स्थितियों का दबाव होता है कि बिहारी-बंगाली अथवा देसवाली-शरणार्थी का मेल-मिलाप भी संभव होता है। नये गाँव की नयी समस्या, नये समाज की नयी प्रश्नशीलता और ऐतिहासिक संदर्भों में उपजे इन नये गाँवों के नये सामाजिक, आर्थिक एवम् सांस्कृतिक क्षितिजों का उद्‌घाटन इस सर्वथा आधुनिक आंचलिक उपन्यास की उपलब्धि है।

रेणु के प्रथम कथा-संग्रह 'ठुमरी' (१९५९) का स्वर उनके उपन्यासों से भिन्न है। उसमें गाँव का सनातन सांस्कृतिक रूप उभरा है जो पूर्णतया देश-काल निरपेक्ष है। उनकी प्रख्यात कहानी 'तीसरी कसम' इसी में संगृहीत है। 'रसप्रिया' में एक गहरी मर्म वेदना है कि विदापति नाच उठता जा रहा है और कला-सौन्दर्य एवम् कलाकारों की घोर उपेक्षा हो रही है। 'लालपान की बेगम' में अन्तरमुख प्रेमानुभूति और 'पंचलाइट' में समकालीन समाजमुख अन्तर्विरोध है। संग्रह की इन कहानियों में से नव ग्रामगंधी रचनायें हैं और अधिकांश कला-माध्यम-सम्पन्न हैं। 'हाथ का जस' (१९६२) एक सहकारी प्रकाशन प्रकाश है जिसमें रेणु की दो कहानियों में से एक 'हाथ का जस और वाक् का सत्त' नवीन है। इसमें गाँव का नया बदलाव चित्रित है। आधुनिकता और आंचलिकता के संगमित आयाम बहुत स्पष्ट उभरे हैं 'आदिम रात्रि की महक' (१९६७) में। इसकी चौदह कहानियों में आधी ग्राम-जीवन पर आधारित हैं और गाँव की नयी उखड़न, टूटन, उदासी, अस्तित्वहीन मनःस्थिति, भ्रष्टाचार, नगरोन्मुखता, अधकचरे नेतृत्व और खोखलेपन आदि की स्थितियों को बहुत सजीवता के साथ प्रस्तुत करती हैं। 'विघटन के क्षण' और 'उच्चाटन' में नगराकर्षण की चपेट में उजड़ते गाँव की अभिशप्त नियति को कथाकार ने बहुत सहानुभूति पूर्ण ढंग से अंकित किया है। 'आदिम रात्रि की महक' एक लावारिस मनःस्थिति का चित्रण है और 'अतिथि सत्कार' में कथाकार मनोविनोद की उत्फुल्ल मनःस्थिति में प्रतीत होता है। 'पुरानी कहानी : नया

पाठ' में कोसी की बाढ़ का संदर्भ है जिसमें राजनीतिक लोगों का भ्रष्टाचार चित्रित है।

अमृत राय (सन् १९२१)

अमृतराय की कृतियों की आधारभूमि नगर-जीवन है परन्तु जहाँ कहीं उन्होंने ग्राम-जीवन का स्पर्श किया है सहृदयता-पूर्ण दृष्टि लक्षित होती है। उनके 'हाथी के दाँत' नामक उपन्यास में जमींदारी उन्मूलन के बाद के जमींदारों का चित्रण है। वह वर्ग अपना प्रभुत्व-रंग प्रकारान्तर से बनाये रखता है। अंगरेजी राज के भक्त अपने नखदंत छिपाये विधायक आदि के रूप में नवीन शोषक बन बैठते हैं। अमृत राय के 'बीज' (१९५३) में भी लोकजीवन की झलक है। 'गीली मिट्टी' (१९६०) नामक कहानी-संग्रह की आरंभिक विस्तृत भूमिका में उन्होंने बहुत तटस्थता के साथ आंचलिकता का प्रश्न उठाया और गाँव के नये सामाजिक संदर्भों को समझने की अपील की। इस संग्रह की 'रसगंध' शीर्षक कहानी में ग्राम जीवन है। 'दरारें' (१९४७) में बटवारे की पीड़ा अंकित है।

उदयराज सिंह (सन् १९२३)

अपने आधे दर्जन से ऊपर सृष्ट उपन्यासों में से 'भूदानी सोनिया' (१९५७) और 'अँधेरे के विरुद्ध' (१९७०) में उदयराज सिंह ने ग्राम-जीवन को चित्रित किया है। 'भूदानी सोनिया' एक स्वातंत्र्योत्तर अर्धराजनीतिक पाखंड का रहस्योद्घाटन है और 'अँधेरे के विरुद्ध' इस काल के परिवर्तित ग्राम्यपरिवेश का समग्र-समवेत तथा अत्यन्त प्रामाणिक प्रस्तुतीकरण है। बसन्तपुर गाँव और वहाँ के बी० डी० ओ० नरेन्द्र को केन्द्र बनाकर ग्रामीण स्तर के राजनीतिक दाँव-पेंच, पंचायत चुनाव, बिखराव, टूटन, स्वार्थ, लूट और भ्रष्टाचारादि के धुंध में डूबी जन-भावना तथा उनके बीच अवश आहत छटपटाती राष्ट्र-निर्माण की चेतना का बहुत स्पष्ट अंकन हुआ है। गाँव आज इतना कालुष्य-पूर्ण हो गया है कि सज्जनों का वहाँ निवास दुष्कर हो गया है। एक डाक्टर है और दूसरा बी० डी० ओ० है जो युगीन काट-छाँट से पृथक् हैं और अन्ततः वे समस्त ग्रामवासियों को अपना शत्रु बना लेते हैं। उपन्यास में भूतपूर्व जमींदार रावसाहब और उनकी अनिन्द्य सुन्दरी रूपजीवा प्रेमिका

मेहर की ६० वर्ष पुरानी रोमान गाथा तथा बड़ी हवेली की प्राचीन गौरव-शीलता में लिपटी स्वातंत्र्योत्तर नव-विकास की कहानी दुहरी बुनावट-विधा में उपस्थित की गई है।

रांगेय राघव (सन् १६२३)

प्रगतिशील कथाकारों में रांगेय राघव की दृष्टि बहुत पारदर्शी है। इन्होंने ग्रामांचलिकता के एक नये क्षितिज का उद्घाटन किया है जिसे इनकी प्रसिद्ध कहानी 'गदल' (१६५५) और उपन्यास 'कब तक पुकारूँ (१६६७) के माध्यम से जानते हैं। 'विषाद मठ' (१६४६) में बंगाल के अकाल को पृष्ठ-भूमि बनाया। 'बोलते खंडहर' (१६५५) में रहस्य रोमांच वृत्ति लेकर ग्राम प्रवेश हुआ है। यह एक प्रेतगाथा है। 'राई और पर्वत' (१६५८) में सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना है और गाँव की परम्परागत जकड़न को एक तीव्र प्रगतिशील झटका दिया गया है। 'धरती मेरा घर' (१६६१) में आत्मकथा शैली के अन्तर्गत राजस्थानी जन-जीवन का चित्रण है। 'आखिरी आवाज़' (१६६३) में ग्रामीण जीवन के सामाजिक यथार्थ और बदलते भारतीय ग्रामीण परिवेश, उसकी नयी समस्यायें चित्रित हैं। 'कब तक पुकारूँ' (१६६७) ६३४ पृष्ठ का एक विशाल उपन्यास है। भूमिका में राजस्थान के जरायम पेशा करनट जाति का परिचय है। पूरे उपन्यास की घटना का प्रेरणा केन्द्र कथाकार के व्यक्तिगत जीवन की एक घटना है। सन् १६४६ में एक दुःसाध्य चिकित्सा के क्रम में लेखक का परिचय एक वयोवृद्ध सुखराम करनट से होता है। वह गाँव के बाहर उसकी झोपड़ी तक जाता है और उसकी तेरह-चौदह वर्षीय फूल सी, अंग्रेज-बालिका जैसी, लड़की को देखकर गहरे रहस्य में डूब जाता है। यह रहस्य उत्तरोत्तर गाढ़ा होता चला जाता है। सुखराम ठाकुर वंशी है और उसकी बेटी चन्दा अतीत के एक रहस्यमय इतिहास की भटकती आत्मा है। वह बारम्बार किसी अधूरे किले की ओर ललक रही है। उसकी हत्या के प्रकरण से जब रहस्य और गाढ़ा हो जाता है तब रजवाड़ों की मध्य-कालीन संस्कृति की विकृत कहानी, तब से आरम्भ होती है जब सुखराम की आयु बारह वर्ष की रहती है। सम्पूर्ण उपन्यास में बंजारा दम्पति सुखराम और कजरी की कथा है। प्रगतिशील विद्रोही कथाकार कृति में संयम से काम लेता है। आधुनिकता और मुक्ति-कामना का आदिम रूप उपन्यास में

अंकित है परन्तु वह पशुत्व से अपना पार्थक्य और उच्चत्व सदा बनाये रखता है। विश्व की तत्कालीन सर्वाधिक सभ्य जाति अंग्रेज और कथित असभ्य जाति करनट का संयोग इस कुशलता से संघटित किया गया है कि मानवीयता का प्रश्न बहुत स्पष्ट हो जाता है।

'गदल' में खारी गूजर जाति की एक नारी की कहानी है जिसमें कथाकार ने मानवीयता के उच्चतम अंश का संस्पर्श पाया है। परम्परित और सांस्कृतिक मूल्यों के लिए संघर्षरत इस नारी के मनोजगत् के गुह्य रहस्यों की सूक्ष्म पकड़ इस स्वच्छन्दतावादी कहानी में है। प्रतिशोध, शौर्य और साहस की प्रतिमूर्ति, जीवन-युद्ध की विजयिनी स्वाभिमानिनी नारी 'गदल' कहीं नहीं टूटती है, न प्रेम में और न युद्ध में। ग्राम-भूमि पर ऐसी सशक्त कथावतारणा हिन्दी में विरल है।

शिवानी (सन् १९२३)

प्रख्यात कथा-लेखिका शिवानी की कथाभूमि यद्यपि नगर-जीवन है तथापि अपनी सहज परिचित कूर्मांचल की पार्वतीय जीवन-छवियों से आसिक्त ग्राम-परिवेशी कथायें भी उन्होंने प्रस्तुत की हैं। 'मायापुरी' में शोभा और सतीश की प्रेमकथा के परिप्रेक्ष्य में पर्वतांचल की अकुलिष ग्राम-शोभा, रीति-रिवाज और विशेष शब्दावली आदि का चित्रण और प्रयोग वृत्ति शैलेश मटियानी की पंक्ति में उन्हें प्रतिष्ठित करती है। 'पुष्पहार' शीर्षक एक कहानी ('सारिका' दिसम्बर १९६८) भी इसी पार्वतीय पृष्ठभूमि को अंकित करती है। कुमायूँ के पहाड़ी गाँव बाडेट्टोना का एक साधारण आदमी छलांग लगा कर मंत्री बन जाता है और पुष्पहार से लेकर लात-घूसों तक के उसके स्वागत-विकास का चित्रण समकालीन राजनीतिक-मूल्य-दृष्टि से बहुत सहज परिवेश को संग्रथित करते हुआ है। 'चौदह फेरे', 'लाल हवेली', 'भैरवी', 'कृष्णकली' आदि अन्य कथाकृतियाँ हैं।

ठाकुरप्रसाद सिंह (सन् १९२४)

'चौथी पीढ़ी' (१९५७) और 'कुब्जा-सुन्दरी' (१९६३) के कथाकार ठाकुरप्रसाद सिंह के ग्राम-भितिक चित्रों में हार्दिकता और भास्वरता मिलती है। 'चौथी पीढ़ी' की कहानी 'आदमी एक खुली किताब' दोहरी बुनावट की

कहानी है। 'ब्रह्मशान्ति' (१९५९) में उन्होंने गाँव में बद्धमूल अन्धविश्वास और परमेश्वर पंडित जैसे ब्रह्मवेत्ता की आकस्मिक ख्याति सम्पदा प्राप्ति का रहस्योद्घाटन किया है। 'खोटा सिक्का' (१९६१) रेखाचित्रात्मकता से परिपूर्ण गजराज पहलवान के गिरावट की मनोवैज्ञानिक कहानी है।

रामदरश मिश्र (सन् १९२४)

रामदरश मिश्र में ग्रामजीवन के स्तर पर आधुनिकता की चुनौतियों को स्वीकारने और समस्याओं से सीधे साक्षात्कार की विशिष्टता है। 'पानी के प्राचीर' (१९६१) में उन्होंने अभिशप्त राप्ती अंचल की संघर्ष-गाथा का आलेखन किया है और स्वतन्त्रतापूर्व के पचीस वर्षों को कला की कलम से उजागर कर दिया है। कथानायक नीरू पर गांधीवादी प्रभाव है। उसके शैशव से लेकर सामाजिक जीवन के प्रति दायित्व के स्तर पर जागरूक होने तक के विविध घटनाक्रम, अत्याचार का प्रतिरोध, नौकरी की खोज, नगर परिचय, प्रेम, आन्दोलन से लेकर परतंत्रता की शत-शत विवशताओं के बीच घिरे होने की अनुभूति और अन्त में स्वतंत्रतागम की आशावादिता, सब अत्यन्त सहज भाव से संग्रथित है। मिश्र जी के दूसरे 'अनांचलिक' उपन्यास में गोरखपुर जनपद के ही कछार अंचल के बदलते जीवन को बहुत प्रभावशाली ढङ्ग से अंकित किया गया है। 'जल टूटता हुआ' (१९६९) में व्यक्ति विशेष की नहीं समग्र गाँव की समवेत गाथा है। पूर्व प्रकाशित उपन्यास से इसकी कड़ियाँ जुड़ी हुई हैं और अपनी विशालता एवं समग्रता संकेन्द्रन दृष्टि से यह क्लासिकल उपन्यास बन जाता है। कथाकार ऋतु सुलभ सहज उल्लास के बीच नये ग्रामांचल की पहचान प्रस्तुत करता है परन्तु यथार्थ की टकराहट में जीवन-सौन्दर्य का छोर छूट-छूट जाता है। स्वातंत्र्योत्तर आशावादिता का दर्शक अन्त में मोहभंग की इस मार्मिक अनुभूति को उपलब्धि के रूप में सम्मुख कर देता है कि बहुमुखी विशाल योजनाओं के चलते भी विकास के बाँध दरक रहे हैं और 'जल टूटता हुआ' दिखाई पड़ रहा है। 'बीच का समय' (१९७०) गुजरात की पृष्ठभूमि पर लिखी प्रोफेसर शील और रीता की रोमान गाथा है जिसके बीच गाँठ सी पड़ी है शील की बचपन की विवाहिता ग्राम-स्थित पत्नी, भद्दी, मूर्ख, निरक्षर, कुरूपा और उम्र में उनसे बड़ी। नारी सामीप्य की ललक में शील रीता की ओर आकर्षित होता है परन्तु पत्नी के

प्रति प्रतिबद्धता और दायित्व का बोध उसे दूर फेंक देता है। पूरे उपन्यास में ग्रामबोध और नगरबोध की टकराहट है। मिश्र जी का कहानी-संग्रह 'खालीघर' (१९६९) एक गंभीर ह्रास-स्थिति और आभ्यन्तर पीड़ापरक रिक्तता का प्रतीक है। आंचलिकता और ग्राम-कथानक से आगे की सर्वथा मौलिक कथाभंगिमा नये ग्रामबोध के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत की गई है। ग्राम-बोध और नगरबोध की अनुभूतियों की आन्तरिक स्तर पर टकराहट और छुट्टियों में जिये गाँव का प्रामाणिक अंकन इस संग्रह की उपलब्धि है। गहन प्रश्नशीलता और कसमसाती अन्तर्वृत्तियाँ गाँव की उदासी, अकाल और श्रीहीनता को बहुत गाढ़ा बनाकर संप्रेषित करती हैं और आत्मान्वेषण के स्तर पर लेखकीय और पाठकीय दृष्टिकोण में कहीं अन्तराल अवशिष्ट नहीं रह जाता है।

अमरकान्त (सन् १९२५)

अमरकान्त के उपन्यासों में 'ग्रामसेविका' (१९६२) स्वातंत्र्योत्तर ग्राम जीवन के आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनों को प्रस्तुत करने के कारण पृथक् हो जाता है। इसकी मुख्य पात्री अविवाहिता युवती दमयन्ती गांधीवादी आदर्शों से अनुप्रेरित ग्रामात्मा को जड़त्व से निकाल कर नयी दीप्ति देने के लिए कठोर संघर्ष करती है और सफल होती है। आरम्भ में यंत्रगतिक अन्ध-परम्पराएँ और रूढ़िग्रस्त संकुचित वृत्तियाँ अवरोधक बनकर उसकी सांस्कृतिक क्रान्ति की दिशा को धूमिल करती हैं परन्तु अपनी लगन और सूझ के बल पर वह बिशुनपुर गाँव में नये मूल्यों की स्थापना करती है।

अमरकान्त की ख्याति का आधार-स्तम्भ उनका कहानी-संग्रह 'ज़िन्दगी और जोंक' (१९५८) है जिसमें तलवर्ती लोक-जीवन की समसामयिक संवेदनाओं का बहुत मार्मिकता से स्पर्श किया गया है। यही अन्तर्वृत्ति 'देश के लोग' (१९६४) में भी है। 'मूस' गड़ेरिया से लेकर भूतपूर्व जमींदार राय साहब तक और बेकारी से लेकर तीव्र उपेक्षा तक के चित्रण बहुत सशक्त हैं। कहानियों में अमरकान्त की असम्पृक्ति उपलक्षित चित्रों की संवेदनीयता को अत्यन्त प्रभावशाली बना देती है। अपनी ग्रामगंधी रचनाओं में वे सर्वदा ग्राम-जीवन के उस अभिशप्त पक्ष के उद्‌घाटन में उत्साहशील प्रतीत होते हैं जो स्वातंत्र्योत्तर नियति-भोग की अनिवार्यता से जुड़ा हुआ है। 'पराई डाल का

पंछी' (१९६८), 'दीवार और आँगन' (१९६९) और 'काले उजले दिन' (१९६९) और 'सूखा पत्ता' अन्य उपन्यास हैं।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय (सन् १९२५)

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की विशालकाय कृति 'रीछ' (१९६७) प्रभविष्णु व्यक्तित्व के विकास के साथ जुड़े चतुर्मुखी राष्ट्रविकास और उसके अवरोधक गतानुगतिक असामाजिक तत्वों की कहानी है। भूमिका के अनुसार उपन्यास किसी 'मूल्य' और 'धारणा' की प्रतिबद्धता में लिपिबद्ध किया गया है और आन्तरिक स्तर पर हुए लोक-मानस के परिवर्तनों का आकलन हुआ है। यह आकलन पूँजीवाद के उच्छेद और साम्यवादी प्रचार से अंशतः जुड़ा हुआ है अतः इस उपन्यास को राजनीतिक उपन्यासों की कोटि में रखा जा सकता है।

शैशवकाल से ही विभिन्न प्रभावों के बीच विकसित होता एक प्रतिनिधि ग्रामीण व्यक्तित्व, उत्कट जिजीविषा और आत्मनिर्माण के प्रबल संकल्पों को कर्मठ करों से आकार देता विराट् संभावनाओं के साथ उदित होता है और आत्मबलिदानपूर्ण अस्त के साथ ग्राम-विकास की एक प्रेरक कथा छोड़ जाता है। अध्ययन-भूख की शान्ति के लिए दौड़-दौड़ कर नगर में जाता है और समाज सेवा की भूख उसे राजनीतिक कार्यकर्त्ता के स्तर पर बारम्बार गाँव में खींच लाती है। विमल का कार्यक्षेत्र अपना निजी गाँव चाँदसी है। वहाँ एक उच्च अभिजात तिवारी वंश में दो 'नम्बरी' हैं। वे पूँजीपति, महाजन, जमींदार, तानाशाह, मुखिया, सूदखोर, नम्बरदार और सब मिलाकर उपन्यासकार की भाषा में 'रीछ' हैं जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र विकास के अवांछनीय अवरोधक प्रतिगामी तत्व हैं तथा प्रस्तुत उपन्यास में उन्हीं के विरोध में विमल के संघर्ष की कहानी है।

श्रीलाल शुक्ल (सन् १९२६)

ग्राम-जीवन पर आधारित कथा-कृतियों में श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी' (१९६९) का विशेष स्थान है। यह एक 'अनांचलिक' उपन्यास है और पूर्णतः व्यंग्यशैली में लिखा गया है। शिवपाल गंज गाँव में स्थित एक इण्टर कालेज और उसकी गन्दी राजनीति के परिप्रेक्ष्य में आज के अस्तव्यस्त, मूल्यहीन और लक्ष्यहीन राष्ट्रीय जीवन को कथाकार ने अंकित किया है। व्यंग्य का

मुख्य लक्ष्य विकास है जो नेताशाही-नौकरशाही के पाटों में दम तोड़ रहा है। उपन्यास में सम्पूर्ण अवमूल्यन का द्रष्टा-भोक्ता रंगनाथ संज्ञक एक नागरिक शोधछात्र सज्जन हैं जो रुग्ण युवापीढ़ी के प्रतिनिधि हैं तथा स्वास्थ्य सुधारने अपने ननिहाल शिवपाल गंज में आते हैं। मगर यहाँ गाँव की नयी स्थिति नाना भाँति के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और शैक्षिक-सांस्कृतिक व्याधियों से आक्रान्त है कि कुछ ही महीनों में भाग खड़े होते हैं। कथाकार ने इसे बुद्धिजीवियों के पलायन के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है और बहुत गम्भीर रूप से अधुनातन चुनौतियों के साक्षात्कार-संयोग से संघटित किया है। युवाविद्रोह, नंगई, परोपजीविता, पीढ़ियों का संघर्ष, गुटबन्दी, उत्कोचवृत्ति, असुरक्षा, संस्था-जीविता, अस्वस्थ नेतृत्व, विघटन और व्यापक हुल्लड़बाजी को कथाकार ने इस व्यंग्य कृति में कला की कलम से उजागर किया है।

धर्मवीर भारती (सन् १९२६)

धर्मवीर भारती के कथा-संग्रह 'चाँद और टूटे हुए लोग' (१९५५) में कुछ कहानियाँ, 'हरिनाकुस का बेटा', 'चाँद और टूटे हुए लोग', 'भूखा ईश्वर', 'मुर्दों का गाँव' और 'कफनचोर' ऐसी हैं जिनमें ग्राम-जीवन अथवा ग्राम-मन की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। भारती जी पीड़ित मानवता को जब अपनी संवेदना प्रदान करते हैं तो अपने को बहुत फैला देते हैं। उनमें अपूछ-अदेख अथवा अंतिम पंक्ति के चरित्र अपनी भोली भावुकता की अथाह सांस्कृतिक सम्पत्ति लेकर अवतरित होते दृष्टिगोचर होते हैं। 'गुल की बन्नो' (१९५६) और 'बन्द गली का आखिरी मकान' (१९७०) में ग्राम-भूमि तो नहीं पर जीवन्त ग्राम-मन अभिव्यंजित हुआ है।

बालशौरि रेड्डी (सन् १९२६)

आपकी कृति 'स्वप्न और सत्य' (१९६८) में दक्षिण भारत के ग्रामांचल का चित्रण है। गोटूर गाँव के सन्दर्भ में कथाकार ने गाँधीयुग से लेकर स्वातंत्र्योत्तर विकास तक को अंकित किया है। भाषावार प्रदेश रचना-सिद्धान्त से जुड़े आन्दोलनों का भी चित्रण है। परम्परावाद, आदर्शवाद और रोमांस रहित ग्रामजीवन की सहज सरसता उपन्यास में लाने का प्रयत्न किया गया है। मुख्य स्वर ग्राम-सुधार और नवनिर्माण का है। यही स्वर रेड्डी साहब के दूसरे

उपन्यास 'धरती मेरी माँ' (१९६९) में भी है। भारतीय गाँवों के नगरीकरण, उनके नव-निर्माण और पंचवर्षीय योजनाओं की सफलताओं को आस्था, आशा और स्वप्नसिद्धियों के उत्साहातिरेक में अंकित किया गया है। 'बैरिस्टर', 'भग्न सीमायें', 'यह बस्ती : ये लोग', 'शबरी', 'प्रकाश और परछाईं', 'लकुमा' अन्य उपन्यास हैं।

राही मासूम रजा (सन् १९२७)

'आधा गाँव' (१९६६) डा० राही की कृति से आंचलिकता के नये क्षितिज का उद्‌घाटन हुआ। इसमें कृतिकार ने गाजीपुर जिले के अपने ही गाँव गंगौली के जिये जाने को एक विशेष कोण से उठाया है। प्रामाणिकता को और सघन बनाने के लिए सम्पूर्ण ग्राम इकाई को वह स्पर्श नहीं करता है अपितु वहाँ के मुस्लिम परिवारों के ही सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के उत्थान-पतन को वह अंकित करता है। अतः लघुतम क्षेत्र में संकेन्द्रित प्रकाश-बिम्ब अत्यन्त तीव्र होता है और यथार्थ का कोई कोना प्रच्छन्न नहीं रह जाता। अस्तंगत जमींदार-युग और प्रजातांत्रिक-प्रयोगारंभ के मध्य संघर्षशील और संक्रमणकालीन लगभग तीन दशक 'आधा गाँव' के परिप्रेक्ष्य में रूपायित हैं। पूर्वार्द्ध में जमींदार युग का उल्लसित रोमांस, मजलिस, मरसिया, ताजिया और सेहरा आदि के संदर्भ में अभिव्यक्त होता है परन्तु उत्तरार्द्ध ग्राम-जीवन आपाततः टूटन-उजड़न और उदासी का चित्रण है जिसमें पूर्वार्द्ध की विनोद वृत्ति प्रधान ग्रामीण जन भी गहरे आत्मपीड़न और विक्षोभ की स्थिति में अनर्गल गालियाँ बकने लगते हैं। 'टोपी शुक्ल' (१९६८) में कथाकार ने हिन्दू-मुसलिम एकता के विवादास्पद प्रश्न को उदार राष्ट्रवादी (और मानवता-वादी) दृष्टिकोण से विश्लेषित किया।

लक्ष्मीनारायण लाल (सन् १९२७)

कथाकार के प्रसिद्ध उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' (१९५३) की कथा गाँव, कस्बा और नगर सर्वत्र संचरण करती है परन्तु मूलतः वह ग्रामीण दम्पति रामानन्द और सुभागी की व्यथा-कथा है। उनका ग्राम-निवास पंचायत आदि के अत्याचारों से असंभव हो जाता है तो वे कस्बे में प्रवास के लिए विवश हो जाते हैं। वहाँ कामतानाथ तहसीलदार की वासना-दृष्टि और उनके

पुत्र की करुणा-दृष्टि की टकराहट में अन्ततः सुभागी का जीवन बया का वह घोंसला हो जाता है जिसे समाज के साँपों से त्राण नहीं मिलता। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का 'धरती की आँखें' (१९५१) नामक उपन्यास हिन्दू-मुसलिम एकता की पृष्ठभूमि पर आधारित है। इसमें हिन्दू युवक गोविन्द और मुसलिम महिला जैनब का प्रेम-विवाह उपलक्षित है। आदर्शोन्मुख यथार्थ की यह सामाजिक चेतना प्राचीन है किन्तु नवीनता यह है कि इस विवाह का विरोध मुसलमानों की ओर से नहीं, हिन्दुओं की ओर से होता है। इस सामाजिक मोर्चे के अतिरिक्त एक और मोर्चा आर्थिक विकास का है जो अन्त में रोनी नदी के बाँध और योजनाबद्ध खेती से विजित होता है। कथाकार के 'काले फूल का पौद' (१९५५) आदि उपन्यासों के कथानक नगरभूमि से सम्बन्धित हैं।

काशीनाथ सिंह (सन् १९३७)

'लोग बिस्तरों पर' (१९६८) कथाकार की कृति यद्यपि मुख्यतः नगरभूमि से जुड़ी हुई है तथापि आरंभ की दो कहानियों में साठोत्तरी पीढ़ी द्वारा आधुनिकता की चुनौतियों को ग्रामस्तर पर स्वीकारने के आयाम उभरे हैं। आलोच्य कृति की पहली कहानी 'संकट' के मिलिटरी मैन राघो का संकट सेक्स-संकट है जिससे सीधे साक्षात्कार को कथाकार ने चित्रित किया है और दूसरी कहानी 'आखिरी रात' में भी वही आदिम-संकट है परन्तु वह मध्यवित्तीय आर्थिक कठिनाइयों में उलझकर संश्लिष्ट हो गया है। नगर-मन और ग्राम-मन की टकराहट कोकथाकार ने गहन मनोवैज्ञानिक संकेतों से पूर्ण अंकित किया है।

बलवन्त सिंह (सन् १९२८)

पंजाबी जन-जीवन को बलवन्त सिंह ने सृजनात्मक स्तर पर उत्कृष्ट कलात्मक निखार दिया है। स्वतंत्रता के बाद भारत आकर उन्होंने हिन्दी में लेखन कार्य किया और इस प्रकार पंजाबी धरती की धड़कन सीधे हिन्दी में आई। 'दो अकालगढ़' (१९६९) आपका बहुचर्चित उपन्यास है जिसमें युद्ध और प्रेम के रोमानी ग्राम-परिवेश स्पष्ट और प्रभावशाली रूप में चित्रित हैं। समूचा चित्र अँग्रेजी राज-काल का है जिसमें दो गाँव उच्च अकालगढ़ (जिसमें हीन-कुल सरदार रहते हैं) और नीवाँ अकालगढ़ (जिसमें कुलीन सरदार

निवास करते हैं) की पारस्परिक टक्कर अंकित है। प्रतिस्पर्द्धा, द्वन्द्वयुद्ध, जोड़ मेला, भाखड़ा लोकगीत, सांड़नी की सवारी आदि और दीदार सिंह के रूप में वीर-गाथाकालीन रोमानी मूल्यों का पुनर्लेखन उसी पुरातन परिवेश में, आधुनिकता के प्रक्षेपण से रहित अंकन इस ६२४ पृष्ठ के महाकाव्यात्मक क्लासिकल उपन्यास की चित्रण-विशिष्टता है। इसके अतिरिक्त 'रात चोर और चाँद' आंचलिक उपन्यास है। 'काले कोस' (१९५७) में विभाजन की समस्या है। 'रवी पार' (१९६४) में सहज ग्रामीण जीवन है। 'एक मामूली लड़की' (१९५१), 'निशि' (१९५३), 'उजाला' (१९५४), 'औरत आबदार' (१९६२) और 'आग की कलियाँ' (१९६२) भी आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'गलियाँ' प्रसिद्ध कथाकृति है। 'नया मकान', 'पहला पत्थर', 'दीमक' और 'जग्गा' आदि कहानियों में सहज़ पंजाबी जीवन चित्रित है। अपने उपन्यास 'राका की मंजिल' (१९७१) में अफ्रीका की जूलू जाति, उसके कबीलों और आदिम जीवन को कथाकार ने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

केशवप्रसाद मिश्र (सन् १९२८)

भारतीय ग्रामीण-जीवन की उदात्त और संयमित प्रेमगाथा के सहज प्रस्तुतीकरण के लिये लेखक की कृति 'कोहबर की शर्त' (१९६५) बहुत चर्चित हुई। कथाकार ने इसमें अपने ही गाँव को (बलिहार-बलिया) को पटभूमि में रखा है और कल्पना की इन्द्रधनुषी छविलेखा जैसी ग्राममाधुरी को उत्कीर्ण किया है। कथा स्वतंत्रता पूर्व की है। गुंजा चन्दन की थी पर समाज व्यवस्था ने उसे ओंकार के पल्ले बाँध दिया और बड़े भाई के सामने मुँह न खोलने की अभिशप्त नियति को मूकभाव से चन्दन झेल लेता है। बाह्य प्रभावों से सर्वथा अप्रभावित लोककथात्मक आदर्शवादी प्रस्तुत कृति कतिपय आंचलिक विशिष्टताओं को भी चित्रित करती चलती है। 'देहरी के आरपार' (१९६७) दूसरा उपन्यास है जिसमें कथाकार आधुनिकता-बोध के स्तर पर पूर्वार्द्ध में पचीस वर्षीया कुमारी ममता की विवाह-पीड़ा और उत्तरार्द्ध में उसके पति हेमन्त की दाम्पत्य जीवनाश्रित व्यथा-कथा को प्रस्तुत करता है। हिन्दी का यह पहला उपन्यास है जिसमें अंकित नगरबोध पर ग्रामबोध छाया हुआ है। मिश्र जी के कहानी संग्रह 'समहुत' में सहज ग्राम परिवेश उभरा है। 'कोयला भई न राख' और 'तुलसी लग गई' आदि कहानियों में ग्राम-जीवन की तृप्तिकारक मिठास है।

जयसिंह (सन् १९२८)

लेखक की कृति 'कलावे' (१९६१) आदिवासी भील-कलावों के जीवन पर श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास है । इसमें न राजनीतिक प्रचार है और न सांस्कृतिक व्यामोह है । आदिवासियों के गीत-नृत्यादि को फैशन के रूप में नहीं और न ही उसे मूल कथ्य बनाकर टाँका गया है। उनके जीवन के अन्तरंग को, एक पूरे गाँव की विशुद्ध आंचलिक कथा के परिप्रेक्ष्य में सहजांकित किया गया है। वर्ग-संघर्ष से लेकर भूदान तक की स्थितियाँ इस एक पखवाड़े से भी कम समय की केवल एक ही परिवार की कहानी में आ गई हैं। इस परिवार का प्रधान पाल का मुखिया बीरजा है। उसकी जवान बेटी हमेरी, लड़का दौलता और नातिन कुंइरी है। इस परिवार की बगल में अजनबियों की खोज खबर रखने वाला बूढ़ा गमेती रहता है। उसकी झोपड़ी से लगी पपीते की झाड़वाली लड़की रहती है जो अपने देवर कचरू के साथ भाग कर आई है। थोड़ी दूर पर कानिया चमार अपनी स्त्री रातकी के साथ रहता है। यही एक पाल (गाँव) है जिसके जीवन संघर्ष को कथाकार ने अंकित किया है। जयसिंह के कहानी संग्रह 'सात स्वर एक आवाज़' और 'हज़ार फूल' भी उत्कृष्ट हैं। श्री मनमोहन मदारिया के एक प्रकाशित पत्र (कल्पना, सितम्बर सन् १९७२) से ज्ञात हुआ कि जयसिंह का उपन्यास 'कलावे' प्रथम बार 'उपन्यास' मासिक में १९५८ में प्रकाशित हुआ था। बाद में कुछ संक्षिप्त करके १९५९ में लोक चेतना प्रकाशन जबलपुर से प्रकाशित हुआ।

उमाशंकर (सन् १९२८)

'नाना फड़नवीस', 'पेशवा की कंचनी', 'कावेरी के किनारे', 'जब भारत जागा' और 'भुवन विजयम्' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रणेता उमाशंकर का 'नीर भर आये बदरा' एक आंचलिक उपन्यास है। कथाभूमि वाराणसी अंचल की है। आरंभिक प्रेम-कथा मध्य और अन्त में रूप परिवर्तन कर लेती है। मुख्य पात्र धीरज पंडित के स्वतंत्रतापूर्व क्रान्तिकारी व्यक्तित्व और स्वातंत्र्योत्तर संसद सदस्य व्यक्तित्व के अन्तर्विरोध को अंकित किया गया है। 'देश नहीं भूलेगा' कथाकार का उपन्यास भारत पर चीनी-आक्रमण से सम्बन्धित है।

शिवप्रसाद सिंह (सन् १९२९)

कथाकार शिवप्रसाद सिंह सन् १९५७ के 'साहित्यकार सम्मेलन' (प्रयाग) के अवसर पर सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। उक्त सम्मेलन में अनावश्यक होते हुए भी 'ग्रामकथा बनाम नगरकथा' जैसा विवाद नयी कहानी के सन्दर्भ में उठ खड़ा हुआ। उसमें आधुनिक बोध की आड़ में भारतीय कहानी की आत्मा पर सीधा प्रहार था। नयी कहानी का विकास ग्राम-जीवन पर आधारित कहानियों से हुआ, इस तथ्य से असहमति न होते हुए भी सम्मेलन में सम्पूर्ण ग्राम-जीवन के प्रति उपेक्षा और अवमानना की जो दृष्टि थी, उसका उचित उत्तर शिवप्रसाद सिंह ने दिया। यह एक ऐतिहासिक अवसर था जब उन्होंने ग्राम-जीवन की सापेक्षता को भरपूर शक्ति से उठाया। प्रेक्षक अनुभव करते हैं कि ग्राम-जीवन को यदि नई कहानी में ऐसे सशक्त भावुक कहानीकार द्वारा रचनात्मकता के साथ समालोचनात्मक और मंचीय समर्थन-सम्मान न मिला होता तो ग्राम-जीवन का साहित्य में (क्योंकि नयी कहानी ही आधुनिक साहित्य की केन्द्रीय-विधा हो गई है) वही हश्र होता जो आज राजनीति में हो चुका है।

अपनी कहानियों में सर्वत्र शिवप्रसाद सिंह जी परिवर्तनशील ग्राम-जीवन को ही प्रधानता देते हैं। 'इन्हें भी इन्तजार है' की भूमिका में नगरबोध की आयातित विदेशी संस्कृति के कुप्रभावों से विषण्ण नयी कहानी के संदर्भ में उन्होंने लिखा, "प्रेमचन्द की नींव पर विकसित हिन्दी-कथा-साहित्य उन झंझावातों से जरा भी विचलित नहीं हुआ जिन्होंने नयी कविता को भारतीय काया बदलने के लिये विवश कर दिया।" कथाकार का मत है कि आज हमारे नगरों के जीवन में सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष जितना तीव्र है, उतना अभी गाँवों में नहीं है। इस स्थिति में यदि उसे राजनीतिक चश्मे से देखा जायगा तो बहुत सदोष चित्र उभड़ेगा।

कथाकार शिवप्रसाद सिंह में आधुनिकता का पूर्ण निखार उनके वृहदाकार उपन्यास 'अलग अलग वैतरणी' (१९६७) में दृष्टिगोचर होता है जहाँ पृष्ठभूमि में अंकित ग्राम करैता आधुनिक भारत का जीवन्त प्रतिरूप हो जाता है। प्रस्तुत कृति ग्रामात्मा की खोज है। इसीलिए व्यक्ति विशेष की कहानी न होकर सम्पूर्ण गाँव अर्थात् लगभग दो दर्जन ग्रामीण-परिवारों की कहानी

अत्यन्त संशिलष्ट रूप में बुनी हुई है। स्वातंत्र्योत्तर नये गाँवों की नयी आकृतियाँ, विशेषकर जमींदारी-उन्मूलन के बाद की विकृतियों से संदर्भित, जो उभरी तो सर्वत्र एक ओर सुरजूसिंह जैसे लोगों की और दूसरी ओर मीरपुर के बाबू वंशी जैसे लोगों की पार्टियाँ प्रकाश में आईं तथा नये-नये सामाजिक-राजनीतिक मुखौटों में गुंडागर्दी अपना विस्तार करने लगी। कथाकार इस वर्तमान यथार्थ वास्तव-भाव को अंकित करता है। वह कहानियों के इस कथा-जाल में एक केन्द्रीय कथा रखता है जमींदार-पुत्र विपिन की जो नगर की पढ़ाई समाप्त कर गाँव में आया है तथा उसके भीतर गाँव को एक सुगढ़ स्वरूप प्रदान करने के सपने हैं। उसके सहयोगी हैं डाक्टर देवनाथ और मास्टर शशिकान्त।

परन्तु उपन्यास का न्यस्त परिवेश इतना भीषण है कि वह इन अच्छे-भले लोगों को धकिया कर फेंक देता है। शेष रह जाती है गाँव में अन्तहीन नारकीय घुटन, विषाक्त स्वार्थपरता और सड़ी नैतिकता। इन सबको लेकर गाँव टूट रहा है। मन पर एक आतंक छा जाता है। गाँव ऐसे हो गये हैं कि 'यहाँ रहते हैं वे जो यहाँ रहना नहीं चाहते पर कहीं जा नहीं सकते। यहाँ से जाते अब वे हैं जो यहाँ रहना चाहते हैं पर रह नहीं सकते।' (जगन मिसिर)। विपिन का गाँव छोड़कर नगर में चला जाना गाँव का अन्त है। जाते-जाते विपिन एक सवाल छोड़ जाता है कि 'फिर गाँव का क्या होगा ?' और इसी अनुत्तरित प्रश्न के सामने खड़ी है नयी पीढ़ी जिसे इसका उत्तर देना है।

'अलग-अलग वैतरणी' में ग्राम-संस्कृति का नया रूप बहुत स्पष्टता से अंकित हुआ है और वह निखार पाता है बाबुओं के गाँव से लगी चमटोल में। जहाँ तल के लोग सामाजिक-नैतिक जीवन के संघर्ष-संक्रमण को जी रहे हैं। कथाकार बहुत तटस्थता के साथ इस अस्पर्श्य-क्षेत्र का स्पर्श करता है। उसमें पीड़ा-बोध है। गाँव की पटनहिया भाभी, कनिया और पुष्पा की पीड़ा भी कम हृदयद्रावक नहीं है। गाँव छोड़ने की विवशताजन्य पीड़ा खलील में आधुनिकता के गहरे विक्षोभ कारक स्तर पर चित्रित है। जैपाल सिंह के अभिजात जमींदार रूप से लेकर 'फसल मेंट पाल्टी' तक का और प्रजातांत्रिक प्रयोग-विकृति से लेकर शिक्षा-जगत् की विद्रूपताओं तक का अत्यन्त कुशल आलेखन इस उपन्यास में शिवप्रसाद सिंह ने किया है। विषय-वस्तु के साथ ही शैली-शिल्प की आधुनिकता उपन्यास को कथा-साहित्य में एक नये मोड़ की सीमा

के रूप में प्रस्तुत करती है।

शिवप्रसाद सिंह का पहला कहानी संग्रह 'आरपार की माला' (१९५५) उत्तर-जमींदार-युग को रूपायित करता है। इसी संग्रह में प्रसिद्ध कहानी 'दादी माँ' संकलित है जिससे 'नयी कहानी' का आरम्भ माना जाता है। यह गाँधी-वाद और आदर्शवादी प्रभाव से अमुक्त, अमोहभंग की स्थिति का काल है। आधुनिकता अभी सुगबुगा रही है। 'बरगद का पेड़' को छोड़कर शेष सभी कहानियाँ आंचलिकता की प्रवृत्ति से मुक्त है। 'एक मिनट' रुक कर कथाकार सोचने को विवश है कि 'वह जिस ग्राम-जीवन को उठाता है, वहाँ ज़िन्दगी रोती ही नहीं, मुसकराती भी है' और सच तो यह है कि यही उसके कथाकार की विशिष्ट प्रकृति है। कुछ समीक्षक उनके इस आस्थावाद को आधुनिक भाव-बोध का विरोधी मानते हैं, परन्तु इससे ग्रामीण-जीवनांकन में जो प्रामाणिकता आती है, वह उनकी एक अतिरिक्त उपलब्धि है।

दूसरा कहानी-संग्रह 'कर्मनाशा की हार' (१९५८) में नया सौन्दर्यबोध, नयी मानवीय संवेदनायें और ग्राम-जीवन के नये कोण उभरे हैं। दलितोन्मेष और लघुमानवोत्थान की पताका ऊँचाई पर फहरा रही है। लेखक समाज के अदेख, अस्वस्थ और उपेक्षित अंग को कला की कलम से छूकर पनपना देता है। मुसहर, विन्दा महराज, हिजड़ा, गुलाबो मजूरिन, बशीर सँपेरा, टीमल कुम्हार आदि जिन्दा पात्र उछल कर ऊपर आ जाते हैं। राष्ट्रीय जीवन में यह ऐतिहासिक अवसर है जब मोहभंग की स्थितियाँ उभरने लगी थीं। वे दीन-हीन और दलित लोग जो स्वराज्य के साथ अत्यधिक आशावान हो उठे थे, हताश होकर टूटने लगे। मोटे और मोटे होते गये और दुबलों की 'इन्तज़ार' कथाकार की विक्षुब्ध संवेदना पाकर भास्वर हो उठी। कथा समाजोन्मुखी मुद्रा परित्याग कर व्यक्तिवादी हो उठी। व्यक्ति का आहत अहं अपने निजत्व में सिकुड़ने लगा। आधुनिकता यहाँ अमुखर आन्तरिक विक्षोभ-विद्रोह की स्थिति का आन्तरिक स्तर पर ही दस्तावेज बनकर प्रस्तुत है और लगभग यही स्थिति कथाकार के तीसरे कथासंग्रह 'इन्हें भी इन्तजार है' (१९६१) में है। आधुनि-कता बोध का सम्यक् विस्फोट हुआ चौथे कहानी संग्रह 'मुरदा सराय' (१९६६) में। इसमें विक्षोभ, तीखापन, तनाव और कड़वाहट चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इस संग्रह की शीर्षक-कथा में केन्द्रीय तत्व संत्रास है। इसमें जीवन-बोध बनाम मृत्यु-बोध संवेदित है। इस कहानी में जीवन का प्रतीक घर है और मृत्यु

का प्रतीक श्मशान है। 'मुरदा सराय' दोनों के बीच में है। जहाँ वीभत्स-भयानक की सृष्टि के साथ संवेदनीय सूक्ष्म शृङ्गार-स्थिति का सामंजस्य कथाकार की एक अतिरिक्त उपलब्धि है।

राजेन्द्र अवस्थी (सन् १९३०)

आदिवासी क्षेत्रों के जीवन को आंचलिकता के स्तर पर उपन्यस्त करने वाले कथाकारों में राजेन्द्र अवस्थी का विशिष्ट स्थान है। 'सूरज किरन की छाँव' (१९५९) में कालपी-चित्रकूट के पार्श्ववर्ती आदिवासी क्षेत्र में प्रसारशील क्रिश्चियानिटी की टकराहट में आदिवासियों का जीवन-संघर्ष बंजारी और विलियम के रोमांस संदर्भों में अंकित है। मिशनरियों के आन्तरिक खोखलेपन को कुशलता के साथ प्रकाशित किया गया है। द्वितीय आम-चुनाव के प्रसंग और नेहरू-प्रचार भी इसी क्रम में नियोजित हो जाते हैं। 'जंगल के फूल' (१९६०) में मध्यप्रदेश के बस्तर आदिवासी क्षेत्र के जीवन-संघर्ष का समग्र रूपेण सर्वेक्षण हुआ है। जंगली कुंवारे प्रेमी-प्रेमिकाओं की एकान्तपरिषद 'घोटुल' के सांस्कृतिक पक्ष को कथाकार ने प्रथम बार विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। स्वाधीनता आन्दोलन में अपने ढंग से ये आदिवासी भी योगदान करते हैं और नयी आशावादिता का उन्मेष उनमें निखार पर होता है। सुलक और महुआ की यह प्रेम कहानी आंचलिक उपन्यासों के क्रम में नयी दीप्ति के साथ प्रतिष्ठित हुई है। 'महुआ आम के जंगल' भी श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास है। 'जाने कितनी आँखें' (१९६९) में बुन्देलखण्ड का जनजीवन अंकित है। सुवेगा और कमलापति की यह कहानी द्वितीय महायुद्ध काल की है। पराधीनता काल की परम्परागत पुरातनता का अवसान बदरीप्रसाद और प्यासन दीदी के साथ हो जाता है। प्राचीन जड़मूल्यों, जातिवाद, नैतिकता और समाज-नियंत्रण आदि में कसी सुवेगा की पीड़ा को कथाकार ने केन्द्र में रखा है तथा सामाजिक-राजनैतिक संघर्षों को इस प्रकार एकान्वित किया है कि अन्त की नोक पर नवागत स्वतंत्रता के संदेशवाहक की तरह सुवेगा का कांग्रेसकर्मी पिता सुखलाल कारामुक्त हो जाता है। 'गंगा की लहरें' (१९६३) और 'एक प्यास पहेली' में रूढ़ संस्कारों से मुक्त होने के लिए उदग्र ग्रामीण-चेतना को अंकित किया गया है और नव-परिवर्तित गाँवों के हृदय की धड़कन एवम् नवजागरण की अंगड़ाई का चित्रण है। पुस्तक-शीर्षक वाली कहानी जंगली बेगा जाति के जीवन पर

आधारित है । कुछ कहानियों में 'अवकाश में देखे गये गाँव' की मुद्रा उभरी है। स्वातंत्र्योत्तर गाँवों की प्रामाणिक परख 'बे बात की बात' और 'मैली धरती के उजले हाथ' में प्रस्तुत की गई है । उपन्यासों की ही भाँति कहानियों में भी अवस्थी जी ने अविकसित आदिवासी क्षेत्रों के अंचल-छोर को छोड़ा नहीं है । उनके अकृत्रिम जीवन के सहज-आदिम प्रेम को कथाकार मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करने में सफल होता है ।

मन्नू भंडारी (सन् १९३०)

कथा-लेखिका ने यद्यपि अपनी कृतियों में नगर-जीवन को प्रतिष्ठित किया है तथापि कतिपय लोकधर्मी कहानियों में सहज-साधु जीवन का अन्तर मर्म मानवीय स्तर पर इस भावात्मकता के साथ अभिव्यक्त हुआ है कि उसकी परख से ग्राम-मन की ईकाई पारिभाषित की जा सकती है । 'यही सच है' (१९६६) एक ऐसा ही कहानी-संग्रह है । इसकी तीन कहानियों 'सजा', 'रानी माँ का चबूतरा' और 'नशा' में तलवर्ती लोक-मानस का निखार तथा लोक-कथाधर्मिता निहित है । 'सजा' में बाल-जीवन के संदर्भ में न्यायव्यवस्था पर मार्मिक व्यंग्य है और शेष दो में सर्वस्व वंचिता श्रमिक नारीवर्ग के अन्तस्तल में संचित अशेष आत्मत्याग-भाव और उदात्त मानवता का चित्रण है ।

शैलेश मटियानी (सन् १९३१)

शैलेश मटियानी में अनाविल आंचलिक-वृत्ति अपने मौलिक निजत्व के साथ मिलती है । उन्होंने आधुनिकता रहित-पार्वतीय-आंचलिकता को देशकाल निरपेक्ष सनातन रागबोध के स्तर पर रूपायित किया है । कूर्मांचल की पार्वतीय निसर्ग-शोभा और वहाँ के पहाड़ी ग्राम-निवासियों की सहज मानस-छवि, उनके सुख-दुखों के आदिम भावचित्र सब एक विशेष मुद्रा में उत्टंकित किये गये हैं । मटियानी के साहित्यिक कृतित्व के दो ध्रुवान्त—कूर्मांचल और बम्बई—में से गहरी आन्तरिकता और संवेदनीयता के साथ अमिट संस्कारित अनुभूतियों का जो अक्षय कोष अल्मोड़ा और कूर्मांचल से जुड़ा उपलब्ध होता है वह बम्बई में दुर्लभ है । इसीलिए मटियानी की आंचलिक कृतियाँ ही मूल्यांकन की उपलब्धि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती हैं । 'चिट्ठी रसैन' (१९६१) में पनार नदी के किनारे एक गाँव है ऊडलगों जहाँ आनसिंह की विवाहिता रमौती

स्थितियों-वश पीताम्बर चिट्ठी रसैन से कलंकित होकर जलसमाधि लेने का प्रयास करती है तथा नाथूसिंह हौलदार के द्वारा बचा लिये जाने पर भी उसे आजीवन नारी की अभिशप्त नियति की पीड़ा में रिसते रहना पड़ता है। 'चौथी मुट्ठी' (१९६१) में अल्मोड़ा का पार्वतीय अंचल आधारित है। कौंसिला और मोतिया की कहानियाँ नारी पर होने वाले लोमहर्षक अत्याचारों से जुड़ी हैं। भूमिका में कथाकार उपन्यासों में नारी-पात्रों के चयन में आई साहित्यिक दलाल-धर्मिता की विगर्हणीय वृत्ति के प्रति क्षोभ व्यक्त करता है। 'हौलदार' (१९६१) अल्मोड़ा की आंचलिक पृष्ठभूमि में लिखा मटियानी का पहला उपन्यास है जिसमें वहाँ के जन-जीवन के सामाजिक-आर्थिक पहलुओं के गहन स्पर्श से रहित आंचलिक शिल्प के प्रस्तुतीकरण पर ही विशेष आग्रह लक्षित होता है। इस उपन्यास में धौलछीना गाँव के सृष्ट चालीसेक नर-नारियों ने मिलकर कथाकार के मानस में जिस पटभूमि का विस्तार किया है वह सुसम्बद्ध होकर भी अन्यान्य आंचलिक उपन्यासों की भाँति असम्बद्ध है। मुख्य कथा डूंगरसिंह हौलदार की है और आरंभ में औपन्यासिक रेखांकन की भाँति आगे बढ़ती है परन्तु उत्तरार्ध में कथा बिखर कर एक व्यक्ति की नहीं, पूरे गाँव की कथा हो जाती है। सेवा से अवकाश प्राप्त अपंग अविवाहित सैनिक डूंगरसिंह में हीनत्व ग्रन्थि एक विशेष स्तर पर है और वह आजीवन अपनी खिमुली-भिमुली भौजियों के आतंक को ढोता रहता है। नरुली का असफल प्रेम अनेक संदर्भों में अकेलेपन और व्यर्थता की तीव्र अनुभूति बन कर उसे विगलित करता रहता है। कथाकार डूंगरसिंह की आन्तरिक प्रेम-पर्तों को कला की कलम से उघाड़ने में सफल होता है। 'मुख सरोवर के हंस' (१९६२) कुमाऊँ प्रदेश की प्रख्यात लोककथा 'अजित बफौल' के ऊपर यह उपन्यास आधारित है। चम्पावत के बफौल-वंशी शूरों की गाथायें तथा उनके उत्तराधिकारी मल्लों के रोमांचक युद्ध चित्रण इसकी विशेषता हैं। लोकगाथा (वीरगाथा) की परम्परा लेखक की वंश-परम्परा से सम्बद्ध होने के कारण कथागत आंतरिकता में सघनता और आत्मीयता आ गई है। कुमाऊँ की राजधानी गढ़ी चम्पावत नगरी की अन्तिम रूप गर्विता रानी रूपाली राजा कालीचन्द के रहते बफौलों पर आसक्त होकर कामातुरा समर्पिता जैसी उनके महल में गई और जब माँ की बोली बोलकर उसका स्वागत किया तो उसका आहत अहं उनके सर्वनाश के लिए फुफकार उठा। 'एक मूठ सरसों' (१९६२) की नायिका देवकी अपनी

माँ रेवती की ही भाँति अवैध गर्भ की कलंक-पीड़ा झेलती भटकती है और उसकी देह-दुर्गति लोककथाओं के स्थानीय रंग के बीच पाठकों को करुणार्द्र करती चलती है। 'मेरी तैंतीस कहानियाँ' (१९६१) शीर्षक मटियानी के कथासंग्रह में कूर्माचल के 'वन-फूलते बुरुंश-फूलों, खेत फूलती सरसों और पनार लौटती लहरों' का चित्रण है। पुस्तक की लम्बी भूमिका में दिल्ली, प्रयाग और बम्बई में खाक छानते अपने रोमांचक जीवन-संघर्ष को कथाकार ने प्रस्तुत किया है। बम्बई में जूठन बटोरने से लेकर प्रयाग के एक जलपान गृह में 'प्लेट धोने' के सेवा संदर्भों को लेकर मटियानी जी गरीबी के सीधे साक्षात्कार के प्रतीक हैं परन्तु उनके आंचलिक उपन्यासों का क्लासिकल रूप देखते इस दारिद्रच-संकट का अनुमान नहीं हो सकता है। प्रस्तुत संग्रह की कहानियों पर आंचलिक रंग बहुत गाढ़ा है। 'चिथड़े' में नगराकर्षण का चित्रण है। गाँव परित्याग कर लोग शहरों की ओर भाग रहे हैं। प्रायः सभी कहानियाँ सपाट और प्राचीन मूल्यों से आक्रान्त हैं। रामलीला और पोस्टमैन का चित्रण कथाकार समस्त कथा-साहित्य में मनोयोग से करता है। 'सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ' (१९६६) में लगभग समस्त कहानियाँ ग्रामाधारित हैं और सांस्कृतिक स्तर पर हैं। लोककथात्मकता और पौराणिकता की छौंक भी मिलती चलती है। 'वापसी' जैसी एकाध कहानियों में समसामयिक स्वातन्त्र्योत्तर विकास की आहट मिलती है। 'कालाकौआ' पार्वतीय ग्रामांचल की मनःछवि का रागात्मक आलेखन है और यही मटियानी की मूल कथा-वृत्ति है। 'दो दुखों का एक सुख' नामक संग्रह की आठ कहानियों में ग्रामजीवन है। 'दो दुखों का एक सुख' कहानी में एक दुख है कोढ़ी करमिया और दूसरा दुख है सूरदास तथा दोनों का एक सुख है मिरदुला कानी। मटियानी ने उपेक्षितों में 'जीवन' देखा है और मानवीय स्तर पर उसे अंकित किया है। मटियानी की कहानियों में रामलीला, पोस्टमैन, पर्वत छवि, भाभी रोमांस, भूतप्रेत आदि के साथ लँगड़े-लूले और उपेक्षित मानवों की प्रतिष्ठा अत्यंत सहज रूप में होती चलती है।

कमलेश्वर (सन् १९३२)

'राजा निरबंसिया' (१९५७) और 'कस्बे का आदमी' (१९५७) दोनों कहानी संग्रहों में कमलेश्वर यद्यपि मैनपुरी की धूलधक्कड़ भरी जिन्दगी को जी

रहे हैं तथापि इनकी कुछ कहानियों में ग्राम-मन के अन्तःसौन्दर्य का मार्मिक उद्घाटन है। 'देवा की माँ' एक ऐसी ही कहानी है। माँ-बेटे की इस व्यथा-भोगी कथा में तरल भावात्मकता है। 'पानी की तसवीर' और 'नौकरी पेशा' जैसी कहानियों में भी ग्राम-रस का निखार है। कमलेश्वर के दूसरे संग्रह 'खोई हुई दिशायें' (१९६३) में महानगर क्षेत्र है और इसी का निखार 'मांस का दरिया' (१९६८) में भी है, परन्तु इस संग्रह की एक प्रसिद्ध कहानी 'नीली झील' में कमलेश्वर ग्रामांचल-वृत्तिक राग-चित्र प्रस्तुत करते हैं। महेसा एक प्रामाणिक ग्रामीण व्यक्तित्व है। पार्वती-पड़ाइन से उसका प्रेम-विवाह भी विशुद्ध ग्राम-स्तरीय व्यापार है। समग्र रूप से इस कहानी में निर्माण के प्रति उपरति व्यंजित की गई है।

मार्कण्डेय (सन् १९३२)

मार्कण्डेय ने अपनी कहानियों के द्वारा ग्राम-जीवन के संघर्ष को नयी दीप्ति दी। उनमें परिवर्तित जीवन-स्थितियों की सूक्ष्म-पकड़ है। अपनी धरती की पहचान, भावात्मकता की प्रतिष्ठा और विसंगतियों के प्रति व्यंग्य उनकी कहानी के केन्द्र में हैं। सहजता उनका सर्वोपरि व्यक्तित्व है जो 'माही' को छोड़कर अन्य समस्त कृतियों में निहित है। कृषक-संस्कृति की मौलिकता और कृषि-क्षेत्रों की संघर्षरत मानवता का अन्तरंग अत्यन्त प्रभावकर ढंग से उनकी कहानियों में खुला है। नयी कहानी के आन्दोलन को मार्कण्डेय ने सृजनात्मक स्तर पर प्रशस्त किया। नये मूल्यों की स्थापना, नयी परम्परा का प्रत्यावर्तन और नये क्षितिज का उद्घाटन उनके कथाकार व्यक्तित्व के साथ गुँथा है। 'पानफूल' (१९५४) पहला कहानी-संग्रह है। पारिवारिक रेखाचित्रांकन वृत्ति मुख्यतः लक्षित होती है। अधिकांश कहानियाँ पटवारी युग की हैं और देश-काल निरपेक्ष सनातन ग्राम-राग से ओत-प्रोत हैं। 'सरवइया' के बैल और 'पानफूल' की कुतिया से लेकर 'गुलरा के बाबा', 'मुंशी जी' और 'सात बच्चों की माँ' आदि चित्र सनातनता और नवीनता के धूपछाँही आयाम को उजागर करते हैं। मार्कण्डेय का दूसरा कहानी संग्रह 'महुए का पेड़' (१९५५) है जिसमें अधिकांश कहानियाँ स्वतंत्रता पूर्व की हैं और गांधीवाद से प्रभावित हैं। इस संग्रह की अन्तिम रचना 'अगली कहानी' में कथाकार ने भविष्य की कहानी की ओर संकेत किया है और जीवन से सजग-सम्पर्क की माँग की है। संक्रमण-

कालीन मनःस्थिति का अंकन इसकी विशिष्टता है। 'हंसा जाइ अकेला' (१९५७) में कहानीपन की पूर्ण सुरक्षा के अन्तर्गत स्वातंत्र्योत्तर प्रथम-दशक की उभरती निराशाजनक स्थितियों के प्रति गंभीर विक्षोभ की अभिव्यक्ति है। भ्रष्टाचार, शोषण और असुरक्षा की गहनता मोहभंग की स्थिति तक पहुँच जाती है। जमींदारी टूट जाने पर भी जमींदार दीन-हीन जनों को उदरस्थ कर रहे हैं। स्वतंत्रता संग्राम का ग्रामीण-सेनानी अकेलेपन की अनुभूति में टूट रहा है। योजना-विकास के राज-रथ का समृद्ध जन स्वागत कर रहे हैं और गरीब उसके चक्रों में पिस रहे हैं। इन स्थितियों की बहुत सशक्त अभिव्यक्ति प्रस्तुत कृति में है। इसी परिवर्तित परिवेश का चित्रण 'भूदान' (१९५८) में है। नये योजना-विकास और भूमिसुधार आदि में सबसे बाधक भूतपूर्व जमींदार हैं जो अपनी सुदृढ़ स्थिति का लाभ उठाकर नये-नये दांव-पेंच खेलते हैं और समूचा विकास भ्रष्टाचार की परिभाषा बन जाता है। इस संग्रह में 'माई' जैसी कुछ कहानियाँ देशकाल निरपेक्ष स्थायी मूल्य की हैं। 'माही' (१९६२) जिसका एक विशेष संस्करण 'तारों का गुच्छा' (१९६२) नाम से प्रकाशित हुआ, कथाकार मार्कण्डेय का एक असफल प्रयोग रहा। इसमें ग्राम-कथाकार आधुनिक नगर-बोध और सेक्स पीड़ा को अंकित करने में प्रवृत्त हुआ है। इस संग्रह की समूची कहानियाँ नगर जीवन से सम्बद्ध हैं और विषयवस्तु के साथ शिल्प-दृष्टि में भी वह नवीनता उभरी है जिसमें सुपरिचित मार्कण्डेय की पहचान खो जाती है। किन्तु छठवें कथा-संग्रह 'सहज और शुभ' (१९६४) में पुनः वे गाँवों की ओर प्रत्यावर्तित होते हैं। संभवतः सृजनात्मक स्तर पर नगर को जीने के बाद शीघ्र ही यह बोध हो गया कि जो कुछ 'सहज और शुभ' है वह ग्राम-जीवन में है। इस संग्रह की कहानियों में तटस्थ द्रष्टा की निर्वैयक्तिकता है। आधुनिकता का प्रभाव पूर्व प्रकाशित सभी कृतियों से अधिक इस पर है। 'पान फूल' से लेकर 'भूदान' तक की स्पष्टधर्मी विधा इसमें गहरे अन्तरंग में घुसकर गहन सांकेतिक हो उठी है। विकास का खोखलापन व्यंग्य के स्तर पर अंकित है। लघुमानवोत्थान-वृत्ति ने चमार, हलवाह, बनिया, श्रमजीवी और पुरवाह आदि के गहमागह चित्रों के अन्तर्गत नया मोड़ लिया है। परन्तु इन कहानियों को देखते आरंभिक वंक्तव्य की 'दिशा दृष्टि' जिसमें उन्होंने अपनी रचना प्रक्रिया को व्याख्यायित किया है अर्थहीन लगती है। मार्कण्डेय जैसे ग्रामकथानकों के अस्तित्व-समर्थक

अधिवक्ता ने इसमें कहीं उसका नामोल्लेख तक नहीं किया। यह रचनाप्रक्रिया 'माही' के संदर्भ में उपयुक्त प्रतीत होती है। इसमें उन्होंने लिखा कि 'कुल मिलाकर हम आज वहाँ खड़े हैं जहाँ देश कभी नहीं था और शायद हमारे ऊपर ऐसी जिम्मेवारियाँ हैं जैसी भारतीय-लेखक पर कभी नहीं थीं।' इस वक्तव्य के अनुरूप 'एक काला दायरा' शीर्षक कहानी में प्रजातांत्रिक मूल्यों की सुरक्षा-समस्या को व्यंग्य के स्तर पर कथाकार ने बहुत कुशलता के साथ संदर्भित किया है। 'पलाश के फूल' कथाकार का एक मात्र उपन्यास है जो लोक-जीवन से सम्बद्ध होकर भी मूलतः प्रेम-कथा है।

सुरेन्द्रपाल (सन् १९३२)

कथाकार की कृति 'लोकलाज खोई' (१९६३) में जैनाथपुर गाँव की हवलदारिन भौजी का औपन्यासिक रेखांकन है जिसकी पायल की झमझमाक से पूरा उपन्यास गुंजित है। गाँव के मनोरंजक नर-नारी, ग्रामसेवक और बी० डी० ओ०, चमटोल का रोमांस, कागजी विकास और आत्माभिमान की गिरावट आदि समस्त बिखरे संदर्भों की अन्तर्सूत्रता भौजी में निहित होकर उपन्यास को नये ग्राम-जीवन की जीवन्त चित्रशाला बना देती है।

शानी (सन् १९३३)

मध्यप्रदेश के आदिवासी-अविकसित बस्तर क्षेत्र के जन-जीवन को अपनी कथा-कृतियों में शानी ने अंकित किया है। 'कस्तूरी' (१९६०) कथाकार का उपन्यास है। कस्तूरी सड़क के किनारे पर एक छोटा सा गाँव, पार्श्व में चाय की दूकान, जिसपर युवती डोली और उसकी अधेड़ धान माँ, ट्रक-ड्राइवरों की खुसुर-पुसुर, भीड़-भाड़, गाँव में उठती बदनामी, शराब-अफीम के तस्कर-व्यापार और इसी परिप्रेक्ष्य में उभरता है पूरा गाँव। अन्त में जब डोली कहीं उड़ जाती है तो अकेली पड़ी उसकी धान माँ भी रोग-शैय्या पर पड़े अपने प्रेमी के घर चली जाती है। आदिवासियों के विकास-क्रम में नागरिक-सम्पर्क के प्रभावों को कथाकार ने सूक्ष्मता से अंकित किया है। 'बबूल की छाँव' (१९५८) शानी का कहानी संग्रह है। इसमें आदिवासी धरती की खोज है। साथ ही मुसलिम-परिवारों की अन्तरंग परिचय-विशिष्टता भी निहित है। कहानियों का भोक्ता-द्रष्टा मध्यवर्गीय श्रावपिता क्षेत्रीय प्रकृति का बाह्य सौन्दर्याङ्कन तो

करता है परन्तु कहानियों में आदिवासियों की अन्तरंग-सुषमा नहीं चित्रित हो पाई है। 'शेफाली' में नागरिक-रोमांस है और 'बबूल की छाँव' में गँवारों के प्रति उपेक्षा-अनादर-भाव ही ऊपर उछल आया है। लगता है शानी गाँव में जाकर भी गाँव से बहुत दूर हैं। दूसरे कथा-संग्रह 'डाली नहीं फूलती' (१९५९) की भूमिका में आदिम जातीय-जीवन के चित्रण की शोभाचारिता वृत्ति की चर्चा करते हुए कथाकार इस 'दलित, शोषित और सर्वहारावर्ग को बौद्धिक सहानुभूति' प्रदान करने की मुद्रा का प्रकाशन करता है परन्तु इस संग्रह की चौदह कहानियों में से केवल दो में ही ग्राम-जीवन आंशिक रूप से आया है। ये कहानियाँ उस अंचल में राजकीय-सेवा-रत खाते-पीते सुखी व्यक्तियों द्वारा देखे वहाँ के ग्रामीण-जीवन की हैं। अथवा भ्रमणशील या शोधकर्त्ताओं के वैचित्र्य-विह्वल निरीक्षण की हैं। शेष नगर या कस्बे के मुस्लिम परिवारों की रोमान-गंध-घुटी रुग्ण स्थितियों की कहानियाँ हैं। 'छोटे घेरे का विद्रोह' (१९६४) की दर्जनेक कहानियों में प्रायः सभी नगर से सम्बन्धित हैं परन्तु किसी न किसी स्तर पर कथाकार उन्हें बस्तर के आदिवासी ग्रामांचल से जोड़े रखता है। स्वराज्य के बाद ५८-५९ तक शानी स्वतंत्रता के उत्साह से अपने अविकसित अंचल को आत्मान्वेषण की दिशा देते रहे और साठ के बाद ग्राम-कथानकों के ह्रास का प्रभाव उनपर भी पड़ा। इस संग्रह की शीर्षक-कथा मूल्य और स्थितियों के तीव्र बदलाव के टक्कर में टूटते संस्कारी मन की नगर-कथा हैं। 'वीराने' और 'वर्षा की प्रतीक्षा' में बस्तर-क्षेत्र की विशिष्ट आंचलिकता चित्रित है। पहली में वहाँ की उदासी और दरिद्रता के प्रति गलदश्रु भावुक-वृत्ति और दूसरी में 'घोटुल-संस्कृति' के परिप्रेक्ष्य में उभरी आदिवासियों की उल्लसित मुक्त-मनता अंकित हुई है।

मधुकर गंगाधर (१९३४)

मधुकर गंगाधर ने ग्राम-कथानक और आंचलिकता को नयी समृद्धि और अर्थवत्ता दी है। अछूती भूमियों के स्पर्श के साथ उन्होंने बदलते लोकमानस का चित्रण किया है। प्रेमचन्द और रेणु के बीच की एक सशक्त कड़ी के रूप में कथाकार गृहीत है। 'मोतियों वाले हाथ' (१९६३) पहला उपन्यास है जिसमें पटना नगर के पार्श्ववर्ती जसवन्तनगर कालोनी के निर्माणकाल का चित्रण पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों के सन्दर्भ में किया गया है जो रेणु के नोबी-

नगर कालोनी से सर्वथा भिन्न है। विस्थापितों की इस कालोनी में स्थापित लोग ही आत्म-विस्तार-रत हैं। प्रसारगामी नगरों में ग्रामांचल समा जाते हैं। ऊजड़-बंजर विलुप्त होकर क्लब-फ्लेट्स आदि में रूपान्तरित हो जाते हैं। इस मिडिल-क्लास कालोनी के एक फ्लैट में निवसित एक भद्र बंगाली-परिवार के परिप्रेक्ष्य में कथाकार सत्यान्वेषण का संकल्प बारम्बार दुहराता है और जयन्त कथाकार की डायरी के रूप में उपन्यास को प्रस्तुत करता है। 'फिर से कहो' (१९६४) दूसरा उपन्यास है जिसमें सोनारी गाँव के हलवाहा एतवारी का चित्रण है। अपने स्वामी रघुवीर सिंह का काम बजाते युवा-वृद्ध एतवारी जो गिरता है तो फिर उठता नहीं है। 'गोदान' का होरी, 'बबूल' का महेसवा और 'फिर से कहो' का एतवारी तीनों क्षयिष्णु कृषि-संस्कृति के शोषित प्रतीक खेत पर कर्म-रत बलि हो जाते हैं। होरी स्वराज्य से पूर्व गिरा था और एतवारी स्वराज्य के बाद गिरा है। स्वराज्य से स्थितियों का परिवर्तन मात्र बाह्य संज्ञाओं का परिवर्तन है। यही उपन्यास का व्यंग्य है। उत्तर बिहार के सामाजिक जीवन की एकमात्र समस्या कृषि समस्या और उसके रूढ़िग्रस्त जर्जर स्वरूप को उपन्यास में चित्रित किया गया है। 'यही सच है' (१९६५) तीसरा उपन्यास नगर-जीवन पर आधारित है। लघु उपन्यास 'सुबह होने तक' (१९६९) सर्वप्रथम 'कल्पना' मई १९६९ में प्रकाशित हुआ। आदि से अन्त तक लोकगीत की स्पिरिट से बुनी यह एक देशकाल-निरपेक्ष रचना है जिसमें कोसी की बाढ़ का लोमहर्षक चित्र और उस भीषण जल-प्लावन के बीच जन-जीवन की करुण-मधुर झलकियाँ अंकित हैं। प्राचीन सनातन मूल्यों को पुरस्कृत और स्थापित किये जाने के आयाम उभरे हैं। मुख्य कथा लछिमी और पीताम्बर के प्रेम की है मगर गनेसी फीलवान के अन्तस्तल में निहित पितृ-प्रेम अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। असीम जल-राशि पर उत्थित कोमल कमल की भाँति कोमल कहानी, साहस, बलिदान, रोमांस, विनाश और बीहड़ जीवन के पार्श्वों को छूती हुई, मधुकर गंगाधर ने 'सुबह होने तक' के रूप में प्रस्तुत की। 'हिरना की आँखें' (१९६१) कहानी-संग्रह है जिसमें कथाकार ने 'शिल्प की आयात-वर्दी' से भिन्नत्व की घोषणा की है। अधिकांश कहानियों में ग्राम-बोध और नगर-बोध की टक्कर है। शीर्षक-कथा सशक्त रचना है जिसमें प्रेम, विवाह, जासूसी, रहस्य-रोमांच, सर्व का तूफान, नारी मन की दुर्बलता, लोक-कथा, मध्ययुगीन रोमानी मूल्य और सर्वोदयी रहस्योद्‌घाटन आदि के साथ ग्राम-गाथा में उलझी संत्रास-

मृत्युबोध आदि की प्रवृत्तियाँ आधुनिक सांकेतिकता के बीच चित्रित हुई हैं। 'गर्म गोश्त : बर्फीली तासीर' (१६६८) संग्रह की अधिकांश रचनाओं में समकालीन-प्रवृत्तियों का उभार रचनात्मक स्तर पर दृष्टिगोचर होता है। 'केंचुल और गंध' नामक कहानी में केंचुल स्वातंत्र्योत्तर बाह्य बदलाव है और गंध भ्रष्टाचार है। भूदान और सर्वोदयी नेताओं पर कथाकार ने करारी चोट की है। 'घाव' में एक ग्रामसेवक का उपद्रव है। 'संकटग्रस्त' में चुनाव-संदर्भ में गाँव की राजनीति का चित्रण है और 'गूँज' ग्राम-जीवन पर आधारित एक ऐसी रचना है जिसमें संत्रास के बीच कामपीड़ा अनखुली, सूक्ष्म, मर्यादित और चेतना-स्तर पर अंकित हुई है। कथाकार आधुनिकता बोध की सूक्ष्म-सांकेतिकता को दुर्बोधता और उलझाव रहित भाषा में प्रयुक्त करता है और अर्थयुग के नये यंत्रगतिक जीवन की जिजीविषा को नये ग्रामीण मुहावरों में सहजता से अभिव्यक्त कर देता है। स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग और सामूहिक हताशा का सर्वाङ्ग चित्र कथाकार ने अपनी कृति 'उत्तरकथा' में प्रस्तुत किया है।

शेखर जोशी (सन् १९३४)

कथाकार की कृति 'कोसी का घटवार' (१६५८) हिन्दी कथा को अभिव्यक्ति की नयी दिशा देता है। ग्राम-कथा को देखते औद्योगिक-संस्थानों के प्रति कथाकारों की उपेक्षा लेखक को खलती है और वह इस अभाव की संकल्पित पूर्ति की दिशा में 'कोसी का घटवार' लेकर दो डग आगे बढ़ता है। उसकी दस कहानियोंमें चार कहानियाँ ग्राम-भूमि पर हैं। शेष में वर्कशाप, दफ्तर और कारखानों की चहल-पहल के बीच जीवन-संघर्ष के नये आयाम आन्तरिक स्तर पर उद्घाटित करता चलता है। 'कोसी का घटवार' गुसाईं भी ग्रामांचल-स्थित एक साधारण औद्योगिक-संस्थान : पनचक्की के घट का एकाकी संचालक है। यंत्र के साहचर्य से उसका जीवन भी विरस और यंत्रगतिक हो जाता है। खस्सर-खस्सर चलती चक्की के घट के बीच अन्न के साथ उसकी कोमल अनुभूतियाँ पिस जाती हैं। पन्द्रह वर्ष के बाद सेना से अवकाश प्राप्त कर आया गुसाईं व्यर्थता-बोध की तीव्रता के बीच एक दिन चक्की पर आई अपनी असफल प्रेम की बाल-प्रेमिका लछमा को विपन्नावस्था में देखता है। किन्तु वह केवल उसे देख ही पाता है और फिर डूब जाता है। कथा की ढाल वैयक्तिकता की दिशा में है। गुसाईं का अकेलापन बहुत संवेदनीय और उसके असफल प्रेम की घोर उदासी में डूबी मनोव्यथा अत्यन्त मारक है।

मायानन्द मिश्र (सन् १९३४)

लेखक की कृति ने 'माटी के लोग सोने की नैया' (१९६६) बिहार के कोसी-तटबन्ध क्षेत्र से सम्बन्धित आंचलिक उपन्यास है। योजना-विकास, सहकारी खेती और भूदान की सफलताओं के साथ अनेक आशावादी आयाम उभरे हैं। बिछड़े पति-पत्नी (हीतलाल-अनूपी) मिल जाते हैं और निराश प्रेमी-प्रेमिकाओं (जोगिन्नर-सिलिया) की मनोभिलाषा में पूर्ण होती है। गरीबी चली जाती है, एकता आती है और भविष्य की आशायें बँध जाती हैं। विकास-अधिकारी और स्थानीय कांग्रेसी नेता के सहयोग से ग्रामांचल को नयी चेतना मिलती है। हीतलाल की युग-युग की भू-सम्पत्ति सम्बन्धी साध पूर्ण होती है। कोसी तटबन्ध के पार्श्ववर्ती सूखी उदहा नदी के तटवर्ती मयटियाही के मछुआ टोले के जीवन-संघर्ष को कथाकार ने कास-पटेर-झौआ और बालू की सुनसान उदासी के बीच इस ढब से चित्रित किया है कि आन्तरिक और बाह्य परिवर्तन संभवता के स्तर पर आगमित प्रतीत होते हैं। कथा-भूमि के पात्र-समुदाय अपढ़ गँवार हैं अतः उनमें संघबद्धता शीघ्र आ जाती है। सरकारी प्रयासों का समाजोपयोगी आकलन इस उपन्यास में है।

हिमांशु जोशी (सन् १९३५)

कुमाऊँ की आंचलिक पृष्ठभूमि पर लिखा 'बुरुंश तो फूलते हैं' (१९६५) कथाकार की प्रथम औपन्यासिक कृति है 'अन्ततः' (१९६५) कहानियों का संग्रह है जिसमें स्वातन्त्र्योत्तर ग्राम-जीवन के नवपरिवर्तित सन्दर्भों और नये सामाजिक यथार्थ का अंकन हुआ है। 'बूँदपानी' शीर्षक कहानी में ग्राम-जीवन और नगर-जीवन को एक ही रंगमंच पर कथाकार अवतरित कर देता है। 'आदमी जमाने का' में पंचवर्षीय योजनाओं का कागजी-विकास और नौकरशाही की सुरक्षा में गाँवों में नये-नये शोषकों का उदय अंकित है। शीर्षक-कथा गाँव के अन्तिम आदमी विरजू की कथा है जो न किसान बन सका, न बजरंग और न विनोबा! और मर गया। सन् १९३६ में होरी मरता है तो धनिया के पास बीस आने पैसे हैं और सन् १९६५ में विरजू मरता है तो बिनिया उसके फैले खाली हाथ पर मिट्टी का एक ढेला रखकर मिट्टी का तिलक लगा देती है।

हिमांशु श्रीवास्तव (सन् १९३५)

कथाकार की कृति 'नदी फिर वह चली' (१९६१) प्रेमचन्द की परम्परा का आदर्शवादी यथार्थ उद्‌घाटन है। बिहार के छपरा-अंचल के सम्पूर्ण ग्राम-परिवेश को आयत्त करती, उसकी निचली सूखी ज़मीन का स्पर्श करती एक सरल-कोमल कहानी यहाँ उपन्यस्त है। गाँव की गरीब, उपेक्षित और अनाथ लड़की परबतिया जीवन मर दारिद्रच और परिवर्तित जीवन-मूल्यों के संघर्ष में खपती है और उतरार्द्ध में स्वराज्य होने पर भी पूर्वस्थिति बनी रह जाती है तो वह एक नये आदर्श के प्रति समर्पित हो जाती है। वह अपनी भूमि विद्यालय को दान कर स्वयं वर्ग संघर्ष में शहीद हो जाती है। कथा-कार ने भारतीय जीवन के परिवर्तन को एक व्यापक परिवेश देने का प्रयास किया है। कथाकार का दूसरा उपन्यास 'लोहे के पंख' मंगरू के नायकत्व में सर्वहारा-विद्रोह को चित्रित करता है और सन् १९२८ से लेकर सन् १९५३ तक की स्थितियाँ क्रांतिशील विचारधारा की लपेट में रचनात्मक स्तर पर विश्लेषित होती चलती हैं।

जितेन्द्रनाथ पाठक (सन् १९३६)

सन् १९६६ में प्रकाशित कथाकार की कथा-कृति 'कनेर के फूल और बन्द टट्टर' में कहानी का अधुनातन-विधा-प्रयोग लक्षित होता है। कुल बाईस रचनाओं में अधिकांश ग्रामगंधी हैं और 'लकीरें' तथा 'जिजीविषा' शीर्षकों वाले दो अध्यायों में बँटी हैं। जिजीविषा वाली रचनाओं में 'जड़ पात्रों के मानवीकरण के द्वारा मानवीय प्रश्नों और समाधान-संकेतों को कथा-माध्यम देने का प्रयास किया गया है।'

दूधनाथ सिंह (सन् १९३६)

'भारतीय जीवन के आन्तरिक 'केआस' से साक्षात्कार' की घोषणा के साथ कथाकार की कृति 'सपाट चेहरे वाला आदमी' (१९६९) प्रकाशित हुई जिसकी आठ कहानियों में यद्यपि एकाध कहानियों में ही ग्राम-जीवन को स्पर्श किया गया है परन्तु यह स्पर्श बहुत ही सघन अर्थवान है। 'कोरस' में 'वे सभी एक लम्बी छाया का पीछा' करते जहाँ पहुँचते हैं वह और कुछ नहीं

गाँव का नरक है और इस नरक की अभिशप्त नियति का रोमांचक जुगुप्सित चित्रण देखकर पाठक सोचता है कि राष्ट्रीय मंत्र के देशी-विदेशी देवता तो बदलते रहते हैं मगर यह फूस की गन्दी झोपड़ियों में सूअर के बच्चों जैसी रहाइसि, थरथर काँपने की विवशता और जड़ जकड़न नहीं बदलती है। 'रक्तपात' में कथाकार का 'वह' गाँव का नरक देखकर बुझ जाता है। यहाँ 'माँ' और 'पत्नी' का प्रेम सड़ कर अरुचि और उबास पैदा कर रहा है और रात-दिन बाहर-भीतर रक्तपात हो रहा है। कहानी की बुढ़िया समग्र ग्राम-जीवन का प्रतीक है जिसे धक्का देकर नयी विद्रोही कुंठित और संत्रस्त पीढ़ी किसी अनाम नयी सार्थकता की खोज में आगे बढ़ती है।

रामकुमार 'भ्रमर' (सन् १९३६)

कथाकार का उपन्यास 'तीसरा पत्थर' (१९६९) एक आंचलिक उपन्यास है जिसमें चम्बल घाटी की दस्यु-समस्या रेखांकित की गई है। प्रश्न डाकुओं के हृदय-परिवर्तन का है जिसे खांडोली गाँव के एक ठकुरास भरे ग्रामीण-किसान परिवार से उछले फौजदार सिंह डाकू के बाह्य क्रिया-कलाप और अन्तर्मन्थन के संदर्भ में उत्तरित किया गया है। प्रतिशोध और प्रतिहिंसा के अन्ध आवेश में फौजदार डाकू बन तो जाता है परन्तु वहाँ दर्पस्फीत अहं के नीचे पश्चात्ताप का ऐसा कीचड़ है जिससे मुक्ति का मार्ग नहीं रह जाता। तब वह सहज-जीवन के लिए, दाम्पत्य और वात्सल्य-सुख के लिए तथा घर नामक वस्तु के आनन्द के लिए तरसता है। उसके क्रमिक हृदय-परिवर्तन को कथाकार बहुत कुशलता के साथ अंकित करता है।

अपने उपन्यास 'काँचघर' (१९७१) में रामकुमार 'भ्रमर' ने महाराष्ट्र प्रदेश के आंचलिक रंगों को उभारने का प्रयास किया है। वहाँ के जन-जीवन को अनुरंजित करने वाले लोकनाट्य 'तमाशा' की पृष्ठभूमि पर यह उपन्यास सृष्ट है। तमाशा की सुन्दरी रत्ना इसकी मुख्य नायिका है जिसके माध्यम से कथाकार ने नारीत्व और मातृत्व को अत्यन्त ही प्रभावशाली अभिव्यक्ति दी है। रत्ना नारीत्व की रक्षा के लिए तमाशा मंडली से भागती है और एक सद्गृहस्थ की हवेली में दाखिल होती है। पुनः वहाँ भी उस नारीत्व को तिरस्कृत-लांछित होते देख प्रत्यावर्तन के लिए प्राणों की बाजी लगाकर उद्यत होती तो है परन्तु तभी मातृत्व उड़कर आड़े आ जाता है। वह समूची

कड़वाहट को मातृत्व के अनचखे दुर्लभ स्वाद की कल्पना में पीकर पड़ी रह जाती है।

पानू खोलिया (सन् १९३९)

'एक किरती और (१९६७) लेखक की आठ कहानियों का संग्रह है। नये मूल्यों की प्रतिष्ठा, गंभीर तनाव-स्थितियाँ, अभिशप्त नगरोन्मुखता और आर्थिक-नैतिक परम्परागत मान्यताओं की गिरावट आधुनिक भावबोध के स्तर पर ग्राम-जीवन में लक्षित की गई हैं। 'एक ही चाहना' 'शीश कटी', 'दुश्मन' और 'एक किरती और' में कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टि से नये कोणों का उभार प्रत्यक्ष हो जाता है। लेकिन कथाकार ग्राम-जीवन के प्रति आस्थावान नहीं प्रतीत होता है। शीर्षक-कथा में वह पत्नी-व्रत और सतीत्व का खुलकर उपहास करता है। नये नैतिक-मूल्यों का आग्रह प्रबल है। स्वतंत्रता के बाद योजना-विकासादि नये संदर्भों में अपेक्षित-अनपेक्षित जो परिवर्तन गाँव में आये हैं, कथाकार उनके प्रति कोई उत्साह प्रदर्शित करता नहीं प्रतीत होता। पानू खोलिया की ग्राम-जीवन संदर्भित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों में 'बिजली', 'पीड़ा', 'प्रेतदाह', 'ठिठुरन' और 'पनचक्की' आदि चर्चित हुईं। 'जो अपने थे' कथाकार का आंचलिक उपन्यास है।

(ग) अन्य कथाकार

व्रजकिशोर नारायण (१९१८) की कृतियाँ 'पत्नी का कन्यादान' और 'बावन हाथ' लोक-जीवन से सम्पृक्त हैं। नरेश मेहता (१९२१) की कृति 'वह पथ बन्धु था' कस्बे के एक ऐसे सामान्य शिक्षक के चित्रण से पूर्ण है जिसमें ग्राम-मन का निखार है। 'प्रथम फाल्गुन' की कथा भी लखनऊ नगर छोड़कर ग्रामांचल में ही विराम और अपेक्षित मोड़ लेती है। मोहन राकेश (१९२५) यद्यपि शतप्रतिशत नगर-जीवन के कथाकार हैं तथापि उनकी दो प्रसिद्ध कहानियों 'आर्द्रा' और 'मलवे का मालिक' में गाँव की आत्मा निहित है। प्रथम में मातृ-चित्र है और द्वितीय की पृष्ठभूमि राष्ट्र-विभाजन है। 'तीसरा नेत्र' (१९५७) और 'कठपुतली के धागे' (१९५९) नामक ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखक आनन्द प्रसाद जैन का आंचलिक उपन्यास 'आठवीं भाँवर' (१९६९) पश्चिमी उत्तरप्रदेश के एक ऐसे गुसाईं परिवार को अंकित करता है जिसमें

नैतिक मान्यताओं की परम्परागत कड़ियाँ उत्तरोत्तर ढीली पड़ती जाती हैं। देवेन्द्र ईस्सर (१९२८) की कृति 'फूल और ज़िन्दगी' में ग्राम्य-जीवन है। पंजाबी मातृ-भाषा होने के कारण और उर्दू भाषा में भी लेखनाभ्यास होने के कारण उक्त हिन्दी कृति की कहानियों में विशिष्ट लोक-जीवन की माधुरी नवीन भाषा-सौन्दर्य लेकर अवतरित हुई है। मुक्तेश्वर तिवारी 'बेसुध' भोजपुरी क्षेत्र के जन-जीवन को सुदीर्घ काल तक 'आज' (वाराणसी) में प्रकाशित होने वाली 'चतुरी चाचा की चटपटी चिट्ठी' के माध्यम से अनुरंजित-अनुप्राणित करने वाले 'चतुरी चाचा' के नाम से प्रख्यात हैं। खड़ी बोली में लगभग एक दर्जन कहानियाँ सृष्ट हैं जिनमें से कुछ 'धर्मयुग' आदि में प्रकाशित हैं। चिट्ठी की विधा में भोजपुरी-हिन्दी में सैकड़ों कहानियाँ 'आज' के उक्त स्तम्भ में प्रकाशित हैं जिनकी पृष्ठभूमि ग्राम-जीवन है। समस्यामूलक राजनीतिक और सामाजिक व्यंग्य, फ़ैन्टेसी और कथात्मक मिथकीय रचना में चतुरी चाचा बेजोड़ हैं। 'चतुरी चाचा की चिट्ठियाँ' दो भाग में प्रकाशित हैं। सर्वदानन्द (१९१५) की आंचलिक कृति 'माटी खाइ जनावरा' (१९६०) और शिवसागर मिश्र (१९३०) की कृति 'दूब जनम आई' (१९६०) चर्चित आंचलिक कृतियाँ हैं। मिश्र जी का दूसरा उपन्यास 'नींव की मिट्टी' में भी ग्राम-जीवन है। सोमावीरा (१९३२) की कृति 'धरती की बेटी' में सामाजिक प्रश्नशीलता का उन्मेष है। दहेज, पर्दा, विधवा-विवाह, सास-संकट और स्पृश्या-स्पृश्य आदि समस्याओं का आदर्शवादी अंकन है। अवधनारायण सिंह (१९३३) का प्रारंभिक विकास आंचलिक कथाकार के रूप में हुआ और 'काले साँप' तथा 'विद्रोह की अनबुझी प्यास' आदि कहानियाँ चर्चित हुईं। तत्पश्चात् आप कलकत्ते के नगर-जीवन को अभिव्यक्ति देने लगे। जयप्रकाश भारती (१९३६) की कृति 'कोहरे में खोये चाँदनी के पहाड़' (१९५९) एक आंचलिक उपन्यास है। इसमें जौनसार, बाबर, रंवाई क्षेत्र की प्राकृतिक सुषमा के बीच नव-निर्माण और सहकारिता के बढ़ते चरण की सफलता राष्ट्र-प्रेम के उत्साह में चित्रित की गई है। सच्चिदानन्द 'धूमकेतु' (१९३६) की कृति 'माटी की महक' (१९६१) एक ग्रामभित्तिक आदर्शवादी कृति है जिसमें गाँव में राजनीति प्रवेश से लेकर वर्ग-संघर्ष आदि तक की स्थितियों का विस्तृत अंकन हुआ है। शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' (१९११) की कृति 'बहती गंगा' (१९५२) में आंचलिकता की नयी विधा का निखार है। उपन्यास और कहानी के अतिरिक्त कथा-

साहित्य की एक तीसरी अनाम विधा सांस्कृतिक नगरी काशी की विगत दो शताब्दियों के आकलन के रूप में, मस्ती-पानी और काशिका के प्रयोग-लालित्य के साथ रोमानी शीर्षकों में प्रस्तुत की गई। बनारस की आत्मा के नायकत्व में सम्पन्न इस भावात्मक सर्वेक्षण में ग्राम-जीवन की मुग्ध झलकियाँ मिलती चलती हैं। प्रभाकर माचवे (१९१७) के उपन्यास 'परन्तु' (१९५१) में गाँव की एक विधवा ननिहाल कलकत्ते में जाकर फँस जाती है। 'साँचा' (१९५६) में एक ग्रामीण धनार्जन करने नगर में आता है और वहाँ बस जाने के पश्चात् ऐसी स्थितियों की चपेट में आता है कि बाहर-भीतर दोनों ओर से टूट कर बिखर जाता है। सिधाई-सरलता और सेवा के उसके ग्राम-भाव खंड-खंड हो जाते हैं और यांत्रिक-जीवनस्थितियों का एक निर्जीव साँचा मात्र बनकर रह जाता है।

रामवृक्ष बेनीपुरी (१९०२) की रचना 'गेहूँ और गुलाब' (१९५०), रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (१९१५) की कृति 'मरु प्रदीप' (१९५१), डाक्टर भगवत शरण उपाध्याय (१९१०) और द्विजेन्द्र नाथ मिश्र 'निर्गुण' (१९१५) की कुछ कहानियाँ लोक-जीवन चित्रण-पूर्ण हैं। कृष्ण बलदेव वैद्य (१९२७) की कृति 'उसका बचपन' भी प्रस्तुत आलोच्य कोटि में आती हैं। अनिरुद्ध पाण्डेय (१९१८) के उपन्यासों में से 'ज़िन्दगी की जड़ें' और 'मन की आँखें' में ग्राम-भूमि का आंशिक स्पर्श है।

कुँअरानी तारा देवी की कृति 'जीवनदान' एक समस्यामूलक सामाजिक उपन्यास है जिसमें स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-जीवन के विविध परिवर्तित आयाम बृजपुर गाँव के जन-जीवन-संघर्ष-संदर्भों में उद्घाटित होते हैं। प्रभात और मुरला का कुंठित प्रेम क्षयग्रस्त होकर नये सामाजिक मूल्यों की माँग करता है। श्रीमती नारायणी कुशवाहा की कृति 'पराये वश में' में कथा-लेखिका ने दिघ्घी ग्राम के गरीब किसान संपत की पुत्री मुरली की पतिव्रत-दुखगाथा को दैवी न्यायाधारित, परम्परित और आदर्शवादी जीवन मूल्यों के संदर्भ में प्रस्तुत किया है।

यमुना दत्त वैष्णव 'अशोक' की कृति 'शैलवधू' (१९५९) और 'ये पहाड़ी लोग' आंचलिक उपन्यास हैं। बच्चनसिंह कृत 'लहरें और कगार' में जमींदारी उन्मूलन के वाद भी अन्य माध्यमों से भूतपूर्व जमींदार गाँव पर छाये हैं। दुर्गाशंकर मेहता ने अपनी आंचलिक कृति 'अनबुझी प्यास' (१९५०) में

बुन्देलखण्ड के जन-जीवन का चित्रण गांधीवादी राष्ट्रीय आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में किया है। हर्षनाथ का उपन्यास 'धरती, धूप और बादल' आदर्शवादी आंचलिक उपन्यास है। डा० त्रिभुवन सिंह ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' में हर्षनाथ के अन्य कई ग्रामगंधी उपन्यासों की चर्चा की है जिनमें 'करमू और जगनी', 'राजा रिपुदमन', 'टूटते बन्धन', 'रक्त के आँसू', 'पत्थर और दूब', 'उड़ती धूल', 'रेखायें और रेखायें' तथा 'गवर्नेस' आदि हैं।

कथाकार जयनारायण (१९३७) के कहानी-संग्रह 'नाम अनाम' (१९७०) में अधिकांश कहानियाँ ग्रामगंधी हैं और उनमें छुट्टियों में देखे हुए गाँव की वह मुद्रा उभरती है जिसमें कलकत्ते के महानगरीय जीवन और छपरा (बिहार) के एक छोटे से गाँव जगदीशपुर के जीवन का अन्तर्विरोध उभरता है। अकहानी की अनलंकृत, सपाट, प्रामाणिक चित्रण वृत्ति, नयी संवेदनायें, नये कोण से उठाई गईं गाँव की समस्यायें और सहज अनौपचारिकता इस संग्रह की विशेषतायें हैं। 'विरोध', 'यात्रा' और 'अपरिचित' आदि कहानियों में आधुनिकता का स्वर ग्राम-स्तर पर बहुत स्पष्ट है।

आंचलिक उपन्यासों के क्रम में विलास विहारी की रचना 'अकाल पुरुष' (१९७१) प्रकाशित हुई जिसमें भागलपुर अंचल अकाल के परिप्रेक्ष्य में अनावृत हुआ है। इसी प्रकार छत्तीसगढ़ी जन-जीवन पर शिवशंकर शुक्ल का आंचलिक उपन्यास 'मोंगरा' (१९७०) प्रकाशित हुआ। इसमें नये ग्राम-विकास की आहट है। बेकार युवक कृषि-क्रांति से प्रभावित होकर खेतों की ओर लौट रहे हैं। कुछ लोग इसे कृषि-क्रांति और सहकारिता का प्रचार कह सकते हैं परन्तु लोकगीतों आदि के प्रयोग से सजीवता लाने का प्रयत्न हुआ है। सन् १९६९ में बिमल मित्र का लघु उपन्यास 'सुरसतिया' प्रकाशित हुआ जो इसी छत्तीसगढ़ी लोक-जीवन पर आधारित है। परन्तु उसमें आंचलिक रागबोध बहुत न्यून है। डाक्टर कृष्णा अग्निहोत्री (१९३४) का कहानी-संग्रह 'टीन के घेरे' (१९७०) आदिवासी जीवन पर आधारित कई आंचलिक-कहानियों से समृद्ध है।

श्री दयानाथ झा का उपन्यास 'जमींदार का बेटा' (१९५९) मिथिला अंचल के जन-जीवन पर आधारित है। राजेन्द्र की कृति 'सावन की आँखें' में नेपाल की तराई के एक छोटे से गाँव का चित्रण है। डाक्टर श्याम परमार का उपन्यास 'मोरझाल' आदिवासी भीलों के जीवन-चित्र को प्रस्तुत करता है। श्रीविद्यासागर नौटियाल की एक कृति 'दारोगा जी को मछुए की भेंट' चर्चित

है। लेखक की कहानी 'फुलियारी' (कहानी : नववर्षाङ्क' ५९) में एक पहाड़ी गाँव का त्यौहारी उल्लास संदर्भित है। श्रीजगदीश पाण्डेय के उपन्यास 'गगास के तट पर' (१९५८) में कुमाऊँ के एक पहाड़ी गाँव को आंचलिक शिल्प में प्रस्तुत किया गया है। शिवनारायण उपाध्याय का कहानी-संग्रह 'रोज की क्रान्ति' और रामनारायण उपाध्याय की कृति 'अनजाने जाने-पहचाने' में भारतीय कृषक-जीवन का चित्रण है। प्रकाश सक्सेना की कृति 'धरती बिहँसी' (१९५८) में स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-जीवन के परिवर्तनों को लक्ष्य किया गया है। नव-निर्माण और वर्ग-संघर्ष मुख्य रूप से इसमें चित्रित किया गया है। भगवतीशरण सिंह (१८९४) का कहानी-संग्रह 'अपराजिता' (१९५८) आदर्शवादी स्वर में ग्राम-जीवन की एक सहज परख है। राजेन्द्र लाल हांडा (१९१२) की कहानियाँ 'गाँव की डगर पर' (१९६६) में संकलित हैं। बल्लभ डोभाल के कहानी-संग्रह 'घाटियों के घेरे' (१९७०) में ग्राम-परिवेश की कुछ जीवन्त कहानियाँ आधुनिक नगर-कथाओं के बीच संकलित हैं। रामकुमार की कृति 'हुस्ना बीबी और अन्य कहानियाँ' (१९५८) में पेरिस आदि विदेशी धरती की कहानियों के बीच कतिपय प्रेमचन्द की परम्परा में लोकधर्मी आदर्शवादी कहानियाँ भी हैं। अभिमन्यु अनन्त शबनम का उपन्यास 'चौथा प्राणी' धारावाहिक रूप से 'आजकल' (६९-७०) में प्रकाशित हुआ। यह मारिशस के जन-जीवन पर आधारित है। हंसराज रहबर, शान्ति मेहरोत्रा, और ओंकार श्रीवास्तव ने भी ग्राम-जीवन का स्पर्श किया है। गंगा प्रसाद मिश्र (१९१७) की एक सशक्त ग्राम-भित्तिक रचना 'गंगालाभ' ('गगन'—२, पृ० १५१) सामने आई। मुहम्मद इसराइल अंसारी (१९३८) का उपन्यास 'गाँव की बेटी' (१९७०) मंगई नदी के किनारे बसे एक छोटे से गाँव के जन-जीवन की कहानी है। रामचन्द्र तिवारी का उपन्यास 'सागर, सरिता और अकाल' बाढ़ और अकाल आदि के संदर्भ में ग्राम-जीवन को चित्रित करता है।

(घ) नये कथाकार

नवलेखन में ग्राम-जीवन की कथागत अभिव्यक्ति चिन्तनीय है। डाक्टर ललित शुक्ल (१९३७) की कतिपय स्वस्थ ग्रामभित्तिक रचनायें नयी पत्र-पत्रिकाओं में देखने में आईं। राम जी मिश्र (१९३८) की कहानियाँ 'गुनाह बालज्जत', 'रात की पीड़ा', 'लछमिनियाँ' और 'धान के फूल' आदि में लोक-

जीवन का जीवन्त स्पर्श है। 'कहानी', 'नई कहानियाँ', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' और 'कादम्बिनी' में आपकी कहानियाँ प्रकाशित मिली हैं। सुबोध कुमार श्रीवास्तव (१९४३) की कहानियों के पात्र तो ग्रामीण हैं परन्तु वे गाँव छोड़ चुके हैं और शहर में आकर बस गये हैं। फिर भी वे किसी न किसी स्तर पर गाँव से जुड़े हुए हैं। जितेन्द्र भाटिया (१९४६) की कुछ कहानियों में कस्बई परिवेश उभरा है। ओमप्रकाश दीपक (१९२७) ने ग्राम-जीवन पर नहीं लिखा परन्तु उनकी कहानी 'अभिशप्त' और उपन्यास 'कुछ जिन्दगियाँ बेमतलब' में ग्राम-जीवन का स्पर्श है। बल्लभ सिद्धार्थ (१९३७) और सतीश जमाली (१९४०) ने ग्राम-जीवन को नहीं देखा है। गोपाल उपाध्याय, श्याम व्यास, कुणाल श्रीवास्तव, गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव, निशिकान्त, सुधा, लक्ष्मीशंकर त्रिवेदी, सुषमा शुक्ल और हमीदुल्ला खाँ की कुछ चुनी हुई कहानियों में ग्राम-जीवन का चित्रण मिला। मधुकर सिंह (१९३४) के कहानी-संग्रह 'पूरा सन्नाटा' में कुछ कहानियाँ ग्राम-गंधी हैं। परन्तु, सब मिला कर कथागत नवलेखन में ग्राम-जीवन अनुपस्थित है।

●

तृतीय अध्याय

ग्राम-जीवन की आर्थिक-समस्याओं का कथा-साहित्य में प्रतिफलन

नये आर्थिक कार्यक्रमों का आविर्भाव

भारतीय साहित्य, विशेष कर हिन्दी-साहित्य आर्थिक समस्याओं की अभिव्यक्ति के प्रति सदैव उदासीन रहा है। शायद इसका कारण यह रहा है कि कृषि-प्रधान इस देश की कृषि का सम्बन्ध 'अर्थ' से न जुड़ कर 'धर्म' सम्पृक्त रहा है। यह परम्परायुक्त भाव आज भी भारतीय समूह-अन्तर्मन से बहिष्कृत नहीं हो सका है। वैश्विक औद्योगिक क्रान्ति से लेकर स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक विकास कार्यक्रम तक की प्रभावक हवायें, ऐसा प्रतीत होता है, ऊपर ही ऊपर उड़ गईं और नीचे सर्वाधिक प्रभावोपेक्षित साहित्यांग-कथा-साहित्य इससे न केवल अस्पर्शित रह गया अपितु आश्चर्यजनक परिणति सम्मुख आई कि अवशिष्ट समाजमुखता उत्तरोत्तर व्यक्तिमुखता एवं अन्तर्मुखता में पर्यवसित होती गई। एक अत्याधुनिक नव-अभिजात मुद्रा-सम्पन्न नगर-साहित्य उत्थित हुआ और पतनशील परम्परित गाँव अनिश्चित नगरीकरण की भविष्यवाची संज्ञा बनकर नवाकार प्राप्त्यर्थ विघटित होने लगा। जमींदारी उन्मूलन, पंचवर्षीय योजनायें, सामुदायिक-विकास-योजनायें, कुटीर-उद्योग, पंचायत, चकबन्दी, भूदान-सहकारी खेती और कृषि-विकास आदि के विशाल प्रभावशाली आर्थिक कार्य-क्रम नव-निर्वाण की वांछित दिशा में उसे अग्रसर करने के लिए कार्यान्वित हुए जिनमें स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कथा-लेखकों ने सामाजिकता केपार्श्ववर्ती और सांस्कृतिक-भूमियों से सम्पृक्त होने के कारण 'जमींदारी-उन्मूलन' से सम्बन्धित स्थितियों और आर्थिक समस्याओं के चित्रण में किंचित् विशेष उत्साह प्रदर्शित किया है।

१—जमीदारी उन्मूलन

(क) जमीदारी उन्मूलन के सामान्य प्रभाव का चित्रण

मध्ययुगीन भारतीय समाज में आर्थिक-शोषण के सन्दर्भ में जमीदार एक मिथ और प्रतीक की भाँति गृहीत होते आये हैं। इसीलिये जब स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् इनका उन्मूलन हुआ तो आर्थिक दृष्टि से मुक्ति की सामूहिक सुखानुभूति की लहर-सी सामान्य जन-मानस में आई प्रतीत होती है। 'अलग-अलग वैतरणी' में लोगों ने देखा कि "जमीदारी की पुश्तैनी पुख्ता दीवारें एक हल्के धक्के से ही जमीन पर आ गईं। आसामियों ने खानदानी लाज-शरम छोड़कर जमीदार की छावनी से अपना रिश्ता तोड़ लिया। अब कभी दशहरे के मौके पर आसामियों की भीड़ जुहार करने नहीं आती। न ही कभी छावनी के मुख्य द्वार पर रखा बड़ा सा परात नज़राने के रुपयों से खनकता ही है। अहीरों ने दही-दूध, कोइरियों ने साग-सब्जी, मल्लाहों ने मछलियाँ, जुलाहों ने मुरगी और गड़ेरियों ने सलामी में खस्सी देना एकदम बन्द कर दिया।"[१] अब समय-समय पर जमीदार की ओर से सवाई पर अन्न-प्रदान करने वाले इस प्रकार के दृश्यों की संभावना नहीं रही कि "एक मन पीछे, फिर भी पाँच सेर कम; दो सेर कारिन्दे का हक दस्तूर, एक सेर धर्मादाय में, एक सेर उस टैक्स के लिए जो सरकार ने मालगुजारी के ऊपर जमीदारों पर लगाया था और एक सेर सूखी बैटरी वाले रेडियो के लिए...।'[२]

इतने पर भी यह असम्भव लगता है कि युग-युग का मांसाहारी बाघ शाकाहारी कैसे हो जायेगा?[३] वह ऐसा होता भी नहीं है। वह स्वयं को नव्य प्रजातांत्रिक शोषक के रूप में रूपान्तरित कर लेता है। उसकी यह नीति कि गाँव की जनता के सामने माथा झुका कर छिपे तौर पर उसके भाग्यविधाता बने रहेंगे'[४] तो कार्यान्वित होती ही है, दोहन के अन्य मार्ग भी अ-मुक्त नहीं रहते हैं। सुविधाप्राप्त, समर्थ-संस्कारित भू-स्वामी जमीदार और दीन-हीन

---

१. **'अलग-अलग वैतरणी' पृ० ४८।**

२. **'अमरबेल' पृ० ४४।**

३. **'अलग-अलग वैतरणी' पृ० ४८।**

४. **वही, पृ० ८७।**

कृषक वर्ग का अन्तराल और अन्तर्विरोध पूर्ववत् रह जाता है। वैधता समाप्त हो जाने पर वह तिकड़म का मार्ग अपनाता है।[1] मंगी जैसी असहाय वृद्धा जिसका चित्रण मार्कण्डेय ने किया है जमीदारी-उन्मूलन पर भले प्रसन्नता व्यक्त कर ले, भले उसके पति बंगा के मरने पर उसकी पोखरी कल्यानमन की बेद-खली न हो सके और उस पर उसका अधिकार हो जाय। परन्तु जब सोने की खान-सी इस पोखरी पर जमीदार की दृष्टि लग गई है तो क्या वह बच सकती है ? भूतपूर्व जमीदार एक खूँखार अज़दहा की भाँति जब कल्यानमन पर 'फन-काढ़े' बैठा है,[2] तो मंगी उसके अचूक अमानवीय दंश के आगे पड़ने के लिए विवश है। मंगी जैसी कोटि-कोटि अकिंचनाओं की पोखरी-जैसी जीविकायें जमी-दार संज्ञा के पूर्व 'भूतपूर्व' लग जाने पर भी आशंकित बनी हैं। बिहार के गोढ़ियारी गाँव[3] के मछुआरों का गरोखर (गढ़पोखर) जलाशय स्थानीय मगर-मच्छ उदरस्थ कर डालना चाहते हैं। एक ओर मछियारे यह अनुभव कर रहे हैं कि 'खाने वाले मुँह की तायदाद तेजी से बढ़ रही है'[4] दूसरी ओर उनकी जीविका का एकमात्र साधन यह पोखरा धाँधली करके भूतपूर्व जमीदार द्वारा नये सिरे से बन्दोबस्त होने जा रहा है। कभी पोखरा देपुरा के मैथिल जमी-दारों का था। जमीदारी उन्मूलन के बाद इसका पट्टा गोढ़ियारी के मल्लाहों ने ले लिया। अब भूतपूर्व जमीदार के सम्मुख इस आर्थिक-मोर्चे पर संघ-बद्ध होकर डट जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता है।

नागार्जुन ने अपने उपन्यास 'वरुण के बेटे' में इन आर्थिक स्वार्थों की टकराहट को प्रगतिशील स्पर्श के साथ उठाया है। दबे लोग स्व-रक्षार्थ संगठन और सभाओं के माध्यम से अपने को व्यक्त करने लगे हैं। संघनिष्ठा नयी शक्तिमत्ता प्रदान करती है। आर्थिक प्रश्नशील मुद्रायें नया उभार पाने लगी हैं और सामाजिक यथार्थ से सम्पृक्त होकर उनमें सर्वथा नवीन दीप्ति आने लगी है। गाँवों में यद्यपि जड़ पिछड़ेपन का मूल बहुत गहराई में है और उसे उच्छिन्न

---

१. मार्कण्डेय की कहानी 'कल्यानमन' ('हंसा जाइ अकेला' में संकलित) की प्रमुख पात्रा।
२. उक्त कहानी-संग्रह।
३. नागार्जुन के उपन्यास 'वरुण के बेटे' में।
४. वही, पृ० १९।

करने के लिए मात्र राजनैतिक स्वाधीनता ही पर्याप्त नहीं है। तथापि नये प्रजातांत्रिक, मानवीय और प्रगतिशील मूल्यों की आहट से आई जनसाधारण में नवचेतना की सुगबुगाहट भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

गाँवों की समस्त परम्परावादी, शोषक और प्रतिगामी शक्तियाँ जो जन-साधारण के आर्थिक-विकास में बाधक हैं इस जमींदार-वर्ग में निहित हैं। इनके विविध नाम-रूप हैं पर इनकी व्याप्त सार्वदेशिक सत्ता निर्विवाद है। दक्षिण-भारत में उत्तर-भारत की भाँति यद्यपि जमीदार-प्रथा नहीं है तथापि वहाँ ग्रामांचलों में उठा निरंकुश धनपति इसका स्थानापन्न होता है। आतंकित-उत्पीड़ित करने में सक्षम प्रतिष्ठा इन्हें आर्थिक कारणों से प्राप्त हो जाती है। अपने उपन्यास 'स्वप्न और सत्य' में बालशौरि रेड्डी दक्षिण-भारत के एक ऐसे ही ग्रामांचल के धनी का वर्णन करते हैं। 'वह धनी गाँव का छोटा-सा जमीदार होता है। इस इलाके में जमीदार-प्रथा नहीं है, फिर भी जमीदारी परोक्ष रूप से प्रचलित है।[1]' इन जमीदार सदृश प्रभुत्व-सम्पन्न व्यक्तियों की स्थिति चिन्त्य इस आधार पर है कि जहाँ इन्होंने अपना अभिशप्त प्रसार कर लिया वहाँ 'गाँवों में सुधार लाना सहज सम्भव नहीं।'[2] ये लोग प्रत्येक प्रकार के सुधार-विरोधी हैं। छोटे जमीदार से लेकर बड़ी रियासतों तक की इनकी सुदृढ़-शृंखला में मूढ़-अशिक्षित मानवों का ग्राम-जीवन जकड़ा है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् स्थितियों में परिवर्तन आया है परन्तु उस परि-वर्तित परिस्थिति के अनुरूप मोड़कर इस वर्ग के लोगों ने अपनी स्थिति को अन्य प्रकार से पूर्ववत् सुदृढ़ कर लिया है। मार्कण्डेय की कहानी "उत्तराधि-कार' में श्रीयोगेश राव एक ऐसे ही व्यक्ति हैं और एक रियासत के स्वामी हैं। 'जमीदारी उन्मूलन के बाद भी इस रियासत की आमदनी के ज़रिये अनन्त हैं। योगेश राव जी ने बाज़ारों और मवेशियों के मेलों से लाखों रुपया कमाना शुरू कर दिया। बीज की गोदाम से लेकर घी-दूध, मुर्गी और अण्डे के नये रोज़गार शुरू कर दिये थे और शहरों में बन्दूक तथा मोटर की एजेंसियाँ ले ली थीं। धूर-धूर जमीन पट्टे करके उन्होंने बैंक में रुपया जमा कर दिया और बड़े-बड़े बागों को काटकर फार्मिंग शुरू करा दी थी। उनका दबदबा अब भी बना हुआ

१. 'स्वप्न और सत्य' पृ० १२६।
२. वही, पृ० १२६।

था। अपने ज़िले की कांग्रेस-कमेटी को हर तरह की मदद दे उन्होंने नेताओं को खरीद कर अपना दरबारी बना लिया था।"[१]

(ख) जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् जमींदार

गाँवों का यह स्वातन्त्र्योत्तर नव-समृद्ध वर्ग ग्रामोत्थान के मार्ग में विशाल रोड़े की भाँति पड़ा है। भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'सती मैया का चौरा' की भी यही समस्या है। मुन्नी और मन्ने के सपने धुंध में पड़े से प्रतीत होते हैं। वे गहराई के साथ अनुभव करते हैं कि 'जमींदार खत्म हो गये, महाजन टूट गये लेकिन गाँव के किसानों और मजदूरों में क्या कोई परिवर्तन आया ?'[२] परिवर्तन आये भी कैसे ? समस्त आर्थिक-स्रोतों के मुँह पर उसे भरपूर शक्ति के साथ छेंककर गाँव के विषम यथास्थित्यभिलाषी भू-पति बैठे हुए हैं। सामन्तवाद और नौकरशाही के मिले-जुले प्रभावों ने इनके भीतर ऐसे स्वार्थ-विष-विस्तार कर दिये हैं कि अन्य नये प्रभावों के वहाँ पनपने की कोई सम्भावना नहीं है। गाँवों की यह वह अमानवीय-निर्लज्ज पीढ़ी है जो आत्म अभिजात-दर्प में चूर है। उसमें अभी जात्यभिमान है, उसमें शिक्षित युवकों के प्रति यदि उपेक्षा-अनादर की भावना है तो 'बहुजन हिताय' जैसे कार्यक्रमों के प्रस्तोता लोगों के प्रति घृणा का भाव है। अधिकार वाले समस्त पदों पर ये ही लोग छाए हुये हैं। नया रक्त इनका विद्रोही भी होता है। 'सती मैया का चौरा' में 'शिक्षित युवकों के प्रयास से गाँव का सभापति हीरा कोइरी बनाया जाता है तो सारा गाँव चौंक उठता है।'[३] निस्सन्देह ऐसे प्रसंगों में सारे गाँव का अर्थ होता है मुट्ठी भर सुखी-समृद्ध लोग ! ये लोग प्रायः भूतपूर्व जमीदार हैं और कांग्रेसी हैं। सभापति पद का प्रश्न मुख्यतः गाँव का आर्थिक प्रश्न है और हीरा कोइरी के हाथ में उसके जाने का अर्थ, उनकी दृष्टि में है उन छोटे लोगों का विकास जिन्हें वे सामूहिक रूप से कम्युनिस्ट समझते हैं। वे नहीं चाहते हैं कि कोई छोटा आदमी ऊपर उठे। इसी आधार पर गाँव में नवस्थापित मिडिल स्कूल तक का वे विरोध करते हैं।[४] शिक्षित होकर

---

१. **'उत्तराधिकार', 'भूदान' में संकलित, पृ० ११७।**
२. **'सती मैया का चौरा', पृ० ५९१।**
३. **वही पृ० ५९८।**
४. **वही, पृ० ६०३।**

आत्मे-विकास-क्रम में आर्थिक दृष्टि से वे दबे लोग यदि ऊँचा उठ जाते हैं तो स्वामी-जाति के लोगों के अहं पर कितनी चोट बैठेगी ?

भू-पति और भूमिहीन का आर्थिक अन्तर्विरोध न तो जमीदारी उन्मूलन से और न ही वह लैंड सर्वे आपरेशन में मिटता दीखता है। 'परती परिकथा' में 'रेणु' ने इस स्थिति का प्रभावशाली चित्रण किया है। 'जमीदारी-प्रथा को खत्म करने के बाद राज्य-सरकार ने अनुभव किया—पूर्णिया जिले में एक क्रान्तिकारी कदम उठाने की आवश्यकता है।...गुरुवंशी बाबू जमीदार नहीं हैं, किसान हैं ! दस हज़ार बीघे ज़मीन है। दो दो हवाई जहाज़ रखते हैं। दूसरे हैं भोला बाबू, पन्द्रह हजार बीघे ज़मीन है।[1] 'एक ओर ये भूतपूर्व जमीदार और बड़े किसान हैं दूसरी ओर 'भूमिहीनों' की विशाल जमात। जगती हुई चेतना।[2] फणीश्वर नाथ रेणु सर्वे के वात्याचक्र का चित्रण करते हैं। जमीदारी उन्मूलन का यह पूरक आर्थिक कार्यक्रम गाँवों को झकझोर देता है।' जिले भर के किसानों और भूमि-हीनों में महाभारत मचा हुआ है। सिर्फ भूमिहीन ही नहीं—डेढ़ सौ बीघे के मालिकों ने भी दूसरे किसान की ज़मीन पर दावे किये हैं ।...हज़ार बीघे वाला भी एक इंच ज़मीन छोड़ने को राजी नहीं !...छै महीने में ही गाँव बदल गया है। बाप-बेटे, भाई-भाई में अपने हक को लेकर ऐसी लड़ाई कभी नहीं हुई।[3] 'नये आर्थिक कोणों की टकराहट में लोग तीज-त्यौहार भूल गये।[4] संत्रास और अस्थैर्य इतना भीषण कि 'एक-एक आदमी का माथा चकरा रहा है ।[5] बेदखलियाँ होती हैं, तनाव बढ़ता है, कहीं बटाईदारों को पर्चा मिलता है, कहीं नहीं मिलता है। मारपीट और रक्तपात के आयाम उभड़ते हैं। किन्तु अन्ततः इस विषम-आर्थिक समस्या का कोई हल निकलता नहीं प्रतीत होता। स्वार्थी और अध-कचरे नेतृत्व तथा अक्षम नौकरशाही के रहते और आशा ही क्या की जा सकती है ? 'परती-परिकथा' का भूतपूर्व जमीदार जितेन्द्र ही इस दिशा में

---

१. 'परती : परिकथा' पृ० २५।
२. वही।
३. वही, पृ० २६।
४. वही, पृ० ३०।
५. वही, पृ० ४१।

पूर्ण जागरूक और प्रगतिशील निकलता है। वह गाँव के सामने अत्याधुनिक आर्थिक-कार्यक्रम को अगणित बाधाओं के रहते भी प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। 'वह गाँव में अपमानित होता है, गाली सुनता है, चोट खाता है किन्तु बड़े ही संयम एवं धैर्य से काम लेकर गाँव के भूले हुए सांस्कृतिक आयोजनों को पुनरुज्जीवित करके लोगों में आशा, उत्साह एवं उल्लास का बीजारोपण करता है। गाँव वाले उसे पागल कहते हैं, लुतो के अनुयायी उसे जालिम, मक्कार, गिरगिट, शराबी-जुआड़ी आदि जाने क्या-क्या कहते हैं। स्त्रियाँ चरित्रहीनता का दोष लगाती हैं। किन्तु उसे कोई जानता नहीं। इतना शान्त, स्वस्थ, सन्तुलित, सरल लोक-कल्याणकामी व्यक्ति गाँव में दूसरा नहीं है।'[1]

(ग) 'परती : परिकथा' का जमींदार

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में रेणु का जितेन्द्र एकमात्र चरित्र है जो प्रतिष्ठित जमींदार-कुल का जिसके पुराने परम्परागत क्रूर-शोषक और उत्पीड़क वृद्ध सेक्रेटरी मुन्शी जलधारी लाल अभी परामर्श देने के लिए विद्यमान हैं, होते हुए, जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् सीमित क्षेत्र में स्वार्थान्ध नेतृत्व और अनुचित-अवैध धनार्जन की दिशा में नहीं मुड़ता है और न ही अन्य भूतपूर्व जमींदारों की भाँति भीतर से बाघ बना ऊपर से पंचायत और विकासादि सेवा की रामनामी ओढ़ लेता है। उसके द्वारा गाँव का सच्चा चतुर्मुखी सुधार बहुत गहराई के साथ होता है। वह मृत परम्परा और जड़ अन्धविश्वासों में भटकती जनता को कृषि-क्रान्ति और कृषि-उद्योग का वैज्ञानिक युगानुयायी और बहुत ही प्रगतिशील कार्यक्रम देता है। नव-निर्माण की नवीनतम ग्रामात्मा की छटपटाहट उसके भीतर है। आधुनिक भौतिकवादी उत्थान वाले तथा विज्ञान और तकनीक की सहायता से उत्थित आधुनिक विश्व को वह देख चुका है। गाँव के नगरीकरण और फिर आधुनिकतम सुख-सुविधाओं के सम्पर्क में उसे खींच लाने के लिए वांछित दिशा में उसके प्रयत्न बहुत सार्थक प्रतीक होते हैं। जमींदारी उन्मूलन से उत्पन्न जमींदारों का विक्षोभ और क्षतिपूर्ति की बीहड़ ललक उसमें नहीं है। स्वातन्त्र्योत्तर भूतपूर्व जमींदारों की पदलोलुपता और नेतृत्व-कामना भी उसमें नहीं है। वह हल-बैल नहीं ट्रैक्टर, बुलडोजर्स,

---

१. हिन्दी उपन्यास : डा० शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० ४६६।

भूमि-शोधन और नदीघाटी योजना के आधुनिकतम सेवादर्शों का प्रस्तोता सिद्ध होता है। भूतपूर्व जमीदारों की कोटि में जितेन्द्र अपवाद है। मूलतः उसके समस्त क्रियाकलाप, समग्र ग्राम-विकास के आर्थिक मुद्दों पर केन्द्रित हैं। इसीलिये विरोधियों के प्रत्येक मोर्चे पर उसे सफलता मिलती है। पार्टीबन्दी के पचड़े से दूर सत्ता नहीं गाँव की मूक सेवा वाले सन्दर्भों में उठे 'परती परिकथा' के भूतपूर्व जमीदार जैसे व्यक्ति यदि ग्रामांचलों में हों तो वहाँ अन्त में सेमलबनी आकाश में अबीर-गुलाल उड़ाती आसन्नप्रसवा धरती की सस्मित करवट के स्वर्ग-सुख सचमुच साकार हो जायँ'।[1]

(व) 'आधा गाँव' के जमीदार

ऐसा प्रतीत होता है कि जमीदारी उन्मूलन के पश्चात् स्वयं यह वर्ग आन्तरिक स्तर पर किसी मनोवैज्ञानिक आर्थिक-आतंक-व्याधि से आक्रान्त हो जाता है और चतुर्दिक सुरक्षा-प्रयत्नों के हाथ-पैर फेंकने लगता है। संकोचन और विस्तार दोनों प्रवृत्तियाँ कार्य-रत होती हैं। परिवर्तन-चक्र तीव्र गति से चलता है। कुछ उपयोगी कोण भी उभर आते हैं। 'परती परिकथा' की नट्टिनें सोचती हैं—'बबुआन टोली' के एक-एक घर में चार-चार नट्टिनें गुज़र करती थीं।...अब तो बबुआन टोली का लड़का कब जवान होता है, नट्टिटन टोली की परेवा-पंखी भी नहीं जानती।'[2] यह नयी आर्थिक-चपेट का प्रभाव है। हिन्दी-कथा-साहित्य में इस चपेट के ज्वलन्त प्रतीक है फुन्नन मियाँ। कहीं वे घोर अतीतजीवी[3] हैं तो कहीं उत्कृष्ट वर्तमान-विक्षुब्ध।[4] कथाकार शिवप्रसाद सिंह के भूतपूर्व जमीदार फुन्नन मियाँ के ऊपर जमीदारी टूटने का प्रभाव ऐसा पड़ता है कि उन्होंने 'कुएँ पर पानी भरने वालियों के सामने नये तर्ज के बाल काढ़ने के हुनर पर लेक्चर देने की आदत को तर्क कर दिया। गाँव के 'रेखिया-उठान' छोकरों को गुलबकावली की दास्तान सुनाना भी बन्द कर दिया।

---

१. 'परिकथा', पृ० ५२८।
२. 'परती परिकथा' : पृ० १७८
३. डॉ० शिवप्रसाद सिंह के कथा-संग्रह 'इन्हें भी इन्तजार है' में संकलित 'आखिरी बात' शीर्षक कहानी के पात्र।
४. डॉ० राही के उपन्यास 'आधा गाँव' का एक पात्र।

फुन्नन मियाँ के इस असमय वैराग्य से गाँव में एक अजीब उदासी छा गई।'[1] एक दिन फुन्नन मियाँ और पंडित जी में बहस होती है। बहस का प्रथम विषय होता है घोड़े की सवारी और उसकी विभिन्न नस्लें और द्वितीय विषय होता है कतिपय लब्धप्रतिष्ठ पहलवानों की चर्चायें। बहस खूब बढ़-बढ़ कर होती है और फुन्नन मियाँ को देखते लगता है कि जिसका कोई वर्तमान नहीं होता है वह अतीत में जीता है। भूतकाल की स्मृत्तियों को उकसा-उकसा कर वर्तमान की मनहूसी को काटता है। जीवन-बंजर हो जाता है। डॉ० राही मासूम रज़ा के फुन्नन मियाँ, भूतपूर्व जमीदार की दशा भिन्न प्रकार की है। यदि सन् १९४७ एक सीमा रेखा सी हो जाती है तो 'आधा गाँव' के फुन्नन मियाँ की दो तरह की तसवीरें अत्यन्त स्पष्ट हो जाती हैं। एक जमीदारी उन्मूलन के पूर्व की और दूसरी जमीदारी उन्मूलन के बाद की। जमीदारी उन्मूलन के पूर्व फुन्नन मियाँ एक स्वाभिमानी और सज्जन सैयदवंशाभिमानी हैं तथा पूर्वार्द्ध में अनेक स्थलों पर जहाँ अवसर आये हैं उनकी बातों में बड़ी सरसता, मिठास और भद्रता झलकती है।[2] वही फुन्नन मियाँ पुस्तक के उत्तरार्द्ध में जबकि जमीदारी उन्मूलन हो चुका है और वंशाभिमान की ऊँचाई से ठोस आर्थिक भूमि पर उतर कर जीविकार्थ जूता बेचने को विवश हैं तथा अत्यन्त भग्नाश, विक्षुब्ध और उन्मादग्रस्त से होकर बात-बात में धाराप्रवाह गालियाँ बकते हैं। मातादीन पर क्रुद्ध होकर फुन्नन मियाँ चीख उठते हैं, 'ऊ मादरचोद की बात मत करो हमसे। अब हम का बतायें ? मंदिर के नाम पर ज़मीन न दिये रहते त भोसड़ीवाले की माँ चोद के रख देते।'[3] फुन्नन मियाँ बिना गाली, चीख, आक्रोश, विक्षोभ और कटोच-चोट के एक वाक्य भी नहीं बोलते। इस भाषा में जमीदारी उन्मूलन के पश्चात् की आर्थिक-चोट निहित है। 'आधा गाँव' के सभी मुसलमान जमीदारों की यही दशा है। ये लोग ऐसे जमीदार हैं जिनका सम्बन्ध कृषि से नहीं है और न भू-व्यामोह इन्हें तिकड़म से जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् लम्बे-चौड़े भू-खण्डों की सीर सुरक्षित कर लेने की प्रेरणा देता है। कृषि में लगे करैता के जैपालसिंह[4] जैसे जमीदार और उनके वंशज

---

१. 'इन्हें भी इन्तज़ार है' पृ० १०५।
२. देखिये—'आधा गाँव', पृ० १०९, १५६, १६८, १७९, १८४।
३. 'आधा गाँव', पृ० ३३८।
४. 'अलग-अलग वैतरणी' के पात्र।

तो फिर भी सकुशल हैं परन्तु गंगोली के मात्र वसूली पर निर्भर मियाँ लोगों की दशा जमींदारी उन्मूलन के बाद बहुत मर्मस्पर्शी हो जाती है। कथाकार इस संदर्भ में एक चुभती सी स्थितियों की चित्रावली उपस्थित करता है—'हर घर में अम्बारों बक्स थे। हर जनाने कमरबन्द में कुंजियों का भारी गुच्छा था, पर बक्स खाली थे। तालों की कोई जरूरत न थी, पर औरतें कुंजियों के गुच्छे से चिमटी हुई थीं। क्योंकि वही उनकी खुशहाली के जमाने की एक यादगार रह गया था।"[1]

२—योजना विकास

(१) 'परती परिकथा' का निर्माणोत्साह

योजना-विकास के पीछे आसेतु-हिमांचल विस्तीर्ण इस महान् भारत महादेश के पुनर्निर्माण की विशाल परिकल्पना है और इसकी प्रस्तुत महत् संभावनाओं को जाग्रत-योजित कर आर्थिक दृष्टि से इसकी खोई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने का सपना है। किन्तु दुर्भाग्यवश इस पुनीत क्षेत्र में राजनीतिज्ञ लोग एकाधिकारपूर्वक इस प्रकार चिपक गये कि साहित्यकारों का उल्लास टूट गया। स्वाधीनता-संग्राम में जिस प्रकार साहित्यकारों का हार्दिक योगदान मिला वैसा उसके पश्चात् स्वदेश के नव-निर्माण और योजना-विकास में नहीं मिल रहा है। इस विकास क्रम में इतना महान् ऐतिहासिक परिवर्तन इस देश में हो रहा है और यहाँ का साहित्य इन सारे परिवर्तनों के प्रति लगभग अपरिचित और उदासीन है, कथाकार कुंठित है। ऐसा नहीं है कि अविकसित-अप्रतिष्ठित स्वदेश की पीड़ा उन्हें दंशित नहीं करती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रथम दशक में 'परती परिकथा' में रेणु ने प्रदेश के 'धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर' की वेदना का अनुभव किया था। उन्होंने 'पतिता भूमि, परती ज़मीन, बन्ध्या धरती...धरती नहीं धरती की लाश, जिसपर कफन की तरह फैली हुई हैं—बालूचरों की पत्तियाँ'[2] की जिस पीड़ा को अभिव्यक्त किया है वह योजना विकास की गहरी आकांक्षाभिव्यक्तिस्वरूप भूमिका है। एक बहुत बड़ी प्रश्न सामने पड़ा है कोसी मैया की विनाशलीला में लक़वा मार गये लाखों एकड़

---

१. 'आधा गाँव', पृष्ठ ४१३।

२. 'परती : परिकथा' का आरम्भ।

भूमि का पुनरुज्जीवन। दुलारी दाय की पाँचों सूखी धाराओं में जलसंचार !! 'कोसी प्रोजेक्ट पार्टी नं० १० ने रिपोर्ट दी है, जाँच करने के बाद—इस परती पर यत्र-तत्र सर्वत्र कई प्रकार की मिट्टी पाई गई है। जंगल और वृक्ष ही नहीं गेहूँ, धान, पाट तथा दलहन-तिलहन की खेती के योग्य धरती भी मिली है।'[1] समस्या पानी की है। लोग प्रश्न करते हैं, पानी कहाँ से आयेगा? उत्तर में 'सुन्नरि नैका' की लोककथा और 'दंता राकस' का स्मरण दिलाया जाता है।[2] इस लोककथा को रघ्घू रामायनी अत्यन्त सात्विक-भाव से सुनाता है।[3] इस कथा का सम्बन्ध अकाल-अवर्षण से है। जब धरती को लक़वा मार जाता है तो सुन्दर नायक और सुन्दरि नायिका—भाई-बहन मिलकर जल की व्यवस्था करते हैं। नायिका अपने 'गुण' से पाताल से अशेष जल बहिर्गत कर सबको परितृप्त करती है। इस महान् कार्य के लिए वह दंता राकस को अपने प्रेम-पाश में फँसाती है। इस लोककथा में सुन्दरि नैका के रूप में विकास और दंता राकस के रूप में सिंचाई आदि के वैज्ञानिक संयंत्रों को लिया गया है। 'परती परिकथा' इसी विकास और निर्माण की कहानी है।

'परती परिकथा' के द्वितीय परिवर्तन में कोसी प्रोजेक्ट का विधिवत् वर्णन आया है। प्रोजेक्ट पार्टी नम्बर दस लगी है। 'पार्टी क्या है एक छोटा मोटा शहर है। दर्जनों डिपार्टमेन्ट्स उनके अलग-अलग अधिकारी, स्टेनो, पियून, बैरा...धड़-धड़ धड़ाम ! ब्लास्टिंग होती है। पहाड़ तोड़े जा रहे हैं। बड़े-बड़े बुलडोजरों की गड़गड़ाहट...'[4] और इन 'प्यार के तीर्थ क्षेत्रों'[5] के निरीक्षण से जितेन्द्र को बड़ी प्रेरणा और आशा मिलती है। एक दिन उसके प्रयत्न से परती तोड़ने के लिए आपरेशन पार्टी उसके गाँव में आ जाती है। 'एक, दो, तीन, बुलडोज़र, क्रालर्स, एंगलडोजर्स और दो न जाने कौन सी मशीनें जिनके पिछले दो पहिये धतूरे के बीज के बड़े-बड़े संस्करण। ज़मीन को छलनी

---

१. 'परती परिकथा' पृष्ठ ४५७।
२. वही, पृष्ठ ४५८।
३. वही, पृष्ठ १८७ से १९६।
४. वही, पृष्ठ ३१०।
५. वही, पृष्ठ ३११।

बना देंगी, गतर-गतर उधेड़ देंगी।"[1] परानपुर की परती के साथ वहाँ के अंध विश्वासों और रूढ़ियों की भी परती टूटती है। विरोध के रहते भी नदी घाटी योजना के विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तावित कोसी की मुख्यधारा से नहर द्वारा सूखी दुलारी दाय की धारा को जोड़ने का कार्य पूर्ण होता है। समाचार-पत्र में प्रकाशित समाचार कि परती की हजारों एकड़ सूखी धरती अब शस्य-श्यामला हो जायेगी, बारहों मास उसके शुष्क कुंड जलपूर्ण रहेंगे, परती किसानों और भूमिहीनों में बँटेगी, एक योजना-विकास का नवोल्लास बन कर गाँव पर छा जाता है।[2] लोग योजना-विकास के नवपरिवर्तित परिवेश में अब मनुष्य के साथ मनुष्य के खोये घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्पर्क-सूत्र की खोज के लिए ललकने लगे हैं।[3]

(ख) प्रथम दशक का उल्लास

योजना-विकास के प्रति जो उल्लास स्वतन्त्रता के प्रथम दशक में है और जो 'परती परिकथा' में अभिव्यक्त हुआ है वह दूसरे दशक में टूटता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। उक्त उपन्यास की रचना के १३ वर्ष बाद स्वयं रेणु का अनुभव है कि उनका भरोसा गलत निकला। वे कहते हैं, 'मुझे विश्वास था जब कोसी योजना सफल होगी तो जिन्हें अभी जमीन नहीं मिली है उन्हें आगे चलकर मिल जायेगी। लेकिन वैसा नहीं हुआ। आज भी १०० पीछे ७५ लोग ऐसे हैं जिनके पास कोई भूमि नहीं है।'[4] योजना विकास ने प्रारम्भ से ही एकांगी मोड़ ले लिया। कृषि से अधिक उद्योग पर बल पड़ गया। अकिंचन-असमर्थों से अधिक समृद्धों को संरक्षण और सुविधा प्राप्त हो गई। गाँवों से अधिक विकास नगरों का हो गया और कृषकों की सेवा के ब्याज से व्यवसायी, नेता, अधिकारी और कर्मचारीगण, विकास-रस-पान कर मोटे हो गये। योजनागत सत्ता संरक्षित अपव्यय और काली कमाई सन्दर्भों ने बुद्धिजीवियों में एक विशेष प्रकार की उपरति पैदा कर दी और साहित्य-क्षेत्र में 'व्यापक मोहभंग

---

१. 'परती परिकथा', पृ० ४५९।
२. वही, पृ० ५०७।
३. वही, पृ० ४७१।
४. दिनमान—३ मई, १९७० पृ० २४।

की प्रतिक्रिया में विकासादि से सम्बन्धित साहित्य 'सरकार के साहित्य' अथवा एक विशेष प्रकार के 'सतही अछूत-से-साहित्य' की भाँति लिया जाने लगा। इसीलिए रेणु के पश्चात् मायानन्द मिश्र, बालशौरि रेड्डी और वृन्दावन-लाल वर्मा जैसे कुछ ही साहसी कथाकार निकले जिन्होंने योजना-विकास की सफलताओं का आलेखन किया।

मायानन्द मिश्र के उपन्यास 'माटी के लोग : सोने की नैया' के अन्तर्गत कोसी तटबन्ध के पार्श्ववर्ती भपटियाही गाँव में जहाँ उदहा नदी सूख गई है, मछियारे कास-पटेर और झौआ काटकर किसी प्रकार विपन्नावस्था में दिन काट रहे हैं,[1] वहाँ योजना-विकास द्वारा नहर आने और सिंचाई-खाद द्वारा बालू को उपजाऊ बनाने की एक क्षीण आशावादिता का विकास लोगों में होता है।[2] साथ ही जब सरकारी ट्रैक्टर मिलने की बात लोग साश्चर्य सुनते हैं और सुनते हैं कि एक-दो दिन में ही सैकड़ों बीघे की यह कास-पटेर और झौआ वाली जमीन वह उधेड़ देगा तो उनमें जीविका की आशंका भी उत्पन्न होती है। इसी कास-पटेर के सहारे उनकी रोटी चलती है।[3] मगर क्षेत्रीय बी० डी० ओ० और एक कांग्रेस-कर्मी नेता की सहायता से गाँव में विकास का अग्रदूत सर-कारी ट्रैक्टर आ ही जाता है तथा उसे हाथी से भी बढ़कर मानते हुए 'सिन्दुर पिठार' लगाकर उसकी विधिवत् पूजा भी होती है।[4] बी० डी० ओ० की सभा में गांधी-जवाहर की जय-जयकार होती है।[5] निरक्षरता निवारण और प्रौढ़शिक्षा की व्यवस्था होती है।[6] और अन्त में योजना-विकास की पूर्ण सफलता पर बी० डी० ओ० की भी जयजयकार होती है।[7] लेकिन प्रश्न खड़ा होता है उपन्यास तत्व का? यद्यपि उसकी रक्षा के लिए बिछड़े पति-पत्नियों और प्रेमी-प्रेमिकाओं के सम्मिलन के आयाम उभरे हैं परन्तु कथात्मक

१. 'माटी के लोग : सोने की नैया' पृ० ३६।
२. वही, पृ० ४८।
३. वही, पृ० ४९।
४. 'माटी के लोग : सोने की नैया' पृ० १४७।
५. वही, पृ० १५६।
६. वही, पृ० १७०-१७२।
७. वही, पृ० २५४।

रागतत्व और सरकारी प्रचारात्मकता का निर्वाह एक मंच पर सम्भव नहीं। पुनश्च ऐसी अल्प अवधि में इच्छा-विकास के इन्द्रजालिक सन्दर्भ प्रामाणिक नहीं सिद्ध होते हैं। झपटियाही गाँव का यह विकास कुछ उसी प्रकार है जिस प्रकार आदिवासियों के एक जंगली गाँव में प्रेम-सूत्र में बँधा विकास इतनी तेजी से पहुँचता है कि जैसे रातों-रात उस बीहड़ अरण्य में सड़क-बिजली, नलकूप, बस स्टैंड, क्रीड़ागार, विद्यालय और चिकित्सालय आदि आधुनिकता के सभी चिह्न उग आते हैं और बटन दबाते ही वह सोनपुर की बस्ती विद्युत छटा से जगमगा उठती है।[1] यही नियति बुन्देलखण्ड के पहाड़ी ग्राम डाबर की है। कलक्टर के प्रयत्न से विकास का जादू गाँव पर छा गया कि उसके एक भाषण में ही लोग सहकारिता को समझ गये, उसके लिए सहमत सन्नद्ध हो गये। पड़ोसी गाँव से सहयोग की भावना भी जग गई। मिल-जुल कर रक्षा के कार्यक्रम भी बना लेते हैं।[2] बंजर पर ट्रैक्टर चलने लगा। बुलडोजर से बँधी पड़ गई। खेत लहलहा उठे।[3] श्रमदान,[4] भूमिसुधार,[5] साक्षरता,[6] सांस्कृतिक कार्यक्रम,[7] और कलक्टर के नेता-टाइप विकासी भाषण[8] आदि सन्दर्भों में पंचवर्षीय योजना की सफलता उपन्यास भूमि पर उतर आती है। 'कताई-बुनाई, मुर्गी-पालन, भेड़-बकरियों की नसल का सुधार, शहद उत्पादन, लुहार-बढ़ई का काम और बाँध-बँधी डालना"[9] भी नहीं छूट पाता है। परन्तु योजना-विकास-सन्दर्भ में आन्तरिक स्तर पर परिवर्तन और मूल्यानुसंक्रमण की जो उपलब्धियाँ 'परती : परिकथा' में निखरी हैं वे इन उपन्यासों में दुर्लभ हैं। इनमें मात्र वाह्यपरिवर्तन ही प्रचारधर्मिता के साथ उपलक्षित है। समस्त देश

---

१. **'धरती मेरी मां' : बालशौरि रेड्डी, पृ० १८१।**
२. **'उदयास्त'—वृन्दावनलाल वर्मा पृ० ७३।**
३. **'उदयकिरण'—वृन्दावनलाल वर्मा, पृ० ७७।**
४. **वही, पृ० ७२।**
५. **वही, पृ० ७७।**
६. **वही, पृ० ८६।**
७. **वही, पृ० ९७, १०९, १२३।**
८. **वही, पृ० ६६, ९०, १०३, १४६ :**
९. **वही, पृ० ८३।**

में परानपुर, भपटियाही और डाबर का विकासाकांक्षी प्रसार साढ़े पाँच लाख की इकाइयों में एक ज्वलन्त सत्य है। निस्सन्देह योजना-विकास से नयी चेतना जाग्रत हुई और आर्थिक विकास का पथ प्रशस्त हुआ है। देश की प्राकृतिक शक्तियों और उनमें निहित असीम संभावनाओं ने समृद्धि के सिंहद्वार को मुक्त कर दिया है। देश की रौनी जैसी अगणित नदियों के बन्धों ने जगतपुर[1] जैसे कोटि-कोटि गाँवों को जो प्राचीन रूढ़ियों और जड़ गतानुगतिकताओं में आबद्ध हैं भविष्य की नयी आशावादिता का सन्देश दिया है। जनशक्तियाँ सुदृढ़ आर्थिक आधार पाकर शोषक सामन्तवादी शक्तियों के सामने डटकर मोर्चा लेने में समर्थ हो जाती हैं। योजनाबद्ध कृषि विकास का प्रत्यक्ष अर्थ-लाभ एक झटके में प्राचीन किसान को बदल देता है। नयी कृषि-क्रान्ति के बाद नये कथा-साहित्य में योजना-विकास के नये प्रभाव-चित्रण अपेक्षित हैं। कथा-साहित्य में प्रधानतया यत्किंचित् इस सम्बन्ध में रचनात्मक स्तर पर प्रभावशाली अभिव्यक्तियाँ आई हैं वे सब इसके खोखलेपन के साथ जुड़ी हुई हैं।

(ग) विकास की निस्सारता

योजनागत आर्थिक विकास गाँव के नवीन शोषक बिचौलियों तक ही अटक जाता है। हिमांशु जोशी की कहानी में भूतपूर्व जमीदार 'आदमी : जमाने का'[2] बन ग्राम-प्रधान बन जाता है। श्रमदान, कन्या-पाठशाला, पंचायतघर, सहकारी फलोद्यान और सहकारी भैंस आदि विकास-कार्य के प्रदर्शनीय ठाट ठट जाते हैं। वास्तविकता का रहस्योद्घाटन कमिश्नर साहब के निरीक्षण में भी नहीं हो पाता है कि भैंस वास्तव में सभापति जी की है। पानी की डिग्गियाँ नकली हैं और सहकारी, फलोद्यान में पौदे नहीं, वास्तव में रातों-रात एक दिन के दिखावे के लिये हरी टहनियाँ गाड़ दी गई हैं, और कमिश्नर साहब पंचवर्षीय योजना की सफलता पर अपने भाषण में भारी प्रसन्नता व्यक्त करते हैं। जनता और सरकार दोनों को भरमाये यह ' 'आदमी : जमाने का' १५ हज़ार की ग्रान्ट और १००) पुरस्कार मार लेता है। स्थितियाँ ऐसी होती हैं कि विज्ञ लोग मुँह बन्द रखते हैं। 'स्वागत-सम्मान' में डूबे अधिकारी को

---

१. लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'धरती की आँखें' की पृष्ठभूमि।

२. हिमांशु जोशी की कहानी, कहानी-संग्रह 'अन्ततः' में संकलित।

मात्र कागजी कार्यक्रम की पूर्ति अपेक्षित है। योजनायें मात्र पोल हो जाती हैं। मार्कण्डेय की एक कहानी के नायक बसावन और रमज़ान जैसे जनता-वर्ग के व्यक्तियों के मन में विकासी 'आदर्श कुक्कुटगृह'[१] के लुभावने आर्थिक कार्यक्रम भले स्वर्ण-स्वप्न बन कर उदित हों परन्तु अक्षम नौकरशाह अधिकारी-वर्ग के रहते वह पूर्ण होने वाला नहीं। दोनों पचास मुर्गियों के पालन के साथ महीने भर में ही सात सौ रुपयों का लाभ देखते हैं।[२] और वर्ष-दो वर्ष में ही यदि पूरे गाँव में यह 'आदर्श-कुक्कुटगृह' योजना फैलती है तो गाँव का नगरीकरण सम्भव प्रतीत होता है।[३] कलक्टर के भाषण से भी इन स्वप्नों की पुष्टि हो जाती है।[४] ठाकुर के बैलों की सार के सामने 'आदर्श कुक्कुटगृह' का प्रपंच खड़ा होता है तो प्रारम्भ में उद्‌घाटन की व्यवस्था होती है। सलामी, स्वागतगान, गेट, झंडी के साथ, बाँस का टट्टर, तार की जाली और दरबे, अर्थात् दर्शनी कुक्कुटगृह बनाया जाता है। बी० डी० ओ० की राय है कि दरबे खाली न रहें। अतः रमज़ान के कई मुर्गे और गाँवों में से अन्य मुर्गे आये। 'कार्यवाही को पूरी तौर पर समाप्त करने की गरज से कहीं-कहीं धूल और तिनके जुटा कर दो-चार अंडे भी रख दिये गये।"[५] तहसीलदार, डिप्टी और कलक्टर साहब आते हैं। भाषण होते हैं। और चलते-चलते दरबे के सारे मुर्गे और अंडे मेम साहबों के नाम पर साहबों के चपरासी समेटते जाते हैं! क्षणमात्र में समस्त कृत्रिम ठाट ढह जाता है परन्तु कथाकार की स्थापना है कि 'आदर्श कुक्कुटगृह' विधिवत् स्थापित हो चुका है।[६] स्पष्ट है कि इस आर्थिक-विकास का मूल्य रमज़ान के लिये बहुत गम्भीर हो गया। उसके मुर्गे श्रीगणेश में ही चले गये। विकास सम्पन्नों के लिये वरदान और विपन्नों के लिये अभिशाप हो जाता है। योजना-विकास-क्रम में रमज़ान जैसा ही नियति-भोग मार्कण्डेय के एक अन्य पात्र भोला कोइरी को प्राप्त

---

१. मार्कण्डेय की कहानी, कहानी-संग्रह 'भूदान' में संकलित।
२. वही, पृ० ३६।
३. वही, पृ० ३८।
३. वही, पृ० ४१।
५. वही, पृ० ३९।
६. वही, पृ० ४२।

होता है ।[1] प्रथम पंचवर्षीय योजना में गाँव में नहर आई तो गाँव के शीर्षस्थ प्रतिष्ठित तिवारी के खेत पर आकर काम रुक गया । वोट दे-दिलाकर जिताये गये मिनिस्टर की सिफारिश और इंजीनियर को एक हज़ार के साथ मुर्रा भैंस का अकोर देकर तिवारी ने अपने खेत से नहर मुड़वा दी और भोला कोइरी के उस एकमात्र सम्पूर्ण खेत से नहर निकलवा दी जिसे पाँच वर्ष में आधे पेट खाकर उसने क्रय किया था और जिसे लेकर उसके तथा उसके बाल-बच्चों की जीविका के सपने थे । योजना-विकास के परिप्रेक्ष्य में भ्रष्टाचार के ऐसे उदाहरण अपवाद नहीं हैं और भोला कोइरी जैसे कोटि-कोटि दीन-हीन जन स्वातन्त्र्योत्तर विकास-रथ-चक्रों में पिस गये । उनके पास उत्कोच के लिये धन-दौलत तो क्या उनके लिये 'दौने की पत्तियाँ' भी नहीं रह गईं । उत्तमकोटि की मानवता का आदर्श पाठकों के चित्त पर झलका कर और न केवल नहर की ठीक-ठीक नाप कर खेत सरकार और भू-स्वामियों की इच्छा पर अर्पित करके उनकी मुक्ति होती है अपितु चोर अथवा खूनी बनकर हिरासत में खपना पड़ता है । यह सत्य है कि युग-युग की सूखी धरती माता की पीड़ा और निरन्न मानवता की मर्म-वेदना देखते भोला कोइरी का यह बलिदान नगण्य है परन्तु उसके साथ जो इस त्रासदी के क्रूर भ्रष्टाचार का अमानवीय षड्यन्त्र जुड़ा है वह गम्भीर मानवीय अन्वीक्षा की आकांक्षा रखता है । एक ओर सिंचन-सुविधाओं के अभाव में मार्कण्डेय की एक कहानी में चित्रित 'मधुपुर के सिवान का एक कोना'[2] सिहक रहा है । परम्परागत सिंचाई पद्धति में कुएँ पर मोट लेकर पुरवाह, छिनवाह और बरवाह हतोत्साह हैं । अन्तस्तल से शत-शत आकांक्षाओं के स्रोत सिमट कर नहर अथवा नल-कूप के अनागत चित्रों में समा जाते हैं । ये आ जाते तो इस बखेड़े से मुक्ति मिलती ।[3] नार, पुर, मोट, बरहा, चरसा, जुआ और बैल आदि की आदिम दृश्यावलियों के नव-विकास में अस्तंगत होने की कल्पना तो हम करते हैं

---

१. मार्कण्डेय की कहानी 'दौने की पत्तियाँ' का पात्र ।
('हंसा जाइ अकेला' में संकलित कहानी)
२. मार्कण्डेय की एक कहानी । 'सहज और शुभ' शीर्षक कहानी-संग्रह में संकलित ।
३. उक्त, पृ० ५८ ।

परन्तु जिन अविकसित जनों के लिए यह विकास-विस्तार योजित है उनके विनाश की कल्पना प्रजातान्त्रिक अनुचिन्तन-क्रम को विखण्डित कर देता है।

(घ) सहकारिता और चकबन्दी

गाँवों में सर्वाधिक सफल सम्भवी प्रजातांत्रिक प्रगतिशील आर्थिक-कार्यक्रम सहकारिता है जिसे सुहाना बायुर्दन के देशद्रोही तस्कर-वृत्ति-प्रिय भूतपूर्व जमीदार देशराज के हृदयपरिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने उपन्यास 'अमरवेल' में योजित किया और इस सीमा तक आस्फालित किया कि जिला कोआपरेटिव अफसर राघवन की अबाध सफलताओं में प्रचारात्मकता झलकने लगी। इस सन्दर्भ में मुक्तमनता भी नहीं दृष्टिगोचर हो रही है। 'सहकारी कृषि-समिति को जो भूमि लगाई गई उसका अधिकांश पुराने जमीदारों की परती थी। सड़ी बछिया बाभन को।'[1] देशराज का हृदय-परिवर्तन हुआ। उसकी तानाशाही वृत्ति ने प्रजातान्त्रिक मोड़ लिया और सहकार के सामने उसने आत्मसमर्पण कर दिया, मगर किस सीमा तक? उसकी राय है, 'सहकारी को जो खेत दे दिये हैं उतने काफी हैं। फार्म निजी खेती के लिये ही रहेगा।'[2] 'अमरवेल' से लगभग एक दशक बाद प्रकाशित वर्मा जी के उपन्यास 'उदयकिरण' में उक्त शंकाशीलता जाती रहती है और अपने सर्वतोमुखी विकास एवम् अभ्युत्थान के लिए ग्रामीण अनन्य भाव से सहकारिता के प्रति समर्पित हो जाते हैं। सहकारिता के उत्साह में लोग संयुक्त मोर्चाबन्दी कर डाकुओं के आतंक से मुक्ति पा लेते हैं। जहाँ अन्न-वस्त्र के लाले पड़े हैं वहाँ धान की लहलहाती पकी फसलें किसानों को भविष्य की आशाओं के सन्दर्भ में उल्लसित कर रही हैं।[3] जहाँ बैर-विद्वेष और मौन-संत्रास में गाँव डूबा रहता वहाँ नाटक खेलना नियमित रामायण-पाठ, भजन-कीर्तन और स्वागत-सम्मान आदि में उच्च-रुचियों का विकास होने लगा।[4] जैसे पहला उपन्यास कोआपरेटिव अधिकारी की सफलता का उपन्यास है उसी प्रकार यह दूसरा

---

१. 'अमरबेल'—वृन्दावन लाल वर्मा, पृ० ४५५।

२. वही, पृ० ४७३।

३. 'उदयकिरण'—पृ० १२९।

४. वही, पृ० १४३।

उपन्यास जिलाधीश के सफल नेतृत्व का निदर्शक है । 'माटी के लोग : सोने की नैया' में सहकारिता का सन्देश सर्वप्रथम बी० डी० ओ० द्वारा गाँव को मिलता है ।[1] और उक्त उपन्यास के अधिकारियों की भाँति सहकारिता की सफलता के सन्दर्भ में बी० डी० ओ० का स्तवन इसमें कुछ अतिरिक्त उत्साह के साथ हुआ है ।[2] कोआपरेटिव अफसर, कलक्टर और बी० डी० ओ० की सफलताओं का प्रचार निन्द्य नहीं है परन्तु इन उपन्यासों में ऐसा करके जनता की अपनी शक्ति के विकास और उसकी नेतृत्व-सम्भावनाओं को अपरिचित छोड़ दिया जाता है ।

वास्तव में इस दिशा में बहुत धुंध है । सरकारी तंत्र पर से विश्वास हट गया है जबकि योजनाओं—चाहे वह सहकारिता हो, चाहे चकबन्दी हो अथवा भूमि-सुधार या कृषि-क्रान्ति हो—को गाँवों में कार्यान्वित करने का पूरा उत्तरदयित्व उन्हीं पर है । व्यापक स्तर पर इसी अन्तर्विरोध को देश जी रहा है । विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के उपन्यास 'रीछ' में चाँदसी गाँव के लोग प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि 'त्यागी जी (ए०सी०ओ०) को चकबन्दी के लिए गाँव से रिश्वतें आ रही हैं । हनुमान बाबा के भतीजे प्राणचन्द इसके नेता हैं । केशरी के जूते से त्यागी डरता है । अतः उनकी जमीन का अच्छा चक बना देगा । रीछों (पूँजीपति-महाजन-जमींदार) का तो चक कोई बिगाड़ नहीं सकता ।'[3] चकबन्दी की उत्कोच-अंधेर-वृत्ति और विशिष्ट-संरक्षण-वृत्ति ऐसा ज्वलन्त सत्य है कि कृषक-गाँवों का कायाकल्प कर देने वाला सर्वाधिक प्रभावशाली और प्रत्यक्ष लाभकर कार्यक्रम होते हुए भी लोगों का मन इसके प्रति कड़वाहट से भर उठता है । ऐसा नहीं कि इसमें सत्यशील व्यक्ति नहीं हैं किन्तु उत्कोच-भाव प्रशासनिक प्रकृति में ऐसा घुलमिल गया है कि कभी-कभी इससे रहित सज्जनों को गंभीर मूल्य चुकाना पड़ जाता है । रामदरश मिश्र के उपन्यास में तिवारीपुर के ए०सी०ओ० मिस्टर राय का संकल्प है कि घूस नहीं लेंगे । फलतः न केवल कलंकित होते हैं अपितु त्याग-पत्र भी देना पड़ जाता है ।[4] मिस्टर राय

---

१. **'माटी के लोग : सोने की नैया', पृ० १५६ ।**
२. **वही, पृ० १५६, २०८, २२२, २५४ ।**
३. **'रीछ' विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, पृ० ६४३ ।**
४. **'जल टूटता हुआ'—रामदरश मिश्र, पृ० ४७५ ।**

क्या करें ? जनवर्ग में भी दीनदयाल जैसे प्रतिष्ठित चरित्रहीन दलाल हैं। वह जेब रुपयों से गरमा कर निकलता है। अगर दो सौ साहब को देता है तो एक सौ निजार्पित।[1] गाँव के आर्थिक-स्वार्थों को चकबन्दी सीधे प्रभावित करती है। अतः इसके आगमन के साथ ही गाँव में आन्तरिक और बाह्य परिवर्तनों की गति तीव्र हो जाती है। तिवारीपुर में राजनीतिक स्वार्थों के कारण जो पार्टी-बन्दी हुई है और स्व-पर की जो सुदृढ़ पंक्तियाँ निर्मित हुई हैं वे चकबन्दी के कारण विखंडित हो जाती हैं और नये आर्थिक स्वार्थों के आधार पर कतारें खड़ी होती हैं।[2] युग की नग्न स्वार्थपरता और क्षुद्र-विशालोदरता चकबन्दी में अनावृत हो जाती है। चकरोड जोतने की प्रतिद्वन्द्विता इसी मनोवृत्ति का प्रतीक है।[3] परम्पराओं की राहों को तोड़ने वाले जन लगता है भू-पृष्ठ पर आवागमन की राहें भी अवशिष्ट नहीं रहने देंगे। सर्वे की भाँति चकबन्दी ने ग्रामीणों को ऐसा झकझोरा कि उनकी धारणायें और मान्यतायें बदल गईं। जीवन के बदलते यथार्थ से टकराता और नैतिक मान्यताओं की नयी चुनौतियों पर कसता धरमू पंडित चकबन्दी में मिले अपने विशाल प्लाट पर खड़ा होकर सोचता है, यह उनका इतना बड़ा चक चकबन्दी में हो गया। इनका-उनका मिलाकर सुविधानुसार चक बने। हमारी तुम को मिली, तुम्हारी हमको मिली। धरती फेर-बदल हुई। तभी फायदा हुआ। खेत में बाप-दादे का बनाया हद टूटा तो ज़िन्दगी में क्यों नहीं टूटता।[4]

(ङ) कृषि-क्रान्ति

यह हद अथच रूढ़ियों परम्पराओं की सीमायें—जैसा कि अनुभवों से स्पष्ट है, गाँवों में योजना-विकास के दो दशक बाद कृषि-क्रान्ति के प्रत्यक्षीकरण के साथ उध्वस्त होने लगीं। कृषकों ने सच्चे स्वराज्य का आगमन इसी रूप में प्रथम बार आन्तरिक रूप से स्वीकार किया। कृषि का लाभकर व्यवसाय हो जाना वास्तव में एक ऐतिहासिक और महान् क्रान्ति है। इसका

---

१. 'जल टूटता हुआ'—रामदरश मिश्र, पृ० ४६१।
२. वही।
३. वही।
४. बदलाव (कहानी) धर्मयुग, १३ जुलाई सन् १९६९, पृ० १४।

प्रारम्भिक रूप 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के रूप में दो दशक तक सरकारी अधिकारियों की कागजी घुड़दौड़ लीला के रूप में चला। इस हास्यास्पद ऊटक-नाटक का अनुभव कथाकार श्रीलाल शुक्ल ने किया और देखा कि दरोदीवार पर कृषि-विकास के पोस्टर बबासीर के विज्ञापनों के साथ लगे हैं तथा लेक्चरों के बाद बची अनगढ़ विकास-गाथा कह रहे हैं। कथाकार की स्थापनानुसार गाँव वालों को फुसलाकर बताया जाता है कि 'भारतवर्ष' एक खेतिहर देश है किसान बदमाशी से अन्न नहीं उपजाते। इसी समस्या के समाधान के लिए उन्हें पिक्चर और अच्छी-अच्छी तसवीरें दिखाई जाती हैं।[1] किन्तु इस 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' की आरंभिक असफलताओं के पश्चात् सन् १९६९-७० में उभरने वाले कृषि-क्रान्ति के आशाप्रद आयाम बहुत स्पष्ट हो जाते हैं। जड़ ग्राम-मन में नये मूल्यों का स्फुरण सर्वथा नये संदर्भ में दृष्टिगोचर होने लगता है। वंशहीन अधेड़ किसान धरमू पंडित[2] जो नयी खेती में गहरी आस्था रखता है, एक दिन अपने सोनारा चौसठ वाले प्लाट में निराई करती सात बेटों वाली युवती-सी बनिहारिन वितनी को देखता है और उसे लगता है कि कल्याण सोना, शर्वती सोनारा और सोनालिका के बीच यह बौनी लारमा है जो गिरती नहीं है तथा बहुत उपजाऊ है। तब से नयी खेती के परिप्रेक्ष्य में पंडित का अन्तस्तल उससे आठवें अपने पुत्र की ललक में नये और पुराने मूल्यों की टकराहट से भर जाता है। वह इस सदाबहार सी बनिहारिन की तुलना गेहूँ की नयी किस्म एस० तीन सौ एकतीस से करता है। सिंचाई, खाद और भीषण पैदावार के नवचिन्तन प्रदेश में भटकता पंडित मन के गहनतम पर्तों में जमी किसी अतृप्त इच्छा के संघात से नयी खेती अथवा कृषि क्रान्ति के सर्वथा क्रान्तिकारी ग्रामस्थ प्रभाव तक पहुँचता है और मन ही मन उससे कहता है, 'बस तुम्हारे ऊपर दया आ रही है। इतने ससुरे लेंहड़े भर जनमा दिए, कुछ सुध है। क्या खायेंगे? बाबुओं के लड़के तो टेरलिन झाड़ कर अब कियारी बराते हैं। न यूनिवर्सिटी की पढ़ाई की आस, न नौकरी की फाँस। तुम्हारे छौंड़े क्या करेंगे?' फिर अपनी पुत्रहीनता की कलंकित स्थिति से उबरने के उसके सारे संकल्प-विकल्प नये कृषि-चिन्तन के समानान्तर आन्त-

१. **'रागदरबारी' : श्रीलाल शुक्ल, पृ० ७८।**
२. **'बदलाव' (कहानी) धर्मयुग, १३ जुलाई, १९६९।**

रिक स्तर पर तब तक चलते हैं जब तक पंपिंग सेट में गया करेंट आ नहीं जाता है। नये बीज, खाद और कृषि-संयंत्रों ने कृषि के परम्परागत 'धर्मकाय' भाव को छोड़कर उसे प्रभावशाली अर्थ-दर्शन से सम्पृक्त किया तो स्वभावतः उसके दूरगामी प्रभाव अन्य क्षेत्रों में भी दृष्टिगोचर होंगे और गाँवों में नयी नैतिकता का आर्थिक प्रभावों से नियमन भी संभव हो जायगा। इन प्रभावों के उदित होने का विपरीत प्रभाव भी स्वाभाविक है। यथास्थिति शील परम्परावादी गाँव नये प्रगतिशील बदलाव और आर्थिक कार्यक्रम को सहसा स्वीकार नहीं करता है। बालू के जंगली प्रदेशस्थ भपटियाही गाँव के कास-पटेर-भौआ काट कर गुज़र करने वाले ग्रामीण विकास-योजनाश्रित सरकारी ट्रेक्टर के आने का विरोध करते हैं, कहते हैं, यह जंगल जोतकर हमारी रोजी-रोटी अपहृत करने आ रहा है।[1] परानपुर के ग्रामीण जितेन्द्र के ट्रेक्टर द्वारा चक्कर परती तोड़े जाने का विरोध करते हैं।[2] कोसी की मुख्य धारा से दुलारी दाय की सूखी धाराओं को जोड़ने अर्थात् सिंचाई के महान् उपयोगी कार्यक्रम का भी विरोध करते हैं[3] और यह विरोध राजनीतिक रूप ले लेता है। अपने संकुचित क्षेत्रीय नेतृत्व की सुरक्षा के लिए लुत्तो जनता को उत्तेजित करता है। अंधी जनता उसके बहकाने में उत्तेजित होकर नारा लगाती है। किन्तु ढेलेबाजी में आहत होने के बाद भी धैर्यपूर्वक जितेन्द्र द्वारा सामने रखी गई सिंचाई की व्यवस्था हो जाने के बाद के आर्थिक अभ्युत्थान के सत्यचित्रों को देखकर उसकी आँखें खुल जाती हैं और विरोधियों के मुँह पर कालिख पुत जाती है।[4] इन आर्थिक-योजनाओं का लक्ष्य उन मध्ययुगीन सड़ी स्थितियों से ग्राम-वासियों को निकालना है जिसमें 'मझले दर्जे के किसानों के पास यदि थोड़ी पूँजी हो गई, तम्बाकू, पाट, धान और मिर्चा का भाव एक साल चढ़ गया, घर में शादी-गमी नहीं हुई तो वह तुरन्त टनमना आते हैं। यदि मालिक जवान हो तो तुरन्त औन-पौन करने लगता है। हरमुनिया, फर्श, शतरंजी, शामियाना, जाजिम, लैट, यंत्रलैट, पहाड़िया घोड़ी, शम्पनी, टेबुल कुर्सी, बेंच, खरीदकर ढेर कर देता

---

१. **'माटी के लोग : सोने की नैया'—पृ० ४९, ५३, ६८, ८८, १४४।**
२. **'परती : परिकथा', पृ० ५६-६१।**
३. **वही, पृ० ४९९।**
४. **वही, पृ० ५०८।**

है। इससे भी गर्मी कम नहीं होती तो बन्दूक के लैसन के लिए आफिसरों को डाली देना शुरू करता है।'[1] रेणु के इस पर्यवेक्षण में आधुनिक ग्राम-मन की वह दुर्बलता स्पष्ट हो जाती है जो आर्थिक-विकास के विरोध में पड़ती है।

३—ग़रीबी

(क) सामान्य ग़रीबी का चित्रण

गाँव और ग़रीबी में प्रमेय-प्रमाण-सम्बन्ध है। इसीलिये रचनात्मक स्तर पर ग्रामजीवन का स्पर्श करने वाले कथाकार और बातों के अतिरिक्त इस आर्थिक कोण को अवश्य उभारते हैं। प्राक्-स्वतंत्रता गाँव की दरिद्रता सोत्साह प्रदर्शित की जाती थी क्योंकि उसका कारण 'पर' था और स्वातंत्र्योत्तर दीन-हीनता तीव्र विक्षोभकारक है क्योंकि अब एतदर्थ 'निज' ही उत्तरदायी है। रामदरश मिश्र के एक उपन्यास में पराधीनता के युग का नीरू देखता है कि 'घर सूना था। घर क्या था जर्जर दीवारों से घिरा हुआ एक मकान था जिसके एक ओर की दीवारें आधी गिरी हुई थीं और तीन ओर की दीवारें गिरने का इन्तज़ार कर रही थीं।'[2] और स्वाधीन होने के बाद उसी उपन्यासकार के एक अन्य उपन्यास का पात्र रामकुमार देखता है कि 'नाद पर बैल चुपचाप खड़े हैं, बित्ता भर हाब में। कुकरौंछी के काटने से वे हाब में कूद कूद-कर पूँछों से अपनी देह पट्ट-पट्ट पीट रहे हैं।'[3] स्थितियों के परिवर्तन से वस्तुस्थिति की कुरूपता मिटी नहीं। धर्मवीर भारती की कहानी में जाड़े में वस्त्रहीन बेटी ठिठुर कर मर रही है तो बाप रात के सन्नाटे में कब्रगाह जाकर कफन चुराने में गिरफ्तार होता है और दूसरे दिन क्लाथ कन्ट्रोल आफिसर चाय पर अपनी पत्नी से इस विषय पर टिप्पणी करता है, 'कपड़े की ऐसी भी क्या कमी! और फिर आदमी चाहे मर जाय, कब्र खोदकर कफन चुराने नहीं दिया जायगा।'[4]

---

१. 'मैला आँचल', पृ० २७१।
२. 'पानी का प्राचीर'—रामदरश मिश्र, पृ० ८७।
३. 'जल टूटता हुआ'—वही, पृ० ५३।
४. 'चाँद और टूटे हुए लोग' (डा० धर्मवीर भारती) में 'कफनचोर' शीर्षक कहानी, पृ० ११६।

और अब भी शिवप्रसाद सिंह की कहानी का एक पात्र मंगरा पापी पेट भरने के लिये कफनखसोटी करता है और जान से हाथ धो बैठता है।[1] साक्षात् नरक भोग की ग़रीबी तथा संत्रास से ऊबकर एक श्रावयिता स्वप्न में अपने तीन बच्चों की हत्याकर लिखित बयान देता है कि 'जान बूझ कर मैंने अपने बच्चों की हत्या की है। मैं नहीं चाहता कि मेरी सन्तानें मरघिल्ले पिल्लों की तरह मौत के आने तक चीं-चीं करती रहें।'[2] मरुआ की सूखी रोटी और नमक, सो भी अनिश्चित, पर दिन काटना[3] आज भी कोटि-कोटि जनों की स्थिर नियति है। विविध व्याधियों से ग्रस्त गाँव में सर्वोपरि रोग-कीटाणु ग़रीबी ही है।[4] लोकनाथ आज भी भारत का प्रतिनिधि ग्रामीण है जिसके पास 'जमापूँजी थी चार सेर साँवा। नमक-तेल के बाद मुश्किल से आधा सेर चावल मिल सका था। यह चावल बुखार के पंजे से छुटे उसके छोटे लड़के के लिये चार-पाँच दिन का भोजन था। वह साँवा का भात देखकर मुँह फेर लेता है। लोकनाथ ने सोचा था कि चावल का भात खाकर वह खिल उठेगा। कलुआ, हलुआ, घलुआ, तेतरी, पितरी और सनीचरी की आँख बचाकर किसी छोटे बर्तन में उसके लिये अलग पका दिया जायगा। हिसाब से दिया जायगा। कम पड़ेगा और फिर पें-पें करेगा तो एक ढेला साँवा का सरका दिया जायगा। चावल पेट के लिये हैं, भरसाँय के लिये नहीं। माड़ के साथ गीला भात और ऊपर से नमक कितना अच्छा लगता है? माठा की जरूरत नहीं। माठा अँटता ही कहाँ है? गाय देती है तीन पाव दूध। उसे जमा कर पूजा के लिये कौड़ी-कौड़ी भर घी निकालने के बाद डाल दिया तीन सेर पानी। फिर साँवा के भात के साथ हेला दिया कुल कच्चे-बच्चे ग्यारहों जने को!'[5]

योजना-विकास, आर्थिक-कार्यक्रम और आसन्न कृषि-क्रान्ति की समस्त सफलताओं-असफलताओं से ऊपर यह सत्य है कि कुछ अंचलों में 'प्रायः लोग एक वक्त सत्तू ही खाते हैं।'[6] गाँव का आदर्श व्यक्ति अर्थात् भूखा अध्यापक

---

१. 'इन्हें भी इन्तजार है'—डा० शिवप्रसाद सिंह, पृ० ७२।
२. 'नई पौध'—विष्णु प्रभाकर—'कहानी' नववर्षांक १९६१।
३. 'माटी के लोग : सोने की नैया', पृ० ६१, १२३, १९९, २२९।
४. 'मैला आँचल', पृ० २१८।
५. 'अतिथि' (कहानी) धर्मयुग, १८ दिसम्बर १९६६।
६. 'जल टूटता हुआ', पृ० ४०२।

एक ही फटे कुर्ते में छपाक्-छपाक् पाँक-पानी हेलता स्कूल जाता है।[१] पत्नी का जेवर गिरवी रखकर दुकाल काटता है।[२] गाँव के अन्य भले लोगों की भी यही दशा है।[३] गहने समाप्त होने पर फाकामस्ती प्रारंभ होती है।[४] अभिजात कुलोद्भव युवती कन्यायें तीज-त्योहार पर भी अपनी फटी साड़ी के लिये सिहकती रह जाती हैं।[५] गाँव की अभावग्रस्तता देखते रात में पहरेदार की 'जागते रहो' की ठनक एक व्यंग्य हो जाती है।[६] किसका क्या चोरी होगा ? जहाँ आदमी 'गोबरहा' (पशुओं के गोबर के साथ आया अन्न) खाने के लिए विवश हैं[७] वहाँ सामान्य जीवन की क्या कल्पना की जा सकती है ? रामदरश मिश्र के उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में इस प्रकार गरीबी का बहुत ही यथार्थ चित्रण दृष्टिगोचर होता है।

(ख) चमार और चमटोल

'चमार' को महात्मा गांधी ने 'हरिजन' बनाया परन्तु वास्तविकता यह है कि प्रायः वह आज भी अकिंचनता और अभावग्रस्तता का पदमर्दित पर्याय बना हुआ है। 'बड़े-बड़े पेट निकले हुए, भगई लपेटे, नाक बहाते हरिजन बालक हैं, बेहद भय कि उनकी सुअरियाँ कहीं मालिकों के खेत में न पड़ जायँ ?'[८] एक वर्ष धान सूख गया तो महेसवा चमार चिथड़ों में लिपटा ऐसा नरकंकाल हो गया है कि उसकी दरिद्रता देख कर शर्म से सिर झुक जाता है।[९] उसका कुनबा अलमूनियम के कटोरे, तामलेट की पिचकी थाली, तसली और मिट्टी के मेटे के साथ कटिया के समय होली जैसे उल्लास वाले त्योहार

---

१. 'जल टूटता हुआ', पृ० ४।
२. वही, पृ० २५।
३. वही, पृ० ११०।
४. वही, पृ० २५५।
५. वही, पृ० ३४७।
६. वही, पृ० २१२।
७. वही, पृ० ३३४।
८. वही, पृ० ३३५।
९. 'बबूल', पृ० १०९।

के दिन भी सब्र कर सो रहता है।[1] बेकारी के समय जिनकी दिन भर की कमाई होती है एक खाँची गोबर![2] जिनके लड़कों की नग्नता ही वस्त्र का कार्य करती है।[3] गाँव का स्वर्ग भी जिनके लिये नरक है।[4] और जो आयु गणना के अनुसार भरी जवानी में भूखों रहकर हल जोतते जो गिरता है, सो उठ नहीं पाता।[5] यही उसकी नियति है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की घृणित परिणति ग्रामस्तर पर हरिजन जाति की जीवन-व्यवस्था से सर्वाधिक स्पष्ट हो जाती है। सवर्ण लोगों के गाँव से पृथक्, नियमतः गाँव के दक्षिण ओर, करैता की ग्यारह महीना सोने और एक चैत महीने में जगने वाली चमटोल है।[6] झिनकुआ, घुरबिनवा और जगजितवा की इस चमटोल में बाहर से तो अत्यधिक मनसायन है परन्तु भीतर बहुत उदास और विरूप है।[7] जहाँ के प्राणी आज भी कसाईखाने के पशु की भाँति हैं और बन्नी माँगने पर जिनकी पिटाई साधारण व्यापार है।[8] स्वतंत्रता के बाद इस स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। किन्तु यह एक नग्न सत्य है जिसे कथाकारों ने उघाड़ा है। समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व अथवा सर्वोपरि मानवता के सुनहरे नारे के नीचे घोर अन्तर्विरोध है। वास्तव में यह सांस्कृतिक और सामाजिक नहीं मूलतः आर्थिक समस्या है। 'अलग-अलग वैतरणी' में जो चमटोल-वर्णन आया है उसे देखकर लगा है कि—'हमारी सड़ी अर्थ-व्यवस्था का सारा गलीज जैसे इस चमटोल के रूप में पुंजीभूत है। चमारिन के साथ राजपूत के पकड़े जाने की घटनाओं में ग़रीबी वीभत्स रूप में सामने आती है। सुरजू सिंह को सगुनी के साथ सरेआम गिरफ्तार कराकर लेखक उच्च कहलाने वाले समाज के मुँह पर थूकता है। बार-बार सवाल उठता है कि क्या फर्क पड़ा स्वराज्य से ?

---

१. 'बबूल', पृ० १४३।
२. वही, पृ० ३१।
३. वही, पृ० ४७।
४. वही, पृ० ५१।
५. वही, पृ० १६७।
६. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ०, २२३।
७. वही, पृ० २५३।
८. वही, पृ० २४७।

चमारों की सामूहिक पिटाई जैसे तब होती थी 'वैसे अब भी होती है। बात कुछ आगे अब बढ़ती जरूर है पर कोरी बात और भाषण से क्या होगा?' सगुनी और सुरजू सिंह का अन्तर क्या जाति का अन्तर है? यह कितनी झूठी बात है? यह आर्थिक-विषमता का नरक है।'[1] शिवप्रसाद सिंह के द्वारा वर्णित करैता की चमटोल का चौधरी सरूप भगत इस संदर्भ में गाँव की रहा-इसि को ही कोसता है। कहता है, 'घोंसला बनाओगे तो गिध-कौओं की नजर लगेगी ही।'[2] अर्थदृष्टि से हीनतम चमटोल के आगे बाबुओं का करैता हिंसक गीध-कौओं की जमात जैसे है! यह चमारों का चौधरी इस आर्थिक-विषमता के संदर्भ में बराबर बहुत ऊँची बात कहता है। चमार की बहू-बेटियों के बाबुओं की ओर आकर्षित होने की वास्तविकता का विश्लेषण करते वह कहता है, 'ई कैसा 'परेम' है भाई? आजतक किसी रजपूत-बाभन की लड़की के साथ चमार-दुसाध का 'परेम' काहे नहीं हुआ?'[3] इस 'काहे' का उत्तर आर्थिक-समस्याओं के साथ बहुत गंभीरता के साथ जुड़ा हुआ है।

चमार-दुसाध आदि अस्पृश्य जातियाँ परम्परित अभावग्रस्त गाँवों की एक ऐसी सनातन अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत जी रही हैं कि जीविका की परावलम्बिता उन्हें अत्यन्त हीन बना देती हैं। भारतीय अर्थशास्त्र की यह उक्ति कि ग्रामीण ग़रीबी में जन्मते हैं और आजीवन ग़रीबी भोग कर इसे ही अगली पीढ़ी के लिए छोड़ कर मर जाते हैं; इन वर्णातीत जातियों के अन्तिम मनुष्यों के सन्दर्भ में शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध होती है। कथा-साहित्य में जो इनके चित्र उभरे हैं उनमें आर्थिक स्तर पर वैषम्य का इतना भीषण अन्तराल उभरता है कि सामाजिक सन्तुलन की कहीं कोई क्षीण संभावना भी नहीं रह जाती। स्वतन्त्रता के बाद देश का विकास इस गति से हुआ है कि समृद्धजनों के ऐश्वर्य में गुणात्मक वृद्धि हुई और विपन्नजन और अधिक पस्त-संत्रस्त हुए हैं। पूँजीवादी अर्थतंत्र के जटिल कसाव में कसकर पिछड़ा और सर्वहारा समुदाय आत्मविश्वास खो चुका है। भेद-भाव और ऊँच-नीच की विषम अर्थाधारित सामाजिकता

---

१. दिशाओं का परिवेश : सम्पादक ललित शुक्ल—('अलग-अलग वैतरणी' पर विवेकी राय की समीक्षा 'गाँव की आत्मा की खोज'), पृ० ३३-३४।

२. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० २५०।

३. वही, पृ० ५५७।

अमानवीयता की सीमा तक पहुँच जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवादी सभ्यता की सुख-सुविधाओं की बाढ़ केवल एक वर्ग के लिये है और दूसरा वर्ग क्षुधा-पिपासा में आतुर जीवन की साधारण से साधारण आवश्यकताओं के लिये चिन्तित विवश आदमी जीवन के अंडस में जीता है। वह 'देश के लोग'[1] की सीमा में है। उसके कपड़े गन्दे हैं। वह भूख की पीड़ा से मरणासन्न है और एक घिनौने जीव की भाँति प्रतीत होता है। ऐसे बदबूदार दरिद्र के साथ अखिल[2] जो एक सभ्य नागरिक है और कालेज-प्रोफेसर है एक रिक्शे पर कैसे बैठ सकता है? यदि किसी विवशतावश बैठ भी जाता है तो घृणा से मुँह फेर लेता है। उस गँवार की साधारण जिज्ञासा का उत्तर देते भी झुँझला उठता है। वह इसे भाई कहकर सम्बोधित करता है तो और भी कुढ़ जाता है और अपने दर्पस्फीत पार्थक्य को मन ही मन तीव्र कर उस पार्श्ववर्ती मानव की मर्म पीड़ा से कटकर तथा उसके अस्तित्व मात्र को नकार कर वह अपने मनोजगत् की सोफासेट स्कीम, काफी हाउसी चहल-पहल, सुख-सपनों की रंगीनी में टंगा चलता जाता है। विषमता कृत उसका बिलगाव इस सीमा तक पहुँचता है कि उस गरीब व्यक्ति के रिक्शे से उतरते में रक्त-वमन के साथ दम तोड़ लेने के बाद भी उसका हृदय नहीं द्रवित होता है और क्षण भर वाह्य-औपचारिकता का निर्वाह कर वह पुनः शीघ्र अपनी कल्पना के सुरक्षित सुख-संसार में लौट आता है। अमरकान्त की इस रोमांचक कहानी में वैषम्य का भयावह यथार्थ अत्यन्त तीव्रता से अभिव्यक्त हुआ है।

(ग) आदिवासी और उनकी बस्तियाँ

आर्थिक संघात-संदर्भ में चमटोल जैसी ही विषम स्थिति आदिवासी जनजातियों की बस्तियों की है। सभ्यता के प्रकाश से दूर बीहड़ों के वे अविकसित अंचल स्वातंत्र्योत्तर नव-विकास के लिए चुनौती हैं। बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली आदि महानगरों के विकास को देखते इस विशाल राष्ट्र की आदिवासी इकाई का आदिम गुफा-कन्दरा वासी रूप एक कलंक

---

१. 'देश के लोग' : अमरकान्त के कहानी-संग्रह की इसी शीर्षक की अन्तिम कहानी।

२. उक्त कहानी का पात्र।

है। यद्यपि भारत सरकार योजना-विकास के अन्तर्गत प्रभूत धनराशि इनके वांछित विकासार्थ व्यय कर रही है तथापि सहस्राब्दियों की जड़ता और जमी घनान्धकार की मोटी पर्तें टूटती नहीं दृष्टिगोचर हो रही हैं। अपनी सुरक्षित विशिष्ट आदिम सांस्कृतिक समृद्धि की दृष्टि से ये अरण्यवासी चाहे कितने ही प्रदर्शनीय क्यों न हों परन्तु आर्थिक-समस्याओं के दुश्चक्र में पिसते इनका दयनीय जीवन तीव्र बदलाव की अपेक्षा रखता है। सभ्य-जातियों से इनका असम्पर्क इस युग में असंभव है और सम्पर्क-संघात इन्हें अनेक दृष्टियों से तोड़ रहा है। शानी की एक कहानी में इनकी 'बोलने वाले जानवर'[1] की स्थिति तो अन्यन्त मर्मपीड़क है। शानी ने मिस्टर और मिसेज जोन्स द्वारा देखा गया अबूझमाड़ आदिवासी जंगली पहाड़ी क्षेत्र के एक गाँव का चित्रण किया है जो दोपहर में श्मशान की भाँति लगता है। जंगल में घुसने के बाद एक ऊँची जगह पर चार-छह झोंपड़ियाँ दिखाई पड़ती हैं। यही गाँव है। मोटी सूअर अपने छह-सात छोटे-छोटे पिल्लों के गिर्द लेटी है। सामने एकदम नंगी और धूलसनी पाँच-सात बरस की लड़कियाँ हैं। मिस्टर स्नैप लेते जाते हैं। मिसेज़ ने बाइनाकुलर आँखों पर चढ़ा लिया है। 'उन्हें प्रकृति का सौन्दर्य चाहिए। सुन्दर और सजीव लैंडस्केप के लिए एक जगह कई-कई घण्टे बिता देती हैं।' उन्हें कुछ चिथड़े और मात्र एक काली हँड़िया में पड़े कुछ पाव महुए की कुल सम्पत्ति के अन्तर्विरोध का क्या पता? लेकिन अन्ततः पूरी कड़वाहट के साथ वह उभर आता है। क्योंकि जब वे लोग स्नैप लेकर चलने लगते हैं तो आदिवासी बख्शीस माँगते हैं और मिसेज का मूड खराब हो जाता है। जिन्हें वे सहज-सौन्दर्य-सम्पदा की खान समझे बैठी हैं वे कौड़ी-कौड़ी के दरिद्र हैं। उनके सूअर के पिल्लों से खेलने की आकांक्षी मिसेज उनके अपने बच्चों को देखकर मुँह फेर लेती हैं। यही विषम-आर्थिक स्थिति की समस्या समस्त आदिवासी क्षेत्र में है।

जयसिंह के श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास 'कलावे' में मालवा के दक्षिणी पठार के छोर से आरम्भ हुई आरावली की बीहड़ घाटियों में बसे भील-कलावों के पाल अर्थात् गाँव का चित्रण है। ये पाल क्या हैं, मात्र कुछ टापरों (झोपड़ियों)

---

१. शानी के कहानी-संग्रह 'डाली नहीं फूलती' में संकलित 'बोलने वाले जानवर' शीर्षक कहानी।

के झुंड, कभी बस जाती हैं, कभी उजड़ जाती हैं, आगे-पीछे बकरियाँ, बैल या गधा लिये सरोसामान बाँधे ये कलावे एक जगह से दूसरी जगह चले जाते हैं। आजीविका के लिए जंगल में लकड़ी काटने जाते हैं तो संरक्षित जंगल के पुलिस से मुठभेड़ हो जाती है। वे दोनों सिपाहियों को आहत कर टांग लाते हैं और गाँव आकर अपनी मूर्खता का भान होता है। सवा सौ रुपये उन्हें देकर विवाद रफा-दफा कर देने की बात तै होती है। समस्या रुपये की है। गमेती और बीरजा दोनों बूढ़े कस्बे की गढ़ी में रहने वाले ठाकुर के यहाँ जाते हैं। भैंस वन्धक रख कर ५०) मिलता है। जब ठाकुर का कामदार बीरजा की भैंस लिखाकर उसे पचास रुपये देता है तो वह ५) मेहनताना, २) दस्तूरी, एक महीने का १।) ब्याज काटकर पौने सैंतीस रुपये ही देता है[1] जिसे लेकर दोनों बूढ़े घर आहत पड़े सिपाहियों से पिंड छुड़ाने के लिए चलते हैं। उनके आर्थिक-विषयों में निर्द्वन्द्व भोलेपन की यह चरम सीमा है कि बीच में वे एक जगह अत्यन्त रोमानी मूड में ३५) की शराब पी डालते हैं और चढ़ी हुई नशीली आँखें लिये लौटकर सिपाहियों से कहते हैं, 'सिपाहियों की किस्मत हमेशा सिकन्दर होती है। पौने दो रुपया आखिर बच ही गये। इसे ले लो और यहाँ से लम्बे बनो।'[2] सिपाही धमकी देते और भुनभुनाते चले जाते हैं।

आर्थिक-शोषण की चेतना इस उपन्यास में भीलों में भी शनैः शनै विकसित होती चित्रित की गई है क्योंकि वे अब यह सोचते हैं कि भैंस के बदले ५०) ही देकर ठाकुर उन्हें लूट रहा है। वे निश्चय करते हैं कि ठाकुर को भैंस नहीं देंगे। किन्तु इसकी प्रतिक्रिया में ठाकुर के अत्याचार से भील उखड़ जाते हैं और ठाकुर उनके सारे गाँव को जलाकर भस्म कर देता है। इस प्रकार कलावों का सहज-जीवन आजीविका की आर्थिक-समस्या से जो प्रथमतः विखंडन होता है तो फिर उतरोत्तर झटका खाते अन्त में पूर्णतया उध्वस्त हो जाता है। उनका समस्त जीवन आर्थिक-प्रवंचनाओं में भटकते बीतता है। कुआँ खोद-कर सिंचाई करने के लिए जो अनुदान भीलों के लिए स्वीकृत होता है उसे ऊपर ही ऊपर लेकर सेठ उनके खाते में जमा कर लेता है। आधा ऋण

१. 'कलावे', पृ० ८०।
२. वही, पृ० १००।

खाते, आधा बीज-खाद खाते ।[१] ठाकुर के अत्याचार से उबरने के लिए वे अर्जी लिखाने शहर जाते हैं तो उनका सामान्य ढंग से मार्ग व्यतीत करना भी कठिन है । जहाँ-तहाँ पकड़ लिये जाते हैं और घूस, बेगार से लेकर 'धूल उड़ाई' का हरजाना लोग उनसे वसूल करते हैं ।[२] वे जब अर्जी लिखाने जाते हैं तो उन्हें दूना अर्थात् दो रुपया देना पड़ता है । कारण पूछने पर अर्जीनवीस कहता है कि और लोग तो बार-बार आते हैं किन्तु भील जिन्दगी में केवल एक-दो बार आता है ।[३] फिर, वह अर्जी क्या लिखी जाती है, इन सरल-सीधे अकिंचन लोगों के प्रति सभ्य लोगों की अमानवीय प्रवंचना का कच्चा चिठ्ठा खुल जाता है ।[४]

गरीबी के कारण धर्म-परिवर्तन के आयाम आदिवासियों के जीवन में उभरते हैं । किन्तु इस सन्दर्भ में वे हरिजनों से पृथक् प्रकृति के सिद्ध होते हैं । 'कलावे' में जयसिंह इन आदिवासियों के विषय में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट करते हैं—'वे उन सभी लोगों को भूल जाते हैं जो उनके पास आते-जाते रहते हैं—मिशनरी, आर्य-समाजी, कांग्रेसी, समाजवादी, साम्यवादी—सबके बने—फिर किसी के नहीं, वे शुद्ध अपने हैं ।'[५] 'राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यास 'सूरज किरन की छाँव में' में विलियम के प्रेम में नहीं अपितु उसके धन के आकर्षण में बंजारी फँसती है और धर्म परिवर्तन कर बेंजो हो जाती है परन्तु अन्त में स्वयं ही वह ईसाइयत के धर्म-जाल से मुक्ति पा लेती है । विलियम को गर्व है कि अकाल में उसके बाप (पादरी) ने बंजारी के गाँव को बचाया था ।[६] वह आरम्भ में दो रुपया देकर बंजारी को आकर्षित करता है । वह सोचती है, 'तापे (बाप) दिन भर छाती मारता है तो छः-आठ आने कमाता है...'[७] जिन्दगी में पहली बार इकट्ठे दो रुपया देखती है । धन के लोभ में

---

१. 'कलावे' पृ० १५१ ।
२. वही, पृ० १९५ ।
३. वही, पृ० २०० ।
४. वही, पृ० २०० ।
५. वही पृ० ७ ।
६. 'सूरज किरन की छाँव', पृ० ६ ।
७. वही, पृ० ८ ।

'सागर, लहरें और मनुष्य' की रत्ना जैसे अपने सच्चे ग्राम-प्रेमी यशवन्त को छोड़कर नागरिक माणिक की ओर आकर्षित होती है उसी प्रकार यहाँ बंजारी कंगला को छोड़कर विलियम की ओर अग्रसर होती है। उसका एक सम्बन्धी सिन्दीराम उसे इस सम्बन्ध में न केवल प्रोत्साहित करता है अपितु यह भी आग्रह करता है कि वह उसकी पुत्री को भी विलियम जैसे वैभवशील व्यक्तियों को फंसाने की कला सिखा दे।[1] व्यक्तिस्तर से यही आर्थिक प्रभाव सामाजिक स्तर पर प्रसार करता है। स्वतन्त्र होकर यानी स्वदेश का शास्ता होकर भूखों मरने की नियति से लोग क्षुब्ध हैं।[2] खाने-कपड़े का प्रलोभन-मात्र ईसाई बन जाने के लिये पर्याप्त है।[3] आर्य-समाज का प्रश्न छिड़ने पर मिशिनरी बहुत गर्व के साथ कहते हैं कि, 'कहाँ से जुटायेंगे आयर समाजी इत्ता पैसा कि फिर से हिन्दू बनावें।'[4] किन्तु बिना पैसे के ही यह कार्य हो जाता है। आर्थिक-प्रभावों से बंजारी बैंजो बनी और सांस्कृतिक-प्रभावों ने उसे पुनः प्रत्यावर्तित कर दिया।[5] फिर भी एक ज्वलन्त प्रश्न है कि कब तक ये आर्थिक-प्रभाव इन अभावग्रस्त नागरिकों को प्रवंचित करते रहेंगे? देश के विकास में क्या इनका उचित अंशदान इन्हें मिलेगा? शानी ने 'कस्तूरी' में इनके विकास-चित्र को प्रस्तुत किया है। 'दण्डकारण्य योजना' की गाड़ियाँ इधर-उधर खूब चलने लगी हैं। दो मील आगे विस्थापितों के लिए कैम्प और मकान खड़े किये जा रहे हैं। खेती के लिए जमीन तैयार की जा रही है। दैत्य की तरह बड़े-बड़े बुलडोजर्स और ट्रैक्टर्स खड़े हैं।[6] अर्थात् आदिवासी क्षेत्र का विकास हो रहा है। किन्तु इस विकास की वास्तविकता यह है कि आदिवासियों का आडम्बरहीन सरल जीवन सभ्य-शहरी लोगों के सम्पर्क से कलंकित ही होता है।[7] जनजाति-क्षेत्रों के विकास-चित्र में बालशौरि

---

१. 'सूरज किरन की छाँव' पृ० १८।
२. वही, पृ० ८३।
३. वही, पृ० ८६।
४. वही।, पृ० ८५।
५. वही, पृ० १९८।
६. 'कस्तूरी' पृ०, ९०।
७. वही, पृ० १०४।

रेड्डी का चित्र बहुत आशावादी है। वहाँ तो एक आदिवासी गाँव आर्थिक-विकास की लहर में पूर्णतया परिवर्तित होकर नागरिक-स्तर की समस्त सुख-सुविधाओं से सम्पन्न हो जाता है।[1] फिर भी, इस स्वप्नशील आशावादिता से परे ज्वलन्त यथार्थ गरीबी के रूप में अवशिष्ट रह जाता है जिसके अत्यन्त रोमांचक रूप की ओर से सबकी तरह आज के साहित्यकार ने भी आँखें मूँद ली हैं। नयी कहानी में आर्थिक दारिद्र्य सेक्स की दरिद्रता में परिणत हो गया है। उपन्यासों में अवश्य ही कुछ आया है परन्तु उसमें गाँव के नये आर्थिक अभाव के कोण पूरी सूक्ष्मता के साथ नहीं उभर पाये हैं।

४—भूमिहीन और भूदान

(क) भू-समस्या के नवीन उभार का चित्रण

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् जमींदारी उन्मूलन निस्सन्देह एक प्रगतिशील आर्थिक कार्यक्रम था परन्तु कथा-साहित्य में चित्रित चित्रों से स्पष्ट है कि उसका रंचमात्र भी लाभ उन लोगों को नहीं हुआ जो भूमि से जुड़े रहकर भी भूमिहीन की नियति भोग रहे हैं। इसके पश्चात् विकास-योजनाएँ कार्यान्वित हुईं। भूमिहीनों का इसमें भी कोई लाभ-भाग निहित नहीं रहा। कृषि-सुधार के समूचे आर्थिक विकास कार्यक्रम भू-स्वामियों के लिए ही वरद सिद्ध हुए। एक तो इस वर्ग की स्वातंत्र्योत्तर आशाओं पर तुषारपात हुआ, दूसरे प्रजातांत्रिक जागृति और वैचारिक उन्मेष तथा जनवादी आन्दोलनों की हवाओं ने इनको मानवीय अधिकार-माँग के लिए उद्बुद्ध किया। विक्षोभ और विद्रोह के आयाम उभरे। खूनी क्रान्ति की चुनौतियाँ सामने आने लगीं। भूमिहीनों के इस आग्नेय उभार के प्रशमनार्थ अहिंसक पद्धति पर आचार्य भावे द्वारा भूदान-आन्दोलन का प्रत्यावर्तन हुआ और एक हवा बनी। किन्तु इससे भी जो लाभ हुआ वह यथार्थ-आर्थिक न होकर भावात्मक ही अधिक रहा तथा भूमि-सुधार के नौकरशाही कार्यक्रमों की भाँति सर्वोदयी नेताशाही के भ्रष्टाचार में भूदान की संकल्पित 'सबै भूमि गोपाल की' वाली आदर्शवादिता धरी रह गई।

---

१. 'धरती मेरी माँ' पृ० १८१।

अपनी कथाओं में ग्राम-जीवन का स्पर्श करने वाले कुशल हिन्दी कथाकारों ने इस मर्म-पीड़ा का साक्षात्कार किया है। जिन्होंने अपने स्वेद-विन्दुओं का वपन कर धरती का शृङ्गार किया है और जिनकी श्रम-सहिष्णु भुजाओं ने अन्नब्रह्म को श्यामल-विस्तार में पूर्ण साकार किया है, उनकी वेदना के आलेखन से बढ़ कर कोई सृजनात्मक कृतित्व नहीं। अगणित उच्च संस्कृतियों के स्रोत रूप इस विशाल राष्ट्र भारत की ग्रामात्मा उस एक आर्थिक-विकृति का बोझ शताब्दियों से ढोती आ रही है जो 'भूमि-हीन-किसान' की घोर विसंगति के रूप में एक युग-सत्य है। लक्ष्मीनारायण लाल की एक कहानी में फेरई के पास खेती के साधन हैं, उल्लास और शक्ति है उसमें, उसकी बाहुओं में 'ट्रैक्टर की गति है, लेकिन उसके पास खेत नहीं है।'[1] फिर भी फेरई तो अच्छा है कि उसे भूमि प्राप्ति संभावित है। देश के उन कोटि-कोटि कृषकों की मनः-स्थिति का जो आपाततः भूमि से जुड़े रहकर भी उससे पृथक् भूमिहीन की संज्ञा से प्रज्ञात हैं, अनुमान और अवबोध हो सकता है। भू-भूख और उससे बिछुड़न की तड़पन बहुत प्रबल है। इस वेदना के भोक्ता प्रायः अबोल मानव हैं अतः क्या आश्चर्य कि उपचार-रहित अपने विशुद्ध रूप में इसकी अभिव्यक्ति-न्यूनत्व-स्थिति भी एक सत्य है। राजनीति के रंग की बात और है। उसकी मुखर शब्दावली का पैनापन व्यथा को गाढ़ा न बनाकर तरल प्रचारधर्मिता के रूप में प्रस्तुत करता है। इस वृत्ति से रहित गहन संवेदनीय स्थितियाँ भी हिन्दी-कथा-साहित्य में उभरी हैं। भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'धरती' में धरती से कटा उसका मुख्य पात्र (नागरिक साहित्यकार) अपनी पत्नी से अपनी अकिंचनता के प्रति सत्यनिष्ठ-सन्तुष्ट होने के लिए जो सफाई देता है[2] उसमें भूमिहीन की वेदना का ही उदात्तीकरण दृष्टिगोचर होता है तथा अन्त में वह भूमिहीनों की मनःस्थितियों के साक्षात्कार से जिस निष्कर्ष पर पहुँचता है वह बहुत मूल्यवान है। वह कहता है, 'मैं एक ही बात बार-बार सोच रहा था, धरती से बिछुड़कर वह एक बूढ़ा मुसाफिरखाने में बैठा रहा था, धरती से बिछुड़कर यह मंगल इस सड़क पर रो रहा है, धरती से बिछुड़कर मैं किस

१. 'सूने आँगन रस बरसै', डा० लक्ष्मीनारायण लाल, का कथा संग्रहः शीर्षक-कथा, पृ० १९।

२. 'धरती', भैरवप्रसाद गुप्त, पृ० ७९।

मुसाफिरखाने में बैठकर रोऊँगा? धरती से बिछुड़कर मैं किस सड़क पर रोऊँगा?'[1] भूमि के प्रति ममता बहुत प्रबल होती है। उसका सम्बन्ध मात्र आर्थिक न होकर कुछ भावात्मक भी होता है। उक्त संदर्भ में इसी भावात्मकता का विस्फोट है।

भूमिहीन की वास्तविक पीड़ा मायानन्द के उपन्यास 'माटी के लोग, सोने की नैया' के हीतलाल[2] में उभरी है। उसके मन की समस्त इच्छाएँ अपनी ज़मीन और अपने हल-बैल के सपनों में संकेन्द्रित हो गई है। उसे बहुत कचोट हो रही है। 'कितना मरा-खपा है! मुदा क्या मिला बदले में? कुछ भी तो नहीं! न एक धूर अपनी ज़मीन हो सकी, न अपना हल हो सका, न अपने बैल!'[3] कृषि-विकास के लिए सरकार की ओर से ट्रैक्टर मिलने के प्रसंग में यह व्यथा उसके मर्मस्थल में चुभ जाती है कि उसके पास कहाँ ज़मीन है जिसे वह तोड़वायेगा।[4] कुछ वर्ष पूर्व मल्लाही की नौकरी करके और श्रमपूर्वक एक-एक पैसा जोड़कर दो साल में कुछ अपनी ज़मीन बना लेने की योजना मन-ही-मन उसने तैयार की थी।[5] रुपये कुछ जुट भी गये और दो बीघे के एक प्लाट के लिए आभूषण आदि बन्धक रखकर उसने पटवारी के माध्यम से भीषण दौड़धूप की परन्तु अपने ही एक स्वजन की प्रवंचना ने उसकी मनोभिलाषाओं पर पानी फेर दिया। इस निराशा के धक्के से हीतलाल पागलपन की स्थिति तक पहुँच जाता है।[6] यह व्यथा-भोग-नियति हीतलाल की ही नहीं है। गाँव के अधिकांश लोगों की यही दशा है। इसीलिए ट्रैक्टर से कतिपय भू-स्वामियों को लाभान्वित होते देख उनकी छाती पर साँप लोट रहा है।[7] यहाँ पृष्ठभूमि में अत्यन्त हीन और अविकसित निरक्षर और लोकतांत्रिक चेतना से सर्वथा अपरिचित मछुआरों का गाँव है अतः उसके विरोध में किसी

---

१. 'धरती', भैरवप्रसाद गुप्त, पृ० ६२३।
२. 'माटी के लोग : सोने की नैया' का एक पात्र।
३. वही, पृ० ५२।
४. वही, पृ० ५३।
५. वही, पृ० ५६।
६. वही, पृ० ६०।
७. वही, पृ० १५१।

प्रकार की विद्रोहधर्मी क्रियाशीलता स्फुरित होते नहीं दृष्टिगोचर हो रही है। ठीक इसके विपरीत स्थिति 'परती परिकथा' में है। वहाँ ट्रैक्टर सरकारी न होकर परानपुर के ज़मींदार जितेन्द्र का है जो सिर पर ताड़ की पत्तियों का कनटोप और आँखों पर धूपछाहीं चश्मा लगाकर चलता है।[1] उस समय जबकि सम्पूर्ण जिले में भूमिहीन और भू-पतियों में अन्तर्विरोध का महाभारत मचा हुआ है[2] एक गम्भीर और उत्तेजक लहर गाँव में तव आती है जब यह आहट मिलती है कि परती सरकार ज़ब्त कर लेगी। इस प्रश्न पर समूचे गाँव में जागृति आ जाती है।[3] परम्परावादी विद्रोही हो उठते हैं। जितेन्द्र के द्वारा परती तोड़ी जाने पर जो लोग बकझक करते हैं, धर्म, परम्परा और नैतिकता के नाम पर जो विरोध करते हैं, वे समस्त लोग, भूमिहीन ही नहीं, भू-पति-जन भी परती पर अधिकार करने की आकुल प्रतिस्पर्द्धा में मिल-जुल कर हल चलाते दीख रहे हैं। भू-पतियों में भूमि के प्रति ऐसा आकर्षण और व्यामोह है तो भूमिहीनों की क्या स्थिति है? इस प्रतिस्पर्द्धा में वे लोग भी पीछे नहीं हटते जिनका भूमिहीनों की भाँति भूमि से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं है। परानपुर की सहुआइन को जब कोई मँगनी हल-बैल नहीं देता है तो वे अपनी तीन जवान बेटियों को हाथ में कुदाल ले कर परती तोड़ने और उसके कुछ भाग को अधिकृत करने के लिये ललकारती हैं।[4] किन्तु इस प्रकार इस बद्धमूल समस्या का हल होता दीख नहीं पड़ता है।

(ख) 'रेणु' जी का परिवर्तित दृष्टिकोण

फणीश्वर नाथ रेणु का प्रख्यात उपन्यास 'परती परिकथा' मुख्यतः भूमिहीनों की समस्याओं का उपन्यास है। इस उपन्यास और समस्या के संदर्भ में एक साक्षात्कार में रेणु ने अत्यन्त निराशा व्यक्त की है।[5] उन्होंने कोसी अंचल के बेकार पड़े विशाल भू-खण्ड के विषय में बताया कि "सभी पार्टियों ने

---

१. 'परती : परिकथा', पृ० २४।
२. वही, पृ० २६।
३. वही, पृ० १५९।
४. वही, पृ० १६०।
५. 'दिनमान'—१ मई १९७० में प्रकाशित।

कहा कि ज़मीन का सर्वे होना चाहिये। सन् १९५० के आसपास की यह बात है। इसके साथ ही साथ सर्वोदय का भी कारबार चला तो ज़मीन वालों ने सोचा कि सर्वोदय में ज़्यादा जमीन दे दें—जो सर्वोदय में थे वही पहले कांग्रेस में थे—उन लोगों ने सोचा कि सर्वे जब होगा तो यही लोग हैं जो फैसला करने आयेंगे। तब ये हम पर दया-दृष्टि रखेंगे। लेकिन सर्वे के समय जब परिवार के लोगों ने परिवार के लोगों को ही हक नहीं देना चाहा तो फिर किसान-मजदूरों को क्या देते? सोशलिस्ट भी किसानों का साथ नहीं दे रहे थे। कम्यूनिस्ट पार्टी वाले इतने थे नहीं। लेकिन जो थे वे भी मध्यवर्गीय परिवार के ही थे।"

आगे रेणु जी ने बताया है कि "दस सैकड़ा लोगों को ज़मीन मिली। पर इसके बाद दीवानी मुकदमों का दरवाज़ा तो खुला ही हुआ था। अन्ततः मुकदमों के बल पर दस में से पाँच सैकड़ा लोगों की ज़मीन तो छिन ही गई। जितनी उम्मीद थी उतना सुधार हुआ नहीं।......बड़े किसानों को कुछ नहीं हुआ। पहले एक जहाज़ था अब दूसरा भी खरीद लिया है। सर्वे से जो फायदा होने वाला था नहीं हुआ। सर्वोदय से और भी कम हुआ।..... इस बीच कोसी-योजना सफल हुई। लोगों को पानी मिलने लगा। खाद मिली। नये किस्म के बीज लोगों ने लिये।......इस हरी क्रान्ति के या जो भी नाम दे दिया जाय, उसके होते हुए लोग वकालत-प्रोफेसरी छोड़ कर खेती करने लगे। और जो गरीब खेती करने वाले थे वे टुकुर-टुकुर देखने लगे। ...किसानों और भूमिहीनों को किसी कार्यक्रम पर भरोसा नहीं हैं।"[1]

रेणु ने इस साक्षात्कार में भूमिहीनों की स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। सोशलिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट आदि पार्टियों के कार्यक्रमों से राजनीतिक जागृति और जागरूकता तो आई है, विद्रोह तो पल्लवित हुआ है परन्तु अन्ततः समस्या हल नहीं हुई है। परम्परागत हलवाह आज भी हलवाह है। चाहे वह 'बबूल' का महेसवा हो चाहे 'फिर से कहो' का एतवारी, इनकी नियति में परिवर्तन नहीं आया। मनोभूमि निस्सन्देह परिवर्तित हुई परन्तु भूमि-संदर्भ यथास्थिति में पड़ा रह गया। भूमिहीनों की वृत्ति-परिवर्तन के आयाम भी उभरे परन्तु आधुनिक ग्राम-विकास के ये आयाम शुभावह नहीं कहे जा सकते।

---

१. 'दिनमान'—१ मई, १९७०, पृ० २४-२५।

भूमिहीन समस्या एक नया मोड़ ले लेती है, हलवाहों के अभाव की समस्या, जिसे मधुकर गंगाधर ने अपने उपन्यास 'फिर से कहो' में चित्रित किया है। निस्सन्देह प्रजातांत्रिक और आधुनिक मानवतावादी उन्मेष से दबे-कुचले लोगों में उन्मेष आया।

(ग) पुराने गाँव और नयी सर्वहारा करवट

इस नयी सर्वहारा-करवट को संस्कारी गाँव झेल नहीं पाते हैं। भूमि वाले भूमि लेकर उस पर काम करने वालों के लिये झंख रहे हैं।[१] उस पर काम करने वाले नारा बुलन्द कर रहे हैं कि 'जमीन किसकी, जो जोते उसकी!'[२] यह अन्तर्विरोध बहुत गहरा है। स्वराज्य के बाद भूमिहीनों की भू-मांग तो न्याय-संगत है परन्तु इसके उदय के साथ भू-स्वामियों के मन में एक नये किस्म के तनावपूर्ण भू-व्यामोह ने जन्म लिया है। इसी के अतिरेक में वे लोग रास्ता-घाट छेंक रहे हैं।[३] चरागाह और रास्ते बन्द कर रहे हैं।[४] खाली जमीन में आलू-प्याज उगाने लगे हैं।[५] जो भूमिहीन हैं वे क्या करें? वे क्या रोकें? क्या छेंकें? और कहाँ पर क्या उगायें? उनमें नवोन्मेष नकारात्मकता अथवा अस्वीकृति की विद्रोह-मुद्रा में उभरता है। 'फिर से कहो' में रघुनाथसिंह विलैतिया के यहाँ हल चलाने के लिये कहने जाते हैं और इनका ऋणी होने पर भी वह स्पष्ट अस्वीकार कर देता है तो रघुनाथ सिंह का माथा भन्ना जाता है और वे समस्या पर इस दृष्टि से तैरने लगते हैं कि 'यह साला सर्वे क्या आया पूरे गाँव को बहका दिया।'[६] लेकिन दोष सर्वे का नहीं संस्कारों का है। नये संस्कारों में नयी करवट है। मधुकर गंगाधर ने भूमिहीनों में ही यहाँ नये-पुराने संस्कारों का सुन्दर चित्रण किया है। विलैतिया में नये संस्कार हैं और एतवारी में प्राचीन परम्परागत संस्कार हैं। विलैतिया के स्वतंत्र आजीविका-चिन्तन की भाषा एकदम नयी है। उसका विद्रोह भू-स्वामी के लिए अप्रत्याशित है।[७]

---

१. 'फिर से कहो'—मधुकर गंगाधर, पृ० १६।
२. वही, पृ० १८। ३. वही, पृ० २१। ४. वही, पृ० २२।
५. वही, पृ० २३।
६. वही पृ० ३३।
७. वही, पृ० ३५।

एतवारी में इस प्रकार का विद्रोह नहीं है। वह पुरानी जड़ कष्टसहिष्णु समझौतावादी पीढ़ी का व्यक्ति है। विलैतिया मझली पीढ़ी का है। उसकी पंक्ति में एतवारी का लड़का मंगला है। वह जमींदार से विद्रोह कर पलायित हो चुका है। आर्थिक प्रश्नों पर भूमिहीनों की पुरानी और मझली पीढ़ी से अधिक सक्रिय विक्षोभ है नयी पीढ़ी में, इस पीढ़ी में एतवारी का नाती झिंगुरवा है। इन दोनों में मनोवृत्तिगत कोई सामंजस्य नहीं दृष्टिगोचर हो रहा है। जहाँ सभी एक जुट होकर हल उठाने से इनकार कर चुके हैं वहाँ असमर्थ और अति वृद्ध होते हुए भी एतवारी सिरपंचमी के दिन हलका सगुन करने जाता है और पुनः कर्मक्षेत्र में आने पर उसे संस्कार वश आनन्द ही आता है। उसका सम्पूर्ण जीवन ही इसी विक्षोभहीन सन्तुष्ट स्थिति में बीता है। 'इस धरती और ज़िन्दगी की कोई यादगार और अनुभूति उसे नहीं है। जैसे वह धुएँ के बीच धँसता जा रहा है।'[1] नयी भूमिहीन-पीढ़ी इस परम्परागत धूम-धुंध से उबरने के लिए न केवल कृतसंकल्प है अपितु प्रयत्नवान भी है। एक साधारण बात के लिये उक्त उपन्यास में रघुनाथ सिंह का लड़का गाली देकर झिंगुरवा को दो-तीन थप्पड़ लगा देता है तो ऐसा लगता है कि उलटकर वह भी ईंट का जवाब पत्थर से ही देगा परन्तु ऐसा नहीं हो पाता है क्योंकि एतवारी अभी जीवित है। किन्तु पीढ़ियों का 'बोझ' ढोता एतवारी जब गिर जाता है तो झिंगुरवा के भीतर उकसता नया आदमी उसका आसन नयी मुद्रा में ग्रहण कर लेता है। यह नयी मुद्रा पूर्ण उभार के साथ एक दिन दृष्टिगोचर होती है। 'उसने आव देखा न ताव, सर के बोझ को पूरी ताकत के साथ जिधर रघुनाथ सिंह का बेटा था फेंक दिया और अपने दादा की ओर दौड़ा।'[2] भूमिहीनों की इन पीढ़ियों, उनके अन्तराल, संघर्ष और विद्रोह के प्रति आद्यन्त द्विधाहीन बेलाग भाषा में कथाकार टिप्पणी करता है। 'सोनारी की संस्कृति की तपःपूत पीढ़ी लुढ़क गई। दूसरी पीढ़ी द्विधाग्रस्त, विघटित, भ्रमणशील हो गई। नाबालिग और उदीयमान तीसरी पीढ़ी की नाजुक अंगुलियाँ मालिकाना बोझ को तिरस्कारपूर्वक झटकती हैं और गिरते इंसान को उठाने की कोशिश करती है।'[3] इस झिंगुरवा में 'गोबर' की पीढ़ी का विकास निहित

१. 'फिर से कहो', पृ० ६१।
२. वही, पृ० ६५।
३. वही, पृ० ६६।

है, उसी चुभन के साथ। गोबर को कुएँ पर एक दिन उसके मालिक झिंगुरी सिंह नहाते हुए मिल जाते हैं तो गोबर उधर से निकल जाता है। न सलाम किया, न बोला, वह ठाकुर को दिखा देना चाहता था कि मैं तुझे कुछ नहीं समझता।'[१]

स्वतंत्रतापूर्व जमींदार-काल के भूमिहीनों की इस मनोवृत्ति का विकास स्वाभाविक था। स्वत्व-संरक्षण की जागरूकता अनिवार्य थी। शताब्दियों के दबे-घुटे लोगों में नव-चेतना सहज संभावित थी। सभ्य जातियों के सम्पर्क में निर्वासित सर्वहारा-जन की संक्रांति के समान ही आदिवासी भूमिहीनों में भी नव-जागरण लक्षित हो रहा है। उनके नागदेवता गाँव-मंगल की जो दस-सूत्रीय घोषणा करते हैं उनमें एक अंतिम घोषणा यह होती है कि 'अपने चरा-गाह काटो, जो दखल करे उसका सिर तोड़ दो।'[२]

(घ) भूदान-चित्रण

भूमिहीनों की समस्या का अहिंसक समाधान भूदान के रूप में प्रस्तुत किया गया, जिसके कार्यक्रम का केन्द्र हृदय-परिवर्तन है। निस्सन्देह सिद्धान्त दृष्टि से यह अत्यन्त आकर्षक और उपयोगी आर्थिक कार्यक्रम है जिसकी ओर समूचे देश का ध्यान आकर्षित हुआ। हिन्दी-कथाकारों ने भी इसकी वास्त-विकता का प्रत्यक्षीकरण किया और व्यवहार दृष्टि से कार्यान्वित होने पर जो कुछ इसकी उपलब्धि सम्मुख आई उसका चित्रण उन्होंने बहुत मनोयोग से किया है। भूदान की हवा गाँव में पहुँचती है तो कथाकार मार्कण्डेय के राम-जतन हलवाह को लगता है कि 'दुनिया पलटा न खा गई तो जिस धरती के लिये महाभारत हो गया उसी धरती को लोग हँस-हँस कर दान कर देते हैं और वह भी उस लंगोटी वाले संत को जिसका अपना न घर, न दुवार!'[३] रामजतन को लगता है कि धरती पर धरम का अवतार लेकर आदमी का हृदय परिवर्तित करने वह विनोबा आया है। ग़रीब निश्छल हलवाह वैराग्य-दर्शन में डूब जाता है, 'का धरा है ससुरी जिनिगी में!' वह देखता है कि गाँव का

१. 'गोदान', पृ० २१३।
२. 'कलावे', पृ० १७५।
३. 'भूदान'—मार्कण्डेय, पृ० ५४।

ठाकुर दस बीघा तरी दान करता है। कलक्टर साहब खा-पीकर चले जाते हैं। खबर उड़ती है कि वह तरी ग़रीबों को बाँटी जायेगी। अन्य भूमिहीनों के साथ रामजनम को भी आशा बँधती है। एक दिन ठाकुर रामजतन को बुलाकर ऊँच-नीच समझाता है और भूदान की पाँच बीघा तरी वाली ज़मीन देने का प्रलोभन देता है। रामजतन अपनी घर की ज़मीन जो थोड़ी सी है और झगड़े में है, टीप देकर उसे छोड़ देता है। इस सौदे से उसकी स्त्री भी प्रसन्न है। उसे पाँच बीघे तरी की पुर्जी भी मिल जाती है मगर इस दान-लीला का रहस्य एक दिन भूदान-कमेटी के 'मंतरी जी' रामजनम को समझाते हैं कि 'ठाकुर के जिस दान से उसे भूँय मिली है वह केवल पटवारी के कागज पर थी। असल में तो वह कब की गोमती नदी के पेट में चली गई है।'[1]

सदा की भाँति भूदान के संदर्भ में भी भूमिहीन लोग भू-पतियों से प्रवंचित हुए परन्तु इसमें भूदानी नेताओं और सरकारी अधिकारियों की उत्तरदायित्व-हीनता भी कम दोषी नहीं है। सर्वोदयी नेताओं की तानाशाही और 'काम-दाम-नामवादी सेवा' के बीच गाँव का नया परिवर्तन भ्रष्टाचार का एक दुखद अध्याय मात्र बनकर रह जाता है। मधुकर गंगाधर की कहानी 'केंचुल और गंध' में सर्वोदय-सन्देश की मधुर लहरियों में सोनापट्टी गाँव की नव-चेतना जाग्रत होती है। लोग नये बदलाव के बारे में ऊँचाई के साथ चिन्तन करने लगे हैं। 'एशिया का सबसे रूढ़, पददलित एवम् संस्कारी हिस्सा करवट ले रहा है।···काल की खामोश घाटियों में ज्योति-पुरुष की भैरवी गूँजने लगी है।...भारत के ग्रामीणों ने ज़िन्दगी पहचान ली है।'[2] परन्तु नयी आश्रमी सेवा-संस्था, सर्वोदय, भूदान, पदयात्रा और गांधीवादी कार्यक्रम की नवइयत का रहस्योद्घाटन एक तीखे व्यंग्य में तब उभरता है जब लोग देखते हैं कि ये भूदानी पदयात्री नेता जीप पर बैंडिग और अटैची आदि बाँधकर अपने प्राइवेट सेक्रेटरी के साथ चलते हैं।[3] मधुकर गंगाधर की इस कहानी 'केंचुल और गंध' में केंचुल वाह्य परिवर्तन है और गंध भ्रष्टाचार की है। इस भ्रष्टाचार की

---

१. 'भूदान', पृ० ६४।

२. मधुकर गंगाधर के कथा-संग्रह 'गर्म गोश्त : बर्फीली तासीर' में पहली कहानी 'केंचुल और गंध', पृ० १८।

३. वही, पृ० २३, २४।

अनुभूति का ही परिणाम है कि सोनापट्टी में आश्रम स्थापना का लोग विरोध करते हैं और यह वही मर्मपीड़क विचार-विन्दु है जिससे उत्प्रेरित होकर 'परती: परिकथा' में परानपुर के ग्रामीण भूदानियों को लाठी से मारकर खदेड़ देते हैं। सर्वे के पूर्व ही इसके कार्यकर्ता आकर दानपत्र बटोर ले गये। 'परानपुर के अधिकांश ज़मीन वाले बड़े किसानों ने सोचा—सामने सर्वे की कड़ी सरसराती हुई आ रही है। ज़मीन माँगने वाले कोई नेता लोग थोड़े ही हैं। पुराने ही बाबू लोग हैं, कांग्रेसी और सोशलिस्ट पार्टी के लोग। विनोबा बाबा को कुछ बीघे ज़मीन का दान देकर काम बनाया जा सकता है, सर्वे में! भूदान देने वाले पर कांग्रेसियों और सोशलिस्टों की मिली-जुली नेक-निगाह ज़रूर रहेगी।'[1] इस प्रकार नये स्वार्थ, संदर्भों से भूदान को जोड़ा गया और उसे एक प्रकार से राजनैतिक घूस के रूप में विनियोजित किया गया। इसीलिए स्वार्थों की पारस्परिक टकराहट के साथ विरोधी वातावरण की सृष्टि हो जाती है। तीन सौ एकड़ ज़मीन का दान-पत्र बटोरने पर भी लुत्तो को आशा के मुताबिक कोई कमीशन नहीं मिला, और विपरीत इसके इस प्रकार की आशा प्रकट करने पर उसके एक कार्यकर्ता ताराबाबू की झिड़की मिलती है तो वह भूदान-विरोधी हो जाता है। उसके विरोधपूर्ण बहकावे में आकर ग्रामीण भूदानियों को गाँव में टिकने नहीं देते हैं और उपेक्षापूर्वक कहते हैं, 'भूदान में जो ज़मीन देने की बात थी सो सरकार ने छीन ली, परती ज़मीन!'[2] उपेक्षा के साथ प्रहार भी, 'भूदानियों पर लट्ठ पड़ने लगे—'साला! पहले जमीदारी सत्यनाश किया। तब सर्वे और तब सरब सोधन!'[3]

प्रवंचक सेवा-व्रतियों के स्वार्थ-पंक में एक ओर भूदान फँस गया और दूसरी ओर जनता में निकृष्टतम भूमि को इसमें लगाने की प्रवृत्ति ने ज़ोर पकड़ लिया। श्री उदयराज सिंह ने अपने उपन्यास 'भूदानी सोनिया' में इस स्थिति का प्रभावशाली विश्लेषण किया है। स्वतंत्रता के बाद जब देश के प्रख्यात सेवा-व्रती आकाशचारी हो गये तो भूदान-रूप में ही देश-सेवा का अभिनवव्रत धरती पर अवतीर्ण हुआ। सत्तामद और व्यापक राजनैतिक शोषण

१. 'परती : परिकथा', पृ० ३२३।
२. वही, पृ० ३२८।
३. वही, पृ० ३२८।

के वातावरण में भूदान एक नये प्रकाशाश्रम की भाँति चमका और वे सारी शक्तियाँ जो कांग्रेस से उसकी स्वार्थपरता के मुद्दे पर असन्तुष्ट रहीं इसके झंडे के नीचे एकत्र हो गईं। उन्होंने चुनाव और सत्ता-संघर्ष से परे देश की बुनियादी भू-समस्या की चुनौतियों से जूझने का निर्णय लिया। कांग्रेस के मठाधीश भी सर्वोदय वालों को अप्रसन्न करना नहीं चाहते हैं। यद्यपि उनकी दिलचस्पी भूदान में किंचित् मात्र भी नहीं है। वे बड़े लोगों को मिला-जुलाकर गिनाने भर के लिए कुछ दान-पत्र मात्र एकत्र कर लेने के बाद इसकी सफलता का प्रचारक उद्घोष करते फिरते हैं और कम्युनिज्म के प्रसार के विरुद्ध एक राजनैतिक मोर्चेबन्दी मानकर प्रसन्न होते हैं। सर्वत्र स्वांगरचना ही प्रधान है। परती-ऊसर और बेकार ज़मीनों के तथा उन ज़मीनों के जो झगड़े में हैं दान-पत्र हो जाते हैं![1] उक्त स्थिति का चित्रण 'रागदरबारी' में श्रीलाल शुक्ल ने किया। 'गाँव के बाहर एक लम्बा चौड़ा मैदान था जो धीरे-धीरे ऊसर बनता जा रहा था। अब उसमें घास तक नहीं उगती थी। उसे देखते ही लगता था कि आचार्य विनोबा भावे को दान के रूप में देने के लिये यह आदर्श ज़मीन है। और यही हुआ भी था। दो साल पहले इस मैदान को भूदान-आन्दोलन में दे दिया गया था। वहाँ से वह दान-रूप में 'गाँव-सभा को वापस मिला। फिर गाँव-सभा ने इसे दान रूप में प्रधान को दे दिया। प्रधान ने दान के रूप में इसे अपने रिश्तेदारों और दोस्तों को दिया और उसके बचे-खुचे हिस्से को क्रय-विक्रय के सिद्धान्त पर कुछ ग़रीबों और भूमिहीनों को दिया। बाद में पता चला कि जो हिस्सा इस तरह ग़रीबों और भूमिहीनों को मिला था वह मैदान में शामिल न था बल्कि किसी की ज़मीन में पड़ता था। अतः उसे लेकर मुकदमाबाजी भी हुई। जो अब भी हो रही थी और आशा थी कि अभी होती रहेगी।'[2] जयसिंह के उपन्यास 'कलावे' में भी 'भूदान' का ऐसा गोलमाल होता है कि जमींदार दूसरे की ज़मीन दान देकर अपना नाम समाचार पत्रों में प्रकाशित कराकर चतुर्दिक से यश-अर्जन कर लेता है।[3] ये समस्त चित्र भूदान के खोखलेपन और उसके उक्त यथार्थरूप को बहुत स्पष्टता के साथ बोधित कराते हैं।

---

१. 'भूदानी सोनिया', उदयराज सिंह, पृ० २०५।
२. 'रागदरबारी', श्रीलाल शुक्ल, पृ० १८८।
३. 'कलावे', जेयसिंह, पृ० १९९।

इस कार्यक्रम की सार्थकता और उपयोगिता का यथार्थ चित्र केवल मायानन्द के उपन्यास 'माटी के लोग' : सोने की नैया' में अंकित हुआ है जहाँ उजाड़ कोसी अंचल के भपटियाही गाँव के भूमिहीन विपन्न मछियारों की आर्थिक समस्या भूदान द्वारा हल होती दीख पड़ती है। उपन्यास-जगत में एक अच्छे-सच्चे स्वातंत्र्योत्तर नेता की भी अवतारणा होती है। जहाँ लोग अपनी भूमिहीनता का रोना रोते हैं वहाँ 'वह सबको ज़मीन देने के लिए ललकारता है। कहता है, हाथ उठाइये, कितने लोगों के पास ज़मीन नहीं है? तेरह-चौदह व्यक्ति हाथ उठाते हैं। उस छोटे गाँव में दो-तीन बीघे से अधिक भूमि किसी के पास नहीं है जिसमें से दान माँगा जाता। फलतः अन्यत्र से भूदान में मिली ५० बीघे भूमि को वह इन भूमिहीन परिवारों में बाँट देता है।'[१] ऐसे नेता और भूदानी कार्यकर्ताओं का अभाव ही वह कारण है कि न तो समाज में और न साहित्य में भूदान की सफलता का दर्शन होता है। पाठ्य-पुस्तकों में, समाचार-पत्रों में, आँकड़ों में, नेताओं के भाषणों में और रेडियो-प्रचार में भूदान की युगधर्मिता सतर्क-सतेज शब्दावली में भले व्यक्त मिले परन्तु यथार्थतः यह आर्थिक कार्यक्रम अपने देश में सांस्कृतिक कार्यक्रम के रूप में शेष रह गया है।

५—मध्यम-वर्ग

(क) गाँव के सामान्य मध्यवर्गीय

बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव और जीविकोपार्जन के साधनों की न्यूनता के कारण गाँव टूट-टूट कर नगर से जुड़ता जा रहा है। विशेषकर शिक्षित ग्रामीणों का तो लक्ष्य ही नगर-सेवा हो गया है। वे कृषि परित्याग कर सामान्य से लेकर निम्न सेवाओं तक के प्रलोभन में फँसे होते हैं। कृषि-कार्य के साथ एक प्रकार की हीनता का भाव भी जुड़ गया है जिसका मूल कारण है परम्परागत कृषि की हीनतम उपलब्धियाँ। जब भूमि से जुड़े लोग कृषि छोड़-कर नगराकर्षण में खिचे गाँव से विमुख दृष्टिगोचर हो रहे हैं तो भूमिहीनों का नगर की ओर प्रवाह तो स्वाभाविक ही है। नयी विकास-योजनाओं, कृषि-क्रान्ति और ग्रामोद्योग आदि के कारण स्थितियों में परिवर्तन अपेक्षित था

१. 'माटी के लोग : सोने की नैया', पृ० १५२।

परन्तु उक्त संक्रान्तिशील कार्यक्रमों का प्रभाव भूमिहीनों और साधारण किसानों पर न पड़ने के कारण नगरोन्मुखता की स्थितियों में अन्तर नहीं आया। गाँवों में शिक्षा-प्रसार से तैयार होनेवाली नयी शिक्षित पीढ़ी अभी भी कृषि के प्रति उदासीन है और उसके लिए गाँव में कोई स्थान नहीं है। वह नगर की ओर प्रस्थान के लिये बाध्य है। बेकारी और महार्घता की दोहरी चोट से आहत शिक्षित ग्रामीण नगर में अथवा गाँवों में ही मध्यम वर्ग का जीवन जीने के लिये विवश है। स्वतंत्रता के पश्चात् गाँवों में भी सेवा-क्षेत्रों का विस्तार हुआ है। जो शिक्षित ग्रामीण गाँवों में ही अध्यापकी अथवा ग्राम-सेवकी आदि जैसी सेवाओं में निरत हैं उनमें और नगर में सेवा-कार्य-संलग्न ग्रामीणों की आर्थिक स्थितियों में अन्तर होता है। नगर में एक ओर तो नागरिक जीवन-स्तर को अपनाने और बनाये रखने के और दूसरे आवासादि के नये-नये आर्थिक बोझ, मूल्यवृद्धि के युगीन अभिशाप से संयुक्त होकर उसके जीवन को नाना प्रकार की आन्तरिक-बाह्य यंत्रणाओं से परिपूर्ण कर देते हैं। इसे ही गाँवों के ऊपर नगरों का आक्रमण कहा जाता है जिसकी चपेट में जीवन का सारा उल्लास गहन अवसाद में डूब जाता है। संत्रास, कुंठा, ऊब, उद्देश्यहीनता, भद्दगी, मौन, गिरावट, टूटन और घोर अवसादग्रस्तता इस प्रकार के मध्यमवर्ग का लक्षण हो गयी है। अमरकान्त की कहानी 'दोपहर का भोजन' में मध्यवित्त परिवार की जो रोमांचक स्थिति उभरी है वह इस वर्ग की परिनिष्ठित स्थिति है। इस कहानी के एक लघुचित्र-बिम्ब से पूरा धुंधग्रस्त परिवेश साकार हो उठता है—

'लड़का नंग-धड़ंग पड़ा था। उसके हाथ-पैर तथा छाती की हड्डियाँ साफ दिखाई देती थीं।'[1]

वास्तविकता तो यह है कि क्लर्की से छँटनी के बाद मुंशी जी के परिवार की स्थिति अनन्त निराशाओं के कुहासे में ऊब चूभ जैसी हो जाती है। बीहड़ विषाक्त मौन में डूबे मध्यमवर्ग के पारिवारिक संत्रास-क्षणों को कथाकार ने कुशलता के साथ उकेरा है।

यही मध्यवर्गीय आर्थिक विषण्णता 'बूँद पानी'[2] में एक नये कोण से चित्रित

---

१. अमरकान्त के कहानी संग्रह 'जिन्दगी और जोंक' में संकलित तीसरी कहानी 'दोपहर का भोजन', पृ० ५१।

२. हिमांशु जोशी के कहानी-संग्रह 'अन्ततः' में संकलित कहानी।

है। विसेसर मूलतः ग्रामीण है परन्तु वह महानगर के गुंजलक में रिक्त हस्त फँस गया है। उसकी युवा पत्नी की साड़ी तार-तार हो गई है और धेली-रुपये तक के लिये कंगाल हो गया है। सारी गृहस्थी उखड़ गई है। इस बीच यदि कोई वस्तु सुरक्षित है तो वह है पति-पत्नी का पारम्परिक प्रेम। इससे ऊब-उदासी कटती तो चलती है परन्तु इसी बीच गाँव से उजड़कर बिसेसर के बड़े भैया दो बच्चों के साथ आ जाते हैं। वे बच्चे एकदम जंगली हैं, जैसे अजायब-घर से लाये गये हैं। ग्रामबोध और नगरबोध की टकराहट विभिन्न स्तरों पर उभड़ती है किन्तु रह-रह कर जो प्रश्न उठ खड़ा होता है वह यह कि महानगर गाँव से कटे इन अभागों को क्या सुरक्षित स्थान दे सकेगा ? गाँव का नगर हो जाना एक दुःस्वप्न है। सत्य है उसका नगर में आ जाना। उनकी उजड़े-लुटे गाँव की स्मृतियाँ बहुत मर्मस्पर्शी हैं—

'शायद...अब गाँव लौटना नहीं चाहते बड़े भैया !...आखिर लौटें भी कैसे ? बैलों की जोड़ी बिक गई। बाप-दादा के पुराने मकान की पिछली दीवार पिछली बरसात में ढह गई। इने-गिने दो-चार रेतीले खेत, कुछ उप-जाता नहीं, सूखे तिनके तक नहीं !'[1]

इन गाँवों तक विकास के चरण अभी नहीं पहुँचे और न ही स्वतंत्रता के बाद आर्थिक दृष्टि से कोई परिवर्तन हुआ है।

(ख) नारी चित्रण

मध्यवर्गीय नारी की मर्मपीड़ा का आर्द्र-आलेखन मन्नू भंडारी की कहानी 'क्षय'[2] में हुआ है। पिता क्षयग्रस्त है और पुत्री कुन्ती अध्यापिका जीवन व्यतीत कर ऋण, अकेलेपन, घोर अवमानना और दुर्वह उत्तरदायित्वों के बोझ को ढोती चल रही है। आर्थिक अभाव उसे ट्यूशन करने के लिये विवश करते हैं और नाना प्रकार की सामाजिक-आर्थिक-नैतिक समस्याओं के क्रूर कसाव में तड़पती, टूटती कुंती घनी संवेदनाओं की एक टीस छोड़ जाती है। यह मध्यम-वर्गीय क्षय परम्परित है और इसकी नियति है जो क्षयग्रस्त पिता की क्षयिष्णु पुत्री को नौकरी के साथ ट्यूशन की तेहरी मार से एकदम तोड़ देती है। श्री काशी-

---

१. 'अन्ततः'।

२. मन्नू भंडारी के कहानी-संग्रह 'यही सच है' में संकलित।

नाथ सिंह ने मध्यमवर्ग के आर्थिक-विवशताओं को सेक्स से जोड़कर एक नये आयाम का उद्‌घाटन 'आख़िरी रात'[1] शीर्षक कहानी में किया। प्रतीक्षातुर मध्यमवर्गीय नागरिक 'पति' प्रातः नैहर (अपने गाँव) जाने वाली पत्नी से रात को मिलता है। वह पैर दबाती है, मीठी बातें करती है, पास सो जाती है। किन्तु दोनों की मनःस्थिति का अन्तराल अपनी सम्पूर्ण भयंकरता के साथ अगले क्षण उभरता है जब पत्नी अपने नैहर की भाभियों, बहनों और भतीजों की चर्चा कर उनके लिए उपहारादि के उपकरणों, साड़ी, ब्लाउज, शीशी, कंघी और कमीज आदि की माँग इस सन्दर्भ में प्रस्तुत करती है कि यदि किसी से कम गया तो लोग क्या कहेंगे ? छोटी भाभी गई तो बक्स भर कर ले गईं ! पति पहले तो मनोरंजन के रूप में इन प्रस्तावों को लेता है परन्तु आग्रह की पुनरावृत्तियाँ यथार्थ की चोट बन जाती हैं और वह असीम रूक्षता के साथ झल्ला उठता है। उसकी तरंगायित देह-भूख आर्थिक झटकों में उखड़ जाती है और रात भर के मौन-तनाव की बीहड़ घाटियों को पार कर प्रातः पश्चात्ताप में डूब जाता है कि वह पूरी तरह पत्नी को प्यार न कर सका। इस पश्चात्ताप में मध्यमवर्ग की शतशत अनकही आर्थिक जटिलताएँ स्वतः अनुभूत हो उठती हैं। प्रश्न आर्थिक हैं कि राज्य में, समाज में और वर्ग में परस्पर तनाव, बिलगाव और संघर्ष-स्थितियाँ लेकर तो खड़े ही हैं, निभृत एकांत शैया पर पड़े पति-पत्नी के प्रेम में भी विष घोल देते हैं। पत्नी के ग्राम-मन की सांस्कृतिक भूख अभावग्रस्त पति के मध्यवर्गीय आर्थिक आकुंचन में मर जाती है और दोनों का वैयक्तिक यथार्थ अपने पूरे अन्तर विरोध के साथ चित्रित होता है। स्वतन्त्रतापूर्व का मध्यवर्ग उच्चवर्ग के अनुकरण में टीम-टाम और बाह्य-प्रदर्शन पर मरता रहा परन्तु स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्ग प्रतिष्ठा, कुलरीति और सामाजिक प्रशंसादि से मुक्त सीमित आय के विकट दुश्चक्र में अपने को समेट कर येन-केन प्रकारेण जीवन रक्षामात्र का अभिलाषी है। अनेक अपरिभाषित संत्रास और अनाम कुंठाएँ जिनका मूल स्रोत आर्थिक समस्याएँ हैं तथा जो सुदृढ़ रूप से उसकी सेवावृत्ति-नौकरी से जुड़ी हुई हैं उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को आहत कर देती हैं। वह यंत्रगतिक हो जाता है।

---

१. काशीनाथ सिंह के कहानी-संग्रह 'लोग बिस्तरों पर' में संकलित।

(ग) नौकरी की खोज

नौकरी की खोज और गाँव के शिक्षित बेकारों की हताश प्रयत्नशीलता बहुत करुण है। उनकी लक्ष्यहीन भ्रमित और छीजती-डूबती युवाशक्ति जीविकोपार्जन के तिनके मात्र के सहारे को भी बहुत मानती खप जाती है। गाँव का एक हाई स्कूल पास लड़का नौकरी की तलाश में नगर जा रहा है, जिसका चित्रण रामदरश मिश्र अपने उपन्यास 'पानी के प्राचीर' में करते हैं—

'नीरू ने थोड़ा सा सत्तू लिया और दो सेर आटा। चल पड़ा शहर की ओर।...सुमेश सिवान तक पहुँचाने आ गये थे। इधर माँ सिसक रही थी। छिः वह क्यों सिसक रही है ? बेटा तो कमाने जा रहा है।'[1]

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में मास्टरी का चुनाव है। मगर मतानुयाचना न होने के कारण नीरू नहीं लिया जाता है। अंक यद्यपि उसके प्रथम श्रेणी के हैं। अन्त में वह निराश होकर एक राय साहब के यहाँ मेठगिरी का कार्य पाता है। परंतु उसका स्वभाव इतना सरल है कि वह इस काम में खप नहीं पाता है। फिर एक मिल में सीज़नल नौकरी मिलती है। वह नौकरी भी छूट जाती है। धनाभाव में आगे पढ़ने का कोई योग नहीं रहा। पुनः वह नगर में एक मित्र के यहाँ जाता है। उपन्यासकार उसका चित्रण करता है—'गन्दा फटा कुरता, मामूली सी धोती, चमरौधा जूता, हाथ में पुराने किस्म का झोला, धूल धक्कड़ से भरे हुए पाँव, मलिन्द की आँखों में झुँझलाहट भर उठी।'[2]

गाँव के अभावग्रस्त प्रतिभाशाली बालकों की यह कुरूपता जिसे उसका नागरिक मित्र सह नहीं पाता है और झुँझला उठता है एक सत्य है। यह कुरूपता स्थायी है और सेवा-कार्यों में योजित होने के बाद बाह्य से आन्तरिक हो उठती है। मध्यम वर्ग का सुख वास्तव में आरोपित सुख है। क्योंकि उसके मूल में ही एक असन्तुलन है। यह असन्तुलन तब तक रहेगा जब तक गाँव आत्मनिर्भर नहीं होंगे और जीविकार्थ नगराभिमुख भागदौड़ बन्द नहीं होगी।

(घ) निम्न मध्यवर्ग

निम्न मध्यवर्ग की स्थिति और दारुण है। हिन्दी कथा-साहित्य में रेणु,

---

१. 'पानी के प्राचीर', रामदरश मिश्र, पृ० १२२।

२. वही, पृ० १७०।

शैलेश मटियानी और पानू खोलिया ने इसका मार्मिक चित्रण किया है। निम्न मध्यवर्ग सुविधा-सम्पन्न जीवन के सपनों को नगर से जोड़ता है किन्तु वर्तमान विषम पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में सम्प्रति उसकी गिरावट में कोई परिवर्तन नहीं आता दीख रहा है। पानू खोलिया की कहानी 'दुश्मन'[1] में भगपत और उसकी स्त्री सल्लो के मन में बच्चा उत्पन्न होने पर उसे राजकुंअर की तरह पालने के सपने जगे। वे गाँव छोड़कर नगर में आ गये। मिल में नौकरी लगी। जहाँ उन्होंने सोचा था झूले, हाथगाड़ी, पढ़ाई, भारी पंडित होने और 'गिरंथु' (ग्रन्थ) लिखने की बात वहाँ घोर दरिद्रता में बच्चा कुछ आनों की दवा के अभाव में तड़प-तड़प कर चल बसता है तो अभागे दम्पति यह सोचकर सन्तोष कर लेते हैं कि वह बेटा नहीं दुश्मन था।[2] किन्तु वह वास्तविक शत्रु से सर्वथा अपरिचित हैं। गाँव की सहज धूल में खेलकर उकसे गरीब लोग वैभव की चकाचौंध और सुख की ललक में नगर में आ जाते हैं और यहाँ औद्योगिक यंत्र-सम्यता उन्हें उदरसात् कर डालती है। नगर का आकर्षण गाँव के निरन्न लोगों के लिये मृगमरीचिका सिद्ध होता है। शैलेश मटियानी की कहानी 'चिथड़े'[3] में गेंदी को पांडु नगर के सपनों में बहका रहा है, 'वहाँ जिन्दगी के हर ग़म को ट्राम, बस, टैक्सियों के शोर का सैलाब अपने साथ डुबो ले जाता है।' दूसरे दिन गेंदी में एक भारी परिवर्तन आ जाता है। 'गेंदी रोज अपने हाथ से कजरी का गोबर साफ करता है—पर, आज उसे लगा, गोबर के ये छींटे उसके तन को नोच रहे हैं। 'गेंदी बम्बई जाने की चर्चा करता है। उसका बाप समझाता है, 'शहर की ज़िन्दगी किसान के लिये रोग होती है।' परन्तु वह मानता नहीं है। वह बम्बई जाता है किन्तु उसकी रंगीनी में डूबने पर उसे इतना कड़ुआ अनुभव होता है कि वहाँ के रेशमी पर्दों में चीथड़ों की अनुभूति लेकर वह भाग आता है। लेकिन यह भाग आना एक तो तात्कालिक घटनाक्रमवशात् है और दूसरे अपवाद है। सत्य तो यह है कि गाँव टूट रहे हैं। उसकी इकाइयाँ उध्वस्त हो रही हैं और ग्रामीण उसे छोड़-छोड़ कर नगर की ओर पलायन कर रहे हैं। जो जाता है वह दूसरों को भी खींचता है।

---

१. पानू खोलिया के कहानी-संग्रह 'एक किरती और' में संकलित।
२. 'एक किरती और', पृ० १३७।
३. शैलेश मटियानी की 'मेरी तैंतीस कहानियाँ' से संकलित, पृ० ३३।

(ङ) नगरोन्मुखता

नगर का सम्पर्क गाँव को परिवर्तित कर दबे-पिसे ग्रामीणों को नया उभार दे रहा है। स्वतंत्रता के बाद लघुमानवों का नवोन्मेष सर्वथा नये स्तर पर हुआ है। रेणु की कहानी 'उच्चाटन'[1] में गाँव का हलवाह 'बिलसवा' शहर में जाकर रिक्शा चलाता है और वह रामविलास सिंह हो जाता है। इधर गाँव के अभिजात-वर्ग-प्रतिनिधि मिसिर जी हैं जिनका उच्चाभिमान नयी चोट से धसकता दिखाई पड़ता है। 'दो साल पहले, चैत महीने की आधीरात में गाँव छोड़कर चुपचाप भागा था रामविलास, गाँव छोड़कर, मिसिर की नौकरी छोड़कर और मिसिर का करजा पचाकर। और जब रामविलास सिंह बनकर वह नगर से लौटता है तो शहरी 'अदा' से मिसिर को 'डाउन' कर देता है। वह दिनभर चाय, बीड़ी और ताश में डूबा रहता है और रात में अंग्रेजी ताश, अंग्रेजी दारू ! जब वह 'रजिन्नर नगर' की बात करता है तो उसके साथी सिहक उठते हैं। गाँव के हलवाहों का मन उड़ जाता है। गाँव की मति का उच्चाटन हो जाता है। हलवाहों को अपनी वृत्ति अत्यन्त हीन और घृणित लगने लगती है। वे उसके रिक्शा डिलवरी लाइसेंस और फोटो को बारम्बार हाथ में लेकर देखते हैं और सोचते हैं, बिलसवा शहर से अपने नाम में 'सिंग' लगवा कर आया है। क्या आश्चर्य कि वे ग्राम-परित्यागपूर्वक उसके सहकर्मी बन युग-युग की आत्महीनता की नियति को विसर्जित करने की बात सोचें !

रेणु की इस 'उच्चाटन' समस्या और निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक कठिनाइयों को शैलेश मटियानी ने अपनी कहानी 'एक शब्दहीन नदी'[2] में बहुत कुशलता के साथ चित्रित किया है। नगर से लौटा गाँव का भूतपूर्व हलवाहा अपने सहकर्मियों के आगे नगर की चमक-दमक का वह आकर्षक चित्र उपस्थित करता है कि अधिकांश उसके अनुगत होने के लिए उतावले हो उठते हैं। किन्तु ठीक समय पर वह स्वयं एकाकी पलायित हो उठता है। वह स्वयं अपनी पत्नी तक को नगर-सुख की तृष्णा में डुबो जाता है। उसके आकस्मिक और अप्रत्याशित पलायन में निम्नमध्यवर्ग की आर्थिक कठिनाइयों की अनुभूतियाँ

---

१. रेणु के कथा-संग्रह 'आदिम रात्रि की महक' में संकलित।

२. शैलेश मटियानी के कहानी-संग्रह 'सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ' में संकलित।

थीं। नगर में वे टूटते रहते हैं परन्तु गाँव में सफेद-पोशी की हेकड़ी जताते हैं। गाँव और नगर की ग़रीबी में कोई तात्विक अन्तर नहीं होता है। गाँव का हलवाहा यहाँ तो अपनी पत्नी के साथ किसी प्रकार जीवन व्यतीत कर लेता है परन्तु जब वह 'डिल्ली' जैसे नगर में रिक्शा चालक बन जाता है तो अपने नगर के प्रति चाहे वह गर्व कितना ही प्रदर्शित कर ले परन्तु निजी जीवन की वास्तविकता तो यह है कि वहाँ वह अपनी स्त्री को लेकर रहने की स्थिति में भी अपने को नहीं पाता है ! इस कहानी में गाँव का शंकर हलवाह दिल्ली-दर्शन करता है तो अन्तस्तल में एक हूक उठती है कि काश कि उसकी पत्नी हंसा यहाँ होती और यहाँ की सजी जोड़ियों की भाँति वे भी टहलने निकलते ! सभ्य-जन सम्पर्क उसमें एक सर्वथा नयी भूख जगा देता है जो उसके ग्राम-मन को व्याहत करती है। घर आकर अपनी पत्नी से दिल्ली के बारे में बताता है कि वहाँ औरत-मर्द एक दूसरे के हाथों को हिलाते हुए, सीटी बजाते हुए और फिल्मी गीत गाते हुए सैर करते हैं। वह अपने हाथों से अपनी पत्नी हंसा के होठों पर लिपिस्टिक लगाता है और साड़ी का पल्लू सिर पर से उतार कर पीठ पर डाल देता है। इस ट्रेनिंग के बाद शिक्षा देता है—'बड़े-बड़े शानदार होटलों में लंच और डिनर लेते समय कैसे काँटे-चम्मचों का इस्तेमाल करना चाहिए। पहले 'टोमैटो सूप' लेने के बाद खाना शुरू करना चाहिए। खा लेने के बाद जोर से पिच्च-पिच्च कुल्ले करने की जगह हल्के से कुल्ला करके रेशमी रूमाल से होठों को थोड़ी देर तक थपथपाते रहना चाहिए।'[1]

शंकर के मन में हंसा को दिल्ली ले जाने की यद्यपि बलवती लालसा है परन्तु प्रतिमास प्राप्त होने वाले कुल अस्सी रुपयों की बात सोचकर वह बुझ जाता है। कोठी के जिस गैरेज में उतने नौकरों के साथ वह कालाक्षेप करता है वहाँ हंसा को कैसे रख सकेगा ? उधर हंसा घर में सिर पर से पल्लू उतार पीठ पर फेंक कर सैंडिल पहन कर चलने का अभ्यास कर लेती है और पूछती है कि कुतुब मीनार की सीढ़ियों पर तो सैंडिल उतार कर चढ़ना होता होगा ! परंतु, इन सबकी परवा न कर शंकर तिकड़म से एक दिन दिल्ली के लिए चम्पत हो जाता है। वर्ग-नियति से मुक्ति कठिन है। निम्न वर्ग चाहे वह गाँव में किसान है अथवा नगर में मध्यवर्ग जिस-तिस प्रकार उदर-पूर्ति भर अर्जन

---

१. सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ, पृ० ७४।

कर लेता है। शेष सभ्य मानवीय आवश्यकताएँ उसके लिए दुःस्वप्न हैं। यह सत्य है कि गाँव का आर्थिक पक्ष इतना दुर्बल है कि वह वर्धमान जनसंख्या को आजीविका प्रदान करने में अक्षम है और न ही वहाँ निम्न वर्ग की महत्वाकांक्षाओं की पल्लवन-संभावना है अतः नगर-शरणता आज की एक अनिवार्य विवशता है। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास 'कभी न कभी' में देवजू और लछमन जैसे ग्रामीण जहाँ-तहाँ से सूखे पत्तों जैसे उड़ते किसी नगर की आड़ में मिलते ही रहेंगे। वृन्दावनलाल वर्मा ने 'कभी न कभी' में उनके संगम का सुन्दर चित्रण किया है—

'वे दोनों एक ही गाँव के रहने वाले न थे। काम की खोज ने उन दोनों को एक स्थान पर एकट्ठा कर दिया था। दोनों दरिद्र थे। दोनों परिश्रमी। लछमन कुछ दुबला था। देवजू हट्टा-कट्टा। बलवन्त नगर में एक बड़ी इमारत का काम चल रहा था। दोनों वहीं मजदूरी करते-करते एक दूसरे को जानने लगे थे।'[1]

(च) प्राचीन पारिश्रमिक नीति का प्रभाव

गाँव की श्रम और पारिश्रमिक सम्बन्धी घिसी-पिटी परम्परायें भी श्रमिकों को नगर-सेवी बनने के लिए विवश कर देती हैं। प्राचीन ग्राम-व्यवस्था नयी परिवर्तित स्थितियों में कदापि सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हो सकती। उसे यथावत स्थिर रखने की सामन्तवादी दुराग्रहवृत्ति आज संघर्ष का कारण बन रही है। ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता ताराशंकर बन्धोपाध्याय ने 'गणदेवता'[2] का आरम्भ इसी समस्या के साथ किया है। शिवकालीपुर के अनिरुद्ध लुहार और गिरीश बढ़ई अपनी दूकान गाँव से दूर नदी पार जंकशन पर कर लेते हैं जिससे ग्रामीणों की कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं और वे इन दोनों के विरुद्ध पंचायत बैठाते हैं। उनके ऊपर आरोप लगाया जाता है—'तुम दोनों ने शहर में अपना कारोबार शुरू किया है। ठीक ही किया है। जहाँ दो पैसे मिलेंगे, आदमी वहीं

---

१. 'कभी न कभी' वृन्दावनलाल वर्मा, पृ० १।

२. 'सन् १९२५ से १९५९ के बीच प्रकाशित समूचे भारतीय साहित्य में सर्वश्रेष्ठ घोषित और १ लाख के ज्ञानपीठ पुरस्कार से पुरस्कृत बंगला उपन्यास :

जायेगा। सो जाओ। लेकिन यहाँ से एकबारगी सब समेट लो और हम कन्धे पर सामान उठाये नदी पर करके यह दो कोस रास्ता दौड़ा करें, यह तो नहीं होने का भैया!'[1] यह आरोप विनम्र शब्दावली में इसलिये बन गया कि ग्राम-अनुशासन से मुक्तमन अभियुक्तों ने पंचायत में पदार्पण ही स्वतंत्र आजीविका के उत्साह में, किंचित दुःशील मुद्रा में किया और इस आरोप का उत्तर भी उन्होंने उत्तरदायित्व-हीन रूक्षता के साथ दिया। फिर, ग्रामीणों के क्रुद्ध-विक्षुब्ध होने पर तो साफ अँगूठा ही दिखा दिया, 'हम लोगों से अब काम नहीं होगा!'[2] उनके इस टके से उत्तर के मूल में आर्थिक-दृष्टि है और साधार है। एक तो अन्न के रूप में पारिश्रमिक की परम्परागत दर अत्यन्त न्यून और अनार्थिक है। दूसरे प्रायः सबके यहाँ बाकी ही रह जाता है। तीसरे लोहे का सामान लोग प्रायः बाजार से लाने लगे। नगर के मिस्त्री और नगर से आये सामान सस्ते, सुन्दर और उपयोगी होने लगे। गाँव में ऐसे प्रतिबद्ध सेवी लुहार-बढ़ई के संरक्षण की सुविधायें नयी परिवर्तित स्थितियों में नहीं रहीं अतः अभाव और बेकारी में नये आर्थिक दबाव उन्हें नगर की मुक्त हवा में विचरण के लिए बाध्य करते हैं। गाँव के वृद्ध जन अव्यवस्था और अनुशासन हीनता का रोना चाहे जितना रोवें परन्तु आर्थिक समस्याओं का प्रभाव दुरतिक्रम्य है।

६—विघटन का आर्थिक कोण

(क) आर्थिक-समस्यायें और विघटन

बेकारी और अभावग्रस्तता के अतिरिक्त आधुनिक काल में अन्य ऐसे अनेक आर्थिक कोण उभर आये हैं जिनके प्रभाव से गाँव टूट रहे हैं और ग्रामीण उसे छोड़कर नगर की ओर भाग रहे हैं। गाँव विघटित हो रहे हैं और भले लोगों का राहित्य उसकी सुधार-संभावनाओं को पारहीन अंधकार में झोंक रहा है। रेणु की कहानी 'विघटन के क्षण'[3] में इस विद्रूप का साक्षात्कार किया गया है। गाँव की दो कन्याओं में प्रबल ग्राम-प्रेम है। उनमें से एक विजया तो

---

१. 'गणदेवता', पृ ०६।

२. वही, पृ० १०।

३. रेणु के कहानी-संग्रह 'आदिम रात्रि की महक' में संकलित।

नगर में आकर विक्षिप्त हो जाती है, लेकिन विवशतः उसको विछोह सहन करना पड़ता है। क्योंकि वह जिस बड़घरिया हवेली की कन्या है उसके प्रधान रामेश्वर चौधरी एम० एल० ए० गाँव छोड़कर पटने में ही रहते हैं। ज़मीन-जायदाद बेच चुके हैं। कुछ थोड़ी बची है। 'जिस दिन कोई बड़ा गाहक लग जाय, बेचकर छुट्टी! छुट्टी माने, इस रानीडिह गाँव से, अपनी जन्मभूमि से कोई लगाव नहीं।...गाँव के 'जवान-जहान' लड़के गाँव छोड़कर भाग रहे हैं। पता नहीं शहर के पानी में क्या है कि जो एक बार एक घूँट भी पी लेता है, फिर गाँव का पानी हजम नहीं होता!'[1] सुविधा-सम्पन्न लोग गाँव की उदासी से ऊबकर अथवा और सुविधा-सम्पन्न होने के लिए नगर में जम रहे हैं। वहाँ आर्थिक-विकास की सुविधायें अधिक मिलती हैं। होली का रंग फीका पड़ जाता है, नागपंचमी की कबड्डी जवानों के नगर में चले जाने के कारण उखड़ जाती है और विजया अपनी सहेली को पुनः वापस आने का भरपूर आश्वासन देकर नगर में चली जाती है। किन्तु पाठकों के मन में पीड़ा उभड़ कर रह जाती है कि एम० एल० ए० साहब तो अब गाँव वापस आने से रहे! बालशौरि रेड्डी के उपन्यास 'स्वप्न और सत्य' में भी एक पूरा का पूरा किसान परिवार नगर में समा जाता है और उभरती महत्वाकांक्षी ग्राम-प्रतिभा को नगर सोख लेता है। चन्द्रशेखर विद्यार्थी जीवन से ही अपने गाँव को आदर्श बनाने का सपना पालता आया है।[2] परन्तु सुधार-प्रयत्नों के बावजूद गाँव बिगड़ता जाता है तो आत्म-सुधार-कामी उसका पिता गाँव की जायदाद बेचकर मद्रास में मकान बनवाता है। लोग विचार करते हैं कि 'आजकल (गाँव में) ज़मीन जायदाद खरीदने से कोई फायदा नहीं। शहरों में मकान बनाने में धन लगाना लाभकर है। एक तो ज़मीन और मकान का मूल्य बढ़ता जायगा। दूसरे किराये पर देने में आमदनी भी होगी।'[3]

(ख) नगर में समाते गाँव

'अलग अलग वैतरणी' का देवनाथ अनेक आर्थिक ठोकरों के पश्चात

---

१. 'आदिम रात्रि की महक', पृ० १४।

२. 'स्वप्न और सत्य', पृ० ३२।

३. वही, पृ० २००।

कस्बे में दूकान कर लेता है। न केवल वह गाँव से ऊबता है अपितु अपने लोभी और पुराणपंथी पिता से भी भारी अंडस का अनुभव करता है। उसका मित्र विपिन हारकर नगर में नौकरी कर लेता है। दोनों के ग्राम-सुधार के सपने चूर हो जाते हैं। सारा उत्साह ठंडा हो जाता है। देवनाथ खीझ कर कहता है, 'मारो साले गाँव को गोली! सालभर तक इस गाँव में रहकर जान लिया कि यहाँ किसी भले आदमी का रहना मुश्किल है। यह एक जीता-जागता नरक है।'[1] और गाँव में उकसे भले लोग उसे छोड़कर चल देते हैं। गाँव दौड़कर नगर में धँस जाता है। नगर का आर्थिक इन्द्रजाल इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से तो ग्रामीणों को खींच ही रहा है, वह प्रत्यक्ष रूप से भी पसर कर गाँव की आबादी को घोंट डालता है। पटने की जसवन्त नगर कालोनी के बड़े-बड़े ब्लाक, फ्लैट्स आदि में न जाने गाँव की कितनी आबादी, खेत और ऊजड़-बंजर आदि समाये हुए हैं और तब भी कथाकार मधुकर गंगाधर गाँव के अमरत्व को भावुक पर्यवेक्षण दृष्टि से देख रहा है।[2] 'शहर का दुतरफा आवागमन' कहकर राजेन्द्र यादव जिसे 'सांस्कृतिक और नैतिक संक्रमण'[3] कहते हैं वह वास्तव में आर्थिक-संक्रमण है। अपने सीधे, सज्जन और समर्थ ग्राम-प्रेमी यशवन्त से विमुख हो रत्ना[4] जो माणिक की परिणीता होती है वह एकमात्र इस कारण से कि वह समृद्ध नागरिक है। डा० त्रिभुवन सिंह ने इस स्थिति के आर्थिक-कोण को 'सागर, लहरें और मनुष्य' नामक उपन्यास के संदर्भ में बहुत सटीक ढंग से विश्लेषित किया है। वे कहते हैं—

'आधुनिक सभ्यता का महल अर्थ की नींव पर खड़ा है। और हम देखते हैं कि मच्छीमारों के वे परिवार जिनकी आर्थिक-स्थिति सन्तोषजनक है गँवई-सभ्यता से असन्तुष्ट होकर नगर-सभ्यता की कल्पना करने लगे हैं। रत्ना के पिता विट्ठल और उसकी माता वंशी की आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है, फूस के स्थान पर रहने के लिए उसका पक्का मकान है, काम करने के लिये नौकर हैं। गाँव के लोगों में रोबदाब है तथा औरों की अपेक्षा खाने-पीने का

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ६६३।

२. 'मोतियों वाले हाथ', मधुकर गंगाधर, पृ० १४।

३. कहानी : स्वरूप और संवेदना', पृ० ४५।

४. 'सागर, लहरें और मनुष्य', पृ० १६९।

ढंग भी अच्छा है। उसी का एक घर ऐसा है जिसमें शिक्षा का प्रवेश हुआ है। रत्ना जो एकमात्र अपने माता-पिता की सन्तान है, आधुनिक शिक्षा की सुविधाओं से लाभान्वित है पर अपनी सखी सारिका के बहुत कहने पर भी वह एफ० ए० की परीक्षा न दे सकी क्योंकि उसमें उसका संस्कार ही बाधक हुआ। उतनी ही शिक्षा का प्रभाव भौतिकवादी चमत्कारों से पूर्ण बम्बई शहर के जीवन के प्रति रत्ना के मन में ऐसा वेग भर गया कि वह मच्छीमारों के रहन-सहन, उनकी सभ्यता तथा आचार-विचार से एकदम घृणा करने लगी।'[1]

(ग) आर्थिक-संक्रमण का परिणाम

नगर-सभ्यता की चपेट में गाँव का यह विघटन और उसकी पराजय नगर की क्षमता का उतना द्योतक नहीं है जितना गाँव की अक्षमता का। उसकी यह आर्थिक अक्षमता है जो उसकी इकाइयों को विखंडित कर रही है। यह क्रम बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही भारत में चल रहा है और अब जबकि औद्योगिक विकास के बढ़ते चरण ग्रामांचल को नाप रहे हैं उसके मौलिक स्वरूप के ही आचूड़ रूपान्तरित हो जाने की सम्भावना भविष्यत् क्षितिज पर उगी दृष्टि-गोचर हो रही है। इस संदर्भ में भावुकता वश चाहे जितने संवेदनशील होकर पुराने गाँव की रूप-रक्षा की बात हम करें परन्तु इस 'अर्थ-युग' में उसका धर्माधारित वह स्वरूप लौटने से रहा जिसमें पारिश्रमिक अन्न के रूप में दिया जाता था। श्रमिकों को अब 'बनि' नहीं 'वेतन' चाहिए। 'गणदेवता' के नाई, लुहार, कुम्हार और ताँती इस आधार पर अपना-अपना काम छोड़ चुके हैं। सारी सामाजिक शृङ्खला छिन्न-भिन्न हो गई है। परम्परागत व्यवस्थाओं में दरार पड़ गई है। 'ग्राम' तीव्रगति से रूपांतरित होकर सर्वथा एक नये रूप में फिर उठने लगा है। कथाकार उसके भावी 'महाग्राम' स्वरूप को बड़ी गहराई के साथ परख रहा है और चित्रित कर रहा है—

'नदी के उस पार नया काल नये महाग्राम की रचना कर रहा है। नये काल की उस रचना में जो रूप निखरेगा, उसे यतीन ने अपनी किताबों में पढ़ा है—कलकत्ते में उसने अपने जन्मस्थान में प्रत्यक्ष देखा है। उसके याद आते ही सिहर उठना पड़ता है, लगता है कि सारी दुनिया की रोशनी गुल हो

---

१. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—डा० त्रिभुवन सिंह, पृ० ४५०।

जायेगी, हवा का प्रवाह थम जायेगा, सारी सृष्टि द्रष्टा द्वारा रौंदी हुई नारी-जैसी सार-हीन कंगालिन बन जायेगी ! जर्जर-सदय, कलेजे में हाहाकार, बाहर चमक-दमक, होठों पर बनावटी हँसी । अभागिन सृष्टि ! सांख्यिकी नियम से उसकी परिणति क्षय रोगी की तरह तिल-तिल करके मृत्यु !'[1]

७—निष्कर्ष

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य को आर्थिक-समस्यायें तीव्रता से प्रभावित करती चित्रित हुई हैं । नये आर्थिक कार्यक्रमों के प्रति जन-साधारण की उदासीनता में भी समस्या का केन्द्र आर्थिक है । निस्सार योजनाओं को ग्राम-मन तिरस्कृत करता है और सत्ता की ओर से वे उसके सिर पर लाद दी जाती हैं । इसी विसंगति में जनता के अन्तर्मन में योजना-मात्र के प्रति गंभीर उपरति उत्पन्न हो जाती है । इस आलोच्य कालावधि के अन्तिम चरण में कृषि-क्रान्ति का जन-मानस ने सोल्लास स्वागत किया है परन्तु कथा-साहित्य में अभी उसकी प्रतिध्वनि अनगुंजित है । अभी हिन्दी-कथा-साहित्य जमींदारी अत्याचार, जमीदारी उन्मूलन और उन्मूलनोत्तर जमींदार-संदर्भों से अधिकांश परिपूर्ण प्रतीत होता है । सहकारिता आदि के चित्रों में प्रचारधर्मिता है और भूदान का चित्रण भी संतुलित न होकर समर्थन अथवा विरोध की अतियों पर प्रतीत होता है । ठेठ ग्रामांचल में आये नये आर्थिक परिवर्तन और जन-रुचि का अभिनव विकास एक गंभीर विश्लेषण सापेक्ष चुनौती है जिसे भावी कथा-साहित्य को स्वीकार करना है ।

●

१. 'गणदेवता', पृ० २९५ ।

चतुर्थ अध्याय

ग्राम-जीवन की सांस्कृतिक स्थिति और स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य

१—भारतीय संस्कृति और ग्राम-जीवन

भारतीय संस्कृति मूलतः कृषि-संस्कृति है जिसकी पृष्ठभूमि सनातन ग्राम-जीवन है। इस सम्बन्ध से ग्राम-संस्कृति को ही भारतीय संस्कृति के रूप में पारिभाषित करना असंगत नहीं होगा। किन्तु नये कथा-साहित्य में चित्रित सांस्कृतिक स्थिति को देखकर लगता है कि आन्तरवृत्ति और वाह्य संगठन दोनों ही दृष्टि से ग्राम-जीवन का यह पक्ष सम्प्रति अत्यन्त उध्वस्त और मात्र रूढ़ियों के समुच्चय के रूप में अवशिष्ट रह गया है। उसमें आदर्शों का समष्टि रूप संपूर्णतः खो गया है।

कहा जाता है कि यह युग ही विकृति का है और संस्कृति जिसका संबंध ईश्वर, धर्म, अध्यात्म, नैतिकता और अंशतः कर्मकाण्ड आदि से है, नयी वैज्ञानिक भौतिकवादी उपलब्धियों की उपस्थिति में अब पुराकाल-सी प्रेरणा अथच उत्तेजना प्रदान करने वाली नहीं रही। व्यक्ति का जीवन आमूल चूल परिवर्तित हो गया है। उसके मूल्य बदल गये हैं और प्ररिप्रेक्ष्य परिवर्तित हो गये हैं। उसके मानदंड भी संस्कृतिमूलक न होकर सभ्यतामूलक हो गये हैं। यदि संस्कृति का स्रोत ग्राम-जीवन है तो सभ्यता का स्रोत नगर-जीवन है। विज्ञान के अकूत वैभव और वरदान से गरिमाशाली प्रसारशील नगर गाँवों पर द्रुतगति से छाते चले जा रहे हैं और उनकी चपेट में ग्राम टूटते जा रहे हैं। सांस्कृतिक अवमूल्यन के नये आयाम गाँवों के नगरीकरण के परिप्रेक्ष्य में उद्घाटित हो रहे हैं। धर्म, दर्शन, विश्वास, साहित्य, संस्कार, स्नान, नदी, तीर्थ, शिक्षा-दीक्षा, वर्ग, मूर्ति, जीविका, मंदिर, त्योहार, विवाह, संस्कार,

रीति, पोशाक, पूजा, गीत, कला, कृषि, भोजन, शास्त्र, वाद्य और नृत्यादि के सांस्कृतिक क्षेत्र आधुनिक जीवन-क्रम में एक मनोरंजन के साधनमात्र या अंध परंपरा-पालन हैं। उनमें जीवन के प्रति किसी गहन-गंभीर दृष्टिकोण की स्थिति नहीं, न ही किसी लौकिक-पारलौकिक उत्कर्ष का शील संवेदित है।

यद्यपि संस्कृति का अविकृत और अनाविल स्वरूप दुर्लभ है तथापि अविकसित ग्राम ईकाइयों में जहाँ आधुनिकता का प्रकाश नहीं पहुँचा है अथवा अर्द्ध-शिक्षित ग्रामांचलों में जहाँ पुरातनता के संस्कार पूर्णतः धुल नहीं गये हैं अंशतः मानसिक अनुशासन के रूप में सांस्कृतिक प्रतिष्ठा अभी शेष है। किन्तु एकमेव हिन्दू-संस्कृति के रूप में रूढ़ प्राचीन भारतीय संस्कृति स्वातंत्र्योत्तर नये प्रजातांत्रिक अथवा समाजवादी समाज की स्थितियों में जबकि भारतीय संघ में हिन्दू के अतिरिक्त मुसलिम, सिक्ख और ईसाई आदि भी अपने सांस्कृतिक अवदान के साथ सहभागी हैं, मृत-प्रकोष्ट सुरक्षित गतानुगतिक भाव से श्रद्धा अथवा शोध की वस्तु बनी, किंचित कौतूहल संवर्धक उपकरण की भाँति गृहीत होकर गाँव के पिछड़ेपन का विज्ञापन करती है।

तो भी, मानवीय दृष्टि से, ग्राम-जीवन में लक्षित उसके विशिष्ट सांस्कृतिक रूपों में अनेक मूल्यवान जीवन-तत्व जिनकी जड़ें जीवन की गहराई में हैं, संरक्षित रहकर आधुनिकता की शुष्क जीवन-पद्धतियों के लिए चुनौती बन जाते हैं। आधुनिकता का केन्द्र अनास्था है, यंत्र और बुद्धि है। जो समग्र रूप से ग्राम-जीवन के अनुकूल नहीं पड़ रहे हैं और नगरभाव से जुड़े हैं। इनकी टकराहट अपने सांस्कृतिक स्वरूप की सुरक्षा के साथ इस नागर आधुनिकता को आत्मसात करने की समस्या है। नव-परिवर्तित आर्थिक और बौद्धिक स्थितियाँ सांस्कृतिक जीवन को जाने-अनजाने वांछित और अपेक्षित मोड़ दे रही हैं और भविष्य में ग्राम-जीवन के विकास के साथ जड़ रूढ़िवादिता से मुक्त, मानवीयता विहित नये मूल्यों की संवर्धिका संस्कृति उसे एक समन्वित-सन्तुलित सार्थक रूप प्रदान करेगी, ऐसा प्रतीत होता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कथा-साहित्य में ग्राम-जीवन की सांस्कृतिक स्थिति का रागात्मक बोध जो उभरकर आया वह प्रधानतया वाह्योपचार पर आधारित है। किन्तु वाह्योपचाराधारित सांस्कृतिक चित्रण की प्रगति आरम्भावस्था पर ही अवरुद्ध हो गई। उसका विकास नहीं हुआ। स्वतंत्रता-प्राप्ति के ठीक बाद यह लहर हिन्दी कथा-साहित्य में आई थी। जिस प्रकार

कथा-साहित्य ससमारोह ग्रामोन्मुख हुआ था वह एक असाधारण सांस्कृतिक अन्तरप्रेरणा का द्योतक था। इस क्रम में एक ओर उपेक्षितों को कथाकारों द्वारा अपनी संवेदना प्रदान की गई।[1] दूसरी ओर बाबा-दादाओं पर ध्यान गया।[2] प्रगति और परम्परा के संरक्षण के ये दोनों संगमित लक्षण सांस्कृतिक सरणियों से छनकर उद्भूत हुए और व्यक्ति वैशिष्ट्य को लेकर अवि-पूज्य-पूज्य दोनों ही के स्तवन-कोण उभरे। सांस्कृतिक ग्राम व्यक्तित्व की एक रूपरेखा इस संदर्भ में प्रस्तुत की जा रही है।

२—सांस्कृतिक ग्राम-व्यक्तित्व-चित्रण

(क) गंभीर प्रशान्त सांस्कृतिक ग्राम-नारी व्यक्तित्व

'अलग-अलग वैतरणी' में शिवप्रसाद सिंह ने कनिया के चित्रण में गंभीर प्रशान्त सांस्कृतिक ग्राम नारी-व्यक्तित्व को कुशल उभार दिया है। कनिया सनातन नारी परम्परा का एक मौन सौन्दर्य-चित्र है।[3] आदि से अन्त तक उसमें अभिजात कुलवधू के शील के साथ गहन उत्तरदायित्व बोध का संतुलन बना रहता है। शिवप्रसाद सिंह की अन्य रचनाओं में भी इस प्रकार के सांस्कृतिक चित्र अंकित हुए हैं। उनकी 'दादी माँ' शीर्षक कहानी में भी यही विशेषता है।[4] दादी माँ जैसी स्नेहशील वृद्धायें एक पीढ़ी हैं जो शनैःशनैः अस्तंगत हो रही हैं। मार्कण्डेय की 'माई,[5] कमलेश्वर की 'देवा की माँ',[6]

---

१. कहानी : नयी कहानी—डा० नामवर सिंह, पृ० ६३।
२. नयी कहानी : एक और शुरुआत—डा० बच्चन सिंह।
(नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति—सम्पादक डा० देवीशंकर अवस्थी—में संकलित निबन्ध), पृ० २३६।
३. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० १७३-१७४।
४. 'आरपार की माला' में संकलित।
५. 'भूदान' में संकलित।
६. 'राजा निरबंसिया' में संकलित।

शैलेश मटियानी की 'पद्मावती'[1] और लेखक की 'आजी'[2] ऐसे ही सांस्कृतिक नारी-चरित्र और स्नेह-संवलित, मातृत्व-समृद्ध, श्रद्धाशील और पावन ग्राम-माताओं के चित्र हैं।

(ख) सहज सौम्य सांस्कृतिक ग्राम-नारी व्यक्तित्व

निम्न कुलोद्भव होते हुए भी 'परती : परिकथा' की ताजमनी, जितेन्द्र की आश्रित और प्रेमिका, में एक अभिजात शालीनता और पवित्र-सुन्दरता है। गाँव के घूर पर चिटकी इस सांस्कृतिक कली को 'रेणु' ने बहुत सहज निखार दिया है। ग्राम-जीवन की यही सांस्कृतिक सहजता शेखर जोशी की 'शुभो दीदी'[3], मोहन राकेश की 'आर्द्रा'[4] में है। शिवप्रसाद सिंह की 'नयी पुरानी तसवीरें', 'उपधाइन मैया'[5] और 'नन्हों'[6] में भी सौम्यता से केन्द्रित है। प्रेम, वात्सल्य, वृद्धत्व, मातृत्व और सेवापरायणता की त्याग-मूर्तियों के रूप में ये चित्र अपनी सूक्ष्म ग्रामगंधी विशेषताओं से सम्पन्न चित्रित किये गये हैं।

(ग) खंडित विशिष्ट सांस्कृतिक ग्राम-नारी व्यक्तित्व

ग्रामीण नारी का यह ऐसा औसत सांस्कृतिक व्यक्तित्व है जिसमें पुरानी पीढ़ी का भोलापन, झक और भव्य मूर्खताओं की सीमा तक पहुँचा रीझ-खीझ संयुक्त सरल किन्तु असामान्य व्यवहार नयी पीढ़ी के द्वारा कौतुकपूर्ण दृष्टि अथवा मनोरंजक, कभी-कभी करुण दृष्टि से देखा जाता है। धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो'[7], मन्नू भंडारी की गुलाबी[8], लक्ष्मीनारायण लाल की

---

१. 'सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ' में संकलित 'सुहागिनी' शीर्षक कहानी की पात्रा।
२. 'ज्ञानोदय' जून सन् १९६७ में प्रकाशित।
३. 'कोसी का घटवार' में संकलित।
४. 'मोहन राकेश की श्रेष्ठ कहानियाँ'।
५. 'आरपार की माला' में संकलित।
६. 'इन्हें भी इन्तजार है' में संकलित।
७. 'कहानी' नववर्षांक १९६८ में पुनर्प्रकाशित : रचनाकाल (५५-५६)।
८. 'यही सच है' में संकलित 'रानी माँ का चबूतरा' शीर्षक कहानी की पात्रा।

'कलपा बुआ'[1] मायानन्द मिश्र की संझा मैया,[2] ताराशंकर बन्द्योपाध्याय की रंगा दीदी[3] और लेखक की 'फूआ'[4] में उक्त सांस्कृतिक चित्र-वैशिष्ट्य दृष्टि-गोचर होता है। यही वैचित्र्य राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यास 'जाने कितनी आँखें' की एक यात्रा 'हिनौतावारी दाई' अर्थात् प्यासन दादी में मिलता है।

(घ) पुरुषत्वप्रधान सांस्कृतिक ग्राम-नारी व्यक्तित्व

राजनीतिक युद्ध की वीरांगनाओं की भाँति सामान्य ग्रामीण-जीवन-युद्ध की साहसशील कर्मठ नारियों का चरित्रचित्रण साहित्य में वांछनीय है। स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में मुक्ति की अज्ञात अपरिचित अनुभूति और अन्तः प्रेरणा से परिचालित पुरुषत्वप्रधान नारी व्यक्तित्व का आलेखन न्यून किन्तु प्रभावशाली ढंग से हुआ। रांगेय राघव की 'गदल',[5] भैरव प्रसाद गुप्त की 'फूल'[6], फणीश्वर नाथ रेणु की 'रतनी',[7] और रामदरश मिश्र की 'भवानी'[8] ऐसी ही नारियाँ हैं जिनमें मार्दव के स्थान पर कठोरता, शान्ति के स्थान पर संघर्ष और लज्जाशीलता के स्थान पर मुखर-मुक्तता मिलती है। कहीं आजी-विका के लिए तो कहीं आनबान के लिए कठिन संघर्ष स्थितियों में निरत इन नारियों में आदि से अन्त तक अटूट नारीत्व भी सुरक्षित है जो भारतीय संस्कृति से कहीं बेमेल नहीं पड़ता है।

शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हों' में नारीत्व का सनातन सांस्कृतिक राग-बोध ग्राम-स्तर पर अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से चित्रित हुआ है। नन्हों गाँव की

---

१. 'सूने आंगन रस बरसै' में संकलित 'सियार पूजा' शीर्षक कहानी की पात्रा।
२. 'माटी के लोग : सोने की नैया' की एक पात्रा।
३. 'गणदेवता' की एक पात्रा।
४. 'कहानी' अगस्त १९६९ में प्रकाशित।
५. वही नववर्षाङ्क १९५५ में प्रकाशित।
६. वही, १९५९ में प्रकाशित।
७. 'आदिम रात्रि की महक' में संकलित 'नैना जोगिन' कहानी की पात्रा।
८. 'खाली घर' में संकलित 'एक औरत : एक जिन्दगी' शीर्षक कहानी की पात्रा।

विधवा सहुआइन है, अकेली है, अपनी अभिशप्त नियति से जूझती ढलान पर भी अडिग रह जाती है। टूट-टूट कर जुड़ जाती है। उखड़ कर भी सुस्थिर रह जाती है। न कुंठित, न यौन-विकृत अथवा विक्षिप्तावस्था की शिकार, न्याय-पूर्ण, करुण, गाँव का अनाविल उच्चनारीत्व, निम्न कही जाने वाली जाति में और बदलते समय के घातप्रतिघात से अप्रभावित निष्कम्प वैधव्य-चित्र, भारतीय संस्कृति के विशिष्ट संदर्भ को रेखांकित करता है। इससे सर्वथा भिन्न रेणु की रतनी का तेवर है। वह और उसकी चढ़बांक मतारी दोनों गाँव पर छाई हुई हैं। नागरिक श्रावयिता को लगता है, 'रोज ताल ठोक कर एक नंगी औरत पहलवान मुझे चुनौती देती है।' वह गाँव की माटी का यह नया रूप देखकर विस्मित है परन्तु एक दिन रतनी की दुर्दमनीय पुत्रैषणा का रहस्य भी खुल जाता है। लगता है कि यदि रतनी को बच्चा नहीं हुआ तो वह गाँव के पेड़-पौदे तोड़ देगी, गाँव के लोगों को तोड़ देगी, नंगी नाचेगी ! रेणु इस प्रबल अंधड़ सी दुर्दम नारी की सनातन पुत्र-कामना की तीव्र प्रतिक्रियाओं को बहुत कुशलता से अंकित करते हैं। भारतीय संस्कृति में नारीत्व का पूर्ण सफलता पुत्र-प्राप्ति है जो प्रबल इच्छा रूप में स्थिति-विशेष एवम् व्यक्ति-विशेष में उदित होकर अपना चमत्कार दिखाती है।

शैलेश मटियानी की कहानी 'सुहागिनी' में पतिव्रत के एक नये आयाम का उद्घाटन हुआ है। अपनी असमर्थता जताकर भाई अपनी बहन पद्मावती का ब्याह पैंतालिस वर्ष की आयु में अपने तरण-तारण के लिए कदलीपत्र की पालकी में आसीन श्रीरामचन्द्र जी स्वरूप ताम्र-कलश के साथ कर देता है और वह आजीवन अपने को सुहागिनी मानती तपती और लोगों का व्यंग्य सहती कलश को ही पतिरूप में देखती खप जाती है ! मार्कण्डेय की 'माई', राकेश की 'आर्द्रा' और कमलेश्वर की 'देवा की माँ' में इस प्राचीन सांस्कृतिक मूल्य की प्रतिष्ठा है कि माँ कपूत अर्थात् आर्थिक दृष्टि से हीन पुत्र का साथ देती है।[1] डा० बच्चनसिंह की दृष्टि में दादी-माई आदि के माध्यम से इस प्रकार ध्वंसोन्मुखी आदर्शों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया जाता है जो कथाकारों के रोमैन्टिक दृष्टिकोण का परिचायक है।[2] तो भी स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में विधायक रूप

१. समकालीन हिन्दी-साहित्य : आलोचना को चुनौती !—डा० बच्चन सिंह, पृ० १२०।
२. वही, पृ० १०६।

से चित्रित ये सांस्कृतिक व्यक्ति-चित्र ग्राम-जीवन के उस आयाम का उद्‌घाटन करते हैं जिसमें मनुष्य मनुष्य है तथा इसीलिए वे मूल्यवान हैं।

ङ—सांस्कृतिक रेखाओं में उभरा विशिष्ट पुरुष-चित्र

आधुनिकता के प्रभाव से रहित मूल्यनिष्ठ ग्राम-व्यक्तित्व में एक सांस्कृतिक स्तर होता है जो कथा-साहित्य के पात्रों की भीड़भाड़ में पृथक से ही पहचान में आ जाता है। यह द्विधाहीन भावात्मक पीढ़ी है जो गाँधीयुग के बाद कठिनाई से शेष रह पाई है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्राम-समाज के ऊपर शहरीकरण बनाम औद्योगीकरण की नीति के कारण जो नया अर्थ चौकस ग्राम-व्यक्तित्व उभरा है वह उस पुरानी पीढ़ी से सर्वथा भिन्न है। अमरकान्त की कहानी 'सवा रुपये'[1] में जो 'बाबा' हैं वे पुरानी सरल-साधु पीढ़ी के प्रतिनिधि हैं। उनके आक्रोश-क्रन्दन में कभी-कभी 'कलियुग आ गया है' जैसे अवश-चिन्तन के प्रतीक वाक्य निकल जाते हैं। परन्तु, वास्तव में, उन्हें बदलते नये-युग के प्रति कोई शिकायत नहीं है। 'जल टूटता हुआ' में बनवारी बाबा और अमलेश जी में ऐसी ही पीढ़ी चित्रित है जो बहुत भावुक और सरल हृदय वाली है। पानू खोलिया की कहानी 'रिश्ते'[२] के अजुध्या बाबू भी ऐसे ही एक सज्जन हैं। शिवप्रसाद सिंह के 'देऊ दादा'[३] और मार्कण्डेय के 'गुलरा के बाबा'[३] में जो आदर्शवादी उभार है वह सांस्कृतिक अधिक है। शैलेश मटियानी की कहानी 'पुरखा'[५] में आनन्दसिंह थोकदार अपने परिवार के प्रधान हैं तथा परिवार के विघटन की जैसी पीड़ा उनमें चित्रित की गई है वह पुरानी पीढ़ी की विशेषता है। नयी पीढ़ी इस पीड़ा का सम्मान करना भी नहीं जानती। ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता'[६] में यह सांस्कृतिक संकट बहुत स्पष्ट है। पिता गँवार है। वह रामायण और गीता का संस्कारित परिवेशी है। अपने नागरिक

---

१. 'जिन्दगी और जोंक' में संकलित।
२. 'एक किरती और' में संकलित।
३. 'आरपार की माला' में संकलित।
४. 'पानफूल' में संकलित।
५. 'सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ' में संकलित।
६. 'फेंस के इधर और उधर' में संकलित।

पुत्र के नगर-स्थित परिवार में उसका निवास भी एक समस्या हो जाता है। ग्रामीण संस्कृति और नगर सभ्यता के छोर आज कहीं मिल नहीं पाते हैं और दोनों का अन्तराल बढ़ता ही जाता है। प्राचीन संस्कृति के साथ धर्म जुड़ गया और उसने उसे एक मधुर रूप दे दिया परन्तु आधुनिक सभ्यता से राजनीति जो जुड़ गई तो उसने उसे मानवीय स्तर पर विकृति और कड़वाहट से परिपूर्ण कर दिया। गांधी-युग तक दोनों में समन्वय का क्रम चला किन्तु नेहरू के बाद समन्वय-संभावना एक किनारे लग गई और ग्रामीण-भारत नगरीकरण के दूसरे किनारे जा लगा। स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में गाँधीयुग के प्रभावापन्न कुछ चरित्र ठेठ गाँव में जो अंकित हुए उन्हें देखते यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। सुखदेवराम,[१] जग्गू हरिजन,[२] बालदेव बावनदास, चुन्नी,[३] गोसाईं, हंसा,[४] जंगी,[५] फूलबाबू[६] ऐसे ही जीवन्त चरित्र हैं। ये अधकचरे कांग्रेसी हैं क्योंकि प्रायः अपढ़ गँवार हैं परन्तु जो कुछ भी विचार है वह आचार के साथ गठित होकर एक सांस्कृतिक दीप्ति पैदा करता है। ये सभी स्वराज्य के बाद नयी पीढ़ी के बीच खप नहीं पाते हैं और फिंक जाते हैं। उनकी त्यागपूर्ण अल्हड़ता अनुकूल वातावरण नहीं पाकर मुरझा जाती है। एक ही दो दशक के अन्तराल में उनकी 'शब्दावली' बासी पड़ जाती है। एक सांस्कृतिक स्थिति का इतना तीव्र ह्रास उसकी जन्मभूमि ग्रामांचल में एक ज्वलन्त सत्य है। नये कथा-साहित्य में जिन नये चरित्रों को उभारा गया है उनमें विशाल सांस्कृतिक परम्परा का शब्द ज्ञान अथवा प्रज्ञावाद के रूप में कहीं-कही आभास मात्र मिल जाता है।

३—धर्म

इस युग में सर्वाधिक अवमूल्यन धर्म का हुआ। कथा-साहित्य में जिस रूप में यह चित्रित हुआ है, उसे देखकर लगता है कि गाँव में धर्म पाखंड अथवा

---

१. 'अलग अलग वैतरणी' का एक पात्र।
२. 'जल टूटता हुआ' का एक पात्र।
३. 'मैला आँचल' के तीनों पात्र।
४. मार्कण्डेय की कहानी 'हंसा जाइ अकेला' का पात्र।
५. 'ग्रामसेविका' का एक पात्र।
६. 'बलचनमा' का एक पात्र।

अन्धविश्वास बनकर शेष रह गया, एकदम खोखला ! उसका संस्कृति-रस निचुड़ गया। उसके केन्द्र भ्रष्टाचार के अड्डे हो गये। रेणु और नागार्जुन ने इसका बहुत प्रभावशाली चित्रण किया है। 'मैला आँचल' में दिनरात भजन, वीजक पाठ और सत्संग का दिखावा करने वाला, 'सतगुरु हो' की टेक के साथ उठने-बैठने वाला, खंजड़ी पर निरगुन में डूबने वाला महंथ सेवादास का चेला रामदास एक दिन रात में लक्ष्मी कोठारिन के यहाँ पहुँच जाता है और उसके याद दिलाने पर कि वह उसकी 'गुरुमाई' है, कहता है, 'कैसी गुरुमाई ?' तुम मठ की दासिन हो, महंथ के मरने के बाद नये महंथ की दासी बनकर तुम्हें रहना होगा। तू मेरी दासिन है !'[1] इसी लछिमी कोठारिन का नया संस्करण नागार्जुन के उपन्यास 'इमरतिया' का भाई इमरतीदास,[2] जमनियाँ गाँव के मठाधीश 'बाबा' की चेलिन है। बिना चेलिन के 'बाबा' लोग नहीं रह पाते। बाबा का कथन है—'इमरतिया जायेगी तो जिलेबिया नहीं आयेगी ? एकाध सधुआइन न रहे तो मठ उदास लगता है।'[3] धार्मिक पाखण्ड राजनीति और अर्थचक्र से जुड़कर आज और विकृत हो उठा है। एक महान विलासी सामन्त की भाँति धर्मध्वजी गाँव के 'बाबा' जिस प्रकार भाँग-बादाम की आड़ में शराब के दौर के बीच नगर में आलीशान मकान किराये पर लेकर रहते हैं और जिस प्रकार के अपटूडेट लोग चमड़े के बड़े-बड़े सूटकेस के साथ उनके यहाँ आते-जाते रहते हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तस्कर व्यापार और पाकिस्तानी एजेन्सी दोनों के वे सूत्रधार हैं।[4] जमनियाँ में अड्डा बनाने के विषय में उन्होंने बताया है कि यह पिछड़ी और नीच जातियों का क्षेत्र है जिससे अनेक सुविधायें हैं। अनपढ़ साधुओं के लिए वे अच्छे भगत सिद्ध होते हैं। नैपाल निकट होने के कारण भागने की सुविधा है। पुलिस स्टेशन दूर है। बीहड़ रास्ता है। स्कूल-कालेज नहीं है। कोई नेता भी यहाँ नहीं पहुँचता।[5] इस प्रकार धर्म और साधुता की आड़ में अपना जाल फैलाने की वहाँ पूरी

१. 'मैला आँचल', पृ० १४२।
२. नागार्जुन का उपन्यास 'इमरतिया' की पात्रा।
३. 'इमरतिया', पृ० ७१।
४. वही, पृ० ८१।
५. वही, पृ० ६५।

सुविधा है। सर्वसाधारण के मन में धर्म-भाव इतनी गहराई से जमा हुआ है कि वे इस जाल को काट नहीं पाते।

कछुआ धर्मिता—भारतीय संस्कृति का धर्ममूलक होना और धर्म का साधुता के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होना ही वह सूत्र है जिसमें लोक-मानस का श्रद्धाभाव आबद्ध है। किन्तु यह श्रद्धाभाव प्रायः अन्ध श्रद्धाभाव है। पुरातनता नवपरिवर्तित स्थितियों से मेल में नहीं बैठ पाती है। नये वैज्ञानिक युग, उसकी उपलब्धियों और नवचिन्तन के अनुरूप धर्माश्रित भारतीय संस्कृति को नया रूप देने का प्रयास यद्यपि समय-समय पर हुआ है परन्तु इस देश की व्यापक अशिक्षा ने उसे सफल नहीं होने दिया है। औसत भारतीय नगर-मानस ने नयी शिक्षा और नये सम्पर्क एवं प्रभावों से धर्म और संस्कृति को मृत मान कर प्रायः उससे अपने को मुक्त कर लिया है। यदि किसी अंश में वह रूढ़ियों और परम्पराओं के रूप में वहाँ शेष है तो भी उसमें आन्तरिक अभिनिवेश बिल्कुल ही नहीं होने के कारण जीवन पर उसका कोई प्रभाव नहीं है। गाँवों में ऐसी बात नहीं है। वहाँ मृत रूढ़ियों के रूप में, अन्ध जकड़न के रूप में अवशिष्ट धार्मिक और सांस्कृतिक विकृतियाँ लोगों को प्रभावित परिचालित करती हैं। विकृतियाँ मूढ़ता के साथ संयुक्त होकर भयावह हो जाती हैं। अमृतलाल नागर ने 'महाकाल' में इस स्थिति का चित्रण किया है। बंगाल में भीषण अकाल पड़ा हुआ है। पाँचू गोपाल मुखर्जी भुखमरी का शिकार होने जा रहा है कि तभी किसी प्रकार जमींदार से पाँच सेर चावल पा जाता है। उसे लेकर घर जा रहा है कि बीच में भूख से मृत मित्र मुनीर साहब की शव-यात्रा में भी सम्मिलित हो जाता है। उसका एक मित्र नूरुद्दीन उससे चावल हड़पना चाहता है। कहता है, 'मुर्दों से छुआ हुआ अनाज ब्राह्मण के घर कैसे ले जाओगे, मास्टर बाबू? वह भी मुसलमान का मुर्दा! तुम्हारे तो किसी काम का नहीं। इन लड़कियों का पेट भर जायेगा।[1]' और पाँचू साहब स्वयं को मौत के मुँह में झोंक कर चावल उसे दे देते हैं।

इस धर्माश्रित आकुंचन को और स्पष्ट करने वाले तारा बाबू की प्रसिद्ध कृति 'गणदेवता' में बंगाल के शिवकालीपुर क्षेत्र को मयूराक्षी नदी की बाढ़ तोड़ देती है तो लोग भूखों मरने लगते हैं। उस गाँव का एक युवक विश्वनाथ

१. महाकाल—अमृतलाल नागर, पृ० ७६।

कलकत्ते में रहता है। वहाँ से वह एक सहायता-समिति गठित करता है और चावल, वस्त्र तथा औषधि आदि की पूरी व्यवस्था करता है। लोग सहायता से ही जी उठते हैं। इसी बीच गाँव में चलते इस सहायता कार्य का निरीक्षण करने वह गांव में आता है। कलकत्ते के उसके साथी भी जो इसे जुटाने में प्राणपण से लगे हैं, आते हैं। उनमें एक मुसलमान है और एक ईसाई है। हिन्दू संस्कृति-संकोची और धर्मभीरु ग्रामीण जब यह जान जाते हैं तो महान आपद-ग्रस्त होते हुए भी सहायता लेने से विमुख हो जाते हैं। गाँव-गाँव खबर कर दी जाती है, कोई चावल लेने नहीं आता। डाक्टर आकर बैठा है, कोई दवा के लिए नहीं आता। विश्वनाथ सोचता है, कछुआ जब गरदन समेत अपना मुँह खोल के अन्दर समेट लेता है, तो उसे किसी भी प्रकार से खींचकर बाहर नहीं निकाला जा सकता है।[1]

'गणदेवता' में विश्वनाथ की यह संस्कारित सदृश्यता है कि इसे जड़ता कहकर वह उनकी हँसी नहीं उड़ाता है। बल्कि इसमें वह एक अनोखी शक्ति का परिचय पाकर धर्मभीरु लोगों के प्रति श्रद्धावनत हो जाता है। किन्तु अन्ततः ग्रामीणों की इस कछुआ धर्मिता में सार क्या है। जिसे आज गाँव में धर्म-जीवन कहा जाता है वह मात्र परम्परापालन की दर्प-स्फीत मिथ्या अहं की तुष्टि है। 'गणदेवता' में एक दूसरे स्थान पर तारा बाबू एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात उठाते हैं। 'आज सारे हिन्दू-समाज का जीवन ही दो भागों में बँट गया है। कर्म-जीवन और धर्म-जीवन बिल्कुल अलग-अलग दो बातें हैं। दोनों में जैसे कोई सम्बन्ध ही नहीं। देवता की याद करते हुए जिनकी आँखों में आँसू बह आता है, वही आदमी पूजा के तुरंत बाद आँखें पोंछते हुए विषय के आसन पर बैठकर जाल-फरेब करने लगता है।'[2] यह इसलिए होता है कि धर्म और जीवन सर्वथा पृथक-पृथक दो वस्तुएँ मान ली गई हैं। गाँव में धर्म का स्थानापन्न कभी-कभी कोई आरोपित नैतिकता भी हो जाती है। एक ही व्यक्ति के भीतर नैतिकता अनैतिकता दोनों की धूपछाहीं झलक मिलने लगती है। रामदरश मिश्र के उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में धर्म के आग्रह पर कुंजू तिवारी बहुत दिन से परदेश भगे अपने छोटे भाई की कामातुर सुन्दरी-युवा पत्नी का स्नेह-

---

१. 'गणदेवता', पृ० ५४३।
२. वही, पृ० ६६।

आमंत्रण यह कहकर ठुकरा देता है कि तुम मेरी भयहु हो, तुम्हें छूना मेरे लिये अपराध है ।[१] वही कुंजू तिवारी जीवन के आग्रह पर गाँव की बदमी कहारिन पर फिसल जाता है ।[२] बदमी को गर्भ रह जाने पर परम्परावादी गाँव जब हिल उठता है और उसे फँसाता है तो वह उसे लेकर वहाँ जाना चाहता है जहाँ जाति-पाँति से नहीं पहचाना जायेगा ।[३] किसी जाति-विशेष अथवा धर्म-विशेष का सदस्य होने पर व्यक्ति धार्मिक अथवा नैतिक है परन्तु स्तर जहाँ मानवीय है वहाँ ये कृत्रिम ढाँचे स्वयं चरमरा कर टूट जाते हैं और आदमी के भीतर विशुद्ध रूप से वही शेष रह जाता है जो वह है ! यही सच्चा धर्म है ।

धर्म की दीवारें—इस सच्चे धर्म की अभिव्यक्ति में धर्म की दीवारें बहुत बाधक हैं । भारत में और विशेषकर ग्रामांचल में जहाँ गरीबी का अखण्ड साम्राज्य है, धर्म विभिन्न प्रकार के शोषण का अस्त्र बन जाता है । धर्म-परिवर्तन के आयाम उभड़ते हैं । नये हिन्दी-कथा-साहित्य में हिन्दू धर्म परित्याग कर ईसाई धर्म ग्रहण करने और पुनः उससे वापसी के दो महत्त्वपूर्ण चित्र उपलब्ध हैं । 'कठफोड़वा'[४] शीर्षक कहानी में रणधीर जी ईसाई धर्म के पिंजरे से अपने चुटिया-चन्दन वाले संसार में वापस आ जाते हैं और 'सूरज किरन की छाँव' नामक उपन्यास में बंजारी मिशनरियों के खोखलेपन की आन्तरिक अनुभूति के साथ अपने मुक्त-जातीय-जीवन में वापस आ जाती है ।[५] रणधीर जी नागरिक हैं । उनके इस परिवर्तन के पीछे 'काम' है और बंजारी आदिवासी ग्रामीण नारी है और उसे प्रभावित करने वाला तत्त्व 'अर्थ' है । यह 'अर्थ' और 'काम' धर्म परिवर्तन के कारण हो जाते हैं । जो ईसाई धर्म बंजारी को बाहर से स्वर्ग के द्वार की तरह दिखाई पड़ता है, भीतर जाने पर वह नारकीय जकड़न से युक्त प्रतीत होता है और उससे मुक्ति के लिए उसकी अन्तरात्मा तड़पने लगती है । उसकी वापसी के मूल में धर्म नहीं वास्तव में संस्कृति है ।

---

१. 'जल टूटता हुआ', पृ० १७३ ।
२. वही, पृ० १७४ ।
३. वही, पृ० ५३४ ।
४. शैलेश मटियानी की 'सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ' में संकलित ।
५. 'सूरज किरन की छाँव', पृ० १९८ ।

अपने जातीय-जीवन के सांस्कृतिक नृत्य-गीत आदि जो एक समारोह में आयोजित है उसे इस प्रकार खींचते हैं कि वह भाग खड़ी होती है।[1] इस प्रकार धर्म जहाँ फँस कर अटक जाता है वहाँ संस्कृति उसका उद्धार करती है।

आदिवासी नारी बंजारी ईसाई धर्म में प्रवेश करके भी जिस प्रकार ईसाई नहीं हो सकी उसी प्रकार अमृता प्रीतम के उपन्यास 'पिंजर' की नायिका पूरो मुसलमान होकर भी मुसलमान न हो सकी। पूरो पंजाब के गाँव की एक ऐसी संस्कारित युवती है जो प्रारंभ में रामचन्द्र के साथ मानसिक रूप से बँधकर परिस्थितियों वश रसीद का घर बसाने के लिए विवश तो हुई परन्तु आजीवन वह हिन्दूपन के संस्कार से मुक्त न हो सकी। ग्राम-मन की धर्म-भूमि में गहराई तक गई जड़ें बड़ी कठिनता से छिन्न-मूल होती हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में धर्म का जो भी रूप चित्रण हुआ है वह सनातन धर्म की विकृतियों के रूप में ही दृष्टिगोचर होता है। इन विकृतियों में संस्कृति की आहट मिलती है परन्तु उससे मानवीयता को समाधान नहीं मिलता है। इस धार्मिक अवमूल्यन के मूल में, जैसा कि कथा-साहित्य में उभरे उसके चित्रों को देखकर पता चलता है ग्रामांचलों में शिक्षा-दीक्षा का एकान्त अभाव है। भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति चिन्तन की जिस ऊँचाई पर स्थित है गाँव के लिए वहाँ तक की पहुँच कल्पनामात्र है और नीचे अंधकार में उतर कर वही छाया-विकृत हो जाती है।

४—विवाह

जीवन का प्रवेश-द्वार होने के कारण भारतीय संस्कृति में विवाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु कथा-साहित्य में चित्रित इस संस्था की सड़ांध से समूचा ग्रामीण सामाजिक ढाँचा क्षयग्रस्त सा प्रतीत होता है। इस महत्त्वपूर्ण पवित्र संस्कार की सांस्कृतिक दृष्टि सर्वथा तिरोहित होकर आर्थिक कुहासे में भटक कर खो गई है। दाम्पत्य-जीवन विषयक विश्व-नवचिन्तन आज जहाँ मुक्त शिखरों पर आरोहण कर चुका है भारतीय ग्रामीण समाज-वैवाहिक संदर्भ में क्रय-विक्रय जैसी भ्रष्ट रूढ़िवादिता की हास्यास्पद तमस-तलहटियों में संकुचित हुआ चला जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम-जीवन में

१. 'सूरज किरण की छाँव', पृ० १२५ से १४२।

पारिवारिक अशान्ति, कलह और टूटन का विधिवत् उद्‌घाटन ही विवाह के गाजे-बाजे के साथ हो जाता है जबकि इसके ठीक विपरीत आशायें बाँध कर असीम हर्षोल्लास इस अवसर पर व्यक्त किया जाता है। 'कोहबर की शर्त' के प्रारंभिक पाँचवें परिच्छेद में केशवप्रसाद मिश्र ने चन्दन और गुंजा के विवाह के परिप्रेक्ष्य में इस संस्कार की प्रत्येक क्रियाओं का, तिलक, भोज, बारात, अगवानी, द्वारपूजा, महफिल, विवाह, कोहबर की रस्म, चुमावन, दुआर पढ़ना, गठबन्धन आदि रस्मों का बहुत सरस सांस्कृतिक वर्णन किया है। 'दो अकाल गढ़' (बलवन्त सिंह) और 'स्वप्न और सत्य' (बालशौरि रेड्डी) नामक उपन्यासों में बारात, अगवानी, द्वारपूजा और विवाहादि का जो ग्रामभित्तिक प्रसन्न समारोहांकन हुआ है उससे स्पष्ट है कि उत्तर भारत और दक्षिण भारत में इस सांस्कृतिक शुभ अवसर के क्रियाकलाप में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। यह यह एक दुर्घटना है कि राष्ट्रीय स्तर की सनातन विवाह संस्था जो प्रत्येक व्यक्ति-इकाई का स्पर्श कर आनन्दोद्वेलित करती है, अन्धकाराच्छन्न, हीन और कुसंस्कृत गँवई-जन के बीच उसके चतुर्मुखी पराभव का हेतु बन जाती है।

बाल-विवाह :—शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग अलग वैतरणी' में ग्राम-स्तर पर वैवाहिक संदर्भ और उसकी परिस्थितियों का जो मर्मस्पर्शी चित्रांकन किया है वह बहुत ही प्रभावशाली तथा रोमांचक है। हरिया होनहार बहुत था परन्तु विवाह की चपेट में आ गया। 'जब वह सातवीं कक्षा में था, उसकी शादी हुई थी। जिस साल उसने पढ़ाई छोड़ी उसी साल गवना हुआ। अब छह सालों के भीतर वह तीन-तीन बच्चों का बाप हो चुका है। उसकी कटही और बेवकूफ औरत कहती है 'मेरा तो करम दरिद्दर से नाता जुड़ गया' और अनखा-अनखा कर बिलावजह बोलती है—'तन की यह गुदड़ी सी कर लाज शरम ढकूँ कि तुम सूअरों का झगड़ा निपटाऊँ।' बीचो-बीच आँगन में पसर कर नंगे पैरों को फैला कर फटी साड़ी खींचकर सीती रहती है और मुट्ठी भर भात के लिये लड़ाई करते लड़कों को किटकिटा कर गंगा के दहाने में भेजती रहती है।'[1] उधर 'हरिया अधजली सिगरेट फेंककर नयी दागता और नोकीले मुँह वाले बूट के तल्ले में जड़ी बटन-बराबर कीलों से गलियों के कंकड़ों को रगड़ता-ठोकर मारता चल देता!'[2] जीवन का यह घोर वैषम्य-विद्रूप असाम-

१. **'अलग-अलग वैतरणी,'—पृ० १४६।**
२. **वही, पृ० १४०।**

यिक, अनमेल और अविचारपूर्ण विवाह जन्य है। इस उपन्यास में अन्धविवाह के अभिशाप को आजीवन रो-रोकर भोगती पटनहिया भाभी की कहानी अत्यन्त हृदयद्रावक है। उसका पति कल्पू नामर्द निकल गया। कच्ची आयु में तिलक के प्रलोभन में उसका विवाह सम्पन्न हो गया। विवाह के साथ जुड़ा गाँव में यह तिलक का अभिशाप भी बहुत भयावह है ! 'वंशी काका को अपरंपार खुशी होती कि उनके कल्पू का भाव इतना बढ़ गया है। इतना तिलक तो मालिकाने के लोगों को छोड़ कर और किसी को गाँव में कभी मिला नहीं। कल्पू के तिलक की महिमा का कारण उसकी पढ़ाई थी। यह सत्य वंशी काका पर उजागर हो गया था। इसीलिए आठवीं क्लास में फेल होने पर भी वे कल्पू से ज़रा भी नाराज़ नहीं हुए। उन्होंने काफी दृढ़ता से दोबारा नाम लिखाकर पढ़ने-लिखने में जुट जाने की सलाह दी। उन्हें विश्वास था कि एकाध साल और मौका मिले तो भाव कुछ बढ़ जायेगा। दस हज़ार का तिलक ज़रूर से ज़रूर मिल के रहेगा।'[1]

'अलग-अलग वैतरणी' में कल्पू को दस हज़ार तिलक तो मिलता है परन्तु विवाह बहुत बहुत महँगा पड़ता है। अविकसित आयु में युवा पत्नी घर बैठ जाती है। उसका काम विकास एक स्तर पर अवरुद्ध हो जाता है। वह मनोवैज्ञानिक व्याधियों से आक्रान्त होकर क्लीव कापुरुष हो जाता है। अनुत्तीर्ण हो-होकर पढ़ाई छूट जाती है। मानसिक रोग शारीरिक व्याधि में परिणत हो जाता है। तिलक-विवाह से न केवल उसकी बल्कि घर की परंपरित प्राचीरों में बन्दी उसकी पत्नी पटनहिया भाभी की भी हत्या हो जाती है। कथाकार ने करैता के नरक में पटनहिया भाभी के आँसुओं की नदी को भींगे मन से देखा है। ग्रामीण-अभिभावक शिक्षा-दीक्षा से महत्त्वपूर्ण विवाह को ही मानते हैं। 'शादी हो गई, अब चाहे फेल हो चाहे पास।'[2] पढ़ाई तभी तक चल रही है जब तक विवाह नहीं हुआ। पटनहिया भाभी की सुहागरात की चर्चा गहरी चुभन से पूर्ण व्यथा-कथा है।[3] कथाकार शिवप्रसाद सिंह ने देखा है कि—विवाह का यह रौरव अपनी दाहकता से समग्र ग्राम-युवा-शक्ति को निस्तेज कर देता है।

---

१. 'अलग अलग वैतरणी', पृ० २०४।

२. वही, पृ० २०६।

३. वही, पृ० २०६ से २०९।

कथाकार इस हीनतम स्थिति से निरपेक्ष नहीं है। वह प्रश्न खड़ा करता है, 'दस-बारह साल से लेकर अठारह-बीस तक के गँवई युवकों के चेहरों पर अचानक मकड़ी के जाले इतने घने क्यों हो रहे हैं ? साफ हवा पानी में पलने वाली स्वच्छ चमकीली आँखों में सहसा स्थिर बलगमी सफेदी और निराशा की बेबसी क्यों आ रही है ? ताजे खून की हिलोरों से खिलने वाले गुलाबी गालों पर बरसाती मेंढकों की खाल की तरह की सड़ो-सड़ी पियराई क्यों छा रही है ?'[1] इन समस्त प्रश्नों की तह में प्रवेश करने पर कहीं न कहीं वे वैवाहिक-विकृतियाँ और विसंगतियाँ हमें प्राप्त हो जायेंगी जिनका परिणाम इतना भयावह और सत्यानाशी है। बालक तो बालक उक्त उपन्यास के पात्र जगन मिसिर जैसे अविवाहित बूढ़े भी इस सांस्कृतिक विकृति के सहज आखेट हैं। पितरों को तारने और वैतरणी पार कराने के सांस्कृतिक संदर्भ विवाह से जुड़कर घोर मनस्ताप के कारण हो रहे हैं और उस कल्पित वैतरणी से विकट-बीहड़ इहलौकिक विवाह-वैतरणी ही हो जाती है।[2]

विवाह विकृतियाँ :—स्वातंत्र्योत्तर ग्रामभित्तिक कथा-साहित्य सम्पूर्णतः कहीं से न कहीं से विवाह-विकृतियों से जुड़ा हुआ है और अत्यन्त खेदजनक सामाजिक असन्तुलन का उदाहरण है। कहीं वृद्धावस्था में एक पुत्र के लिए सिहकन है, कहीं युवावस्था आरम्भ नहीं हुई कि अनेक पुत्रों की मारक भारानुभूति है। कहीं तिलक की आड़ में पुत्र-विक्रय के आयाम हैं तो कहीं खोखा-पंडित[3] हैं कि छह कन्याओं को बेचने के बाद सातवीं विसेसरी के लिये भी हज़ारों रुपया लेकर एक धनी बूढ़े को ठीक करते हैं ! ग्रामजीवन में यह चिन्तनीय सांस्कृतिक उतार है। विवाह विकास-अवरोधक सिद्ध हो रहा है। हरिया और कल्पू की पंक्ति में ही एक सीमा तक विश्वम्भर उपाध्याय के उपन्यास 'रीछ' का पात्र विमल आ जाता है। वह 'विशारद', 'साहित्यरत्न' के रास्ते 'इन्टर' और बी० ए० कर प्राइवेट एम० ए० करने का सपना लेकर इधर कठिन संघर्ष में रत है और उधर उसका विवाह, उसकी घर में पड़ी विवाहिता पत्नी सब एक घोर मानसिक व्यवधान के रूप में सम्मुख आते हैं।

---

१. **'अलग अलग वैतरणी', पृ० ४४८।**

२. **वही, पृ० ३२०।**

३. **नागार्जुन के उपन्यास 'नयी पौध' के पात्र।**

वह पश्चात्ताप में डूब जाता है। सोचता है, 'यह माया का बन्धन न होता तो आज मैं कितना मुक्त होता ! पिता जी मेरी पढ़ाई खत्म नहीं होने देना चाहते हैं किन्तु उन्होंने मेरे विवाह के लिए मना नहीं किया। पुरानी पीढ़ी के लोग तो समझते हैं कि विवाह आवश्यक है और अपने सामान्य ज्ञान के बल पर वे यह भी समझते हैं कि जिन्हें पढ़ना होता है वे विवाह के बाद भी पढ़ जाते हैं।'[१] ऐसी ही समस्या अमरकान्त की कहानी 'सन्त तुलसीदास और सोलहवाँ साल'[२] में उठ खड़ी होती है। इन्टर फेल ग्रामीण युवक को पढ़ाई अपनी ओर खींच रही है और पत्नी अपनी ओर ! भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'सती मैया का चौरा' के नायक मन्ने को भी पढ़ाई-लिखाई के मोर्चे के साथ प्रेम और विवाह का मोर्चा सँभालना पड़ता है और उसे लगता है कि 'उसे गाँव ने पीस डाला, उसके व्यक्तित्व को दबोच डाला।'[३] गाँव में विवाह का ऐसा स्वस्थरूप दुर्लभ है जो व्यक्ति के जीवन को सुख-सन्तोष और विकास प्रदान करे। सड़ी परम्परायें भी आड़े हाथ आ जाती हैं। सास का शासन भी कम दुस्तर नहीं। कुलरीतियों की अमानवीय लक्ष्मण रेखायें भी दुर्लंघ्य हैं। वह विवाह भी ग्राम-संस्कृति के सतह के नीचे अ-विवाह है जहाँ शिवप्रसाद सिंह की एक कहानी का पात्र अवधू[४] जैसा जवान अपनी ही पत्नी से नहीं मिल पाता है। रातभर तनाव के अभूतपूर्व क्षणों में तारे गिनता रह जाता है। पति-पत्नी के मिलन को नियंत्रित करने वाला मूढ़ अन्ध-प्रदेश का मातृ-प्रशासन वैसा ही सांस्कृतिक कलंक है जैसा मवेशियों की भाँति क्रय-विक्रय की व्यावसायिक पद्धति पर विवाह का प्रबन्ध करने वाला पितृ-शासन। विवाह ग्राम-जीवन का एक बीमार पक्ष है जो खेत-खलिहान वाली सुनहरी दुनिया को दमघोंट उबास से परिपूर्ण कर देता है। यह एक आनन्दोत्साह पूर्ण विषाद-क्षेत्र और मर्यादित अत्याचार है। ग्रामस्तर पर कथा-साहित्य में एक सुसंस्कृत संत्रास के रूप में इसका चित्रण एक जीवन्त सत्य है। कथा-साहित्य में प्रतिफलित विवाह-संस्कार

---

१. 'रीछ', पृ० १४७।
२. अमरकान्त की कहानी—'जिन्दगी और जोंक' में संकलित।
३. 'सती मैया का चौरा', पृ० २९७।
४. 'एक यात्रा सतह के नीचे' शीर्षक कहानी का पात्र।
(शिवप्रसाद सिंह के कहानी संग्रह 'मुरदा सराय' में संकलित)

की ग्रामीण-जीवन में गिरावट चिन्त्य है। आदर्श गृहिणियों की गाँव में परम्परा लुप्त नहीं है और न ही प्रेमचन्द की जैसी 'बड़े घर की बेटियों' का ही नाम शेष हो गया है किन्तु कालक्रम से वह स्थिति अवश्य आ गई है कि विवाह-विकृति ग्राम-जीवन के सांस्कृतिक पक्ष को तोड़ रही है। नैतिक क्षय और सामाजिक पक्षाघात से वह शनैः शनैः मृतप्राय होता जा रहा है। उसके इस अस्वस्थ रूप को सामान्य जीवन के परिप्रेक्ष्य में उभार कर नंगा प्रस्तुत कर देना नये कथा-साहित्य की महती देन है।

५—क्रीड़ा

क्रीड़ाशीलता की प्रवृत्ति यद्यपि ग्रामीण-जन के चरित्र का एक अंग है किन्तु स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम-जीवन पर नवीन प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं का जाल उलझावपूर्ण सिद्ध हुआ और उसमें अपने को व्यवस्थित करने की आपाधापी में ग्रामीणों की क्रीड़ा-शीलता गुम हो गयी। नये कथा-साहित्य में जो उनका जीवनांकन हुआ वह भी स्थितियों के उलझाव के कारण बहुत जटिल, उनकी टूटन की व्यथा से व्याहत और नये सामाजिक-आर्थिक मूल्यानुसंक्रमण से अत्यन्त चिन्तासंकुल, द्विधाग्रस्त दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान के तीव्र बदलाव, संघर्ष और भविष्य की अनिश्चितता के कारण उनके भीतर एक अज्ञात कोलाहल और अनाम बेचैनी घनीभूत होती चली जाती है। ऐसी स्थिति में क्रीड़ा, मनोरंजन और विनोद-वृत्ति के प्रकाशन की विरलता आश्चर्यजनक नहीं है। ग्रामीण जन अब कामकाजी होने लगे हैं। अब किसी 'परतीः परिकथा' की परानपुर की विशाल परती का मूल्य कुमारी बालिकाओं के श्याम चकेवा के क्रीड़ास्थल के रूप में नहीं अपितु नये संयंत्र और सिंचाई साधनों से उसे उर्वरा बनाकर कृषि-भूमि के रूप में परिणत कर देने में आँका जाता है। फणीश्वर नाथ रेणु का उपन्यास 'परती : परिकथा' में गाँव के परम्परावादी बड़े-बूढ़े लोग और वृद्धायें खीझती रहें, 'कहाँ खेलेगी श्याम-चकेवा? कोई भी अपनी ज़मीन में खेलने देगा?'[1] किन्तु वास्तविकता यह है कि परती अब क्रीड़ागार नहीं रही। अब वह लोगों का खेत हो गई। लोगों के भूमि-लोभ में स्वतंत्रता के बाद अचानक

---

१. 'परती : परिकथा', पृ० २५४।

एक विस्फोट हुआ। सार्वजनिक-क्रीड़ा भूमि को लोगों ने हड़प लिया और क्रीड़ा सार्वजनिक जन-जीवन से कट कर मात्र स्कूलों से सम्बद्ध मान ली गई। परिकथा के परानपुर में भी यही बात हुई। 'फुटबाल खेलने का मैदान स्कूल वाला दर्ज हो गया!'[1]

दंगल :—सर्वाधिक अहित ग्रामीण-समाज का किया राजनीति ने। वह उसके अन्तर्मन में अधूरी अधकचरी ज्ञान-विकृति बनकर जमी नाना प्रकार से उसका प्रकाशन कर शान्त ग्राम-जीवन को आन्दोलित करती रहती है। दंगल ग्राम-जीवन में एक सामान्य सांस्कृतिक क्रीड़ा है परन्तु शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' में करैता ग्राम के देवीधाम मेले में जो देवपाल और सुब्बा नट में दंगल ठन जाता है[2] उसमें गाँव की विषाक्त राजनीति के प्रदेश का संकेत कथाकार शिवप्रसाद सिंह ने बहुत कुशलता के साथ किया है। बलवन्त सिंह के उपन्यास 'दो अकालगढ़' में भी दंगल की लगभग यही स्थिति है। यह द्वन्द्व-युद्ध जोड़मेला में आयोजित है। यहाँ दो गाँवों की प्रतिद्वन्द्विता भड़क उठती है। नींवागढ़ वाले उच्चागढ़ और उसके भीमकाय मल्ल सरदार दीदार सिंह को अपमानित करने के लिए बधावा सिंह को जोड़ मेला में उससे भिड़ा देते हैं।[3] दोनों का द्वन्द्व-युद्ध बहुत ही उत्तेजक और रोमांचक है। लगता है कि दीदार सिंह के रूप में वीरगाथा-कालीन रोमानी मूल्यों का पुनर्लेखन वीरोत्साह के शुद्ध सांस्कृतिक परिवेश में सहज ही कथाकार करता चलता है। किन्तु यह पंजाबी धरती का आह्लादक शौर्य चित्र स्वतंत्रतापूर्व का है। आधुनिक स्थितियों में क्रीड़ा क्रीड़ा नहीं रह गई, वह एक जान लेवा कपट व्यापार बन गई। करैता के दंगल की अंतिम परिणति यहीं हुई। देवपाल को जान से हाथ धोना पड़ा।

बरसात-खेल :—शनैः शनैः परम्परित ग्रामीण क्रीड़ायें विलुप्त होती जा रही हैं। प्रकृति भी विपरीत हो गई है। असाढ़ में पानी पड़ता है तो धरती की सोंधी सुगन्ध के साथ ग्रामवासियों के मन की आह्लादक सुगन्ध भी फूट निकलती है। परन्तु अब अवर्षण और अकाल जैसी स्थिति है तो 'करैता' जैसे

---

१. 'परती : परिकथा', पृ० २५५।

२ 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ३५ से ३९ तक।

३. 'दो अकालगढ़', पृ० २८० से ४८४ तक।

गाँवों के छोकरे 'सतघरवा, गुल्लीडंडा और ओल्हापाती' के लिए सिहक रहे हैं।[1] उन्हें उत्साह नहीं मिल रहा है। सावन की वर्षा उनके प्राणों में अद्भुत उत्फुल्लता का संचार करने वाली सिद्ध होती है। इसी मास में नागपंचमी का सांस्कृतिक त्यौहार पड़ता है जो ग्रामीण क्रीड़ाओं के सांस्कृतिक समारोह के लिए निर्धारित सनातन दिवस है। रामदरश मिश्र के उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में इस त्यौहार पर आयोजित एक क्रीड़ा के सन्दर्भ में युगीन टूटन के प्रभाव को बहुत मर्मस्पर्शिता प्रदान की गई है। इस अवसर पर 'चिक्का' खेलने के लिए लड़के जुटते तो हैं परन्तु प्रौढ़ सतीश को ऐसा लगता है कि 'गाँव के लड़कों में चिक्का-कबड्डी खेलने का वह उत्साह नहीं रहा जो उसके ज़माने में था। पहले तो सयाने लोग भी जी खोलकर इस अवसर पर खेल में टूट पड़ते थे। जो नहीं खेल सकते थे वे आकर दर्शक रूप में बैठ जाते थे। किन्तु अब रंग ही कुछ और हो गया है। अब तो बच्चे बाहरी स्कूलों में पढ़-लिख लेने के नाते इन खेलों को गँवारू खेल समझते हैं, शहरी नकल करते हैं, किन्तु ये गाँव के छोकरे न देहात के काम के रह पाते हैं और न शहर के सीख पाते हैं।'[2]

नागरिक क्रीड़ायें और गाँव के लड़के :—इस तथ्य को भैरवप्रसाद गुप्त ने अपने उपन्यास 'धरती' में बहुत सटीक पद्धति पर विश्लेषित किया है। नगर और गाँव की क्रीड़ा-पद्धतियों में एक विकट अन्तर्विरोध है। गाँव के लड़कों में शहर के बालकों को टेनिस आदि खेलते देखकर एक हीनता के भाव का उदय होता है। वे उसे सीख नहीं पाते हैं क्योंकि उनका संस्कार कबड्डी-ओल्हापाती आदि का होता है। इनमें कोई व्यय भी नहीं पड़ता और वे नगरों में जाकर अपना तो भुला ही देते हैं, वहाँ की क्रीड़ाओं के लिए तरस कर रह जाते हैं।[3] गाँव के विद्यालयों में भी क्रीड़ा की भयानक दुरवस्था है। शिवप्रसाद सिंह ने इसका बहुत ही विस्तारपूर्वक चित्रण किया है।[4] इस सन्दर्भ में मास्टर शशिकान्त की व्यथा अत्यन्त ही हृदय-विदारक है। प्रधानाध्यापक से और न जिला परिषद् से, कहीं से उसे बालकों के खेलकूद के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलता है।

---

१. **'अलग अलग वैतरणी', पृ० १५४।**
२. **'जल टूटता हुआ', पृ० ३२।**
३. **'धरती', पृ० ५३१।**
४. **'अलग अलग वैतरणी', पृ० १८९ से १९५ तक।**

खेल की सामग्री न मिलने पर प्रधानाध्यापक प्रसन्न होता है। थोड़ी सी लेजिमें मिलती हैं तो वह उसे कूड़ा-करकट में रखवा देता है। पूरा वातावरण क्रीड़ा-विरोधी है। इन्हीं विपरीत परिस्थितियों में वह उत्साही अध्यापक किसी प्रकार बालकों की क्रीड़ा की व्यवस्था करता है और कल्पना करता है कि वह करैता के निर्जीव और मनहूस बालकों में जीवन और स्फूर्ति का संचार कर देगा। लेकिन यह आदर्श निभ नहीं पाता है और विरोधी स्थितियों के प्रबल दबाव से उसे स्वयं लांछित अपमानित होकर पलायित होना पड़ता है।

विरोधी स्थितियाँ :—गाँव में 'बायस्कोप' आता है और लड़के उत्साहित होकर लपकते हैं तब तक कोई जगेसर बायस्कोप वाले को लूटकर खदेड़ देता है[1] और बड़े लोग जहाँ गर्मियों में वक्त काटने के लिए क्रीड़ा के नाम पर ताश और जुआ खेलते हैं[2] वहाँ पाठशालायी क्रीड़ा का ऐसा हस्र आश्चर्यजनक नहीं। गाँव के शिक्षालयों में क्रीड़ा के संस्कार नहीं बन रहे हैं। शिक्षा-जीवन के पूर्व की शिशुता में अवश्य ही बालक अपनी क्रीड़ा भूख मिटाने में स्वतंत्र हैं। कहीं 'धूल का घर'[3] बन रहा है। कहीं 'घुमरी परौआ' का आयोजन[4] है। कहीं काजल-हल्दी में रँगे डंडों से पानी में 'पुतरी पीटने'[5] का डौल है! कहीं 'कबड्डी'[6] का शौक पूरा किया जा रहा है। सारी उदासीनता ग्रामीण युवा-जगत के सिर घहराई है। विशेष चिन्तनीय अवस्था शायद उत्तर-भारत के गाँवों की है। बालशौरि रेड्डी के उपन्यास 'स्वप्न और सत्य' में दक्षिण भारत का गोटूर गाँव है जहाँ क्रीड़ा और मनोरंजन की संस्थाओं में 'भजन-मंडली, नाटक समाज, पुतली खेल, यज्ञगान, बुर्र कथा, भामाकलाप, कुक्कुट युद्ध, भेंड़ा लड़ाई और मैजिक लैंटर्न्स, आदि सांस्कृतिक आयोजनों की व्यवस्था है[7] और एक जीवंत वातावरण है। करैता के देवी धाम मेले में भेंड़ों की लड़ाई,

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ३४४।
२. वही, पृ० १३४।
३. मार्कण्डेय की कहानी : 'भूदान' में संकलित।
४. 'धरती', पृ० २३१।
५. 'जल टूटता हुआ', पृ० ३१।
६. 'आधा गाँव', पृ० ४०।
७. 'स्वप्न और सत्य', पृ० १५।

घुड़दौड़, विरहा दंगल, नौटंकी और दंगल का आयोजन स्वस्थ ग्रामीण क्रीड़ा और मनोरंजन वृत्ति के परिचायक हैं।[1]

क्रीड़ा की स्थिति का सर्वेक्षण हमें निराश करता है। सभ्य जगत् की आधुनिक क्रीड़ायें गाँवों में पहुँचकर जमी नहीं और गाँव की परंपरागत क्रीड़ायें उखड़ गयीं। दंगल, चिक्का, कबड्डी और लेजिम-लाठी आदि क्रीड़ाओं का गाँव के वर्तमान विघटन-धुंध में समाकर खो जाना निस्सन्देह गाँव की भावी पीढ़ी के लिए परम अस्वास्थ्यकर है और इसका चिह्न अभी से प्रकट होने लगा है।

६—त्योहार

सम्प्रति ग्राम-जीवन से जुड़ी कथात्मक अभिव्यक्तियों में यह अनुभूति और घनी होती जा रही है कि त्योहार टूट रहे हैं। उखड़े, उदासीन और मृतवत् ग्रामीण येनकेन प्रकारेण परम्पराओं का बोझ ढोते प्रतीत होते हैं। अन्तरतम से छलकते हार्दिक हुलास और जीवन-सौन्दर्य की ठुमक जो त्योहारों पर अपेक्षित है अब सर्वथा अलक्षित है। स्वतंत्रता के बाद यह मनोवृत्तिगत ह्रास बहुत तीव्र गति से हुआ है। लगता है कि यह चतुर्मुखी उपरति और विमनता उस विशाल प्रक्रिया का प्रभाव है जिसे गाँवों का नगरीकरण कहते हैं और जो द्रुतगति से विकास योजनाओं के माध्यम से गाँवों में आ रहा है। गाँवों और नगरों का अन्तर अभी किसी सुदूर भविष्य में मिटने वाला है किन्तु वर्तमान में नगर के आर्थिक आक्रमण को अपने सांस्कृतिक मेरुदण्ड तथा जीवन की आनन्द-रस-धारा के सनातन स्रोत त्योहारों की बलि देकर गाँव झेल रहा है। रेणु की कहानी 'विघटन के क्षण'[2] में यह कचोट बड़ी तीव्रता के साथ उभरी है। गाँव के युवक नगराकर्षण में बहे चले जा रहे हैं। त्योहार फीके पड़ते चले जा रहे हैं। होली पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। होली गई तो गाँव गया। भीषण महार्घता और मारक सिद्ध हो रही है। नगरों में जो ग्रामीण धनार्जन करने जाते हैं उनकी कठिनाइयाँ दोहरी-तेहरी हो जाती हैं। रामदरश मिश्र के उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में तिवारीपुर का वंशी तिवारी कमाई चाहे जो

१. 'अलग अलग वैतरणी', पृ० ३।
२. 'आदिम रात्रि की महक' में संकलित।

करता हो परन्तु घर पर लोगों को सूचना है, कि 'पारबती के बाबू नहीं आये, लिखा है, इस साल होली पर नहीं आयेंगे। कुछ रुपया इकट्ठा कर रहे हैं परबतिया के विवाह के लिए।'[1] इधर उनकी पत्नी सलोना की दशा और दारुण है, 'सलोना ने निराश आँखों से लुग्गे की ओर देखा—डेढ़ साल तो हो गये इसे पहनते, कितना चले बेचारा...परसों होली है। किसी के पास नये कपड़े नहीं!...कुछ रुपये कलकत्ते से आये तो हैं होली के लिए मगर क्या उन्हें होली के लिए खर्च कर देना चाहिए? कर्जा-पताई, मालगुजारी...।'[2] अर्थात् लाख-लाख बाधायें हैं कि गाँव में होली के उल्लास-मार्ग को अवरुद्ध किये पड़ी हैं।

होली :—तो भी ग्रामीण जन इस फाल्गुनी मस्ती के धधकते हर्ष-हिल्लोल को एक दिन के लिए चिन्ता-व्यथा उतार कर ओढ़ लेते हैं। रामदरश मिश्र के एक अन्य उपन्यास 'पानी के प्राचीर' में यदि कहीं पांड़ेपुरवा का किशोर बालक नीरू जैसा कोई 'गांधीवादी' है जो व्यक्तिगत अकिंचनता और सामाजिक अन्याय के कारण होली के 'हुरदंग' में सम्मिलित नहीं होता है तो वहीं उसका महेश जैसा प्रतिद्वन्द्वी मित्र है जो यह कह कर उसकी कमीज़ फाड़ देता है कि 'अरे यार, नीरू तुम तो बचपन में ही संन्यासी हो गये!'[3] अर्थात् होली में किसी को विमन नहीं रहना है। 'रीछ' का नायक विमल होली की खुशी में डूबे गाँव को देख रहा है। गेहूँ की बालों को तोड़कर, गन्ने में झंडे की तरह बाँध भूनने की प्रथा है। दूसरे दिन प्रायः दूसरे के खेत से चुराकर 'हरियरी' लाने की प्रथा[4], धुरहेड़ी[5], होली-गायन में संघर्ष[6], भंग-शराब के नशे[7], मुँह पर तेल-कालिख पुताई और गदहे की सवारी के साथ हास्य[8] जलूस सब कुछ बहुत हर्ष-

---

१. **'जल टूटता हुआ', पृ० ३४७।**
२. **वही, पृ० ३४७।**
३. **'पानी के प्राचीर', पृ० १४।**
४. **'रीछ', पृ० २११।**
५. **वही, पृ० २११।**
६. **वही, पृ० २१३।**
७. **वही, पृ० २१७।**
८. **वही, पृ० २१९।**

वर्धक है । उदयशंकर भट्ट के बरसोवा ग्राम की होली का रंग भी बहुत चटक है । समुद्र के किनारे, मैदान में, घर के बाहर, चाँदनी रात में स्त्री-पुरुष गिरोह के गिरोह नाचने के लिए इकट्ठा होते हैं । शराब चल रही है । नाना प्रकार का व्यंजन बन रहा है । भोज होता है । पुरुष-स्त्री एक दूसरे पर गुलाल फेंक रहे हैं और 'हाय हाय होली खेला तू जायगो !' का समवेत गायन चलने लगता है ![1] 'कोहबर की शर्त' में केशवप्रसाद मिश्र बलिया की होली का चित्रण करते हैं । फगुआ गाते हुए लोग द्वार-द्वार घूम रहे हैं । उनपर अबरख मिश्रित अबीर फेंकी जा रही है ।[2] लौंडे की नाच और 'जोगीड़ा' का आयोजन है ।[3] पहले दिन होली जलाने के बाद 'लुकाड़' भांजकर दूसरे सीवान में फेंका जाता है ।[4] इसे कहीं-कहीं 'होलरी' भी कहते हैं । 'बबूल' में होली गायन के समय ठाकुरबाड़ी के पुजारी द्वारा भीड़ पर रंग फेंका जा रहा है । महेसवा मजदूर दोनों हाथों को ऊपर उठाकर आड़ कर लेता है । 'मानो वह अपने इस अनजान संकेत से व्यक्त करता है कि महराज मेरे इन पुराने वस्त्रों पर रंग उड़ेल कर क्या कीजिएगा । 'आज तो मैंने स्नान भी नहीं किया है । अभी-अभी कटिया से लौटा हूँ । आपके इस रंग का भी कुठौर में पड़ने से अपमान होगा । हाँ, ये मेरे हाथ हैं, इन पर रंग पड़ने दीजिए । ये परम पवित्र हैं । ये ही मेरे शरीर के वस्त्र हैं ।'[6]

आसाम में पहुँचकर इस होली का समय और रूप परिवर्तित जैसा लगता है । देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यास 'ब्रह्मपुत्र' में काली बिहू, माघ बिहू और बोहाग बिहू, प्रमुख तीन त्योहारों का उल्लेख है । पूस-पूर्णिमा को बाँस के पाँच डण्डे गाड़कर उनके बीच लकड़ी का ढेर जला रात्रि व्यतीत करते हैं । यह माघ बिहू है । आग को 'मेजी' कहते हैं । तापना पुण्य है । उस समय लड़के-

---

१. 'सागर, लहरें और मनुष्य', पृ० २२२ ।
२. 'कोहबर की शर्त', पृ० ६९ ।
३. वही, पृ० ७० ।
४. वही ।
५. 'बबूल', पृ० १३४ ।
६. वही, पृ० १४१ ।

लड़कियों का दंगल होता है।[1] चैत पूर्णिमा से एक मास तक 'बोहाग बिहू' अथवा 'गोरू बिहू', गोशाला की सफाई, पशुओं की सफाई, सजावट का त्योहार है। इस अवसर पर 'लाओ पानी' (चावल का मद्य) पीकर लोग नाचते-गाते हैं।[2], बंगाल में व्रतों का त्योहारों का सांस्कृतिक रूप बहुत विस्तृत विशाल है। 'गणदेवता' में तारा बाबू ने उनका विधिवत् उल्लेख और चित्रण किया है। वंगभूमि के इन सांस्कृतिक त्योहारों में कृषि-जीवन का आर्द्र अन्तर-रसता और अपरिसीम भावुकता का दर्शन होता है। कार्तिक संक्रान्ति का नवान्न[3], धान-लक्ष्मी की पूजा, अगहन संक्रान्ति का इतूलक्ष्मी त्योहार[4], धान को पीटने, औसाने का त्योहार, पूस संक्रान्ति को पूसलक्ष्मी-पर्व[5], पकवान पर्व, लक्ष्मी का आसन घर में बिछाकर धान और कौड़ी से सजाकर दोनों तरफ लकड़ी के दो उल्लू रखकर पूजा करने का त्योहार, चैत महीने में घण्टाकर्ण[6] की पूजा, षष्ठी-पूजा का त्योहार, बारह महीने में तेरह षष्ठी, विशेष अशोक षष्ठी, अशोक की कली खाने का त्योहार[7], चैत संक्रान्ति का पहला दिन नीलषष्ठी[8], रथयात्रा[9] और झूलन[10] आदि के रूप में भारतीय संस्कृति चित्रित है।

दीपावली-दशहरा :—होली के अतिरिक्त जन-जीवन की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति दीपावली और दशहरे में चित्रित है। दोनों त्योहार वर्षा-ऋतु के बाद सुहावनी शीत-ऋतु के आरम्भ में पड़ते हैं। ग्रामांचल में दीपावली स्वच्छता-प्रसार का त्योहार है। इसके आगमन के पूर्व करैता में जगन मिसिर की

---

१. 'ब्रह्मपुत्र', पृ० २१४।
२. वही, पृ० १३५ से १३७ तक।
३. 'गणदेवता', पृ० ६५।
४. वही, पृ० ७९।
५. वही, पृ० १२२।
६. वही, पृ० १५९।
७. वही, पृ० २०८।
८. वही, पृ० २६१।
९. वही, पृ० ३००।
१०. वही, पृ० ३८२।

बखरी की लिपाई-पोताई हो रही है।[1] घर को खाली कर दिया गया है। सामान बाहर धूप में पड़ा है। लिपाई-पुताई के बाद मिसिराइन उन्हें झाड़-पोंछ कर रख रही हैं। कबूतरी को कभी-कभी पिअरी माटी का पोतन मिसिराइन थमा देती हैं। बखरी के बाद बइठका पोता जाता है। लक्ष्मी जी की सवारी आने वाली है। जगमग दीपों की पंक्तियाँ सज्जित की जायेंगी। मैदानी प्रदेशों में यह दीपावली का त्योहार प्रायः एकरूपता लिये हुए है परन्तु पर्वतीय अंचल में इसका रूप भिन्न हो जाता है। बलभद्र ठाकुर ने कुल्लू प्रदेश की 'दिआली' का वर्णन 'देवताओं के देश में' किया है जिसमें हमारी दीवाली का रूप न होकर होली का रूप पूरे निखार पर मिलता है। फागुन में वहाँ रंग भरी होली मनाने की प्रथा नहीं है अतः इसी अवसर पर उनका अश्लील जंगली उल्लास फूट निकलता है। 'लुगड़ी' के नशे में स्त्री-पुरुषों का जुलूस गाँव के हर घर के द्वार पर जाकर गालियों और गीतों को हवा में तरंगित करने लगता है। स्त्री-पुरुष के दलों में परस्पर जवाबी गालियाँ चलती हैं।[2] उक्त उपन्यास में वर्णित कुल्लू प्रदेश का दशहरे का त्योहार वास्तव में एक मेले के अतिरिक्त और कुछ नहीं जिसमें वहाँ के राजा के गृहदेवता 'श्री रघुनाथ जी' की महिमा और स्मृति को रूपायित किया जाता है।[3] भारतवर्ष में दशहरा मुख्यतः रामलीला से सम्पृक्त है। इस दिन नीलकंठ दर्शन की महत्ता है। 'नीलकंठ भागते हैं और लड़के पीछा करते हैं। सीता धरती की बेटी कैद है। धरती के बेटे बेचैन हैं। भेंट अकवार कह देना सीता से ओ नीलकंठ भाई! तुम परिन्दे हो, शिव के प्रतिरूप हो।'[4] रामदरश मिश्र ने इस नीलकंठ दर्शन के संदर्भ को बहुत गहराई के साथ उठाया है और उसके सांस्कृतिक पक्ष का मार्मिकता से उद्घाटन किया है। राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यास 'जाने कितनी आँखें', में बुन्देलखण्ड अंचल की दीपावली का चित्रण है। इस उत्सव में दीपदान और लक्ष्मी पूजा की धूमधाम तो कम परन्तु होली के उत्साह की भाँति नृत्य-गीतादि की चहल-पहल बहुत घनी चित्रित है।[5]

---

१. अलग अलग वैतरणी,, पृ० ३०८।
२. 'देवताओं के देश में', पृ० २७६।
३. वही, पृ० २६३।
४. 'जल टूटता हुआ', पृ० १२०।
५. 'जाने कितनी आंखें', पृ० २१५।

अन्य त्योहार

हिन्दी कथा-साहित्य में अन्य त्योहारों में खेल-कूद वाला बरसाती त्योहार नागपंचिमी[1], गंगास्नान और शुभ कार्यों के आरम्भ का चिवड़ा मिठाई वाला त्योहार मकर संक्रान्ति अर्थात् खिचड़ी[2], हिमालय से सैकड़ों प्रकार की दल बाँधकर उतरने वाली चिड़ियों को चावल, केला, गुड़, मिठाई और दूध खिलाने वाला कुमारिकाओं का त्योहार श्याम चकेवा[3], मुसलमानों का त्योहार रमज़ान[4], मुहर्रम[5] मुहर्रम 'में इमामबाड़े पर सेहरा चढ़ाना और मातम-नोहा[6], मजलिस-मरसिया[7] आदि के आयोजन चित्रित हैं। 'सिर पंचमी का सगुन' में श्रीपंचमी त्योहार को भारतीय कृषि के शुभारंग से रेणु ने जोड़ा है। भारतीय त्योहारों की यह एक विशेषता है कि उनके साथ अनिवार्य रूप से मेले जुड़े हुए हैं। 'अलग अलग वैतरणी' का आरम्भ ही रामनौमी के मेले से होता है। यह चैत रामनौमी का त्योहार मातामइया के पूजन का बहुतही भावुकता वाला पर्व है। इसमें रागात्मकता हर त्यौहार से अधिक है। किन्तु जैसा कि आरम्भ में ही चर्चा की गई है टूटन और उदासीनता इसमें भी आ रही है। 'अन्तरिक्ष युग की माता मइया'[8] शीर्षक एक रचना में लेखक ने इस पर्व के भविष्य को वैज्ञानिक अनुसंधान और उसकी उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में देखा है और गहरी चिन्ता व्यक्त की है। 'जल टूटता हुआ' का आरम्भ 'स्वतंत्रता दिवस' के त्योहार के विशद चित्रण के साथ हुआ है।

ग्राम-जीवन में त्योहारों की महत्ता देखते हुए कथा-साहित्य में उसका प्रतिफलन-संकोच ही अन्ततः निष्कर्ष के रूप में निकलता है। उनका और व्यापक अनुरंजनकारी चित्रण अपेक्षित था। त्योहार ग्राम-जीवन-भूमि की

१. 'जल टूटता हुआ', पृ० ३१।
२. 'अलग अलग वैतरणी', पृ० ४६६।
३. 'परती : परिकथा', पृ० २५४।
४. 'गणदेवता', पृ० ३७६।
५. 'आधा गाँव', पृ० ८६, ९२।
६. वही, पृ० ४५-४६।
७. वही, पृ० ६४।
८. 'हिन्दुस्तान' (दिल्ली) ७ अप्रैल सन् १९६८ ई०।

गहराई में जमे हुए हैं। भारतीय स्वाधीनता से जुड़े राष्ट्रीय त्योहारों का बहुत प्रचार हुआ परन्तु वे चन्द स्कूली बच्चों और सरकारी अधिकारियों के त्योहार मात्र रह गये। उधर बिना किसी प्रचार के आज की चतुर्दिक जीवन-विरोधी घुटन-शील स्थितियों में में भी सांस्कृतिक त्योहार बने हुए हैं, भले ही वे परम्परा पालन जैसे हैं परन्तु कथा-साहित्य में चित्रित सन्दर्भों से स्पष्ट है कि इस रूप में भी उनमें उल्लास की मानसिक तनाव-विरेचन की शुष्कता और एकरसता से विमुक्ति की संभावनायें हैं।

७—मेला

भारतवर्ष में मेले का जैसा सांस्कृतिक महत्व है और ग्रामीण-जन-समुदाय उसमें जैसी रुचि प्रदर्शित करता है उसे देखने के लिए कथा-साहित्य में उसका प्रतिफलन द्रष्टव्य है। इधर नगरों में ग्रामवासियों के आवागमन की सुविधाओं और अवसरों में अभिवृद्धि हुई है जिससे मेला-रुचि का अवमूल्यन हुआ है। द्वितीय महायुद्ध-काल में सुरक्षा दृष्टि से मेलों पर नियंत्रण भी हुआ था। फिर भी प्रयाग, गढ़मुक्तेश्वर, हरिद्वार और सोनपुर आदि के मेले की जनाकीर्ण महा-सागरोपम हिल्लोलित विशालता के आलेखन के समानान्तर ग्रामांचलों में समय-समय पर आयोजित मेलों और उसके परिप्रेक्ष्य में उमड़ते जीवन का अंकन अपेक्षित था। प्रेमचन्द ने 'ईदगाह' के एक सामान्य मेले के संदर्भ में बालक हामिद और दादी अमीना को ही नहीं अपितु एक निर्माणोन्मुख युगीन गांधी-वादी विचारधारा को चित्रित कर दिया जिसमें आदर्श के स्थान पर यथार्थ और कलावाद के स्थान पर उपयोगितावाद की सशक्त सांकेतिक अभिव्यक्ति सहज रूप में हो गई। जीवन से कटकर मेले का अपना कोई महत्व नहीं है। आज व्यक्ति के जीवन में समस्याओं और जटिलताओं की संकुलता इतनी बढ़ गई है कि वह मेले की भीड़ में भी अकेला हो जाता है।

मेले के प्रति उदासीनता

रामदरश मिश्र के उपन्यास 'जल टूटता हुआ' के दशहरे वाले मेले में सतीश भी अअग हो गया है परन्तु उसका यह अलगाव पूरी तरह खुल नहीं पाता है। वह सोचता है 'अब मेले का वह ज़ोर नहीं रहा जो पहले था। यही वह मेला है जो अपनी भीड़ और वैभव के लिए दूर-दूर तक विख्यात था। अब पूरे मेले

में भीड़ के बीच एक अजब बिखराव दीखता है।'[1] वास्तव में यह बिखराव आन्तरिक है जिसे वह मेले के ऊपर प्रक्षेपित कर रहा है। कथाकार बाह्य और अंतर बिखराव का कोई सृजनात्मक सामंजस्य संघटित नहीं करता है और मेला मात्र कुंजू और बदमी के एकान्त संयोग की पृष्ठभूमि बनकर रह जाता है। वैसे रामलीला ज़ोर पर होती है। 'रामायण कम्पीटीशन'[2] भी होता है और अन्त में रावण मरता है परन्तु मेला कथा को किंचित् उदग्र करके भी कोई सापेक्ष संवेदना नहीं छोड़ता है। यही स्थिति बलभद्र ठाकुर के 'देवताओं के देश में' आयोजित दशहरे के मेले की है।[3] यह भी नत्थी और निरतू के मिलन और स्थानीय वर्णन वैचित्र्य के अतिरिक्त किसी महत्तर सांस्कृतिक प्रभाव को आन्तरिक स्तर पर अभिव्यंजित करने में सफल नहीं होता। कथाकार की एक टिप्पणी के अनुसार 'भारत की आजादी के बाद जिस प्रकार राजाओं-जमीदारों का महत्व समाप्त हो चला है उसी प्रकार कुल्लू के राजा के गृहदेवता 'रघुनाथ जी' की महिमा भी मंद पड़ चली है। फलतः अब दशहरे के मेले में कुल्लू के तीन सौ आठ देवताओं की वफादारी भी रघुनाथ जी के प्रति कम होती जा रही है, फलतः उपस्थिति भी।'[3] बलभद्र ठाकुर ने स्थानीय पर्वतीय वेशभूषा, परम्परा, हिडिबा देवी के भोग-भंडारे, लोक-नृत्य, और लुगड़ी नशे में घटित जन-संघर्ष आदि का बहुत चटक चित्रण प्रस्तुत किया है। यह विशुद्ध आंचलिक स्तर का चित्रण है। बलभद्र ठाकुर द्वारा 'देवताओं के देश में' वर्णित 'गनेड़ का मेला'[4] भी इसी स्तर का है। दीवाली के अवसर पर आयोजित इस मेले में त्रिपुरसुन्दरी का जलूस विशेष आकर्षण का केन्द्र है। दशहरे के मेले का समसामयिक समस्याओं के वैचारिक संदर्भ में एक चित्रण लेखक ने 'सोने की लूट'[6] में किया है जिसमें प्रत्येक क्षण व्यक्ति,

---

१. 'जल टूटता हुआ', पृ० १२१।
२. वही, पृ० १२२।
३. 'देवताओं के देश में', पृ० २६१ से ३०० तक।
४. वही, पृ० २६१।
५. वही, पृ० २८०।
६. 'फिर बैतलवा डाल पर', पृ० ५६।

समाज और राष्ट्रीय जीवन में उभरता राम-रावण के युद्ध का सनातन सत्य वर्तमान से सम्पृक्त प्रतीत होता है।

मेले के विविध रूप

भैरवप्रसाद गुप्त ने 'धरती' में अपने गाँव के पास आयोजित एक तिजिया के मेले को नहीं अपितु उसमें जाने वाले लोगों को देखा है[1] और मेले से खरीदकर आई डेढ़ आने की बढ़नी के पीछे जो एक काण्ड हो गया है उसकी स्मृतियों को रूपायित किया है। एक पृष्ठ में वर्णनात्मकता के स्तर पर मेले का जो चित्र उन्होंने प्रस्तुत किया है उसमें सामान्य ग्रामवासियों का अन्ध-विश्वास, भूत-प्रेत का चक्कर और भ्रष्टाचार आदि की सूचना तो मिलती है परन्तु वास्तव में उससे मेले का कोई संस्कारित चित्र अपनी प्रभावमयता में हमें तन्मय नहीं कर लेता है। संभवतः लेखक का यह उद्देश्य भी नहीं है। वह एक सामान्य चर्चा है। चारित्रिक उभार, संघटनात्मक विकास और प्रवृत्तियों के द्वन्द्वात्मक घात-प्रतिघात का तथा वर्णन-क्रम से पृथक जीवन-क्रम का जैसा निखार 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गये गुल्फाम'[2] शीर्षक रेणु की कहानी की पृष्ठभूमि में आयोजित मेले में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। तुमुल-कोलाहल में डूबा बलवन्त सिंह के उपन्यास 'दो अकालगढ़' का 'जोड़ मेला' वास्तव में मेला है जहाँ पंजाबी जन-जीवन अपने आकर्षक खुलाव के साथ समवेत है और स्वांग-तमाशा, लोकगीत और निहंग साधुओं का वैचित्र्या, सब बहुत प्रभावशाली है।[3] दीदार सिंह के व्यक्तित्व को निखार देने में मेला बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। बलवन्त सिंह ने इसे जीवन के मेले के रूप चित्रित किया है। लेखक के उपन्यास 'बबूल' में मास्टर बस पर सवार होकर रास्ते में लगे 'बावन द्वादशी' के मेले से गुज़र रहा है तो उसके भीतर एक बहुत भारी संघर्ष चल रहा है कि उतर कर मेला देख लें या नहीं। मेले की भीड़, चर्खी, नाच, कीर्तन आदि तो नहीं परन्तु धूल-धक्कड़ के बीच फुटपाथ पर लगी लालरंग की चोटही जलेबी उसके किसी ऐसे संस्कार को उभाड़ देती हैं कि वह आवश्यक काम

---

१. 'धरती', पृ० २४५।

२. 'ठुमरी' (रेणु) में संकलित।

३. 'दो अकालगढ़', पृ० ४६६ से ४८८ तक।

छोड़कर बस से उतर जाता है।[१] यह ग्रामीण-जीवन की संस्काराभिव्यक्ति है। 'गणदेवता' में अंकित वंग-भूमि के मेलों की एक और पृथक विशेषता है। वहाँ मेले में समसामयिक कृषि-जीवन की अनुरूपता का दर्शन होता है। उसके अनिवार्य रूपेण किसी न किसी व्रत-त्योहारादि से जुड़े होने का वैशिष्ट्य तो है ही। यदि चैत संक्रान्ति के पहले दिन की नील षष्ठी- व्रत का मेला है तो चण्डीमंडप के समीप सजी दूकानों में बैंगनी-फुलौड़ी से लेकर फीता-आलता आदि बिक रहा है[२] और यदि रथ-यात्रा का मेला है तो गाँव के लोग हल-फाल, रस्सी और लोहे-लक्कड़ के सामान के लिये भीड़ लगाते हैं क्योंकि इनकी सामयिक आवश्यकतायें होती हैं।[३] मेले के संदर्भ में आंचलिकता का निखार मिल रहा है 'रेणु' के द्वारा चित्रित फारबिसगंज के मेले में।[४] परानपुर की नट्टिनें तम्बू लेकर मेले में जाती हैं। बहुत गहमागहमी है। पुलिस वाले टोकते हैं—'मेले में रंडी-पतुरिया-मौजरा गाने वाली या तम्बुकवाली, किसी को बसने का हुकुम नहीं है !'[५] फिर भावचित्र-व्यंजक भाषा की लहकती-फड़कती भंगिमाओं में संपूर्ण मेले का आकर्षण गंगाबाई-गेंदाबाई आदि के चतुर्दिक पूंजीभूत हो जाता है। राजेन्द्र अवस्थी के आंचलिक उपन्यास 'जाने कितनी आँखें' में देवी यात्रा का मेला (खम्हेर खेड़ा का मेला[६]) और वारंगदा का मेला (मेघनाद का मेला[७]) तो है ही, कथाकार संकेत करता है कि 'बुन्देलखण्ड में दीवाली के बाद गाँव-गाँव में मेले लगते हैं, जिनमें अहीर और गौड़ देवी की स्थापना कर नाचते हैं, इसे 'मड़ई' कहते हैं।'[८]

---

१. **'बबूल'**, पृ० १२८।
२. **'गणदेवता'**, पृ० २६२।
३. **वही**, पृ० ३००
४. **'परती : परिकथा'**, पृ० ३९७ से ४०१।
५. **वही**, पृ० ३९७।
६. **'जाने कितनी आँखें'**, पृ० ७६।
७. **वही**, पृ० २२५।
८. **वही**।

'अलग-अलग वैतरणी' में मेला

हिन्दी कथा-साहित्य में मेले का सबसे उदात्त, सांस्कृतिक, आधुनिक और विशाल चित्रांकन किया है शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग-अलग वैतरणी' के आरंभिक तीस पृष्ठों में। यह एक पूर्ण वर्णन है जिसमें ग्रामजीवन की सम्पूर्ण समसामयिक अभिव्यक्ति है। 'बड़े-बूढ़ों का दल अभी पीछे था, ठमक-ठमक कर आता हुआ। पर लड़कों ने कतार से टूटकर, अपना एक अलग गिरोह बनाकर 'रेस' चला दी थी। हाँफते-चीखते, चिल्लाते वे मेले की ओर दौड़ पड़े थे। देवी धाम के चौगिर्द आदमियों के विराट् समुद्र में ज्वार-भाटे उठ रहे थे। भीड़ की चुम्बकीय शक्ति बच्चों को बुरी तरह खींच रही थी। 'उदेख रे उदेख' चिल्लाते-दौड़ते चले आ रहे थे।[1]' इस तरह की सजीव चित्रावलियों से तो पूरा वर्णन समृद्ध है ही, समसामयिक प्रवृत्तियों का, नवपरिवर्तित संदर्भों का, ग्रामजीवन के उतार का, नयी सामाजिकता और राजनीतिक प्रभावों की अभिव्यक्ति का भी इसमें निखार मिलता है तथा सहज ही यह करैता के देवीधाम वाले मेले का प्रथम अध्याय पूरे उपन्यास की एक सांस्कृतिक भूमिका हो जाता है। यह मेला-चित्रण इस विशाल उपन्यास के भीतर एक लघु उपन्यास है। उसमें नये ग्राम-जीवन की समग्र झाँकी है इसलिए मेला तलवर्ती जीवन का एक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन हो गया है।

८—लोकाचार

गत दो-ढाई दशक के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रामभित्तिक कथा-साहित्य में जहाँ आंचलिकता की प्रवृत्ति का आग्रह है वहाँ तलवर्ती ग्राम-जीवन का रागात्मक प्रस्तुतीकरण होने के कारण विभिन्न अंचलों के लोकाचार अपनी विचित्रताओं में अनिवार्यतः उकेरे गये दृष्टिगोचर हो रहे हैं। लोकाचार में एक विशिष्ट संस्कृति निहित है जो या तो कहीं से छन कर आती है। अथवा अपनी माटी में से ही छत्रक दंड की भाँति उग आती है। आंचलिक कथाकार एक विशेष सृजनात्मक मनोदशा में भू-भाग विशेष के उस वैचित्र्य-विशेष का अन्वेषी है जिसे लोकाचार कहते हैं किन्तु यह वैचित्र्य मात्र कौतूहल संवर्धनार्थ

---

१. 'अलग अलग वैतरणी', पृ० १७।

वर्णनात्मक स्तर पर नियोजित होता है तो वह अनाकर्षक न होकर भी प्रभावोत्पादक नहीं होता है।

पर्वतीय लोकाचार

बलभद्र ठाकुर मार्क्सवादी कथाकार हैं। उन्होंने पर्वतीय जन-जीवन के धर्माधारित स्थानीय लोकाचारों का विशद चित्रण इस कौशल से किया है कि एक ओर अबूझ लोगों की सांस्कृतिक मूर्खताओं के प्रति पाठक सहास सदय होता चले और 'धर्म' का खोखलापन अनावृत होता चले। दूसरी ओर यह प्रदर्शित होता चले कि समाजवादी पद्धति और जीवन-दर्शन इतना मौलिक, आदिम और सहजात है कि उसका चिह्न अविकसित अंचलों में भी बहुत स्पष्ट रूप से मिलता है। उदाहरणार्थ 'बाद' होना एक कुल्लू प्रदेश का विशेष लोकाचार है। 'वर्तमान पति को छोड़कर किसी नये के घर जा बैठना, पुनर्विवाह कर लेना ही 'बाद' होना है जो 'आबाद' का अपभ्रंश है।[1] 'बाद' होने में वहाँ शर्म की अनुभूति नहीं होती है। हतभागी नत्थी को खीमी समझा रही है कि 'ये तो म्हारे देश का रवाज है कि जब एक के घर सुख ना पाओ, दूसरे के घर बाद हो जाओ! क्या बाम्हन, क्या ठाकुर और क्या 'कोली' सब जात में बाद होने का रवाज है।'[2] इतने पर भी कुछ सामाजिक प्रतिबन्ध हैं जो जाति-पाँति की जकड़न को क्लिष्ट बनाते हैं और स्वतंत्रता-पूर्वक बाद होने में आपत्ति-बाधक बनते हैं।[3] कथाकार ने पर्वतीय मलाण गाँव का वर्णन किया है जहाँ देव-शासन है और देवस्थान पर ही नहीं सम्पूर्ण गाँव में कोई जूता पहन कर प्रवेश नहीं कर सकता है।[4] वहाँ की सनातनी प्रथा के अनुसार जिसे देवता का कानून करते हैं वहाँ की कन्याओं का विवाह अन्य गाँव में होना निषिद्ध है।[5] राजनीतिक दृष्टि से स्थानीय राजा के अधीन होकर भी पूरा गाँव धार्मिक और नैतिक दृष्टि से जमलू देवता के आधीन है।

---

१. 'देवताओं के देश में', पृ० १२।
२. वही, पृ० १८।
३. वही, पृ० १८३।
४. वही, पृ० २१२।
५. वही।

ग्राम-प्रजातंत्र स्तर का यह शासन है जिसमें मतदान (बीनण) पद्धति का प्रयोग होता है और राज्य-सभा, लोक-सभा की तरह ज्येष्ठांग-कनिष्ठांग का गठन होता है।[१] बलभद्र ठाकुर ने महाकुंभ की भाँति हर बारहवें वर्ष में कुल्लू प्रदेश की देवी मेखली के दरबार में आयोजित 'नड़बदा' अर्थात् नर-बध, नरमेध-यज्ञ का वर्णन किया है।[२] यह विभिन्न स्तरों पर चार दिन तक चलता है। ढम-ढमाक् के बीच वास्तव में यह एक अत्यन्त शानदार सांस्कृतिक नाटक है। संभव है कभी वास्तविक नर-बध होता रहा हो और बाद में उसकी भावात्मक सत्ता शेष रह गई हो। नाटक होते हुए भी दर्शक इसे वास्तविक घटना के रूप में लेकर प्रभावित होते हैं। कथाकार इस परिप्रेक्ष्य में यह देखकर बहुत मर्माहत होता है कि जो 'नड़' 'बध' के लिए चुना जाता है वह अछूत जाति का होता है जिससे उनकी वहाँ हीन-स्थिति द्योतित होती है।[३] लोकाचार की आड़ में लोक-प्रसिद्धि के लिये वास्तविक नरबध का लोमहर्षक आयोजन नागार्जुन के उपन्यास 'इमरतिया' में दिखाई पड़ता है। जमनिया के बाबा को 'श्रद्धा की खेती' करने, उसके लिए तरकीबें भिड़ाने के लिए 'कई नाटक खेलने पड़े' और उन्हीं में से यह एक 'नर-बलि' का नाटक भी था। इमरतिया से पूर्व की सधुआइनि लक्ष्मी से जो एक पुत्र पैदा हुआ (किसी बाबा का ही पुत्र) उसे छह महीना लगते दुर्गापूजा के अवसर पर घंटा-घड़ियाल, सिंगा-नगाड़ा की तुमुल ध्वनि के बीच उसकी तड़पती माता के सामने पुजारी द्वारा टुकड़े-टुकड़े कर हवनकुंड में झोंक दिया गया।[४]

आदिवासी लोकाचार

अविकसित आदिवासी क्षेत्रों के लोकाचार को शानी, राजेन्द्र अवस्थी, जयसिंह और वृन्दावनलाल वर्मा आदि कथाकारों ने शब्दरूप दिया है। 'वर्षा की प्रतीक्षा' शीर्षक अपनी एक कहानी में शानी ने 'लहमादा' प्रथा का वर्णन

---

१. 'देवताओं के देश में', पृ० २२०।
२. वही, पृ० ५६ से ८५ तक।
३. वही, पृ० ८७।
४. 'इमरतिया', पृ० २४-२५।

किया है।[1] इसका अर्थ घरजमाई जैसा होकर रहना है। लोकाचारानुसार कन्या-गृह में तीन-चार साल तक पति को सेवा-कार्य में खटना पड़ता है। उक्त कहानी का नायक कुहरामी व्यक्ति-धर्म और परिवार-धर्म के संघर्ष में विजयी होता है। वह अपनी काकी को असहाय छोड़कर अपनी चहेती कोमा का लहमादा होने का विचार विसर्जित कर देने में समर्थ होता है। ऐसा ही एक आदिवासी लोकाचार है 'टेसू बनना!' राजेन्द्र अवस्थी ने अपने आंचलिक उपन्यास 'जाने कितनी आँखें' में इस प्रथा का वर्णन किया है। बुन्देलखण्ड में स्थानीय 'टेसू उत्सव' उसमें निहित आह्लादिक रोमानी स्थितियों के लिए बहुत ही मनोरंजक सिद्ध होता है। प्रस्तुत उपन्यास की नायिका सुवेगा, गाँव के नेता और पंडित की पुत्री अधिक वय हो जाने पर 'काम' के आग्रह पर गाँव के एक कमलापति नामक कुर्मी-युवक के प्रति सारी सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध समर्पित हो जाती है। वह 'टेसू उत्सव'[2] में जब 'कमलापति का टेसू'[3] बनती है तो चर्चा का विषय बन जाती है। टेसू का अर्थ वह जोड़ीदार नारी जो इस उत्सव में टेसू-जलूस के लिए चयन करने के पश्चात् सदा के लिए जोड़ीदार हो जाती है! किंवदन्ती में आये गाँव के किसी मनचले लड़के की स्मृति में यह टेसू उत्सव क्वार-कार्तिक में मनाया जाता है। राजेन्द्र अवस्थी ने 'जंगल के फूल' नामक अपने उपन्यास में बस्तर के आदिवासियों की सभ्यता का वर्णन किया है जिसमें 'घोटुल' प्रथा सबसे मनोरंजक है। इसका रूप आधुनिक क्लब जैसा है। यह कुँवारों का आवास गृह है। यहाँ लड़के-लड़कियाँ परस्पर मिलते हैं। प्रेमी-प्रेमिकाओं की संध्यायें यहाँ स्वच्छन्दतापूर्वक रंगीन हुआ करती हैं।

अन्य लोकाचार

सांस्कृतिक स्रोतों से छनकर आये लोकाचार में एक अद्भुत सजीवता होती है। नदियाँ भारतीय संस्कृति में प्रतिष्ठा की पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी का उपन्यास 'ब्रह्मपुत्र' इसी नदी-प्रतिष्ठा का उद्घोषक है।

---

१. 'छोटे घेरे का विद्रोह' (शानी) में संकलित कहानी।

२. 'जाने कितनी आँखें', पृ० १६५।

३. वही, पृ० १६७।

ब्रह्मपुत्र के तटवासी सम्पूर्णतः उस नदी की भाषा को ही जीते हैं। वही उनके जीवन का सूत्रधार है। वह देवता है। शुभकार्य में प्रथम उसका दर्शन विहित है।[1] उसके सम्बन्ध से उसकी मछलियों तक से लोगों को प्रेम है और अहिंसा की भाषा का विकास होता है। खेती नष्ट होती है तो बड़े बूढ़े आरोप लगाते हैं कि ब्रह्मपुत्र की पालित मछलियों को हम लोग पकड़ते हैं, अतः वह अप्रसन्न है। 'ब्रह्मा का वह नटखट उसकी लहरों में खेलता है!'[2] शैलेश मटियानी के उपन्यास 'चिट्ठी रसैन' में नाथू होलदार के विरुद्ध पंचायत जुटती है तो पंचायत के चबूतरे पर रामायण और तुलसी-गंगाजल रखा जाता है![3] तारा बाबू के उपन्यास 'गणदेवता' में गाँव पर आने वाले संकट की सूचना पड़ोस के गाँवों को नगाड़ा बजाकर दी जाती है।[4] बंगाल में आधुनिक 'हड़ताल' का स्वरूप प्राचीन लोकाचार 'धर्मघट' के रूप में सुरक्षित रहा।[5] लोकाचार न केवल हिन्दुओं में बल्कि विविध रूपों में मुसलमान आदि जातियों में भी प्राप्त हैं। 'आधा गाँव' में राही ने उनका चित्रण किया है। एक लोकाचार के अनुसार 'मोहर्रम की चाँदरात को तमाम शीआ-सुहागिनें चूड़ियाँ बढ़ा देती हैं!'[6] शैलेश मटियानी के उपन्यास में पर्वतांचल के विभिन्न लोकाचार अत्यन्त स्वाभाविक रूप में आये हैं। उनकी कथा-कृतियों में आधुनिकता की अभिव्यक्ति अत्यन्त न्यून है अतः आंचलिकता के मौलिक प्रसार के लिए पर्याप्त अवकाश है। नयी सभ्यता की दृष्टि से अविकसित पर्वतीय पृष्ठभूमि अपने सनातन आस्थानिष्ठ शील एवम् अनारोपित आचार के लिए प्रसिद्ध है। मटियानी में उसकी सफल अभिव्यक्ति हुई है। 'चिट्ठी रसैन' में ब्याह के दूसरे दिन का लोकाचार 'दुरगुन'[7] शुभकार्यों में चावल भिगोकर

---

१. 'ब्रह्मपुत्र', पृ० १०३।
२. वही, पृ० ३९।
३. 'चिट्ठी रसैन', पृ० १७१।
४. 'गणदेवता', पृ० ३४७।
५. वही, पृ० २८९।
६. 'आधा गाँव', पृ० ४६।
७. 'चिट्ठी रसैन', पृ० ४।

आलेखन-क्रिया से सम्बन्धित 'विस्वार'[1] और 'मैलोखतडुआ'[2] जैसे अनेक लोकाचारों की पगपग पर प्रतिध्वनि मिलती है और पाठकों का कौतूहल सघन होता चलता है। अन्य उपन्यासों में भी यही स्थिति है। राजेन्द्र अवस्थी की कहानी 'कौए के पीछे बैलगाड़ी'[3] में सिर पर कौआ बैठ जाता है तो मरने की खबर देकर लोकाचारानुसार इस अपशकुन का मार्जन किया जाता है।

आंचलिकता की प्रवृत्ति ने लोकाचार को कथागत अभिव्यक्ति में प्रोत्साहित किया है और इससे स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य सांस्कृतिक सुगन्ध से परिपूर्ण हो गया है।

६—अन्ध विश्वास

हिन्दी आंचलिक-कथा में लोकाचार और अंधविश्वास समानान्तर चित्रित हुए हैं। वास्तव में इन दोनों में अन्तर अत्यल्प है। लोकाचार भी एक प्रकार के अन्धविश्वास ही हैं किन्तु वे कुछ अंश तक निरापद हैं तथा जन-जीवन का एक मुख्य आह्लादक अंश उनके साथ जुड़ा हुआ है। गाँव को अन्ध-विश्वासों से काटकर यदि पृथक कर दिया जाय तो वह गाँव नहीं रह जाता है। गांव का अर्थ है विश्वास और शताब्दियों का यह विश्वास अंधकाराविष्ट रहा अतः 'अन्धविश्वास' होकर उसके साथ इस प्रकार जुड़ गया है कि अनिवार्य अंग हो गया है। आंचलिक उपन्यासों के एक अनिवार्य उपकरण के रूप में आलोचकों ने इसकी स्थिति का आकलन किया है। रूढ़ियों और परम्पराओं में जकड़ा भारतीय ग्राम-जीवन आधुनिक जग-जीवन के सम्मुख जैसे एक भोंडे प्रहसन की भाँति जीवित है। उसे देखते हिन्दी कथाकारों की भारतीयता के प्रति अगाध निष्ठा और अंशतः अपनत्व अथवा मानसिक पक्षपात है कि उसे उन्होंने व्यंग्य के रूप में कम, विशिष्ट जीवन-चित्र के रूप में अधिक अंकित किया है। अन्धविश्वासों तक को विगर्हणीय नहीं स्पृहणीय रूप प्रदान किया गया है। मेहरुन्निसा परवेज की कहानी 'टोना' (धर्मयुग : १२ सितम्बर

---

१. 'चिट्ठी रसैन', पृ० १६३।
२. वही, पृ० १४१।
३. 'एक प्यास पहेली' में संकलित।

१९७१) की कथा-नायिका आदिवासी खोड़ी नैहर में अपनी एक शराबी काकी के साथ टोना के चक्कर में रहती है और यह टोना-भाव उसके जीवन से ऐसा जुड़ गया है कि ससुराल जाने पर आकस्मिक आघातों को सौतों का टोना मानकर जीती रहती है।

सांस्कृतिक मूर्खतायें

अन्धविश्वासों का एक परिनिष्ठित क्षेत्र सांस्कृतिक मूर्खताओं से सम्बन्धित है जिसे हिन्दी-कथा में ग्रामजीवन को उठाते हुए कथाकार छोड़ नहीं पाते हैं। शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'कर्मनाशा की हार'[1] में कर्मनाशा की सत्यानाशी बाढ़ के समय ही जब विधवा मल्लाह-पुत्री फुलमत के गर्भ से पंडित-पुत्र कुलदीप के अवैध शिशु का जन्म होता है तो समूचे ग्रामवासी चिल्ला उठते हैं कि इसी 'पाप' का परिणाम यह बाढ़ है! और माता समेत उस पाप-शिशु की बलि देने के लिए नदी तट पर एकत्र हो जाते हैं! यह अन्धविश्वासों अथच सांस्कृतिक मूर्खताओं का विशुद्ध सनातन ग्रामभाव है परन्तु उसी समय कुलदीप के पिता भैरो पाण्डेय का उसे अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार कर लेना आधुनिकता है, नया स्वर है! रणधीर सिनहा की कहानी 'बहेंगवा'[2] में बाल अपहरण एक केन्द्रीय घटना है और साधना के नाम पर अवधूतों और तांत्रिकों की गुंडई के साथ गाँव की विश्वास-बर्बरता का अत्यन्त ही घिनौना रूप प्रकट होता है। रामदरस मिश्र की कहानी 'मंगल-यात्रा'[3] में अंधविश्वासों की डहकन नये प्रकार की है। एक परिवार का एक बालक है जिसे यात्रा के समय लोग देखकर नहीं जाते हैं। उसके कुख्यात असगुनिया रूप में कथा-भंगिमा एक विचारोत्तेजक मोड़ लेती है। भैरवप्रसाद गुप्त की कहानी 'गत्तीभगत'[4] में 'कंठी' को एक नया मूल्य प्राप्त हो जाता है जो प्रगतिशील है। ठाकुर प्रसाद सिंह की कहानी 'ब्रह्मशान्ति'[5] परमेश्वर

---

१. 'कर्मनाशा की हार' कथा-संग्रह की प्रथम कहानी।
२. 'हाथ का जस' (कथा-संग्रह) 'रेणु' द्वारा सम्पादित।
३. 'खाली घर' में संकलित।
४. 'महफिल' में संकलित।
५. 'कहानी' वार्षिकांक १९५९ में प्रकाशित।

पंडित के ब्रह्मवेत्ता होने की ख्याति में ग्रामीणों के अन्धविश्वास की चरम सीमा लक्षित होती है जबकि स्वयं पंडित के मन में द्वन्द्व की स्थिति है कि वे कुछ भी नहीं जानते हैं और ठगते हैं ! इस प्रकार के अन्धविश्वास अनिवार्यतः 'धर्म' से जुड़े रहते हैं अतः धर्मप्रधान देश के भावुकता के सुरक्षित क्षेत्र ग्रामांचल में इनके पनपने की अधिक संभावना रहती है। 'स्वर्ग की सीढ़ी'[१] में गोदान के बल पर स्वर्ग जाने के उत्कट अन्धविश्वास का रहस्योद्घाटन हुआ है।

भूत-प्रेत

भूत-प्रेत की कथाएँ पहले कथा-साहित्य में सस्ते मनोरंजन और रोमांच के लिए गृहीत थीं किन्तु स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में उन्हें नयी प्रतिष्ठा मिली है। उनका चित्रांकन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं अपितु तटस्थ चित्रण के ही उद्देश्य से हुआ है। आंचलिक कथाकारों के लिए उस अंचल विशेष को कला की तूलिका से उजागर कर देना ही अलम् होता है अतः वे उसके चित्रफलक को अमिश्र चित्रण स्तर तक ही सीमित रखते हैं। 'परती : परिकथा' में रेणु ने पूर्णिया अंचल के एक विकसित गाँव को लिया परन्तु विकास और नयी समस्वरता के होते भी गाँव भूतभाँवर और अन्धविश्वासों की गहरी परतों में दबा है। संस्कृति के नाम पर विकृति है। लोगों की धारणा है कि हवेली के पिछवाड़े वाले 'ताड़वृक्ष पर ब्रह्मपिशाच रहता है। विशाल परती पर, डेढ़ सौ एकड़ की पाँच परिधियों पर इस ब्रह्मपिशाच का राज्य था। प्रत्येक वर्ष शरद् की चाँदनी में वह इन पाँच चक्रों में अपना रुपया पसार कर सूखने देता था।'[२] हिमांशु श्रीवास्तव की पुस्तक 'नदी फिर बह चली' में एक ब्राह्मण का मारा गया लड़का जामुन के पेड़ पर ब्रह्मपिशाच होकर निवास करता है और लोगों को सपने देकर विधिवत् अपना चबूतरा बनवाकर पूजा लेता है।[३] भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'धरती' में कामरोगी अथवा विकृत-मन स्त्रियाँ 'नौकाबाबा' खेलती हैं। इन भूतप्रेत विश्वासी स्त्रियों में कुछ तिरस्कृत-उपेक्षित

१. 'स्वर्ग की सीढ़ी' (मुक्तेश्वर तिवारी 'बेसुध') धर्मयुग २१ जनवरी, १९६२)।
२. 'परती : परिकथा', पृ० २२।
३. 'नदी फिर बह चली', पृ० २७।

हैं, कुछ पुंश्चली हैं, कुछ हिस्टीरिया की तथा अन्य मनोवैज्ञानिक व्याधियों से आक्रान्त हैं। ये युवा स्त्रियाँ बाल बिखेर कर वहाँ चीखती-चिल्लाती हैं और 'बाबा' को गोहराती हैं।[१] लेखक के 'बबूल' में महेसवा चमार भूतों की भावना में ही प्रत्येक प्रकार से लुट जाता है। अपने नन्हें चौदहवर्षीय जीवन में अपने परिवार की तीन मौतों को देखकर वह काँप जाता है और भूतों की खोज शुरू हो जाती है। यहाँ प्रत्येक मृत्यु में कोई न कोई प्रेत कारण प्रतीत होता है।[२]

देवी-देवता

आंचलिक उपन्यासों में भूत-प्रेत से कुछ ऊँचा स्तर रखकर देवताओं का चित्रण हुआ है। इन देवताओं में विशेषता यह है कि ये भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। हिन्दी-कथा साहित्य में चमारों के देवता (या देवी) चमरिया[३], पर्वतीय क्षेत्र के पहाड़ियों के गोल्लदेवता[४], आदिवासी कलावों के नागदेवता[५], गोंड़ जाति के नारायण देव[६], बुंदेलखण्ड के अहीर-कुरमियों के आराध्यदेव कारसदेव[७], सभी परम विचित्र एवम् अंधविश्वासों के सांस्कृतिक प्रतीक हैं। गाँव के अंधविश्वास और भूत पूजा पर झल्ला कर कथाकार रामदरश मिश्र कहते हैं : 'चमार चमरिया पूजता है, ब्राह्मण बरम पूजता है, क्षत्री डीह पूजता है, मुसलमान जिन्न पूजता है, और सच तो यह है कि सभी एक दूसरे के भूत को पूजते हैं।...आजादी के बाद भी शिक्षा-दीक्षा का ठीक विकास नहीं हो पा रहा है। जो अपढ़ हैं वे भूत पूजते हैं और जिन्हें अपने शिक्षित होने का गर्व है वे स्वार्थ का भूत पूजते हैं।'[८]

---

१. 'धरती', पृ० २४४।
२. 'बबूल', पृ० ७१।
३. 'जल टूटता हुआ', पृ० ३३६।
४. 'हौलदार' (मटियानी), पृ० ९०।
५. 'कलावे' (जयसिंह), पृ० १७५।
६. 'सूरज किरन की छाँव', पृ० ८९।
७. 'जाने कितनी आँखें', पृ० ७७।
८. 'जल टूटता हुआ', पृ० ३३७।

देवपूजा का सबसे प्रभावशाली चित्रण राजेन्द्र अवस्थी ने किया है। 'सूरज किरन की छाँव' में चित्रित नारायण देव की पूजा एक प्रभावशाली चित्र है। उसे वर्णन के स्तर तक सीमित न रखकर कथाकार प्रभाव के स्तर पर मुद्रित करता है। पूर्ण विविध-विधान का आलेखन होता है। गुनिया का करतब खुलता है। मंत्राविष्ट झूमते सूअर को देखकर कोई सरकारी अधिकारी है जो हतचेत हो जाता है। उस पर पादरी की औषधि व्यर्थ हो जाती है। गुनिया मंत्र से प्रकृतिस्थ करता है तो भेद खुलता है कि किसी चुड़ैल ने उसपर आक्रमण कर दिया था। 'कलावे' में नागदेवता दस भविष्यवाणियाँ करते हैं और प्रायः ये ऐसी हैं कि अनुमान से कोई भी कर सकता है। उनकी कुछ भविष्यवाणियों में विचित्रता भी है। जैसे यह कि 'तालाब में भैंस पैठेगी और सड़क पर गधे दौड़ेंगे !' इस उपन्यास में आंचलिकता और विशेषकर आदिवासियों के चित्रण की बहुत प्रौढ़, सूक्ष्म, सशक्त एवम् प्रामाणिक पकड़ है। मुख्यतः आदिवासियों के अन्धविश्वास का उन्होंने बहुत चटक चित्रण किया है।

अन्धविश्वास के मूल में ग्रामीणों की अशिक्षा है। पुराना अविश्वास नये अविश्वास के साथ मिलकर और उलझ जाता है। रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' में गाँधी जी और काली जी की जय जयकार एक साथ ही होती है।[1] लेखक की कृति 'फिर बैतलवा डाल पर' में गाँधी चबूतरे पर काली जी की पूजा हो रही है और लोग गाँधी से अधिक काली जी से प्रभावित हैं।[2] मायानन्द मिश्र के उपन्यास 'माटी के लोग : सोने की नैया' में गाँव में नया-नया ट्रैक्टर आया है तो यह मानकर कि यह हाथी से अधिक शक्तिशाली है, उसकी विधिवत् पूजा हो रही है। पुजारी गोसाञी उसपर गणेशपूजा का सिन्दूर-पिठार चढ़ा रहा है।[3] 'परती : परिकथा' में नयी कृषि-क्रान्ति लाने के लिए कृत संकल्प जितेन्द्र के परती तोड़ने की प्रतिक्रिया में गाँव की प्रतिगामी शक्तियाँ एक सांस्कृतिक षड्यन्त्र करती हैं। निरसू पासी पर परती के देवता परमा बाबा आते हैं और परती तोड़ने के प्रति अपनी गहरी अप्रसन्नता व्यक्त करते हैं। रेणु ने ग्यारह पृष्ठों में उसका अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण किया है।[4] यह एक अत्यन्त गत्वर

१. **'मैला आँचल', पृ० २४८।**
२. **'फिर बैतलवा डाल पर', पृ० १८०।**
३. **'माटी के लोग : सोने की नैया', पृ० १४७।**
४. **'परती : परिकथा', पृ० १११ से १२२ तक।**

शब्दचित्र है। वर्तमान ग्राम-जीवन का अन्तर्विरोध इससे अनावृत हो जाता है। एक ही समय में एक ही मंच पर प्रगतिशील और प्रतिगामी शक्तियाँ अपने पूरे रचनात्मक और विध्वंसक कार्यक्रम में सक्रिय हैं।

१०—लोकगीत

लोकगीतों में गाँव के प्राणों का स्पन्दन होता है तथा उनका समूचा अन्तर-वैभव इन गीतों के रूप में प्रस्फुटित होता है। परम्परा के रूप में गाये जाने वाले ये लोकगीत जिनके रचयिताओं का कोई परिचय नहीं होता है कभी-कभी उनके गायकों के व्यक्तित्व के साथ मिलकर एकाकार हो जाते हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कथा-साहित्य में आंचलिकता की प्रवृत्ति ने गाँव के लोकगीतों को खेत-खलिहान से उड़ा कर साहित्य के अमर पृष्ठों के साथ जोड़ दिया। नागार्जुन (सन् १९१०) का उपन्यास 'बलचनमा' (१९५२) कालक्रम से यद्यपि हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास कहा जाता है परन्तु इस प्रवृत्ति का उद्घाटन फणीश्वर नाथ रेणु (१९२१) के 'मैला आँचल' (१९५४) से हुआ तथा इसका निखार लोकगीतों की जीवन-विधायिका आन्तरिक समस्वरता के कारण 'परती : परिकथा' (१९५७) से हुआ। इस परिकथा से लोकगीतों का रागचक्रप्रवर्त्तन होता है और कथा-साहित्य में रघ्घूरमैनी[1] की परम्परा का विस्तार होता है। 'रमौलिया[2], बीसू धोबी[3], सुरजितवा[4], सोनवा[5], सुरतिया[6], बहकुआ[7] और नयकी[8] के रूप में गीत-कुँज के स्रोत फूट पड़ते हैं।

'परती : परिकथा' में लोकगीत और लोककथाओं की विधिवत् खोज के

---

१. 'परती : परिकथा', पृ० १८७।
२. 'सुख सरोवर के हँस', पृ० ९८।
३. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ३१ :
४. वही, पृ० ५५९।
५. वही, पृ० ५७४।
६. 'माटी के लोग : सोने की नैया', पृ० १००।
७. 'बबूल', पृ० ७३।
८. 'नदी फिर बह चली', पृ० १३८, १४८, १५०।

संदर्भ उभरे हैं। सुरपति राय जैसे शोध-छात्र का श्रम इसके पीछे है।[1] वे इस शोध के गीत-सपनों में डूबे सात घाट का पानी पी चुके हैं।[2] जितेन्द्र मिश्र का सहयोग उन्हें मिलता है और गाँव का रघ्घू रामायनी प्रकाश में आता है। इस निरक्षर कथा-गायक को समूची रामायण कंठस्थ है और उसे गाँव की बोली में जोड़कर सारंगी पर गाता है।[3] पर जिस कहानी पर समूचे उपन्यास का भावन्यास हुआ है वह है सुन्नरि नैका का लोक-कथा गीत जिसे रघ्घू अपनी सजी व्यासगादी से पीताम्बर और गोपीचन्दन में सजकर पूर्ण भावावेश में कहना आरम्भ करता है।[4] इस कथा गीत में एक स्त्री अकाल पड़ने पर अपने 'गुन' से पाताल से पानी निकालने और जनता को तृप्त करने का संकल्प करती है और 'दंता राक्षस' का सहयोग लेकर वह धरती के खुदे कुंडों को पानी से लबालब कर देती है।[5] यह कहानी सशक्त प्रतीकात्मकता से आवृत है। वह स्त्री विकास योजना है और 'दंता राक्षस' आधुनिक संयन्त्र हैं। बन्ध्या परती-भूमि को जल स्रोतों से परिपूर्ण कर कृषि-क्रान्ति का प्रत्यावर्तन इस उपन्यास का मुख्थ कथ्य है जिसे इस रामायनी ने अपने प्रसिद्ध लोकगीत में उजागर किया।

सुन्नरि नैका के लोकगीत के अतिरिक्त रेणु ने आरम्भ में ही एक गंजेड़ी भैंसवार द्वारा कोसी मैया के लोकगीत को प्रस्तुत कराया है।[6] गीत में अद्भुत तरलता है। जित्तन स्वयं भी बरसाती लोकगीत गुनगुनाता है।[7] ताजमनी और मलारी 'शामा का गीत' गाकर चकित कर देती हैं। यह लोकगीत परानपुर के भिन्न-भिन्न टोलों की प्रतिद्वन्द्विता के स्तर पर होता है।[8] मलारी पढ़ी-लिखी लड़की है अतः पुराने लोकगीत को नया तर्ज देती है।[9] अन्त में कुछ

---

१. 'परती : परिकथा', पृ० १३।
२. वही, पृ० ४६।
३. वही, पृ० १८।
४. वही, पृ० १८७।
५. वही, पृ० १८७ से १९६ तक।
६. वही, पृ० ४।
७. वही पृ० ६०।
८. वही, पृ० २५४ से २६७। ९. वही, पृ० २६७।

मनचले लड़कों को लक्ष्य कर व्यंग्य-गीत भी सुनने को मिलते हैं।[1] कालीपूजा पर ताजमनी परम्परागत श्यामा संकीर्तन गाती है।[2] पूरा उपन्यास इन गीतों में गमक रहा है।

रेणु के लोकगीतों में विशाल भावात्मकता का पारहीन सागर हिल्लोलित प्रतीत होता है। परम्परा और प्रगति का यह समन्वय आश्चर्यजनक है। जितेन्द्र में नये मूल्यों का आग्रह है परन्तु वह गाँव के डीह्-डाबर में खोई 'प्राचीन संस्कृति की परतों' को भी बड़ी कोमलता से खोलता जाता है और उन्हें सुरक्षा प्रदान करता है। शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' भी आदि से अन्त तक लोकगीतों की झीनी सुनहरी लघु लपेट में रागात्मक उपलब्धियों से जुड़ा है। उसके लोकगीत हलके, विरल, उड़ानपूर्ण, सांकेतिक और अणु-प्रभाव सम्पन्न हैं। समाप्त तो चट हो जाते हैं पर गूँजते बहुत देर तक हैं हिमांशु श्रीवास्तव में माटी की परख और उसकी सुगंन्ध का निखार है। ब्याह और मड़वे के गीत से लेकर झूमर और चलंता तक सब का स्वाद है। मायानन्द मिश्र में पूजा गीत की तरलता और अन्तर्मुख श्रद्धाशीलता शब्दों में साकार हो उठती हैं। लोक-गीतात्मक परिवेश की विशालता और गंभीरता है शैलेश मटियानी के रमौलिया में। वह एक सनातन कथा-गायक है। कथाकार का परम आत्मीय है। वह चम्पावत के बफौलवंशी शूरों की गाथाएं गाता है। उनसे सम्बन्धित मल्लों की कहानी को जीवन्त भाषा, सारस्वत मुखरता प्रदान करता है। उसके 'कथा ठाकुर' और 'कथा लाड़ले' के रूप में पाठक उसके भाषागत सौन्दर्य पर अभिभूत हो उठते हैं![3] लोकगाथा (वीर गाथा) की परम्परा कथाकार की वंश-परम्परा से सम्बद्ध है। अतः कथागत आन्तरिकता में सघनता और आत्मीयता मिलती है।[4]

विशेष लोकगीत

त्योहार, ब्याह और ऋतु आदि पर आधारित लोकगीतों के अतिरिक्त

---

१. **'परती : परिकथा', पृ० २७०।**
२. **वही, पृ० ३३६।**
३. **'मुख सरोवर के हंस', पृ० २०६।**
४. **वही, (भूमिका)।**

इसका गाँवों में प्रख्यात उपजीव्य ग्रन्थ रामायण है। कवि की मुख्य रचना के अतिरिक्त उसकी घटना को अपनी भाषा में गाते हैं, संकीर्तन में चुन देते हैं और पर्याप्त रसात्मकता के साथ गायन को विविध वाजन में प्रस्तुत करते हैं। रामायण ग्राम-संस्कृति का शीर्ष-गीत है। दरवाजे पर महाभारत और आल्हा तो कभी-कभी पर रामायण सदा गाते-बाँचते हैं।[1] कहा जाता है कि इससे गाँव का वातावरण शान्त रहता है। गाँव की आधुनिक अशांति और रामायण-गायन की समाप्ति में लगता है कि कोई गहरा सम्बन्ध है।[2] शिक्षित लोग इससे कतरा रहे हैं। बौद्धिकता की बाढ़ में भावात्मकता का यह हरितांचल डूब गया है। अविकसित आदिवासी क्षेत्रों में जहाँ बुद्धिवाद का विकास नहीं है अभी इन लोकगीतों की संभावात्मकता सुरक्षित है। आदिवासियों का जातीय हरपू-गीत और रसिया बंजारी को ऐसा प्रभावित करता है कि क्रिश्चियानिटी की समस्त आधुनिकता का माया-जाल छिन्न-भिन्न कर भाग खड़ी होती है।[3] किन्तु परम्परावश अभिजात-कुल अभिमानी नारियाँ अब तो लोकगीतों के लिए किराये पर भी गाने वालियों को बुलाने लगी हैं! लोकगीतों में गालियों का भी एक क्षेत्र है जिसमें एक अतिरिक्त रसात्मकता और आत्मीयतापूर्ण अनुरंजन-शीलता है। आधा-गाँव में इसकी एक झाँकी प्राप्त की जा सकती है।[4] साथ ही द्वार-पूजा के एक परंपरित गीत की भी स्वाद-सुषमा मन पर उतारी जा सकती है।[5] बलभद्र ठाकुर ने नेपाल-क्षेत्र के कालीमाई के गीत भी एक आकर्षक प्रसंग में कुशलता के साथ प्रस्तुत किए हैं।[6] किन्तु सबसे विचित्र लोकगीत मिला 'गणदेवता' में। यह गीत नहीं वास्तविक जीवनगाथा है, कोई वायवी अतीत नहीं, सजीव वर्तमान है परन्तु निश्चित रूप से लोकगीत के क्षेत्र में आता है। चैत के महीने में घण्टाकर्ण की पूजा के अवसर पर जहाँ 'घेंटू-गान' सुनने के लिए भीड़ लग जाती है वहाँ लगता है कि रोजी-रोटी की मार ने महफिल को

---

१. 'रीछ', पृ० ४६।
२. वही, पृ० २७७।
३. 'सूरज किरन की छाँव', पृ० ११५।
४. 'आधा गाँव', पृ० १९९।
५. वही, पृ० १९९।
६. 'नेपाल की वो बेटी', पृ० ५६।

उखाड़ दिया है। फिर भी लोग जुटते हैं और गाते हैं। गाना क्या है मुख्य रूप से देवू गुरु जी के क्रांति की गाथा है और गाँव की अन्य घटनाओं का भी चित्रण है।[1]

लोकगीतों में उतार

किन्तु अन्ततः यह युग लोकगीतों के उतार का है। लोकगीत मर रहे हैं। दुर्भाग्य है कि उनके मृत हो जाने के बाद बौद्धिक-जगत् का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ है। किन्तु अब पछताये होत क्या ? रेणु का पंचकौड़ी मिरदंगिया पछता रहा है। पुराने 'रसपिरिया' के गायक अब उपेक्षित हैं। विदापत गाने वालों की कोई पूछ नहीं है ! कला-सौन्दर्य का स्रोत ही सूख गया ! मिरदंगिया गाँव का अन्तिम कलाकार है जो 'रसपिरिया' गाने के लिए उत्तराधिकारी खोज रहा है पर क्या उसके सपने साकार होंगे ? पढ़ने पर प्रश्न उठकर रह जाता है।[2] यही कचोट लक्ष्मीनारायण लाल के 'हरिदास' को है।[3] वह ध्रुपद-ख्याल का कुशल कलाकार है। गायन-साधना उसने एक देशी रियासत में की थी परन्तु स्वतन्त्रता के बाद उसके विलय से उसे आघात लगा। गाँव में आया और उखड़ गया। 'फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ गँवई गाँव गुलाब ! की स्थिति हो गई।

इस प्रकार स्पष्ट है कि लोकगीताश्रित ग्रामात्मा की सुगन्ध से स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य का महत्त्वपूर्ण आंचलिक कथा-क्षेत्र महमहाता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। इसकी मूल्यवान उपलब्धियाँ उसे परम्परा से संपृक्त करती हैं। भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी शिव और सुन्दर है वह इन लोकगीतों के माध्यम से सहज ही अभिव्यक्त हो जाता है। अतः इन्हें कथा-साहित्य में नियोजित कर कथाकार एक महती सांस्कृतिक प्रक्रिया को पुनरुज्जीवित करते हैं। आंचलिक-कथा-कृतियों में लोकगीतों का सौन्दर्य एक अतिरिक्त निखार पैदा करता है और जीवन की सहजता की संवेदना उभार कर बौद्धिकता के इस अतिरेक-युग में मानवीयता के प्रति जगाता है।

---

१. 'गणदेवता', पृ० १६० से १६३ तक।
२. रेणु की कहानी 'रसप्रिया' 'ठुमरी' में संकलित।
३. लक्ष्मीनारायण लाल की कहानी 'सफेद हाथी' का पात्र (कथा संग्रह 'सूने आँगन रस बरसै' में संकलित)।

११—लोककथा

लोककथा एक सशक्त विधा है, बल्कि कथा की आदिम-विधा है। आधुनिक कथा-साहित्य यद्यपि इसे छोड़कर बहुत दूर निकला आता है तथापि बुद्धिवाद, सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्मुख जटिलता और मनोवैज्ञानिक तनाव आदि की कड़वाहट के रेचन के लिए आधुनिक कथा-साहित्य में कथाकार आंचलिकता की प्रवृत्ति का पल्ला पकड़ता है और लोक-संस्कृति, मुख्यतः लोकगीत और लोककथाएँ इस कार्य में उसके सहयोगी उपकरण सिद्ध होती हैं।

इस सम्बन्ध में राजेन्द्र यादव ने लिखा है : 'कभी-कभी होता क्या है कि साहित्य का कोई युग खुद ही एक अजब सा खालीपन, एक निर्जीव पुनरावृत्ति और सब मिलाकर एक निरर्थक अस्तित्व का बासीपन महसूस करने लगता है। सब कुछ तब बहुत ही सतही और छिछला लगता है। उस समय उसे जीवन और प्रेरणा देने वाली दो शक्तियों की ओर निगाह जाती है, एक लोक-साहित्य और लोक-साहित्य की प्रेरणायें और दूसरी विदेशी साहित्य की स्वस्थ उपलब्धियाँ।'[1]

सन् १९५० के बाद वाले हिन्दी-कथा-साहित्य में आई ग्रामजीवन और आंचलिक इकाइयों की ओर तीव्र झुकाव की प्रवृत्ति में राजेन्द्र यादव द्वारा स्थापित स्थितियाँ ही हैं, ऐसा तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता परन्तु लोक-साहित्य की बलवती प्रेरणा एक ज्वलन्त सत्य है। इसमें लोकगीतों का दायभाग कुछ अधिक है और लोककथाओं का कुछ कम। तो भी, लोककथाओं की भूमिका ग्रामजीवन के जिस सांस्कृतिक आयाम का उद्‌घाटन करती है वह एक उपलब्धि है। लोकगीतों की स्पिरिट में ही उपन्यास नहीं लिखे गये, लोक-कथाओं की मुद्रा और भंगिमाओं को भी सफलता से उपन्यस्त किया गया।

लोककथात्मक उपन्यास

हिन्दी के लोककथात्मक उपन्यासों में देशकाल निरपेक्ष, अन्तरमुख, एकरस सनातन गाँवों की सांस्कृतिक छवि अत्यन्त सजीवता के साथ अंकित हुई है। शैलेश मटियानी का उपन्यास 'मुख सरोवर के हंस' तो विशुद्ध लोकगाथा परक आंचलिक उपन्यास है। इसमें कुमायूँ की राजधानी गढ़ी

---

१. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना', पृ० १३२।

चम्पावत नगरी की अन्तिम रूपगर्विता रानी रूपाली का चरित्रांकन है। राजा कालीचन्द जैसे पति के रहते वह कामासक्त होकर बफौलों के पास जाती है। वे माता की बोली बोलकर उसका सत्कार करने को उद्यत हैं। और इधर वह उनका सर्वनाश करने की प्रतिज्ञा कर बैठती है। कुमाऊं की प्रसिद्ध लोक-कथा अजित बफौले के ऊपर यह आधारित है। 'खेतों को गोड़ने-निराने के सामूहिक श्रमपर्व पर यह कथा 'हुड़किया बौल' में भी गाई जाती है। 'शैलेश मटियानी पर्वतीय ग्रामछवि के चित्रकार हैं। मैदानी प्रदेशों के गाँवों की अपेक्षा पहाड़ी गाँवों में जीवन का भोलापन अभी अधिक सुरक्षित है। आधुनिकता का विकास और चौकन्नी भौतिकवादी सभ्यता का जटिल जाल भी वहाँ वैसा नहीं है। वहाँ का ग्रामजीवन प्राकृतिक जीवन है। देवताओं, मान्यताओं और निष्ठाओं की सुरक्षित गोद में किसी प्राचीन पौराणिक युग के अवरुद्ध धर्मभाव के स्तर पर जीते ये गाँववासी प्रकृत्या लोक-कथा के पात्र हैं। यही कारण है कि इनके जीवनांकन के एकमात्र प्रामाणिक कथा-महारथी शैलेश मटियानी की अन्य औपन्यासिक कृतियाँ जो पर्वतांचल के जन-जीवन को चित्रित करती हैं लोक-कथात्मकता से आमूलचूल पूरित हैं। देवकी[२], रमौती[३] और खिमुली-भिमुली भौजाइयाँ[४] आदि प्राचीन लोक-कथा की पात्रियों से कम आदिम भावुकता और सनातन सहजता-सम्पन्न नहीं हैं।

मधुकर गंगाधर का उपन्यास 'सुबह होने तक'[५] भी एक लोककथात्मक उपन्यास है जिसमें कोसी के जलप्लावन की भूमि पर लछिमी और पीताम्बर की प्रेमकथा देशकाल निरपेक्ष सनातन मानवीय मूल्यों को पुरस्कृत करती है और जो सहज ग्रामजीवन खुलता है वह अगणित सत्यानाशी आपदाओं के होते भी कहीं से टूटा नहीं है। प्रगतिवादी दृष्टिकोण से बिहार के ग्रामांचल विशेष के वर्षा-बाढ़ से लेकर भूकम्प-क्रान्ति तक के चित्रों को प्रस्तुत करने वाले नागा-

---

१. मुख्य रूप से 'हौलदार', 'चौथी मुट्ठी', 'एक मूठ सरसों' और 'चिट्ठी-रसैन'।

२. 'एक मूठ सरसों' की एक पात्री।

३. 'चिट्ठी रसैन' की एक पात्री।

४. 'हौलदार' की पात्रियाँ।

५. 'कल्पना', मई १९६९ में प्रकाशित लघु उपन्यास।

र्जुन के उपन्यास 'बाबा बटेसर नाथ' को भी डा० प्रतापनारायण टंडन लोक-कथात्मक उपन्यासों की कोटि में रखते हैं।[१] ग्राम जीवन का जो सर्वोत्तम भाव लोककथाओं में व्यक्त होता है वही इस कृति में भी है। वृक्ष, पशु-पक्षी और नदियाँ आदि मनुष्य के योग-क्षेम से अविकल भाव से जुड़ी हुई हैं और इनके द्वारा लोक-कथाओं में आपत्ति-काल आने पर जिस ढंग से पथ निर्देशन होता है, रहस्योद्घाटन होता है, उसी पद्धति पर यहाँ आलोच्य कृति में रूपउली गाँव प्राचीन वटवृक्ष जैकिसुन से सम्पूर्ण गाँव के उत्थान पतन का इतिहास सुनाता है। 'दो अकालगढ़' और 'कोहबर की शर्त' में आंशिक रूप से लोककथात्म-कता की प्रवृत्तिगत लपेट में क्रमशः पंजाब और पूर्वी उत्तर प्रदेश का ग्राम-जीवन मूर्तिमान हुआ है।

लोककथात्मक कहानियाँ

उक्त उपन्यासों की भाँति कुछ ग्रामगंधी हिन्दी-कहानियों की बुनावट में भी लोककथात्मक ताने-बाने का उपयोग किया गया है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'बरगद का पेड़'[२] कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया'[३] में दोहरी बुनावट है और एक प्रस्तुत कथा के समान्तर अप्रस्तुत लोककथा चलती है जिससे ग्रामजीवन के उभड़ने वाले नये और पुराने आयाम में एक सामंजस्य-संतुलन आता है।

कुछ कहानियों में लोककथा की स्थिति बहुत स्पष्ट न होकर मात्र छौंक की है और इतने से भी उनकी प्रभावक-स्थिति तीव्र हो जाती है। 'हिरना की आँखें',[४] 'अरुन्धती',[५] 'सियार पूजा'[६] और ऐसी कहानियाँ हैं। इनमें ग्रामजीवन का अन्तर्वर्ती रागत्व भरा हुआ है और प्राचीन धार्मिक एवम् नैतिक मूल्यों की पुष्टि हो जाती है। अनास्था और उखड़न में ग्राम-जीवन को ये लोकतत्त्व बहुत बल प्रदान करते हैं।

---

१. हिन्दी उपन्यास कला, पृ० २८६।
२. 'आर-पार की माला' में संकलित।
३. 'राजा निरबंसिया', में संकलित।
४. मधुकर गंगाधर के इसी शीर्षक के कथा-संग्रह में संकलित।
५. शिवप्रसाद सिंह के 'मुरदा-सराय' में संकलित।
६. लक्ष्मीनारायण लाल के 'सूने आँगन रस बरसै' में संकलित।

इतना होते हुए भी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कथा-साहित्य में लोककथाओं के माध्यम से ग्राम-जीवन को नयी परिवर्तित स्थिति में उजागर करने का कोई प्रयास नहीं है। 'रेणु' के 'सुन्नरिनैका' कथा-गीत[1] में ग्राम जीवन को विपन्न बनाने वाली अकाल-अवर्षण की स्थिति का युक्तिपूर्वक सामना करने का संकेत है और सम्पूर्ण उपन्यास की निष्पत्तियों का सशक्त प्रतीक है। किन्तु लोक-कथा का कोई अन्य सीधा सशक्त प्रयोग नहीं दृष्टिगोचर होता है। वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास 'उदयकिरण' में एक लोककथात्मक संस्पर्श पौराणिकता की छौंक के साथ संयुक्त कर इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि उससे नये भूमि-सुधार और कृषि-विकास का प्रबल समर्थन हो जाता है।[2] ताराशंकर वंद्योपाध्याय के उपन्यास 'गणदेवता' में जहाँ बंगदेश की ग्रामभूमि स्पृश्यास्पृश्य भावना की घनीभूत प्रवंचना में जकड़ी है वहाँ देवू पंडित को न्यायरत्न महाराज एक ऐसी लोक-कथा सुनाते हैं जिसमें अछूतोद्धार की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है।[3] पहली लोककथा में गाँव के किसान इन्द्र महाराज की सलाह पर खाद-पानी में प्रवृत्त होते हैं और दूसरी लोककथा के अनुसार शालिग्राम की पवित्र दैवी शिला जगत् में अपने लिए सर्वाधिक सुन्दर-सन्तोषजनक स्थान मछेरिन की मछली भरी टोकरी को ही सिद्ध कर देती है। ताराशंकर वन्द्योपाध्याय में ग्राम-जीवन की गहरी पैठ है। लोककथा के ही समानान्तर उन्होंने पर्व-कथाओं का भी उद्घाटन किया है। पूस पूर्व की कथा का उन्होंने विधिवत् आलेखन किया है, 'पुराने युग में एक बालक चरवाहा था......।'[4] यह पर्व-कथा लक्ष्मी-पूजन की प्रवृत्ति को कृषि-जीवन के बीच प्रतिष्ठित करती है। ऐसे ही एक टेसू-पर्व के वर्णन क्रम में राजेन्द्र अवस्थी उनकी लोक-कथा को उद्धृत करते हैं, 'किसी गाँव में एक मनचला सैलानी छैल-छबीला लड़का रहता था।'[5] और ग्राम-जीवन का एक परम्परित मर्म खुलता है।

लोक-कथाओं का कहानियों-उपन्यासों में मिश्रण अथवा छौंक हो चाहे

---

१. परती : परिकथा पृ० १८७।
२. 'उदयकिरण', पृ० १२३।
३. 'गणदेवता', पृ० २८१ से २८५।
४. वही, पृ० १२६।
५. 'जाने कितनी आँखें', पृ० १६६।

व्रत-कथा व पर्व-कथा आदि के रूप में उद्घाटन हो, इस विवेचन से इतना स्पष्ट है कि चूँकि ग्राम-जीवन की वास्तविकता और उसके मर्म की सटीक व्याख्या सहज रूप में इस प्रयोग से होती है अतः कथाकारों ने इसका उपयोग किया है। इतना अवश्य है कि लोकगीतों की भाँति कथाकाश में लोककथाओं की उड़ान सीधे नहीं हो पाई है। आंचलिकता एक शैली है जिसमें लोकगीतों के प्रयोग से एक चमक आ जाती है। किन्तु 'लोककथा' स्वयं एक शैली है। और दो शैलियों का एकत्र प्रयोग कठिन है। फिर भी अवकाश के अनुरूप कथाकारों ने जिस रूप में इसका उपयोग किया है उससे ग्रामजीवनांकन की सुकरता बढ़ गई है। लोककथाओं में धर्म है, ईश्वर है, नैतिकता है और फलाफल बोध है। इनमें प्राचीन विखंडित मूल्यों की प्रत्यावर्तित अथवा पुनरारोपित स्थिति प्रेरक नहीं अनुरंजक होकर भी कथाओं में यदि आती है तो उसका मूल्य है।

१२—रामलीला

ग्रामीणों के सांस्कृतिक मनोरंजन रामलीला का हिन्दी कथा-साहित्य में सर्वाधिक शैलेश मटियानी के आंचलिक साहित्य में चित्रित होना एक विशेष अर्थ रखता है। मटियानी ने पहाड़ी गाँवों का चित्रण किया है जहाँ आधुनिकता का बुद्धिवादी प्रसार अपेक्षाकृत बहुत न्यून है। पहाड़ी-हृदय में भावुकता सुरक्षित है और रामलीला का श्रद्धापूर्वक आयोजन हो जाता है। शैलेश मटियानी के कहानी संग्रह 'मेरी तैंतीस कहानियाँ' में दो कहानियाँ 'दशरथ' और 'बाली-सुग्रीव' रामलीला पर आधारित हैं। 'दशरथ' शीर्षक कहानी में डूंगरी-ऊडलगों गाँव के लीलार्थी लोगों की भाषा में स्वयमेव साधुता सनी मिठास आ गई है। गाँव में रामलीला कमेटी है जो उपयुक्त लोगों का चयन करती है। चयन सर्वसम्मति से होता है। पंचायत आदि चुनावों का गाँव की एकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। कमेटी साधोसिंह सिराड़ी को पहले तो कमेटी का सभापति चुनौती है। वह रामलीला के लिए कार्तिक में अपनी भूमि खाली करके दे देता है। दूसरी बार उसे दशरथ का अभिनय करने के लिए चुना जाता है तो वह इतना प्रसन्न होता है कि आश्विन में ही भूमि लीला के लिए दे देता है। उसमें ऐसी घनी भावात्मकता है कि दशरथ का अभिनय करते-करते वास्तविक पुत्र-शोक की अनुभूतियों में डूबकर इस संसार से चल बसता

है। दूसरी कहानी 'बाली-सुग्रीव' में अवश्य ही परम्परित श्रद्धा का आंशिक अवमूल्यन दृष्टिगोचर होता है। लीला में आधुनिकता आने लगी है और पूज्य या श्रद्धाभाव के साथ उसका 'धार्मिक' रूप स्खलित होने लगा है। फिर भी रामलीला के प्रति विशाल जन-रुचि में कोई अन्तर नहीं आया है। लीला-स्वाद के लिए पहाड़ी गाँव लालायित हैं। उनकी विनोदप्रियता, भावुकता, क्रीड़ाशीलता, मुक्तमनता और सरलता आदि का प्रकाशन रामलीला के सन्दर्भ में दृष्टिगोचर होता है। शैलेश मटियानी के उपन्यास 'हौलदार' में रामलीला के प्रसंग उभरे हैं। उसमें अभिनय करने के लिए लोग उत्सुक हैं और समूची व्यवस्था निर्मित होती है। एक जयदत्त जी पोस्टमास्टर हैं जो परशुराम का अभिनय करने के लिए उत्कट अभिलाषा व्यक्त कर रहे हैं।

रामलीला के चित्रण-संदर्भ में मैदानी और पहाड़ी गाँवों का जो प्रकृतिगत अन्तर स्पष्ट होता है वह आश्चर्यजनक है। मैदानी गाँवों की एकता खंडित हो चुकी है और सार्वजनिक कार्यों में बहुत कठिनाई पड़ती दीख रही है। गाँव पार्टीबन्दी के दलदल में फँसे हैं। एक दल यदि रामलीला का शुभारम्भ करता है तो दूसरा दल विरोध करता है। प्रायः गाँवों की रामलीलायें टूट गई। जहाँ कहीं गाँवों में चल रही हैं वहाँ धर्मबुद्धि अथवा सांस्कृतिक प्रभाव नहीं है। या तो परम्परा पालन मात्र है या विशुद्ध रूप से नाच-गाने का आधुनिक आनन्द उठाने का एक प्राचीन साधन है। उसमें अभिनय करने के लिए कोई ग्रामीण प्रस्तुत नहीं है। गाँवों की पुरानी पीढ़ी जहाँ अभी जागरूक है, कर्त्तव्य निभा रही है वहाँ नयी पीढ़ी उसके कम से कम समालोचक रूप में और अधिक से अधिक बाधक-विध्वंसक रूप में अपने को प्रस्तुत कर रही है।

रामलीला और नये गाँव

रामदरश मिश्र ने 'जल टूटता हुआ' में रामलीला का जो चित्रण किया है वह मैदान के गाँवों की रामलीला का प्रतिनिधि स्वरूप है।[1] कहीं कोई आन्तरिक उल्लास नहीं है। चतुर्दिक उदास बिखराव है। राम-लक्ष्मण में आकर्षण नहीं रह गया है। शहर में पढ़ने वाले गाँव के लड़के लीला को बहुत उपेक्षित दृष्टि से देखते हैं। रामलीला देखने से अधिक वे पैंट बुशर्ट में रंगीन

---

१. 'जल टूटता हुआ', पृ० १२१ से १२३ तक।

चश्मा लगाये लड़कियों का पीछा करते हैं। गाँव-गाँव के गुंडे एकत्र होते हैं और अश्लीलता पग-पग पर दिखाई पड़ती है। राजनीतिक पार्टी वाले अपना प्रचार-जाल पृथक् फैलाये हैं।[1]

रामदरश मिश्र ने रामलीला में स्वातंत्र्योत्तर प्रभावक शक्तियों को सक्रिय दिखाया है। 'इस इलाके का शातिर और गरजनवा पासी रावण बना है।.........अभी रावण का पुतला जलेगा।.........लंका विजय के लिए इतने सारे वानर पूँछ खोंसे हुए, चेहरा लगाये हुए लड़ाई लड़ रहे हैं।... रावण के मरने के बाद अपने नकली चेहरों में दूकान-दूकान से लाई, गट्टा बताशा, साग-सब्जी वसूल करेंगे!.........आज भी नेताओं की यह वसूली जारी है!'[2] लंका-विजय के बाद के वानरों का यह चरित्र-चित्र दिल्ली-विजय के बाद के नेताओं का प्रतीक-चित्र है। आज का ग्रामांचल इन नेताओं से आक्रान्त है, नेता-संकट झेल रहा है, टूट रहा है, बिखर रहा है, उसकी रामलीला टूटकर बिखर रही है और चतुर्दिक एक व्यापक सांस्कृतिक उतार तीव्रता पर है। रगड़े-झगड़े हैं, शोषण हैं, एक ओर असली 'सोने की लूट' है और दूसरी ओर भोले-भाले ग्रामीण रामलीला में नकली 'सोने की लूट' में प्रवृत्त हैं।

लेखक की कहानी 'सोने की लूट' में गाँव में रामलीला के पीछे चलती गाँव की उजड़न की एक और 'रामलीला' को देखा गया है। जहाँ 'राम राज्य दूर है। श्रमिक-देवता खून देकर क्षीण-प्राण हो रहे हैं। पूरी दुनिया लंका हो गई है।' कहा जाता है कि लंका सोने की नगरी रही। अतः रावण के विनाश के बाद लीला-भूमि में जहाँ उसका पुतला जलाया जाता है ग्रामीण दौड़ते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, उस स्थान की मिट्टी अर्थात् सोना लूटने के लिए। रामलीला इस तथ्य का साक्षी है कि भारत के ग्रामीण किसान सोने के स्थान पर माटी की लूट में उलझे हैं। रामलीला के स्थान पर गाँव के विनाश की लीला नधी है। लंका नहीं गाँव जल रहे हैं। लेखक की एक कहानी 'रामलीला'[3] में यही होता है।

---

१. 'जल टूटता हुआ', पृ० १२२।
२. वही, पृ० १२३।
३. 'आज' १५ जून सन् १९५८ में प्रकाशित।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ग्राम-जीवन के श्रद्धाजीवी पक्ष के ह्रास के साथ धर्मबुद्धि आश्रित रामलीला का भी प्रेरक और स्वस्थ अनुरंजक रूप लुप्त हो गया है। चतुर्दिक व्यवसायात्मिका बुद्धि का लीला-विलास अधकचरे राजनीतिक प्रभावों के साथ संयुक्त मोर्चे के रूप में गाँव के सांस्कृतिक-समारोहों के विरुद्ध डटा है। सांस्कृतिक भोले भाव गंगा-यमुनांचल से पलायित होकर गिरि-गुहा-कन्दरा में, पर्वत-पुत्रों की शरण में रामलीलादि समेटे कब तक सुरक्षित रहेंगे, यह अगले दशक का हिन्दी कथा-साहित्य शायद बता सकेगा।

१३—स्वातंत्र्योत्तर 'सांस्कृतिक समारोह'

स्वतंत्रता के बाद 'सांस्कृतिक समारोह' बहुत प्रचारित हुए हैं। इनका क्षेत्र स्कूल-कालेज अथवा सरकारी-अर्द्धसरकारी, कुछ समय तक सूचना-विभाग द्वारा आयोजित-संचालित उत्सव रहे हैं और मुख्यतः लोक-गीत और लोक-नृत्य को पुरस्कृत प्रोत्साहित किया गया। नेतृवृन्द के आगमन अथवा स्वागत-सम्मान में, विशेष रूप से जिला स्तर, प्रान्तीय स्तर से लेकर दिल्ली स्तर की सांस्कृतिक-समारोह-श्रेणियाँ हैं। इनका गठन-स्वरूप ऐसा है जैसे नागरिक लोगों के मनोरंजन के लिए गाँवों में गाये जाने वाले गीत आदि प्रस्तुत किये जा रहे हैं और बौद्धिकता-सम्पन्न लोग अबौद्धिक-भावुकता के सम्पर्क में निर्भार होने का सुयोग लाभ कर रहे हैं। इस कार्य में राजनीतिक स्वार्थ-सिद्धि भी है और वह तब खुलती है जब विरहा, कजरी, आल्हा और सोहर आदि में पंच-वर्षीय योजनाओं की सफलतायें गाई जाती हैं। नये सांस्कृतिक-समारोहों के रूप में ग्राम-भावना को कोई प्रतिष्ठा नहीं मिली है, यद्यपि मिलनी चाहिए थी, क्योंकि ये सांस्कृतिक समारोह स्वयं में कोई लक्ष्य नहीं होते हैं। वे किसी लक्ष्य विशेष की पूर्ति-क्रम में मात्र एक पूरक मनोरंजन होते हैं। स्वतंत्रता के बाद सरकार से अत्यधिक आशान्वित जन-रुचि मोहभंग हो जाने प्रर अरुचि, उदासीनता, निराशा और विक्षोभ की ऐसी कड़वाहट में फँसी कि सरकारी सम्बन्ध से इन 'सांस्कृतिक समारोहों' के प्रति भी लोग वितृष्ण हो गये। ये समारोह न होकर सांस्कृतिक शोषण प्रतीत होने लगे। इन समारोहों का प्रवेश गाँवों में भी हुआ परन्तु मौलिक सांस्कृतिक क्षेत्र में यह कृत्रिम उत्सवी मुद्रा उखड़ गई। जब चलचित्र प्रदर्शन और पुत्तलिका-नृत्य को भी इससे जोड़ा

गया तो नवीनता के कारण अवश्य ही ग्रामीणों का आकर्षण बढ़ा। अब कवि-सम्मेलन, मुशायरा, कौवाली और विरहा-कजरी के दंगल भी इस समारोह-क्षेत्र में आ गये। भजन-मंडलियाँ और सरकारी रेडियो, नाटक मंडलियाँ भी इसी में सम्मिलित हैं। परन्तु सब मिलाकर कहीं से कोई प्रेरक मूल्यवान उपलब्धि इस सन्दर्भ में नहीं दृष्टिगोचर हो रही है। एक व्यापक सांस्कृतिक अवमूल्यन को रोकनेवाले ये समारोह स्वयं उस उतार को और तीव्र बनाने वाले सिद्ध हो जाते हैं।

सरकारी समारोह

हिन्दी कथा-साहित्य में इन सांस्कृतिक-समारोहों एवम् सांस्कृतिक क्रान्तियों का बहुत व्यापक तो नहीं किन्तु एक सामान्य प्रवृत्ति-निदर्शक चित्रण दृष्टिगोचर होता है। सरकारी तंत्र द्वारा संचालित और आयोजित एक परिनिष्ठित 'सांस्कृतिक समारोह' का व्यापक चित्रण राजेन्द्र अवस्थी ने 'सूरज किरन ही छाँव' में किया है।[1] यह समारोह चित्रकूट में नेहरू जी के आगमन पर आयोजन है। आदिवासियों के गीत-नृत्य मुख्य कार्यक्रम हैं। जब वे गाते हैं—

'नरवा बहाये, सोने गंगा नहाये,
होय तौर ना ना जवाहिर लाल!'

तो समूचा आयोजन नेहरू-प्रचार जैसा लगता है। सिर पर सींग, कौड़ियों की माला, विचित्र वेशी आदिवासी डा डिग्गा, डिग्ग, डिग्गा के ताल पर नाचते हैं तो समाँ बँध जाता है। बैगाओं का नाच, मुंडाओं का गीत, बस्तर के मड़िया लोग, ढंढार नृत्य-गीत, चावरी, डमकट, उमेड, सटको, डन्डा, दरदरी, सब चल रहा है। मांदर, ढोल, टिमको, मृदंग और मंजीर की गूँज सुनाई पड़ती है। प्रथम पुरस्कार वाले गोंड़ टोली के विजेता से नेहरू जी मिलते हैं। यह है एक सांस्कृतिक समारोह!

उक्त सांस्कृतिक-समारोह में प्रशिक्षित आदिवासियों का उपयोग है परन्तु जयसिंह के उपन्यास 'कलावे' में एक मंत्री के आगमन पर चोटी के नेताओं के अनुकरण पर सांस्कृतिक-समारोहों का परम्परित आदिवासी-नृत्य आयोजित

---

१. 'सूरज किरन की छाँव', पृ० १२५ से १४२ तक।

तो होता है और उन्हें एकत्र भी कर लिया जाता है। परन्तु उनके सर्वथा अप्रशिक्षित होने के कारण समारोह बिगड़ने लगता है। आदिवासी कलावे नाच नहीं जानते। तब उन्हें ऐसे ही खड़े होकर कूदने-फाँदने, पैंतरे भरने, ढोल बजाने, किटकिटाने और हो-हल्ला करने के लिए कहा जाता है। वही होता है। उनकी इस निम्नकोटि की मूर्खता से बुद्धिवादी सभ्य लोगों का उच्च-कोटि का मनोरंजन होता है। फोटो खींचा जाता है। आदिवासियों में बर-मुंडे, मेगिये, भील और बागरी आदि हैं। उन्हें हटाकर एक अन्यन्त गंदी जगह पर बैठा दिया जाता है और पारितोषिक रूप में सस्ती शराब दी जाती है।[1]

शानी के उपन्यास 'कस्तूरी' में बस्तर के आदिवासी क्षेत्र के सांस्कृतिक कार्यक्रम की चर्चा है। निस्सन्देह ग्रामीण विद्यालयों में चलने वाले इस कार्य-क्रम की उपयोगिता संदिग्ध है। आरोपित होकर यह कार्यक्रम 'सांस्कृतिक समारोह' के स्थान पर वैकृतिक समारोह हो जाता है। कथाकार की स्थापना से सहमत होना पड़ता है कि 'छोटे-छोटे बच्चे आदिवासी गीत और नृत्य पेश कर रहे हैं और उनकी आड़ में नौजवान मास्टरनियाँ अपना प्रदर्शन कर रही हैं।...आदिम संस्कृति और लोकगीत के नाम पर ऐसा फूहड़ वातावरण देते-देते क्या हम अपने बच्चों को आदिम बनाने की सीख नहीं दे रहे हैं ?'[2]

सांस्कृतिक दृष्टि का ह्रास

अमरकान्त की 'ग्रामसेविका' गाँव में सांस्कृतिक-क्रान्ति के लिये गिड़-गिड़ाती है[3] परन्तु उसने अपने को शिक्षा-क्षेत्र तक ही सीमित रखा है। इसी-लिए स्कूल के वार्षिकोत्सव पर आशावादी उभार दृष्टिगोचर होता है।[4] वह एक गरीब-अशिक्षित गाँव में नये-नये स्कूल-स्थापना का संदर्भ है। किन्तु रेणु के समृद्ध-शिक्षित गाँव परानपुर में विघटन का उलटा क्रम है। वहाँ स्वातंत्र्यो-त्तर नवोत्थान विमुखता की मुद्रा है। 'परती : परिकथा' में पंचायती रेडियो आदि विषयक सांस्कृतिक विघटन का एक चित्र इस प्रकार उभरता है—

१. 'कलावे', पृ० १५६-१५७।
२. 'कस्तूरी', पृ० ४२।
३. 'ग्रामसेविका', पृ० १५।
४. वही, पृ० १४४।

'छित्तन बाबू ने पुस्तकालय हथिया लिया। विकू बाबू रेडियो बजाते हैं अपनी कोठी में। पर्दा-पोशाक पर 'दलित-नाटक-मंडली' का कब्जा होना जायत है। देखना है कौन माँगने आता है पर्दा-पोशाक ?'[1] रेणु के इस चित्र से स्पष्ट है गाँव में आज सहकार और जनभावना नहीं है। व्यक्तिगत स्वार्थपरता का उभार है। ऐसी स्थिति में सांस्कृतिक रुचि सम्वर्धनार्थ जो भी सरकारी प्रयत्न होते हैं उनके उद्देश्य सिद्ध नहीं होते हैं। यही दशा कठपुतली नाच, चलचित्र-प्रदर्शन और कवि-सम्मेलन की है। गाँवों में इनसे मनोरंजन होता है परन्तु जब इन सांस्कृतिक-मनोरंजन स्रोतों में किसी सरकारी प्रचार अथवा राजनीतिक मिश्रण की आहट मिलती है तो ग्राम-रुचि को धक्का लगता है। संस्कृति में राजनीतिक घुसपैठ गाँव झेल नहीं पाता। लेखक की कहानी 'सीवान का कोल्हू'[2] में कठपुतली नाच तो बहुत आकर्षक है परन्तु उसमें श्रमदान और अल्पबचत योजना का प्रचार विरसता भर देता है। इसी प्रकार 'चौबे जी का चमत्कार' शीर्षक कहानी में सूचना-विभाग की ओर से चलचित्र प्रदर्शन है तो 'कवि सम्मेलन' में नगर के कवि ग्रामांचल को पवित्र कर रहे हैं। एक कड़वी विसंगति आरम्भ में इस सांस्कृतिक समारोह को छू देती है कि क्षेत्रीय एम० एल० ए० को संयोजक लोग क० स० का सभापति बना देते हैं जब कि वे कवि तो क्या सामान्य पढ़े-लिखे आदमी भी नहीं हैं और पूरे समय तक श्रोताओं का मन एक विरोधी प्रभाव से आक्रान्त रहता है। रेणु की कहानी 'अतिथि सत्कार'[3] में गाँव में आयोजित सांस्कृतिक समारोह का और विचित्र अनुभव है। 'तोच्छ' संस्था की ओर से यह आयोजन है। श्रावयिता को प्रधान अतिथि बनाकर गाँव में बुलाया जाता है। तोतापुर गाँव का प्रथम अक्षर 'तो' और संस्थापक लच्छी बाबू के नाम का 'च्छ' शब्द मिलकर इस संस्था का नामकरण हुआ है। लच्छीबाबू गाँव के संस्कृतिजीवी व्यक्ति हैं। कुश्ती-दंगल से लेकर कवि-दरबार तक का आयोजन है। गाँव स्टेशन से १५-२० मील दूर है। भैंसागाड़ी पर स्वागत मंत्री आदि आते हैं। परन्तु उन्हें अतिथि की चिन्ता नहीं। वे किसी बाजाचोर की खोज में हैं। तबतक प्रधान-अतिथि

१. 'परती : परिकथा', पृ० ३१५।
२. 'आज' ८ फरवरी, सन् १९६१ में प्रकाशित।
३. 'आदिम रात्रि की महक' में संकलित।

महोदय मिल जाते हैं । बड़ी फजीहत होती है । लाठी तक तन जाती है । गाँव की मूर्खता और उसका पिछड़ापन साकार हो उठता है । आधुनिक संस्था-जीवी और संस्कृति-व्यवसायी लोग गाँवों में भी पनपने लगे हैं । नगर में जो संघर्ष बौद्धिक स्तर पर होता है वही यहाँ शारीरिक स्तर पर ठन जाता है । पूरा लट्ठमार और प्रवंचक परिवेश !

निष्कर्ष यह कि स्वातंत्र्योत्तर 'सांस्कृतिक समारोह' गाँवों के सनातन सांस्कृतिक उत्सवों के समानान्तर उन्हें किसी प्रकार का न तो स्वस्थ अनुरंजन-अवसर ही प्रदान करते हैं और न ही उनकी आदिम साधु रुचि को आधुनिक वैचारिक स्तर पर अनुकूल परिष्कार प्रदान करते हैं । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कथा साहित्य में इसी कारण से इसे व्यापक अभिव्यक्ति नहीं मिली है । जो कुछ चित्र उभरे हैं उनसे लगता है कि संस्कृति के नाम पर कोरे आदिवासी नृत्य-गीत महानगरीय बौद्धिकता को तो अनुरंजित कर सकती है परन्तु उससे आदिवासी ग्रामीणों की उपहासास्पद हीन स्थिति का ही प्रकाशन होता है न कि उनकी उच्चकोटि की कलाचारुता का ? इसी प्रकार गाँव के सनातन लोकगीत आदि 'सांस्कृतिक समारोहों' में अपनी सात्त्विकता विसर्जित कर जो नयी अनुरंजक-यांत्रिकता का रूप शनैः शनैः लेने लगे हैं वह एक नयी चुनौती हो गया है ।

१४—शिक्षा

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कथा-साहित्य में गाँव के संदर्भ में शिक्षा की समस्या को गंभीरता के साथ शिवप्रसाद सिंह, अमरकान्त, श्रीलाल शुक्ल, रामदरश मिश्र, राजेन्द्र अवस्थी, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय और भैरवप्रसाद गुप्त ने अपने उपन्यास क्रम से 'अलग-अलग वैतरणी', 'ग्रामसेविका', 'राग दरबारी', 'जल टूटता हुआ', 'जाने कितनी आँखें', 'रीछ' और 'सती मैया का चौरा' में उठाया है । प्रसिद्ध मराठी कथाकार व्यं० दि० माडगूलकर ने भी अपने उपन्यास 'बनगरबाड़ी' में मुख्य रूप से ग्राम-शिक्षा को ही रेखांकित किया है । इन कृतियों में शिक्षा और शिक्षक की जो दयनीय स्थिति चित्रित है वह किसी राष्ट्र के लिए कलंक है तथापि भारतीय प्रजातंत्र में इस विकृति बनाम संस्कृति के भारी बोध को देश ढो रहा है ।

प्राईमरी शिक्षा

'अलग-अलग वैतरणी' का ग्यारहवाँ, चौबीसवाँ और सताईसवाँ परिच्छेद प्राईमरी स्कूल शिक्षा और प्राईमरी स्कूल मास्टर का अत्यन्त मौलिक नवीन और प्रामाणिक चित्रण है। इस क्षेत्र की नग्न वास्तविकता को उपन्यासकार ने इस कोण से उठाया है कि समूचा क्षयग्रस्त आयाम उजागर हो जाता है। लगता है अंग्रेजी राज तक में शिक्षा का जो सांस्कृतिक रूप सुरक्षित था, स्वराजोपरान्त उध्वस्त हो गया। शिक्षा-विस्तार नीति के दीपक तले शोचनीय छिछलेपन का अंधकार अवस्थित है। शिक्षा-जगत के लिए इससे लज्जास्पद स्थिति और क्या होगी कि करैता जैसा गाँव अध्यापकों के लिए कालापानी जैसे कुख्यात है।[1] इस 'कालापानी' तत्त्व में निस्सन्देह एक हेडमास्टर नाम का जीव मुख्य है, तोंद उभरी, घुटने तक गंदी धोती और चीकटदार आधे बाँह की बंडी में खड़ाऊँ घसीटता।[2] इस दकियानूस हेडमास्टर के करते स्कूल का जीवन जड़, उल्लासहीन और यांत्रिक हो गया है।[3] 'गन्दे घिनौने लड़के, फटी-फूटी किताबें, गन्दे हाथ और किचरीली आँखें। उन्हें डाँट दो तो भी, हँसाओ तो भी, चेहरे में कोई फर्क नहीं पड़ता!'[4] ग्राम सभा की कृपा से स्कूल की कच्ची इमारत और व्यवस्था की कृपा से शिक्षा बैठ गई है। नया उत्साही अध्यापक कोई परिवर्तन लाना चाहता है तो सबसे बड़ा बाधक बुजुर्ग हेडमास्टर होता है। स्कूल में खेल-कूद की व्यवस्था वह करना चाहता है तो कहीं से सहयोग या उत्साह नहीं मिलता है। उलटे उपेक्षा मिलती है।[5] फिर भी अध्यापक निराश नहीं होता है। खेलकूद से बच्चों की आँखों में चमक आती दिखाई पड़ती है और अध्यापक और आस्थावान हो उठता है।[6] खेल-कूद के साथ स्कूल की उजड़ी बागवानी के पुनरुद्धार के लिए वह प्रयत्नशील होता है। हेडमास्टर फिर भी विरोधी है। 'आप पूजा-पाठ करते हैं जो

१. 'अलग-अलग-वैतरणी', पृ० १७८।
२. वही, पृ० १८०।
३. वही, पृ० १८४।
४. वही, पृ० १८५।
५. वही, पृ० १९१।
६. वही, पृ० १९४।

फूल के लिए व्याकुल हैं ?'[१] 'इस जड़ प्रधान अध्यापक की दृष्टि व्यायाम, बागवानी, शिक्षा से परे कहीं और रहती है। वह मारपीट कर रात में पढ़ाने के बहाने लालटेन के साथ किरासन तेल का पैसा वसूलता है।[२] कथाकार उसका अत्यन्त घिनौना चित्र उपस्थित करता है : 'मुंशी जी खा-पीकर बगल वाली कोठरी में अपनी चारपाई पर अंडस-मंडस करते हैं। उनका रमचेलवा खैनी मलकर उनके सामने पेश करता है।[३] लेकिन मामला खैनी तक ही नहीं, वह उस अनैतिक व्यभिचार तक पहुँचता है कि शर्म से युवक अध्यापक की गर्दन झुक जाती है![४] प्रधान अध्यापक गाँव की पार्टीबन्दी में स्वयं फँसकर उसे भी फँसाना चाहता है। उसे एक फौजदारी के मामले में गवाह बनाने के लिए विवश किया जाता है।[५] वह अस्वीकार कर जाता है तो सभी की आँखों में खटकने लगता है। एक दिन वह तीनों अध्यापकों का वेतन लेकर जब बस से उतरकर आ रहा है रात में गाँव के गुंडे मारपीट कर रुपया छीन लेते हैं[६] और किसी ओर से अपना निस्तार न देखकर वह भाग खड़ा होता है, 'पहचान की हद से परे, स्याही में डूबा, बेशिनाख्त।'[७] 'और इस प्रकार गाँव में शिक्षा के आदर्शों को प्रतिफलित करने के आस्थावान सपनों वाला युवा उत्साही अध्यापक शशिकान्त उखड़ जाता है तो इस साधारण घटना से इस क्षेत्र की समस्त-समस्त संभावनायें अनिश्चितता के धुंध में डूब जाती हैं।

प्राईमरी स्कूल-अध्यापक

कुछ ऐसा ही नियति-योग माडगूलकर के उपन्यास 'बनगरबाड़ी' के अध्यापक को भी प्राप्त है। अन्त में सारे सपनों को लेकर उसे भी भाग खड़ा होना पड़ा है। परन्तु माडगूलकर का समूचा ध्यान गरीबी और पिछड़ेपन पर

---

१. 'अलग अलग वैतरणी', पृ० ४५७।
२. वही, पृ० ४५६।
३. वही, पृ० ४५६।
४. वही, पृ० ४६३।
५. वही, पृ० ५०६।
६. वही, पृ० ५२७।
७. वही, पृ० ५३२।

केन्द्रित है। वह एक गड़रियों का गाँव है। अभिभावक सोचते हैं, पढ़ेंगे-लिखेंगे तो खायेंगे क्या ?[1] अर्थात् उस गाँव से बालक रोजी-रोटी में बड़ों के सहायक हैं और पढ़ाई आरम्भ करने पर उसमें बाधा पड़ेगी। वे बालक भी कैसे हैं ? करैता के बालकों से पृथक नहीं, बिना मुँह धोये नंग-धड़ंग आ जाते हैं।[2] गाँव में पढ़ाई-लिखाई की निस्सारता के बारे में गाँव में कहावत प्रचलित है कि 'थोड़ा पढ़ा तो हर से गया, बहुत पढ़ा तो घर से गया'[3] और अध्यापक को लोग सशंक दृष्टि से देखते हैं, कुछ उपेक्षा भी है, 'तू अभी नया आया है। ठीक से अपना काम कर। गाँव में कोई गड़बड़ी न करना। लड़के स्कूल में आवें तो उन्हें पढ़ा। गाँव को पढ़ाने की झंझट में मत पड़, समझा ?'[4] इतने पर भी अध्यापक उस पिछड़े गाँव का जज, पुलिस, दारोगा और स्टाम्प-वेण्डर आदि सभी कुछ हो जाता है।[5] शिक्षा के साथ उसे गाँव की युवतियों की चोली भी सिलवानी पड़ती है।[6] किन्तु अन्ततः शिक्षा के उद्देश्यों में उसे गहरी असफलता मिलती है और उदासी में डूबी बनगरबाड़ी को पीछे छोड़ उसे निराश-अकृतकार्य वापस लौट जाना पड़ता है।[7]

गाँव की शिक्षा में कोई ऐसा मूल दोष है कि कथा-साहित्य में प्राईमरी अध्यापक के जितने भी चित्र आते हैं सभी असफल उखड़न से परिपूर्ण हैं। राजेन्द्र अवस्थी की कृति 'जाने कितनी आँखें' में एक शिक्षक है जिसके यहाँ कोई भी अड़चन आने पर गाँव वाले सहायतार्थ आते हैं।[8] गाँव के नेता जेल में जाते हैं तो वह गाँव को सँभालता है।[9] साम्प्रदायिक तनाव में जोखिम उठाकर नारी उद्धार करता है।[10] वह भाँगबूटी का शौकीन[11], सत्संगी, भोला-

१. प्रतिनिधि रचनाएँ : मराठी (ज्ञानपीठ प्रकाशन), पृ० १५।
२. वही, पृ० २७।
३. वही, पृ० २९।
४. वही, पृ० ३०।
५. वही, पृ० ४१।
६. वही, पृ० ५२।
७. वही, पृ० १४२।
८. 'जाने कितनी आँखें', पृ० १७०।
९. वही, पृ० ११५। १०. वही, पृ० ६३। ११. वही, पृ० ९०।

भक्त, कट्टर परम्परावादी हिन्दू है।[1] निर्भीक है कि दारोगा को लठ्ठ लेकर खदेड़ लेता है।[2] किन्तु अन्ततः उसकी शिक्षात्मक उपलब्धियों के विषय में कथाकार मौन ही है। उसकी चारित्रिक दुर्बलता अवश्य उभड़ती है। वह दारोगा की लड़कियों का ट्यूटर हो जाता है और एक दिन दारोगा की बेगम को 'लड़का देने' में इस प्रकार फिसलता है कि उस शिव-भक्त सत्संगी स्कूल मास्टर की प्रतिमा का अप्रत्याशित भंजन दुखद आश्चर्य में डाल देता है![3] स्कूल-मास्टर शिक्षा के साथ स्वयं को ले डूबता है। वास्तव में यह, प्राथमिक शिक्षा के प्रति अध्यापक, जनता और सरकार की व्यापक उपरति है जो अन्यत्र की भटकन बनकर प्रकाशित होती है। कहीं अध्यापक राजनीति में भटक रहा है, कहीं अनैतिकता में भटक रहा है और कहीं गाँव की सामाजिकता में भटक रहा है। स्कूलों की संख्या बढ़ी। बोर-बस्ता लिये, झोला लटकाये, बिना बटन का कुर्ता पहने, लड़ते-भिड़ते नर-बानर की भीड़ पाठशाला की ओर जाती दीखने लगी परन्तु शिक्षा के नाम पर वास्तव में ये स्कूल आते-जाते हैं और प्रगति के नाम पर केवल इनकी ऊँचाई बढ़ जाती है! ग्रामीण फूल विपरीत हवा-पानी में खिल नहीं पाते। शिक्षा का उद्देश्य नौकरी और दहेज होना और भी मारक है। धनी किसान परिवार के बालकों के मस्तिष्क पर उनके द्वार पर झूलती रहने वाली बैलों की पंक्तियाँ और हलवाहों की सेना नाचती रहती हैं और इस विचार से कि उन्हें नौकरी नहीं करना है, पढ़ाई से विमुख हो जाते हैं। गरीब बालकों को उनकी परिस्थितियाँ नहीं पढ़ने देतीं। सरकारी प्रयत्न विफल दीखते हैं।

शिक्षा-संदर्भ में सरकारी प्रयत्न की सफलता अमरकान्त के उपन्यास 'ग्राम-सेविका' में दृष्टिगोचर होती है परन्तु वह यथार्थ की भित्ति पर आश्रित न होने के कारण सरकारी प्रचार सा आदर्शवादी लगता है। जिस विशुनपुर गाँव में ग्रामीणों का विश्वास है कि उनके यहाँ पढ़ाई फलती नहीं है[4] वहाँ ग्राम-सेविका समझा-बुझाकर स्कूल चालू करती है। कुछ स्त्रियाँ नौकरानी जैसी

---

१. 'जाने कितनी आँखें', पृ० १०० ।
२. वही, पृ० १७० ।
३. वही, पृ० १२१ ।
४. 'ग्रामसेविका' पृ० ३६ ।

मानकर घर पर जान खाये जाते लड़कों को सँभालने के लिए दे जाने लगती हैं।[1] अधिकांश पाउडर के दूध के लालच से लड़कों को भेजती हैं।[2] विरोधी परिस्थितियों में भी अपनी सेवा से वह गाँव का मन जीत लेती हैं और शिक्षात्मक उपलब्धियों के रूप में साल भर के भीतर ही वह नये उभरे जाग्रत-शिक्षित जैसे ग्रामीणों की एक कतार खड़ी कर देती हैं, जिसमें जमुना, कनिया, जंगी, हरचरण और धनराज हैं![3] किन्तु शिक्षा की यह तात्कालिक सफलता आज की स्थितियों में स्वप्न है। 'जल टूटता हुआ' में एक स्कूल मास्टर हैं सुग्गन तिवारी, ऊपर से आदर्शवादी, भीतर से टूटे, भयग्रस्त, लोभी, चापलूस, हतोत्साह और आत्मप्रवंचक! सिर पर 'स्थानान्तर' की नंगी तलवार लटकी रहती है और स्थानीय अवसरवादी नेताओं का तलवा सहलाते हैं![4]

हायर सेकेन्ड्री स्कूल

हायर सेकेन्ड्री स्कूलों के अन्तर्विरोध को रामदरश मिश्र और श्रीलाल शुक्ल ने चित्रित किया है। 'जल टूटता हुआ' में भाटपार हाई स्कूल के हेड-मास्टर (प्रिन्सिपल नहीं, क्योंकि अभी वे एम० ए० की परीक्षा पास करने के चक्कर में हैं) उमाकान्त पाठक हैं। अत्यन्त अनियमित वेतन होने पर भी चिपके हैं। उनके जैसा न तो स्कूल के लिए हेडमास्टर मिलेगा और न उनके लिए वैसा स्कूल मिलेगा। स्कूल में पूर्ण घपलाबाजी है। वह एक व्यवसाय है। हेडमास्टर हटा इसलिये नहीं दिया जाता कि वह मैनेजर दीनदयाल तिवारी की पुत्री शारदा का ट्यूटर है। इसी क्रम में मास्टर के मन पर शारदा एक अदृश्य सुगन्ध बनकर छाने लगती है।[5] और समूचा शैक्षिक परिवेश अरुचिकर एवं विपर्यस्त प्रसंगों से भर जाता है।

ग्रामीण-कालेज

ग्रामीण-कालेज का भ्रष्टाचार खुलकर आया 'रागदरबारी' में। इस युग

---

१. 'ग्रामसेविका', पृ० ४५।
२. वही, पृ० ४६।
३. वही, पृ० १७७।
४. 'जल टूटता हुआ', पृ० १२।
५. वही, पृ० १९९।

का एक परिनिष्ठित 'नेता-देवता' जो अनेक संस्थाओं का भाग्य विधाता है, स्कूल मैनेजर है।[1] वह गाँधीवादी परिधान में एक शाकाहारी व्यक्ति लगता है।[2] उसके कालेज का प्रिन्सिपल नित्य उसके यहाँ भाँग बनाता है। उसकी सबसे बड़ी योग्यता है कि वह कालेज में गुटबन्दी, मारपीट, नंगई, गाली-गलौज और नोटिस-बरखास्तगी के साथ आतंकपूर्ण गुंडई का पूरा-पूरा प्रबन्ध रखता है।[3]

'गुटबन्दी का कमाल है कि अध्यापक मोतीराम क्लास में आपेक्षिक घनत्व के क्रम में अपनी आटाचक्की का विवरण और विज्ञापन पढ़ाते हैं और पढ़ाई-लिखाई से अधिक अपनी घर-गृहस्थी की चर्चा करके भी 'योग्य टीचर' हैं। अपने गुट का सौ खून माफ। बड़ी सटीक संज्ञा मिलती है प्रिंसिपल को, 'चिड़ीमार !' जैसे देश की राजनीति ठीक वैसी ही कालेज की राजनीति। सिंडीकेट गुट जोर तो लगाता है कि तख्ता मैनेजर का पलट जाये पर सत्ता के सौ दाँत हैं। कोई बलराम सिंह हैं। कुर्ते की जेब में पिस्तौल टाँगकर पुलिया पर आकर बैठ जाते हैं। (पृ० १८१) और जबरदस्ती का माहौल ऐसा कि कालेज पदाधिकारियों का चुनाव 'सर्वसम्मत' हो जाता है। किसान गुंडे, अध्यापक गुंडे और विद्यार्थी महा गुंडे ! वैधानिकता के परदे में स्वार्थों के इस कुत्सित नाटक का अन्तिम सीन 'लोकतंत्रीय जाँच', जिला-विद्यालय-निरीक्षक से लेकर डिप्टी डायरेक्टर तक की जाँच का है। सभ्य डकैतियों, वैधानिक भ्रष्टाचारों और सांस्कृतिक उत्कोच प्रियता में आपादमस्तक सने, राजनीतिक दबावों में सिकुड़े, राजकाज के पुतलों का लोकतांत्रिक जाल भी कितना सहज है ! 'बड़ी मछलियों, को वह छान लेता है और सुरक्षा देता है। विरोधी अध्यापकों से बलात् त्याग-पत्र लिखा कर वैद्य जी अत्यन्त करुण और नम्रभाव से कालेज को निर्मक्षिक बना लेते हैं और कालेज की राजनीति का विजयी झंडा बुलन्दी पर फहराने लगता है।'[4]

---

१. 'राग दरबारी', पृ० १३४।

२. वही, पृ० ६५।

३. वही, पृ० ६८।

४. 'राग दरबारी' पर 'सारे मुल्क में फैला शिवपाल गंज' शीर्षक लेखक की समीक्षा। धर्मयुग, २६ अप्रैल सन् १६७०, पृ० २१।

'राग दरबारी' में श्रीलाल शुक्ल ने शिक्षा का स्थानापन्न छात्र-विद्रोह, गुंडई और नंगई का भी चित्रण किया है। कालेज के मैनेजर का अठारह-वर्षीय पुत्र रुप्पन छात्र-नेता है। वह स्थानीय राजनीति में सना है। उद्दण्डता और अनुशासनहीनता उसकी शैक्षिक उपलब्धियाँ हैं। उसके मित्र 'हाकी की राजनीति' के विश्वासी हैं। एक विद्रोही छात्र अपनी हाकी की राजनीति का समर्थन करता है कि 'महात्मा गाँधी तो लाठी लेकर चलते थे। हम तो निहत्थे हैं! यह तो हाकी स्टिक है, इससे तो साला गेंद तक नहीं मरता, आदमी क्या मरेगा ?'[१] शिक्षा के क्षेत्र में उपजी यह विद्रोही पीढ़ी है। इसमें विध्वंस वृत्ति है, अवसरवादिता और स्वार्थपरता है। सब मिलाकर यह पीढ़ी संस्कृति-भंजक है। शिक्षा के क्षेत्र को बहुत सोच-समझ कर इन्होंने निर्वाचित किया है।

उच्च शिक्षा की समस्याओं को जिनका सामना सामान्य ग्रामीण छात्रों को करना पड़ता है 'सती मैया का चौरा' और 'रीछ' में उपस्थित किया गया है। गाँव में विवाह बचपन में ही हो जाता है। कालेज में पहुँचते-पहुँचते घर-गृहस्थी का बोझ भी आ जाता है। घर और कालेज की विसंगति को झेलना कठिन होता है। धनाभाव के कारण उच्च शिक्षा से विमुखता सामान्य बात है। व्यक्तिगत परीक्षायें दी जाती हैं। 'रीछ' का नायक 'विशारद', 'साहित्य-रत्न' की परीक्षा देकर इस रास्ते एम० ए० करना चाहता है।[२] रामदरश मिश्र की कहानी 'खंडहर की आवाज़' में भी गाँव में 'साहित्य-रत्न' की शिक्षा का एक वातावरण चित्रित है। स्वराज्य के पूर्व इस परीक्षा की महत्ता राष्ट्रीय दृष्टि से भी जुड़ी थी अतः गाँव के मेधावी अकिंचन छात्र इधर सहज ही आकर्षित होते हैं। ज्ञानपिपासा शान्त करने की वृत्ति गाँव के छात्र में जब उमड़ती है तो गरीबी बाधक होती है परन्तु वह उक्त प्रकार की कोई न कोई राह अपने वांछित उद्देश्य-पूर्ति के लिए निकाल लेता है।

लेखक ने ग्राम-जीवन के संदर्भ में शिक्षा के ह्रास, शिक्षालयों के भ्रष्टाचार और शिक्षकों की दयनीय स्थिति एवम् शिक्षार्थियों के खोखलेपन पर अनेक

---

१. 'राग दरबारी', पृ० १८० ।
२. 'रीछ', पृ० १४७ ।

कहानियाँ लिखीं जिनमें 'भाड़'[१], 'आठ जुलाई'[२], 'मास्टर कमल'[३], 'चोर'[४], 'संशोधन'[५], 'लाज के पड़ोसी'[६], 'अध्यापक और अखबार'[७], 'मास्टरों की मौज'[८], 'अन्धी खाइयाँ और तड़पते फूल'[९], 'कच्चा गुलाब'[१०], 'मिडिलची'[११], और 'थर्ड डिवीजनर्स कान्फ्रेंस'[१२] महत्त्वपूर्ण हैं। 'फिर बैतलवा डाल पर' की चार रचनायें 'चतुरी चाचा से मुलाकात', 'सभापति, मास्टर और नेता', 'बड़ा साहब' और 'बम का सहारा' भी इसी सांस्कृतिक क्षेत्र को चित्रांकित करती हैं।

शिक्षा की दुर्गति

कथा-साहित्य में अंकित इन चित्रों का विश्लेषण समीक्षक को इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि गाँवों में ग़रीबी, नौकरी, दहेज, राजनीति, सेवा-व्यवसाय और पार्टीबन्दी के दलदल में फँसी शिक्षा आत्यन्तिक रूप से लक्ष्यच्युत और पंगु हो गई। व्यवस्था में तो घुन लग ही गया है, परिस्थितियाँ भी प्रतिकूल पड़ रही हैं। स्वराज्य के बाद शिक्षा के विस्तार की नीति के कारण और अधिक खोखलापन आया है। पुरानी पीढ़ी के चुके शिक्षा-संस्थाओं के प्रधान भी प्रगति के मार्ग में रोड़े हैं। गाँव की गन्दी राजनीति शिक्षा को प्रभावित करती है। महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों को गहरी ठोकर लगती है। अध्यापक का स्थान गाँव में उच्च हीनत्व से आक्रान्त है और वह स्वयं को मन ही मन महान

---

१. 'आज (वाराणसी) २२ अप्रैल १९५९।
२. वही, १५ जुलाई, १९५९।
३. वही, १२ अगस्त, १९५९।
४. वही, १३ जनवरी, १९६०।
५. वही, २७ जुलाई, १९६०।
६. वही, १६ मई, १९६१।
७. वही, १५ जून, १९६१।
८. वही, १८ अगस्त, १९६१।
९. वही, २७ सितम्बर, १९६२।
१०. वही, ३१ जनवरी, १९६४।
११. वही, १८ मार्च, १९६५।
१२. वही, २३ जनवरी, १९६६।

मानता हुआ भी युगधर्म संत्रास, कुंठा, नैराश्य, टूटन और मनोव्याधिग्रस्तता से मुक्ति नहीं पा सकता है। वह एक ऐसा पवित्र-गरीब है जिसकी काम-कुंठा अथवा सेक्स विस्फोट लोगों की दृष्टि में शीघ्र चढ़ जाता है। जमींदारी उन्मूलन के बाद एक नये तरह की जमींदारी का क्षेत्र विद्यालयों के रूप में उग आया और शोषण, सेवा-व्यवसाय, भ्रष्टाचार का नया वैध क्षेत्र मुक्त हो गया। वर्तमान शिक्षा चूँकि युवकों को निकम्मा और खोखला बनाती है अतः इस व्यवस्था के प्रति ही विद्रोहाग्नि भड़कने लगी है। छात्र-नेता, विद्रोही-छात्र और अनुशासन-भंजक छात्र आज के शिक्षालयों की शोभा हो गये हैं। शिक्षा-क्षेत्र राजनीतिक गुंडई और पार्टीबन्दी के कारण धीरे-धीरे नयी शकल में उभरने लगे हैं। और इन सबके बीच कथाकारों का अभिशप्त ग्रामांचल अपने इस अभिनव सांस्कृतिक पराभव में किंकर्तव्यविमूढ़, मूर्छित और हतचेत पड़ा है। नयी विकास-योजनाओं ने आर्थिक-संस्कृति को जैसे-जैसे ग्रामस्तर पर पुरस्कृत किया है वैसे-वैसे शैक्षिक-संस्कृति उखड़ती गई है और इस अपने मूल्यवान अन्तर्वैभव को खोकर आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होता दीखता ग्रामांचल वास्तव में आज सच्चा सर्वहारा हो गया है।

१५—अछूत

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् प्रजातांत्रिक प्रभावों और मानवीय पक्ष के उभार के कारण समत्व की जो लहर आई उसे हिन्दी कथाकारों ने भी आत्मसात किया और हिन्दी-कथा-साहित्य में दलितोन्मेष अथवा लघुमानवोत्थान की प्रवृत्ति प्रारम्भ में बहुत तीव्रगति से विकसित हुई। नये कथाकारों ने उपेक्षितों को सम्वेदना और अबोल मानवों को वाणी प्रदान की। अछूत के प्रति गांधी के आन्दोलनों से यद्यपि दृष्टि बदल चुकी थी और प्रेमचन्द और उनके समकालीन कथाकारों ने इस सांस्कृतिक राष्ट्र-कलंक को सृजनात्मक स्तर पर धो डालने के सन्दर्भों को सहानुभूति पूर्ण मानवीय स्तर पर उठाया था। तथापि उनमें आधुनिक समस्वरता और जीवन्त प्रामाणिकता का समावेश नयी कहानी के साथ प्रतिफलित हुआ। डा० नामवर सिंह ने इसी को लक्ष्य कर लिखा था कि 'आज के कहानीकारों ने बहुत से उपेक्षितों को अपनी सम्वेदना दी है। एक जमाने में जिस प्रकार वेश्याओं और पतितों के उद्धार का उत्साह था उसी प्रकार आज के कुछ सम्वेदनशील कहानीकारों ने कंजड़ों, नटों, मुसहरों, मीरा-

सियों, हिजड़ों, रमन्तू नर्तकों आदि यायावरीय मनुष्यों का उद्धार किया है, जिसके लिए शिवप्रसाद सिंह की कहानियाँ द्रष्टव्य हैं।'[1]

डोम

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में अस्पृश्य लोगों के सन्दर्भ में सर्वात्मक भावाश्रित दृष्टिकोण का निखार है। ग्रामांचल की महत्वपूर्ण अन्तिम इकाइयों को भी उन्होंने आत्मसात किया है। ऐसी ही एक अन्तिम इकाई है कबरी, डोम-पुत्री, कथाकार की प्रसिद्ध कहानी 'इन्हें भी इन्तज़ार है' की नायिका। पूरी कहानी पढ़कर एक करुण विरक्ति से मन भर उठता है और लगता है कि जबतक डोम जाति का वर्तमान अस्तित्व है तबतक स्वतंत्रता झूठी है। स्वतंत्र-भारत में कीड़े-मकोड़ों की तरह जीते इन अन्तिम मानवों को वास्तव में किसी महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन का इन्तज़ार है। भारतीय संस्कृति का क्षयग्रस्त सामाजिक अंग चमार-मुसहर नहीं ये डोम हैं। चमार तो फिर भी समाज की सेवा में रत हैं और अछूत-भाव शनैःशनैः ढीला होता जा रहा है। इन डोमों की ठोस अछूत-स्थिति तो हिल नहीं रही है।

मुसहर

शिवप्रसाद सिंह ने 'पापजीवी'[2] शीर्षक कहानी में मुसहर जाति के जीवन को उठाया। जंगल का कोना-कोना जब सरकार ने अधिकृत कर लिया तो बदलू मुसहर के लिए लकड़ियों की रोक के साथ जीवन-यापन असंभव हो गया। कठिनाई यह कि उसके अछूतपन की ही भाँति समाज-मन में एक बद्ध-मूल भावना है कि वह वंशपरम्परागत पापजीवी चोर है। इसी भावनात्मक अन्तर्विरोध को श्रमजीवी बदलू बड़ी कड़वाहट के साथ जीता हुआ इस कहानी में चित्रित हुआ है। इसी प्रकार शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'उपहार'[3] और 'सँपेरा'[4] में भी क्रमशः कथाकार ने गुलाबो चमाइन और बक्कस नट को

---

१. कहानी : नयी कहानी— डा० नामवर सिंह, पृ० ६३।

२. 'कर्मनाशा की हार' में संकलित कहानी।

३. वही।

४. वही।

चित्रित किया। इन चित्रों में वारम्बार कथाकार उनके मानवीय पक्ष को उभारता है और लगता है कि जैसे हाड़ मांस के महत्वाकांक्षी मानव हम हैं, उसी प्रकार वे भी हैं। यह सामाजिक और आर्थिक वैषम्य कृत्रिम है। कथाकार की 'धारा'[1] कहानी की नायिका गाँव की मुसहर-कन्या तिउरा युवावस्था में पहले तो अच्छी भली दशा में दीखती है परन्तु चौथी बार जब वह प्लेटफार्म पर अवैध नवजात बच्चे के साथ भीख माँगती दिखाई पड़ती है तो कथाकार का विक्षुब्ध मानस हाहाकार कर उठता है। सभ्य इन्सानों का सम्पर्क इन गंदे इंसानों को और गंदा बनाकर नष्ट कर देता है। वास्तविक गंदगी और अछूत भाव सभ्य और उच्च कहे जाने वाले मनुष्यों, विशेष कर नयी नागरिक सभ्यता में है। इसके दबाव में ग्रामीण जन अपनी स्वतंत्र सांस्कृतिक झोपड़ी छोड़कर विकृति के प्लेटफार्म पर करुणयाचक बन जीते हैं!

भंगी-चमार आदि अछूत

शैलेश मटियानी की कहानी 'लाटी'[2] में डिगरुआ डोम और उसकी स्त्री लाटी है। ये अछूत चतुर्दिक से दरिद्र होकर हृदय-सम्पदा के वैभवशाली हैं। पति की मृत्यु पर जो लाटी का अखण्ड रुदनालाप होता है, कथाकार अत्यन्त मौज में उसका अंकगणितात्मक विश्लेषण करता है। मटियानी ने 'आवरण'[3] शीर्षक रचना में फिर डोम जाति को उठाया। अबकी बार स्वातंत्र्योत्तर बदलाव के साथ आत्यन्तिक मूल्य स्वीकार के आयाम उभरे। अछूतों के प्रति युग-युग से किये गये नैतिक अत्याचार की परम्परा में एक कड़ी जोड़ने वाला ठाकुर स्वयं अपने सामने एकदम नंगा हो जाता है! भैरवप्रसाद गुप्त की कहानी 'घुरहुआ'[4] में भंगी जाति की एक नारी की मानवता की आँच में अछूत भाव को गलते अंकित किया गया है। पानू खोलिया की कहानी 'हस्ती'[5] में भी प्यारे एक भंगी है जो मानवीय प्यार के लिए तड़प रहा है। किन्तु इस

---

१. 'मुरदा सराय' में संकलित।
२. 'सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ' में संकलित।
३. 'दो दुखों का एक सुख' में संकलित।
४. 'महफिल' में संकलित।
५. 'एक किरती और' में संकलित।

समस्त वैचारिकता के नीचे सनातन ग्रामांचल में 'अछूत' के प्रति परम्परायुक्त अस्पृश्य-भाव की कसी मुट्ठियाँ ढीली होती नहीं दीख रही हैं। रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूँ' का यौन-शोषण हो, चाहे 'बबूल' का श्रम-शोषण, अछूत जाति की उससे मुक्ति नहीं। विकास की नयी परिस्थितियों में मुसहर और चमार जाति की जातिगत पेशे को लेकर कठिनाइयाँ और बढ़ गई हैं।[1] इनमें हीनत्व ग्रन्थि ऐसी बद्धमूल हो गई है कि 'अलग-अलग वैतरणी' के विचारक-साधु हरिजन स्वरूप भगत जैसा व्यक्ति यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि कभी किसी ऊँची जाति की कन्या का प्रेम किसी अछूत से हो सकता है।[2] यद्यपि ऐसा कभी-कभी होता है। 'जल टूटता हुआ' में बंशी तिवारी की युवती क्वाँरी पुत्री पार्वती अपना शरीर अपने युवा हलवाह हँसिया को सौंप देती है।[3] इससे सवर्ण लोग बहुत बौखलाते हैं। परन्तु अन्ततः उनकी खोखली नैतिकता का रहस्योद्घाटन भी हो जाता है। राजनीति ने हरिजनों में से अछूत भाव को बहुत गलाया है। 'अलग-अलग वैतरणी', 'राग दरबारी' और 'रीछ' में ग्राम राजनीति के कारणों से सवर्णों द्वारा हरिजनों को सभापति पद के लिए प्रस्तावित किया जाता है।

इस प्रकार हिन्दी-कथा-साहित्य में सांस्कृतिक शूद्रवर्णान्तरभुक्त चमार, डोम, भंगी, दुसाध, नट और मुसहर आदि जातियों का इस रूप में चित्रण किया गया है कि एक ओर उससे स्पृश्यास्पृश्य की अमानवीय जड़ भावना पर वैचारिक और भावनात्मक स्तर पर कुठाराघात होता है और दूसरी ओर उसके हीनत्व के मूल आर्थिक कारणों पर भरपूर प्रकाश पड़ता है। कहीं-कहीं भाव वैचित्र्य की स्थितियों की करुणा प्रेरित प्रदर्शनेच्छा भी कथाकारों में काम करती दीखती है परन्तु सामान्यतया अछूत कही जाने वाली जातियों के सन्दर्भ में विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, शारीरिक, मानसिक एवम् श्रम तथा यौन सम्बन्धी शोषण के आयाम ही कथाकारों के उद्घाटन केन्द्र हैं। इसीलिए तथ्य-निरूपण से अधिक भावनात्मक प्रवाह अधिक लक्षित होता है। कुछ अधिक संतुलित विश्लेषण 'अलग-अलग वैतरणी' का है। स्वातंत्र्योत्तर

---

१. 'अँधेरे के विरुद्ध' (उदयराज सिंह), पृ० ३३ से ३७ तक।

२. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ५७७।

३. 'जल टूटता हुआ', पृ० ३५०।

प्रभावों को भी जबकि हरिजन और अछूत जातियों में से विधायक और ग्राम-सभापति आदि होने लगे, कथाकारों ने चित्रित किया है। किन्तु सब मिलाकर प्रश्न आर्थिक विषमता पर आकर अटक जाता है क्योंकि इसी प्रभाव में सुनार जैसी जाति युद्धकाल में 'स्वर्ण नियन्त्रण' के पश्चात् विपन्न होकर नये प्रकार के 'अछूतों' की श्रेणी में समझी जाने लगी। अब यह स्पष्ट हो गया कि 'अछूत' का सम्बन्ध 'संस्कृति' से उतना नहीं रह गया जितना 'अर्थ सन्दर्भों' से।

१६—नवपरिवर्तित स्थितियाँ

यातायात और संचार साधनों के विकास के साथ शेष संसार से गाँव का पार्थक्य समाप्त हो गया और ग्राम-संस्कृति की अखंडता एवम् अक्षुण्णता पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लग गये तो शताब्दियों तक नगरों से कटी अपनी सांस्कृतिक प्रभुसत्ता में पूर्ण ग्राम-इकाइयाँ नवपरिवर्तित स्थितियों को अकस्मात् झेल नहीं पाती हैं। स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र, आधुनिक राजनीति और विकास योजना आदि के असामान्य बौद्धिक परिवर्तनों, नागरिकता के आधुनिक आयामों ने गाँव के सनातन अपरिवर्तनीय स्वरूप को गम्भीर चुनौती दी है। आर्थिक सन्दर्भों की उसके सांस्कृतिक मूल्यों से टकराहट होने लगी है। इस टकराहट की गूँज कथा-साहित्य में भी सुनाई पड़ने लगी है। अब ऐसा नहीं कि राज और राजधानियाँ बदल जायँ, आन्दोलन और भारी-भारी बदलाव उसके ऊपर आँधी के सूखे पत्ते से उड़ते चलते जायँ और इन समस्त नये वाद-विचार से अप्रभावित सनातन गाँव अपनी अस्पर्शित सुरक्षित इकाई में ईश्वर के किसी स्वर्ग-राज्य की भाँति स्वयं में समाधिस्त पड़े रह जायँ। रेडियो और समाचार पत्रादि ने नगर और गाँव की दूरी को मिटा दिया है और प्रत्येक गाँव अनन्य भाव से दिल्ली से जुड़कर, आधुनिकता से जुड़कर, कृषि-क्रान्ति के द्वार पर संकर बीज ही हाथों में लिये नहीं बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक क्रान्ति की देहली पर संकर विचार भी लिये खड़ा है! परिवर्तन-गति अत्यन्त तीव्र है और स्वतन्त्रता के बाद इस तीव्रता में गुणात्मक गति आती गई है।

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में कथाकारों ने इस सांस्कृतिक परिवर्तन को व्यापक रूप से चित्रांकित किया है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'खैरा पीपर

कभी ना डोलै' में एक व्यंग्य है। समझा जाता रहा कि खैरा पीपर यह सनातन सांस्कृतिक गाँव है और वह सर्वथा अपरिवर्तनीय है परन्तु देखते-देखते गाँव की आकृति-प्रकृति चूड़ान्त बदल गई। कहानी का एक चित्र द्रष्टव्य है—

'कैरा चला तो उसके सामने आज कहीं बूढ़ा पीपल नहीं था। चाय की दूकान थी, जहाँ कुछ देर खड़े होकर वह गाँव को देखता रहा। फिर, बस आई तो कैरा ने पहली बार सबको हाथ जोड़कर नमस्ते किया और बस में बैठ गया।'[1]

नये प्रभाव

कैरा की एक-एक अनुभूति और मुद्रा में चिहुँकन है। परिवर्तन तो प्रवाह है, हो जाता है, सघनता से छा जाता है; तब यदि कहीं व्यक्ति का उस पर ध्यान जाता है तो वह आश्चर्य-चकित रह जाता है। परिवर्तन के इसी ग्रामाश्रित संदर्भ की एक तीखी अनुभूति 'परती : परिकथा' के जितेन्द्र में पाते हैं। रेणु ने लिखा—

'जितेन्द्र अकेलेपन के अंधकार से बाहर निकलना चाहता है...सांस्कृतिक जीवन पर राजनीतिक प्रभाव अवश्य पड़े हैं। किन्तु उनकी काली प्रतिच्छाया सर्वग्रास नहीं कर सकी है अभी भी!...वह अपनी शक्ति भर विश्वास करने लगा है कि उसका सबसे बड़ा सपना सच हुआ।'[2] जितेन्द्र में गाँव की सांस्कृतिक-क्रान्ति का कृषि-आधारित सपना है जिसके लिए वह आधुनिक संयंत्रों आदि का सहारा लेने के बाद भी उस रागतत्व की सुरक्षा चाहता है जो जोड़ता है। वह गहराई के साथ सोचता है, 'मनुष्य को यंत्र चला रहा है। टेकनालॉजी के युग में हमलोग जीवन-उपयोग का मूल तकनीक ही खो बैठे हैं। हज़ारों-हज़ारों जनता के बीच भी हर एक आदमी विच्छिन्न है, अकेला है।'[3] आन्तरिक स्तर पर घटित परिवर्तन की यह समीक्षा नयी संस्कृति की भूमिका है। यह नयी संस्कृति नगर से आ रही है। गाँव का कथाकार उसकी नवीन चकाचौंध में अभिभूत है। इस हड़बड़ी में वह संस्कृतियों की जननी 'धरती'

---

१. 'इन्हें भी इन्तजार है', पृ० २२६।

२. 'परती : परिकथा', पृ० ४७१।

३. वही, पृ० ४८४।

की परिभाषा भी बदल देना चाहता है। वह धरती को प्रतीक मान रहा है। नगरों के औद्योगीकरण के केन्द्र भी 'धरती' हैं जहाँ से नयी आर्थिक संस्कृतियाँ उपजती हैं।[१] भैरवप्रसाद गुप्त स्पष्ट कहते हैं 'संस्कृति की दृष्टि से शहर गाँव से आगे की रचना है। गाँव सदियों से एक परम्परा को गले बाँधे जी रहा है, इसलिये वह स्थिर लगता है। स्थिरता स्वयं में एक बडी आकर्षक चीज़ होती है, लेकिन वही मृत्यु का चिह्न भी है।...जाने कब से गाँव का जीवन सड़ रहा है। लेकिन शहर के बारे में हम यह नहीं कह सकते।'[२] भैरवप्रसाद जी के इस अधूरे चिन्तन में एक अति है। सड़ाँध के संदर्भ में नगर और गाँव में अन्तर नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह कि शहर संस्कृति नहीं विकृति है, जिसे सभ्यता कहते हैं। वह ग्राम प्रकृति का विपर्यस्त रूप है। वह जीवन का घाट नहीं मरघट है। नयी संस्कृति के बहु-विज्ञापित नाम पर अब उसने ग्राम-प्रवेश किया है, विघटन, टूटन, संत्रास, कुंठा, अकेलापन और अप्रतिबद्धता लेकर। आज का विचारक अप्रतिबद्धता को एक विभाजक रेखा मानकर नव-लेखन को इस रूप में प्रतिष्ठित करता कि उसका लेखक परम्परा से पोषित लोकशास्त्र से अनुमोदित मूल्यों, धर्म और मोक्षादि के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है।[३] यही कारण है कि आज के कथाकार द्वारा चित्रित चरित्र का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। डा० बच्चन सिंह कहते हैं, 'वह 'आउट-साइडर' हो गया है, एकदम अकेला! यही उसकी नियति है। अब वह समाज के बारे में नहीं सोचता, मानवता के बारे...संस्कृति के बारे में नहीं सोचता, अपने बारे में सोचता है।'[४] कथाकारों के ये चरित्र 'संस्कृति' के बारे में न सोच कर भी एक नयी संस्कृति, नगर संस्कृति से भी आगे की महानगरीय संस्कृति के आदर्श बनते जा रहे हैं और नगर-संस्कृति की चपेट में आये गाँव जिस दिन इस महा-नगरीय संस्कृति के गुंजलक में कस जायेंगे उस दिन उनके विनाश-यज्ञ की पूर्णाहुति हो जायेगी।

---

१. 'धरती', भैरवप्रसाद गुप्त, पृ० २४९।
२. वही, पृ० २४८।
३. 'समकालीन हिन्दी-साहित्य : आलोचना और चुनौती', डा० बच्चन सिंह, पृ० ४१।
४. वही, पृ० १२०।

संस्कृतियों की टकराहट

फणीश्वर नाथ रेणु ने 'जलूस' में नवपरिवर्तित सांस्कृतिक ग्राम-स्थिति के सर्वथा नये आयाम का उद्घाटन किया है। उसमें एक ऐतिहासिक सन्दर्भ में बसते नये ग्राम की कहानी है। मैमनसिंह जिले के जुमापुर गाँव के शरणार्थियों का एक दल पहले बेतिया कैम्प में पहुँचता है, फिर वहाँ से पूर्णियाँ जिले में गोड़ियार गाँव के पास 'कालोनी' बसाई जाती है, नोबीनगर कालोनी, एक गाँव किन्तु गाँव से बहुत आगे की आधुनिकतम वस्तु कालोनी में रूपान्तरित ! जहाँ देखते हैं कि नया समाज बस रहा है, पुराने समाज और पुरानी संस्कृति से उसकी टकराहट हो रही है। गोड़ियार गाँव पुराना गाँव है, प्राचीन संस्कृति का प्रतीक और उसकी पार्श्ववर्ती नोबीनगर कालोनी के रूप में नया गाँव है, नयी सांस्कृतिक विकृति का प्रतिफल और प्रतिरूप ! जहाँ की मुख्य समस्या आर्थिक है और 'कल्चर' तथा 'सेक्स' छद्म रूप में उसके चारों ओर मँडराते हैं। इन बंगाली शरणार्थियों के साथ उनके नृत्य-गीतादि और मादल-डिग्गा आये। सांस्कृतिक आदान-प्रदान आरम्भिक खिंचाव के बाद बढ़ने लगता है। ऐसा लगता है कि आरम्भ में भय के कारण ही बंगाली शरणार्थी 'मिक्सिंग' नहीं चाहते हैं और पृथक् सत्ता बनाये रखने के आग्रह पर पृथक् कीर्तनादि की धूम रहती है। बाहर से लगता है कि वे बहुत उल्लसित हैं परन्तु भीतर से कितने उदास हैं। बाद में जब हेलमेल बढ़ता है तो भय जाता रहता है और पृथकतावादी प्रयत्न की जड़ कट जाती है। जैसे गाँव में उदासी है वैसे ही कालोनी में भी कीर्तन, साप्ताहिक गोष्ठी नहीं होती। रात्रि पाठशाला भी बन्द हो जाती है और कालोनी अर्थात् नोबीनगर गाँव एकदम बदल जाता है।[1]

ग्राम संस्कृति और नगर संस्कृति का आन्तरिक स्तर पर टकराव मधुकर गंगाधर की कहानी 'यक्षक' और 'संतरण'[2] में और रामदरश मिश्र की कहानी 'चिठ्ठियों के बीच' तथा 'एक भटकी हुई मुलाकात' में दृष्टिगोचर होता है। आजीविका के हेतु जो लोग गाँव छोड़कर नगर-निवास के लिए विवश हैं वे यदि ग्राम-संस्कार में परिपक्व हैं तो एक विचित्र तनाव की स्थिति का उन्हें सामना करना पड़ता है। सम्बन्धों के निर्वाह का ग्रामभाव शीघ्र गलता नहीं

---

१. 'जलूस, पृ० १६७।

२. दोनों कहानियाँ कथाकार के संग्रह—'हिरना की आँखें' में संकलित।

और अप्रतिबद्धता का नवीन-नागर आधुनिक आर्थिक कठिनाइयों के साथ संयुक्त होकर एक मानसिक बोझ बन जाता है। धर्म के हाथ से निकलकर संस्कृति जब अर्थ से अनुप्राणित होने लगी है तो सारा पुरातन सामाजिक ढाँचा ही उखड़ जैसा गया है। नये बनते-बिगड़ते सम्बन्ध आर्थिक-संस्कृति से प्रभावित हैं। सनातन समाजिक-संस्थायें इसी प्रभाव में नया मोड़ ले रही हैं। विवाह व्यवसाय हो चुका है और जात्यभिमान का ताप इसी अर्थ-संस्कृति की ऋतु के अनुसार ऊपर-नीचे होता है। रेणु ने एक सत्य का उद्घाटन 'परती: परिकथा' में किया—

'तीन साल पहले तक जो क्षत्रिय अपने को खास मानसिंह के वंशज बताते थे......उनके लड़के शिड्यूल्ड कास्ट और एवॉरिजनल कम्युनिटी की फिहरिश्त में अपना नाम लिखाने के लिए धक्कमधुक्की कर रहे हैं।'[1]

आर्थिक संस्कृति

इन्हीं सब कारणों से नये युग में सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों की जगह आर्थिक प्रतिष्ठानों की प्रतिष्ठा बढ़ गई है। ताराशंकर बन्द्योपाध्याय ने 'गणदेवता' में एक जगह विश्वनाथ के मुँह से एक बहुत मार्मिक बात कहलवाते हैं। वह देवू गुरु जी से कहता है, 'रंगीन कपड़े से ही बूढ़ा-नन्हा-मुन्ना नहीं हो जाता। देवू भाई! इस ज़माने में अब यह चंडी मंडप नहीं चलेगा। कोआपरेटिव बैंक कर सकते हो? करो न, वहीं कोआपरेटिव बैंक। देखना, रातदिन वहाँ लोग आते रहेंगे।'[2] 'गणदेवता' का विश्वनाथ ग्रामीण है परन्तु उसने अपने मन का नगरीकरण कर लिया है। उसे गाँवों के पुरातन स्वरूप के प्रति क्लेश है। वह बदलाव चाहता है। उसे आश्चर्य है कि 'अपने गाँवों की यह बैलगाड़ी वाली यात्रा नहीं बदली। गाँव बैलगाड़ियों पर चलते हैं, इसीलिए इतने पीछे पड़े हैं।'[3] बैलगाड़ियाँ ग्राम संस्कृति के अवशेष हैं परन्तु जीप-ट्रक आदि उसे अब बहुत ज़ोर से धक्का दे रहे हैं। चंडी मंडप के बैंक के रूप में परिवर्तन होने तक संभवतः वह नामशेष रह जाय। सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों के आर्थिक

---

१. 'परती : परिकथा', पृ० १४६।

२. 'गणदेवता', पृ० ७७।

३. वही, पृ० ८६।

प्रतिष्ठानों में रूपान्तर होने के अतिरिक्त नये परिवर्तनों के क्रम में गाँवों में आर्थिक-संस्कृति के नये प्रतिष्ठानों ने भी सगौरव सिर उठाया है। लेखक की कहानी 'नयी कोयल'[1] में गाँव की आटा चक्की एक ऐसा ही प्रतिष्ठान है। लेखक की दूसरी कहानी 'बदलाव'[2] में नलकूप भी नवयुग के नये पूजागृह के रूप में अन्यतम महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठान बनता जा रहा है।

नव परिवर्तित स्थितियाँ अत्यन्त तीव्रता के साथ गाँवों को नगरों के निकट करती जा रही हैं और कृषि-संस्कृति का स्वरूप आमूल परिवर्तित होता जा रहा है। उसका आधार उद्योग और अर्थतंत्र होता जा रहा है। अविकसित ग्रामांचलों की अवशिष्ट पुरानी पीढ़ी में पुरातनता के प्रति व्यामोह है परन्तु नयी पीढ़ी शीघ्र नये बोध में प्रशिक्षित हो जाती है। शिक्षादि का प्रसार प्रभाव और योजना-विकास की उपलब्धियाँ ग्रामीणों को कूप-मंडूकता से धीरे-धीरे निकाल रही हैं। यह अत्यन्त मंद गति अवश्य ही शोचनीय है और रूढ़ियों-रीतियों में उलझा ग्राम-जीवन आधुनिकता के आकाश में त्रिशंकु की तरह लटका है। हिन्दी कथा-साहित्य में आये चित्र फिर भी नये परिष्कार के संदर्भ में आशाजनक हैं। भारत के जातीय जीवन में समन्वयशीलता का गुण विख्यात है। ग्राम-नगर का सांस्कृतिक समन्वय किसी पुरानी रूढ़ संस्कृति के आधार पर तो संभव नहीं परन्तु मानव-संस्कृति के आधार पर निकट भविष्य में दोनों को एक दूसरे के निकट आना है और यही वरेण्य है।

१७—कृषि-संस्कृति, सौंदर्य और अन्य बातें

अब तक गाँव की संस्कृति और उसके कथा-साहित्य में प्रतिफलन का जो विश्लेषण हुआ है वह उसके एक पहलू से संदर्भित है। दूसरा पहलू अधिक महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में जीवन सौन्दर्य ही संस्कृति है जो कृषि-क्षेत्र ग्रामांचल में स्पष्ट ही दो भागों में बँटा है। एक का सम्बन्ध व्यक्ति और उसके समाज से है जो आज की संक्रान्तिकालीन स्थिति में धूमिल और दिशाहीन हो गया है तथा दूसरे का सम्बन्ध कृषि-क्षेत्रों की प्राकृतिक सुषमा से है जिसपर देश-काल

---

१. 'धर्मयुग' २१ नवम्बर, सन् १९६५।
२. वही, १३ जुलाई सन् १९६९।

का कोई प्रभाव नहीं है, जो अपने अक्षय नैसर्गिक कंचन-विलास में अखण्ड सनातन सत्य सी गाँव में विराजमान उसकी सारी उदासी और मलिनता को एक स्तर पर उत्फुल्ल मुक्ताभा में रँगती रहती है। यदि इसे ही गाँव की वास्तविक संस्कृति के रूप में रेखांकित किया जाय तो असंगत नहीं होगा। खेतों में असीम भाव से विलासित यह सौन्दर्य प्रसार उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम सर्वत्र समान है। यह ग्रामात्मा का अलौकिक श्रृङ्गार है जो ग्राम श्री के विशाल शस्य-श्यामल मंडप में सुख-दुख और संघर्ष-शान्ति के लौकिक प्रपंचों से अप्रभावित किसी अचिन्त्य पराशक्ति के हाथों स्वयमेव होता रहता है।

'गणदेवता' की बंगभूमि में यह कृषि-संस्कृति का पावन सौन्दर्य पावस के संदर्भ में निम्न प्रकार से उगता है –

'पिछली रात से नयी बरसात शुरू हो गई थी। आकाश फटकर जैसे पानी पड़ा हो। चारों ओर पानी-ही-पानी हो गया। ज़ोरों की उस बारिश में किसान माथे पर चटाई की छतरी-सी डाले काम में जुट पड़े थे। टूटी मेड़ों का मुँह बन्द कर रहे थे, चूहों के बिल बन्द कर रहे थे, पानी को रोककर जो रखना है! पाँव के नीचे की मिट्टी मक्खन सी मुलायम हो गयी थी। उससे सोंधी सुगन्ध आ रही थी। बदली के दिन की जोत के पड़ने से पानी भरे खेत चक-चक कर रहे थे। बीच-बीच में बीज-धान के पौधे घने होकर सब्ज गलीचे-से लग रहे थे। हवा में हिल रहे थे धान के पौधे, मानो अदृश्य लक्ष्मी देवी मेघ-लोक से उतर कर कोमल चरणों से धरती पर आकर विराजेंगी, इस भावना से ग्रामीण किसानों ने आसन बिछा रखे हैं।'[1]

'अलग-अलग वैतरणी' में उत्तर प्रदेशीय सौन्दर्य भूमि को शिवप्रसाद सिंह ने शिशिर-शोभा के संदर्भ में कलात्मक चित्र-निखार दिया है: 'नवम्बर का महीना एक अजब दिलफरेब महीना होता है। रंगारंग क्यारियों का महीना। सुबह के समय गाँव के बाहर किसी भी स्थान में खड़े हो जाइये, आपको लगेगा कि शतरंज के बिसात खाने पर खड़े हो गये हैं। एक तरह की क्यारियाँ, नाना तरह की फसलें। कहीं छोटी-छोटी पतली नोकदार पत्तियों वाले गेहूँ के खेत, तो कहीं झाँवरी पत्तियों वाले चने और तीसी के पौधे। कहीं चिपटी गोल-गोल जोड़वी पत्तियों वाले मटर के खित्ते तो कहीं गंधीले काँटेदार चौड़े-चौड़े पत्तों

---

१. 'गणदेवता', पृ० २९२।

वाले सरसों के गोटे । इस पूरे सिवान की समरसता को चुनौती देते ईख के असि-पत्र-वन तथा ज्वार और बाजरे के उठती पहाड़ियों जैसे खेत । वह पूरा सिवान जैसे रंगीन कलाबत्तू की ओढ़नी है जिसे अपने सीने पर फरफराती धरती गुमसुम लेटी किसी की आतुर बाट जोह रही है ।[1]

यही चित्र दक्षिणांचल में कृषि सौन्दर्याश्रित सांस्कृतिक एकता की विजय-वैजयन्ती फहराता माडगूलकर के 'बनगरबाड़ी' में नयी दीप्ति के साथ अंकित होता है : 'बाजरा धीरे-धीरे बढ़ गया । पोटरी से लम्बी डण्डियों के छरहरे वदन के भुट्टे बाहर निकले । हरी डण्डियों पर कत्थई रंग के भुट्टे सर्वत्र डोलने लगे और शीघ्र ही जामुनी रंग के फुलेरों से खिल गये । वह सुकुमार फुलेरा भर गया और छोटी-छोटी चीटियाँ भुट्टों पर चढ़ने लगीं । मधुमक्खियाँ भुट्टों के आसपास मँडराने लगीं । पीले रंग की छोटी तितलियाँ जोड़ी-जोड़ी में चक्कर काटती हुई आकर बैठने लगीं । मस्ती से बह रही हवा में फुलेरा उड़ने लगा और भुट्टे खुलने लगे । उसी खेत के भीतर मिला कर बोई हुई दलहन की बेलें फैलने लगीं । मटर की फलियों के गुच्छे कहीं-कहीं दिखायी देने लगे । कुलथी को जोश आया । अरहर के सीधे फैले हुए पेड़ों पर साँवले रंग की फलियाँ दानों से भरने लगीं । मूँगफली की जड़ों में गाँठें लगने लगीं । बाँधों पर उगे हुए पौधों के सफेद और जामुनी रंग के तुर्रे झूमने लगे । और शीघ्र ही फुलेरों से भरे हुए बाजरे के भुट्टे चमकदार दानों से ठस गये । चिड़ियों के दल-के-दल उड़ते हुए आकर उन दूध भरे दानों को चुनने लगे ।'[2]

गाँव का समग्र सौन्दर्य

इस प्रकार स्पष्ट है कि चाहे वह बंगाल का शिवकालीपुर है, चाहे उत्तर-प्रदेश का करैता और चाहे महाराष्ट्र का बनगरबाड़ी गाँव है, सबमें कृषि क्षेत्रों की सौन्दर्यगत अन्तररसता समान है । आदमी के रूप-रंग में अन्तर है, परिधान में भिन्नता है और भाषा भले अलग-अलग है परन्तु खेतों का रूप-रंग, उनके परिधान और उनकी भाषा एक है । यह समग्र सौन्दर्य वासना रूप से भारतीय ग्राम-मन में जमा हुआ है और परिवर्तनों के धक्के इसे उखाड़

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ३५५ ।

२. 'बनगरबाड़ी' (प्रतिनिधि रचनायें मराठी : ज्ञानपीठ प्रकाशन) पृ० ६३ ।

नहीं सकते, और अधिक निखार भले आ जाय ! खेतों की यह समरस संगति समग्र ग्राम-चित्र में भी एक प्रकार की समस्वरता का आविर्भाव करती है : 'रात के अन्तिम प्रहर में गाँव जगा है। ढेंकी चलने लगी है। भक्त नहाकर शिवोऽहं-शिवोऽहं और हर-हर बम-बम करते देवस्थानों की ओर जा रहे हैं। चरमर करती खाद-लदी बैलगाड़ी गाँव से निकल रही है। हलवाहे हल लेकर निकल रहे हैं, जैसे जलूस जा रहा है, आदमियों का, बैलों का।'[1] इस प्रकार के चित्र बंगदेशी ग्राम के ही नहीं, समूचे भारत के हो सकते हैं।

गाँव की रचना

गाँवों के मौलिक संगठन और उनकी रूप रचना पर भी प्रादेशिक भिन्नत्व का प्रभाव फिसल सा जाता है। यदि फणीश्वर नाथ रेणु के 'मैला आँचल' में बिहार का मेरीगंज गाँव विभिन्न टोलों में बँटा है; पोलिया टोली, ततमा टोली, यदुवंशी क्षत्रिय टोली, कुर्मक्षत्रिय टोली, अमात्य ब्राह्मण टोली, धनुकधारी क्षत्रिय टोली, कुशवाहा क्षत्रिय टोली, रैदास टोली, गुआर टोली, सिपैहिया टोली और मालिक टोली यानी कायस्थ टोली, तो देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यास 'ब्रह्मपुत्र' में आसाम का दिसांगमुख गाँव भी पाँच बस्तियों में बसा है, अली-सीगा की मीरी बस्ती, मुसलमान बस्ती, बलमा, चितालिया और जलगाँव ! और यही स्थिति उत्तरप्रदेश के बुन्देलखण्डान्तर्गत राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यास 'जाने कितनी आँखें' में बभनइया, कुरमीटोला, मुसलमान टोला, अहीर टोला आदि के रूप में है। पंचगावाँ, छहगाँवा और अठगावाँ की संगठन-प्रवृत्ति अखिल भारतीय है। 'गणदेवता' में महाग्राम, शिवकालीपुर, देखुड़िया, कुसुमपुर और कंगना मिलकर पंचग्राम यानी पंचगाँवा बनते हैं।

भारतीय गाँवों की ऊँची-नीची अर्थात् कुलीन-अकुलीन स्थिति भी मानव-समाज की तरह एक सांस्कृतिक सचाई है जो सम्पूर्ण देश में पाई जाती है। बालशौरि रेड्डी के उपन्यास 'स्वप्न और सत्य' में आन्ध्र प्रदेश का पुलिवेंदुलाम ग्राम समुदाय धन के कारण नहीं चरित्र, कुल और व्यवहार के आधार पर स्मरण किया जाता है और उसी का पार्श्ववर्ती रामचेरी ग्राम समुदाय आर्थिक कारणों से श्रेष्ठ माना जाता है। बलवन्त सिंह के उपन्यास 'दो अकालगढ़' में

---

१. 'गणदेवता', पृ० २५०-२५१ के आधार पर।

एक गाँव है उच्चा अकालगढ़ जिसमें रहने वाले कुछ हीन कुल समझे जाते हैं और उसका पड़ोसी है नींवा अकालगढ़ जिसके निवासी स्वयं को अपेक्षाकृत कुलीन मानते हैं। वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास 'उदयकिरण' में जो स्थिति डाबर गाँव के बसने की है लगभग वही स्थिति मायानन्द मिश्र के उपन्यास 'माटी के लोग सोने की नैया' में भपटियाही गाँव की संरचना में है। एक में पशुपालक और खेतिहर गड़ेरिये जैसे विभिन्न जगहों से जीविकार्थ एक जगह आकर बस जाते हैं उसी प्रकार दूसरे में विभिन्न स्थानों से उपट कर भिन्न-भिन्न जातियों के मछुआरे इस उदहा नदी के किनारे आकर बस जाते हैं और शनैः शनैः एक सामाजिकता में अनुस्यूत हो जाते हैं। इस प्रकरण में बिहार के कोसी क्षेत्र और उत्तर प्रदेश के बुन्देलखण्ड का अलगाव नगण्य है। 'अलग अलग वैतरणी' में जैसे करैता गाँव के दक्षिण और चमटोल है उसी प्रकार 'जल टूटता हुआ' में तिवारीपुर गाँव के दक्षिण और चमटोल है उसी प्रकार 'जल टूटता हुआ' में तिवारीपुर गाँव के दक्षिण और चमटोल है तथा इसी प्रकार प्रायः प्रत्येक भारतीय गाँव के दक्षिण ओर हरिजन बस्ती होती है। यह गाँव संरचना का एक सांस्कृतिक विधान है। हिन्दी कथा-साहित्य में उभरे इन चित्रों से गाँव के सजीव सांस्कृतिक व्यक्तित्व की गरिमा स्पष्ट होती है।

भाषा और परिधान

गाँव की भाषा और परिधान के चित्र भी स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में उभरे हैं। 'आधा गाँव' में भोजपुरी-उर्दू का उद्घाटन हुआ है। यह वह बोली है जो पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ मुसलमान परिवारों में अपने घरों में बोली जाती है। 'अलग-अलग वैतरणी' के भोजपुरी हिन्दी से इसका पार्थक्य स्पष्ट है। शिवप्रसाद सिंह में बनारसी चाशनी गाढ़ी प्रतीत है। 'भूले बिसरे चित्र' में अवधी का अपना रंग है। स्वतंत्रता के बाद लोक-भाषाओं की ओर यह उन्मुखता प्रजातांत्रिक प्रभावों की अभिव्यक्ति है। और इस अकविता-अकहानी के युग में 'राग दरबारी' में ग्राम-स्तर पर एक सार्थक प्रयोग दृष्टिगोचर हुआ 'अ-भाषा' का! गाँव की यह स्वनिर्मित अटपटी भाषा उनकी एक विशेष मस्ती की मुद्रा का प्रकाशन करती है। पोशाक का चित्र कम अंकित हुआ है। बलभद्र ठाकुर के उपन्यासों में पहाड़ी पुरुष और नारियों के वस्त्राभूषण के चित्र बहुत अधिक अंकित हुए हैं। परिनिष्ठित परिधान अध्यापक का है और

धोती-कुर्त्ते में शीघ्र पहचान में आ जाता है। चाहे वह करैता का शशिकान्त हो चाहे तिवारीपुर का सुग्गन तिवारी। राष्ट्रीय पोशाक शिवपालगंज के स्कूल मैनेजर वैद्य जी की है। खादी की धप्धप् धोती, चादर, कुर्ता, सदरी और टोपी! स्वन्तत्रता के बाद परिधान की भव्यता इसी वर्ग में उभरी है। संस्था-जीवी नेता, अवसरवादी जन-सेवक और सर्वभक्षक संस्थाध्यक्षों की खादीवादी संस्कृति में ढली राष्ट्रीय पोशाक के नीचे किसान-मजदूर हैं और कथा-साहित्य में उभरे चित्रों के अनुसार संक्षेप में गाँव के मजदूर नंगे और किसान अधनंगे हैं।

इन ग्रामीण यथार्थ-चित्रों से नया कथा-साहित्य समृद्ध हुआ है। उसने किसी परिकल्पित अभिजात संस्कृति से अपने कथोपकरण नहीं सज्जित किये हैं। उसकी भंगिमा में विकृति को जीने और उसमें संघर्षरत रहने की अदम्य कामना है। आंचलिकता की प्रवृत्ति में चर्चित सांस्कृतिक प्रत्यावर्तन वास्तव में विगत का एक व्यामोहाविष्ट स्मरण है। गाँव की वर्तमान संक्रान्ति-कालीन स्थिति सतत-क्रियाशील विकास-धारा का एक महान् मोड़ है। इस मोड़ के बाद निस्सन्देह गाँव में एक नयी संस्कृति, धर्माधारित नहीं, आर्थिक-संस्कृति पूर्ण विकास की अवस्था में दृष्टिगोचर होगी।

●

पंचम अध्याय

नये सामाजिक मूल्य और स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य

(१) नये सामाजिक परिवर्तन और गाँव

आधुनिकता के संक्रमण से परिवर्तित भारतीय सामाजिक परिस्थितियों में, जो स्वातंत्र्योत्तर आकांक्षाओं और मोहभंग के अन्तर्विरोधों की टकराहट में अत्यन्त जटिल हो गई हैं, एक ऐतिहासिक मोड़ आया है। आधुनिकता पश्चिम से आई और उसकी गति जो स्वतन्त्रतापूर्व अतीत वैभव की सांस्कृतिक अस्मिता युक्त राष्ट्रवादी प्रतिक्रियाओं के कारण मन्द पड़ गई थी, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् नूतन अनुभूतियों के साथ संकुचितता विसर्जित करके असाधारण तीव्र हो गई। परम्परित सामाजिक मूल्य, पारिवारिक दायित्व और प्रतिबद्धता आदि जैसी सामाजिक संरचना की आधार-भूमियों के खिसकने में जनसंख्या वृद्धि, सेवावृत्तियों आदि की जटिलतायें, मनुष्य की आधुनिक यायावरीय या नूतन परिव्रजनशील नियति तो कारणभूत हैं ही, विशेष रूप से इसके मूल में विज्ञान और प्रविधि की वे सार्वभौम उपलब्धियाँ हैं जिन्होंने मनुष्य को अकेला कर दिया तथा समाज के प्रति कोई रागात्मक संपृक्ति न होने के कारण वह उसके लिए मात्र 'भीड़' की सत्ता बनकर अवशिष्ट रह गया। इस समाज बनाम 'भीड़' से कटी अतः उसे नेतृत्व प्रदान करने में अक्षम व्यक्ति-चेतना वैयक्तिकता की विस्फोटक अति की स्थिति में एक ऐसा पाखण्डपूर्ण मुखौटावादी रूप धारण करती है जिसमें वह मिथ्या समाज सापेक्षता की विज्ञापन-वैजयन्ती हाथ में थामे दृष्टिगोचर होती है। इस पुरानी पीढ़ी के अतिरिक्त दूसरी ओर युगधर्मासिन पर विराजित, विद्रोह के चरणों में समर्पित नया रक्त है जो कुंठित भी है और क्रुद्ध भी। समस्त मूल्यों, सम्बन्धों और परम्पराओं की अस्वीकृति-मुद्रा में समाज की यह नयी पीढ़ी साहित्य के माध्यम से व्यक्त होने लगी है।

किन्तु यह समस्त परिवर्तन और सामाजिक मूल्यानुसंक्रमण प्रभावकर स्तर पर नगरों तक ही सीमित है। गाँवों में इसकी प्रगति अत्यन्त मन्द है।[1] नये विकास के साथ नगर सम्पर्क और नगरीकरण की स्थितियाँ जैसे-जैसे बढ़ रही हैं वैसे-वैसे गाँवों का सामाजिक ढाँचा परिवर्तित होता जाता है। नगर की चपेट में सर्वप्रथम उसकी परम्परागत समाज-संरचना उध्वस्त हुई है और चतुर्मुखी टूटन के आयाम परिलक्षित हुए हैं। स्थितियों के दबाव से नये मूल्य भी रेखांकित होने लगे हैं। ग्रामीण समाज में सहकार और बन्धुत्व का जो मर्यादित स्थान था वह ढह गया है। 'ग्राम' अपने अन्वर्थ 'समूह-भाव' से शनैः शनैः बिखर कर एकाकीपन की ओर जा रहा है। राजनीति ने एक गाँव में सामाजिक दृष्टि से कई-कई गाँव कर दिये हैं। प्राचीन काल में प्रायः एक गाँव दूसरे गाँव से किसी सामूहिक प्रश्न पर अथवा आन पर लड़ा करते थे और स्वयं अपने अन्दर अटूट एकता के सूत्र में आबद्ध रहते थे। उनकी इसी युयुत्सु-वृत्ति के कारण 'संग्राम' शब्द का अर्थ ही 'युद्ध' के रूप में रूढ़ हो गया। आज गाँव की आन अथवा गाँव की प्रतिष्ठा का मूल्य पूर्णतः चुक गया है। 'समूह भाव' की जगह इकाइयों की उत्कर्ष-आकांक्षा प्रबल हो उठी है। धर्म के स्थान पर अर्थ, भाईचारा के स्थान पर पार्टीबंदी और प्रतिष्ठा के स्थान पर नंगई आदि के भाव गाँव के नये समाजबोध के रूप में उभरे हैं। स्वातंत्र्योत्तर दो दशक के उलझाव के बाद उसकी सामाजिक संक्रान्ति को सही दिशा मिलने के लक्षण कृषि-क्रान्ति के बाद यद्यपि शनैः शनैः दृष्टिगोचर होने लगे हैं। परन्तु पृष्ठभूमि में मात्र आर्थिक-विकास, उद्योग और यंत्र-प्रसार होने से गाँवों में सुरक्षित मानवीय मूल्यों का भविष्य अंधकाराच्छन्न हो जाना संभावित प्रतीत होता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कथा-साहित्य में इन नवपरिवर्तित स्थितियों और नये सामाजिक मूल्यों का आलेखन रचनात्मक स्तर पर रेणु, शिवप्रसाद सिंह, नागार्जुन और भैरवप्रसाद गुप्त आदि ने किया है। आरंभ में आंचलिकता की बाह्य ऊँचाइयों के स्पर्श की प्रवृत्ति प्रधान थी अतः सामाजिकता की आन्तरिक गहराइयों को हिन्दी-कथाकार नहीं छान सके। सन् १९६० के बाद इस दिशा

---

१. **नवलेखन विमर्श-गोष्ठी : २७-२८ मार्च १९६८ (वाराणसी) की प्रस्तावना पुस्तिका।**

में कुछ उपलब्धियाँ प्रस्तुत हुई हैं। नयी कहानी के लेखकों की यदाकदा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित ग्राम-भित्तिक कहानियों के अतिरिक्त इस संदर्भ के महान् सृजनात्मक कृतित्व 'अलग अलग वैतरणी' में समग्र-समवेत रूप से नये सामाजिक मूल्यों का ग्रामस्तर पर आलेखन हुआ है।

(२) मूल्यानुसंक्रमण की पृष्ठभूमि

सन् १९४७ और सन् १९७० के बीच मूल्यगत संक्रान्ति का परिवर्तन चक्र इतना तीव्र रहा है कि सेवा, सहयोग, सुधार, विकास, विचार, विरोध, प्रस्ताव और समझौता वार्ता जैसे सैकड़ों शब्द टूटकर एकदम अर्थशून्य हो गये। पूज्य और श्रद्धा-भाव के ऊँचे-ऊँचे शिखर टूट कर धूल में लोटने लगे। युगीन मूल्य-संक्रमण एक व्यापक प्रलय की भाँति अखिल सद्, शुभ्र और शुचित्व को अपने सत्यानाशी अंचल में आयत्तकर लहराने लगा और उसकी लहरों में अवश नागरिक-सत्ता अपनी उपहासास्पद स्थिति को ही सत्य मानती जीती रही। मार्कण्डेय ने 'प्रलय और मनुष्य'[1] शीर्षक कहानी में इसी तथ्य को चित्रांकित किया है। गंगा की प्रलयंकारी बाढ़ के पानी में, मेढ़की, चेल्हवा, हेल्सा, घोंघी, जोंक आदि जलचर अपने मार्मिक प्रतीकों में नये मनुष्य पर व्यंग्य करते हैं और युग-बोधक नये मूल्यों का विश्लेषण होता चलता है। क्रुद्ध प्रकृति की 'चपेट में एक इंजीनियर स्वयं स्वीकार करता है कि किस प्रकार वह तंत्र के काम को किसी तरह रंग कर दिखा देने वाले ठीकेदारों को पूरा रुपया देता था। किस प्रकार सीमेन्ट की जगह माटी और बड़े-बड़े बाँधों में बालू भरवा कर वह सेवा के पर्वत खड़े कर देता था। इस कहानी में एक मेढ़क और मेढ़की की वार्ता महत्वपूर्ण है :—

'मेढ़की—डरो नहीं, यह खादी की टोपी है। इसकी दीवारों में हम सुरक्षित हैं।

मेढ़क —यह इस लोक की सबसे बड़ी ढाल है। इसके पीछे कुछ भी छिप सकता है।'

समाज स्तर पर जनसेवियों का इस प्रकार युगदस्युओं के रूप में रूपान्तर सामान्य ग्राम से लेकर देश की राजधानी दिल्ली तक एक ज्वलन्त सचाई है।

---

१. 'हंसा जाइ अकेला' में संकलित।

अमरकान्त के उपन्यास 'ग्रामसेविका' में एक ग्राम सभापति जी हैं। यद्यपि वे ग्रामस्तर पर नयी प्रजातांत्रिक व्यवस्था के प्रतिनिधि हैं तथापि मानवीय स्तर पर प्राचीन, भ्रष्ट, सड़े, जड़ मूल्यों के पुतले हैं। 'उन्होंने सुना था कि गाँव में ग्रामसेविका आने वाली है तो वह बहुत खुश हुए थे।...प्रधान जी के मुँह में पानी भर आया।...घर में रहने पर प्रतिष्ठा बढ़ेगी। अफसरों पर प्रभाव रहेगा।...ऐसी सुन्दर छोकरी ग्रामसेविका बनकर आयेगी, यह उनको उम्मीद नहीं थी।...उनके दिमाग पर दमयन्ती का भूत सवार हुआ।'[1]

जब ग्रामसेविका उनके घर पर नहीं टिकती हैं तो फिर सभापति जी का क्रुद्ध अधिकारी-अहं साम-दाम-दण्ड-भेद का सारा प्रयोग छान डालता है। वे अपना प्रबल 'पुरुषार्थ' प्रदर्शित करते संकुचित नहीं होते हैं। मन्त्री-मिनिस्टर के मित्र होने की धौंस, नौकरी से निकलवा देने का आतंक और षड्यन्त्रपूर्वक एक काल्पनिक बदमाश व्यक्ति का भय दिखाकर इष्टसिद्धि अर्थात् इस 'मक्खन की टिकिया' को हस्तगत करने की उनकी आतुरता एक विचित्र अवमूल्यित लिजलिजी स्थिति उत्पन्न कर देती है।[2] यह सेक्स विस्फोट गाँव की नैतिक भूमि पर एक सर्वथा नये परा-नैतिक बोध के आवरण में अवतरित हुआ है। इस नये बोध में अनैतिकता नामक किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रह गया। इतना अवश्य है कि नगरों की भाँति इसकी विस्फोटक शक्तियों को कहीं-कहीं परिवेशगत साहाय्य उतना नहीं मिलता है जितना समग्र परिवर्तन के लिए अपेक्षित है। इसीलिए अमरकान्त की ग्रामसेविका अपने सतीत्व की रक्षा करने में असमर्थ हो जाती है और हिमांशु श्रीवास्तव की परबतिया नगर के इस रंग को झटककर परम्पराओं के सुरक्षित क्षेत्र गाँव में लौट आती है। 'नदी फिर वह चली' में गाँव की गरीब परबतिया अपने शहरी ट्रक-ड्राइवर पति जगलाल के साथ पटना आती है तो ऐसी उलझी विषम स्थितियों में घिर जाती है कि लगता है उसका अर्थात् गाँव का यौन-पवित्रता-बोध लड़खड़ाने लगा है। भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के साथ उसकी लड़खड़ाहट, टूटन और पतनशील स्थितियों का शुभारंभ हो जाता है। गाँवों में बस-सेवा पहुँचने लगी है और वहाँ के लोग विधायक एवम् संसद-सदस्य होने लगे हैं परन्तु उसकी स्थिति में कोई अन्तर

१. 'ग्रामसेविका', पृ० ८६-८७।
२. वही, पृ० १०८।

नहीं आता है। जिस समय समूची सामाजिक-शक्तियाँ राजनीति में रूपान्तरित होकर नये मूल्यों का निर्माण कर रही होती हैं अपना परम्परागत बोध लिये तड़पती एक ग्रामात्मा नगर को अन्तिम रूप से नमस्कार कर लेती है। कथाकार उसे दाद देता है, 'कहते हैं, भारतमाता गाँव में बसती हैं। परबतिया, भारतमाता की बेटी, गाँव की बेटी, शहर में जाकर भी शहर की न हो सकी। शहर का रंग उसपर नहीं चढ़ सका। राजनीति की जंग उसके पल्ले नहीं पड़ी।'[१] और वह गाँव में प्रत्यावर्तित हो गई।

लेकिन ऐसा नहीं कि स्वतंत्रतापूर्व जिस रूप में गाँव को छोड़कर परबतिया नगर में गई है स्वतंत्रता के पश्चात् वापस लौटने पर उसका गाँव उसी रूप में दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में वह आमूल चूल परिवर्तित हो गया है। नये उभरे सामाजिक संदर्भों ने नये मूल्यों को पुरस्कृत किया है। परिवर्तित स्थितियों के दबाव ने मनुष्य को संग्रह-त्याग के नये उलझाव में झोंक दिया है। पुराने मूल्यों की सत्ता व्यामोह-रूप में अवशिष्ट प्रतीत होने लगी है। ग्रामस्तर के इन सभी परिवर्तनों को उदयराज सिंह ने 'अँधेरे के विरुद्ध' में अंकित किया है। गाँव के जमीदार नेता हो गये।[२] ब्लाक भ्रष्टाचार के केन्द्र हो गये।[३] चोरबाजारियों का वैभव बढ़ा।[४] बड़े लोगों ने हाथी पालना बन्द कर दिया।[५] गाँव में चाय की दूकान खुल गई।[६] अनैतिकता और बलात्कार की वृद्धि हुई।[७] स्वार्थी ग्राम नेताओं ने पार्टीबन्दी पोख्ता कर गावों में दरार डाल दिये।[८] प्रतिष्ठा उसकी है जो काँग्रेसी है।[९] जाति-बोध नये स्तर पर जी गया।[१०] ग्राम-पंचायतें गाँव पर एक आफत की तरह टूटीं।[११] अच्छे-भले लोग

१. 'नदी फिर बह चली', पृ० २७३।
२. 'अँधेरे के विरुद्ध', पृ० १०।
३. वही, पृ० २९।
४. वही, पृ० ४५।
५. वही, पृ० ५१।
६. वही, पृ० ७०।
७. वही, पृ० ९४।
८. वही, पृ० १४३।
९. वही, पृ० १८२।
१०. वही, पृ० १९०।
११. वही, पृ० १९०।

राजनीति से अलग मौन भाव से अपनी इज्जत बचाने लगे।[1] बात-बात में मन्त्री-मिनिस्टर को तार जाते हैं और दिन-रात काला-सफेद होता रहता है।[2]

इस मूल्यानुसंक्रमण की पृष्ठभूमि में सबसे महत्वपूर्ण रोल नयी पीढ़ी की उत्तरदायित्व-विहीनता का है। युवा-व्यक्तित्व में एक विचित्र सी रिक्तता का बोध एक सत्य है। वह अनाम सरहदों पर युद्ध-रत दीखता है। बीहड़ प्रश्नों से पलायित हो जाता है अतः एक विचित्र सी सामाजिक स्थिति इस रूप में पुराने मूल्य जहाँ टूट कर गिर रहे हैं, नयी युवा पीढ़ी के द्वारा उनकी स्थान-पूर्ति के लिए नये मूल्यों का निर्माण नहीं हो रहा है। नागार्जुन के उपन्यास 'नयी पौध' में 'ग्रामीण समाज की उगती उभरती नयी पीढ़ी' 'अनावश्यक रूढ़ियों, परम्पराओं और अंधविश्वासों के विरुद्ध संग्राम छेड़ने के लिए' यद्यपि 'बमपार्टी' के रूप में संगठित होती है परन्तु उसकी सारी टकराहट प्रेमचन्द कालीन स्तर पर टिकी रह जाती है। उनका सारा मोर्चा अनमेल विवाह के विरुद्ध है। उनकी पार्टी में एक महिला सदस्या विसेसरी भी है जो आधुनिकता का प्रतीक है। एक दिन वह युवा-प्रतिनिधि बूलों से एक मूल्यवान प्रश्न करती है—

'सौराज हुआ होगा दिल्ली और पटना में। यहाँ जो ग्राम-सरकार कायम हुई है उसके एगारह ठो मेम्बर हैं। जनाना भी एक्को गो हैं बूले?'[3]

और, निरुत्तर बूलो कान पर जनेऊ चढ़ाकर पेशाब करने भाग जाता है? नये मूल्यों के प्रश्न पर इसी बूलो की स्थिति आज समस्त उत्तरदायी समझे जाने वाले व्यक्तियों की है। वे प्रश्नों से कतराते हैं, समस्याओं से कतराते हैं और एक सघन अन्तर्विरोध की स्थिति को समाज जीने के लिए विवश है।

समाज के व्यक्तियों की भाँति ही स्वातंत्र्योत्तर कथाकार भी नये मूल्य, नये दायित्व और नयी प्रश्नशीलता से कतराता हुआ प्रतीत होता है। नागार्जुन और रेणु तक कतरा कर भागते हैं। शिवप्रसाद सिंह एक सीमा तक झेलते हैं परन्तु उनके दो सेनानी विपिन और देवनाथ दुस्तर ग्राम-वैतरणी की बीहड़-

---

१. **'अँधेरे के विरुद्ध', पृ० १६६।**
२. **वही, पृ० २६४।**
३. **'नई पौध', पृ० १२७।**

ताओं से घबरा कर अन्ततः सुरक्षित नगरों में पलायित हो जाते हैं। तो भी, निस्सन्देह, नये सामाजिक मूल्यों को 'अलग-अलग वैतरणी' के माध्यम से सर्वाधिक सशक्त और प्रभावशाली ढंग से उभारा गया है क्योंकि आंचलिकता की बाह्योपचारिता रहित आधुनिकता का आग्रह गंभीर सामाजिक उत्तरदायित्वों से सम्पृक्त होकर इसमें प्रतिफलित हुआ है।

प्राचीन सामाजिक मूल्यों की अवशिष्ट स्थिति

जैसा कि पीछे संकेतित है हिमांशु श्रीवास्तव की परबतिया और अमरकान्त की दमयन्ती में प्राचीन सामाजिक मूल्य सुरक्षित हैं, जबकि यह युग ही मूल्यों के स्खलन और टूटने का है। कथा-साहित्य में जहाँ भी ग्रामबोध अपनी पूरी ऊर्जा के साथ उभरा है वहाँ प्राचीन मूल्यों को अनायास प्रतिष्ठा मिल गई है। पानू खोलिया की कहानी 'शीश कटी'[1] में पति-पत्नी की कहानी है। पहले तो पत्नी स्वयं ही एक अन्य व्यक्ति—अमीन—के प्रति आकृष्ट होती है और अपने पति से बराबर आशंकित रहती है कि इस रहस्य का उद्घाटन होने पर उन दोनों की कुशल नहीं। परन्तु बाद में जब जमीन और सिगरेट के टुकड़ों के कारण पति स्वयं पत्नी तुलसी कुँअर को अमीन के यहाँ प्रेषित करने लगता है तो उसकी निर्वीर्यता पर पत्नी को बहुत क्षोभ होता है और वह उससे क्षुब्ध होकर कहती है, 'बता दूँ कौन है तू मेरा ?···मैं बेशुआ और तू मेरा दलाल !'[2]

कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया' में इसी आर्थिक मुद्दे पर चन्दा बचनसिंह कम्पाउण्डर के फन्दे में फँसी और वह फँसकर फिसल गई, क्योंकि वह कस्बे की, आधुनिक नगरबोध के निकटवर्ती पड़ोस की थी। वहाँ तुलसी कुँअर 'न केवल अमीन के चंगुल से सुरक्षित निकल आती है बल्कि पति को उलटकर एक ऐसा तड़ाका उत्तर दे देती है जिसमें प्राचीन सामाजिक मूल्य--सतीत्व—का आक्रोशपूर्ण हुंकार भरा होता है। पानू खोलिया ने तुलसी कुँअर के रूप में परम्परित हिन्दू-कुलवधू के दर्पस्फीत पवित्रता-बोध और आदर्श नारीत्व को अंकित किया है।

---

१. 'एक किरती और' में संकलित।

२. वही, पृ० १००।

शैलेश मटियानी के पर्वतीय कथांचल में आधुनिकता के अति विरल प्रवेश होने के कारण प्राचीन सामाजिक, नैतिक एवम् सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आग्रह की कसी मुट्ठियाँ ढीली पड़ती नहीं दीख रही हैं। मटियानी की कहानी 'रुका हुआ रास्ता'[1] में लूले लाचार पति खीमसिंह को गोमती रात-दिन की परेशानियों के कारण छोड़कर एक दिन किशन के घर छिपी-छिपी आ तो जाती है परन्तु सामाजिक-नैतिक मूल्यों का संस्कारित पलड़ा भारी पड़ता है और भाग खड़ी होती है। प्राचीन मूल्यों की जकड़न, कसाव और कसमसाहट यद्यपि गोमती में निहित है परन्तु नयी मूल्यशरणता का विद्रोह नहीं है। नये मूल्यों के प्रति एक अज्ञात भय और आतंक का भाव है। वह नारी नियति की दोहरी जकड़न—परलोक भय और समाज भय—को जीती यथास्थितिवादी हो जाती है। शैलेश मटियानी की कहानी 'असमर्थ' ('दो दुखों का एक सुख' में संकलित) में भी यही केन्द्रीय भाव दृष्टिगोचर होता है। इसमें भी पति लूला और अपंग है और उसकी भागी पत्नी नैतिक मूल्यों के प्रबल अन्तराग्रह पर पुनः वापस आ जाती है। नये कथासाहित्य में पति-पत्नी का जो तनाव दृष्टिगोचर हो रहा है और यौनस्वच्छन्दता में निरामिष हरिद्वारी मूल्यों को जो धक्का देना आरम्भ किया है वह अविकसित-अप्रबुद्ध पर्वतांचल और ग्रामांचल में मूल्य विद्रोह के स्तर पर नहीं दिखाई पड़ता है। पत्नियाँ अपने लँगड़े-लूले पतियों के साथ भी सतीत्व और दैवी विधान की परलोकाश्रित भावना के कारण सेवा-रत हैं और निभती चलती हैं।

मूल्यों की यही यथास्थिति अविकसित आदिवासी क्षेत्रों में है। अकिंचनता, विपन्नता और चूड़ान्त हीनता की स्थिति में भी वहाँ मानवता, प्रेम, सहृदयता, उल्लास, सजीवता और मुक्तमनता के बिरवे समाजोद्यान में पल्लवित-पुष्पित रहते हैं। शानी की एक कहानी 'वर्षा की प्रतीक्षा'[2] में व्यक्ति जीवन के निविड़ एकान्त का अन्तस्संघर्ष, उसकी अनुराग-बाँसुरी की चटक टेर, विद्रोह और फिर समझौता सब कुछ शृङ्खलित है। एक द्विधा और असमंजस की कठिन स्थिति को पार कर कुहरानी व्यक्ति-धर्म और परिवार-धर्म के संघर्ष को तोड़ने में समर्थ होता है। वह अपनी काकी को असहाय छोड़कर अपनी बाल-प्रेमिका

---

१. 'छोटे घेरे का विद्रोह' में संकलित।

२. वही।

मलको की सखी कोमे का लहमादा (घरजमाई) होने नहीं जाता है। और इस प्रकार वह देहसुखवाद पर संयम और मानवता को प्रधानता देकर प्राचीन सामाजिक-नैतिक मूल्यों की विजय प्रदर्शित करता है।

शिवप्रसाद सिंह और रामदरश मिश्र में भी कहीं-कहीं प्राचीन मूल्यों की प्रतिष्ठा मिलती है। रामदरश मिश्र की कहानी 'लाल हथेलियाँ'[1] में सुभाष की पहली विवाहिता पत्नी ममता गँवार, पतिव्रता और सेवापरायणा के साथ गृह-कार्य में लग्न अतः गन्दे नाखून और खुरदरी हथेलियों वाली है। दूसरी नौकरी में आने के बाद की प्रेमिका-पत्नी है जो फैशनप्रिय, स्वच्छन्द, गृहकार्य विरत, विलासजीवी और लाल नाखूनों के साथ लाल हथेलियों वाली है। कालक्रम से एक समय रुग्णावस्था में सुभाष को नया बोध इस रूप में होता है कि लाल हथेलियाँ पथ्य बनाने, दवा पिलाने और बीमार गालों को सहलाने के लिए नहीं हैं और वह ममता की उन खुरदरी हथेलियों की सुध में डूब जाता है जो बर्तनों की कालिख से झँवराई अँगुलियों वाली हैं और उसके हर आँसू को कागज के मोटे खुरदरे सोख्ते की भाँति सोख लेने वाली हैं।[2] विवाह-संदर्भ में सेवा और पति-भक्ति के आदर्श का यह परम्परित मूल्य आधुनिकता के मूल-रिक्त 'खाली घर' में द्रष्टव्य है। इसी प्रकार शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'बीच की दीवार'[3], में एक नया मूल्य 'विघटन' के रूप में उभरता तो अवश्य है परन्तु वह प्राचीन भ्रातृ-प्रेम के आगे प्रभावहीन हो जाता है। लहरी बाबू की वर्धमान स्वाच्छन्द्य-प्रियता गृहदाह के प्रकरण उपस्थित कर देती है और भाइयों में बटवारा हो जाता है तथा आँगन के बीच में दीवार अर्थात् डंडार पड़ जाती है। परन्तु, कथाकार गाँव में अवशिष्ट भ्रातृ-प्रेम और कुल-मर्यादा के प्रति अभी आस्थावान है। उसमें बीच की दीवार बाधक नहीं होती है और उसका गिरना आधुनिक वैयक्तिक मूल्यों का गिरना हो जाता है।

प्राचीन आदर्शवादी मूल्यों का आग्रह जहाँ कहीं अति के रूप में चित्रित है, अवश्य ही असंगत लगता है। परम्परित सामाजिक मूल्य तो निस्सन्देह टूट चुके हैं और अतीत की वापसी असंभव लगती है। बालशौरि रेड्डी के उपन्यास 'स्वप्न

१. 'खाली घर' में संकलित।
२. वही, पृ० ५६-६०।
३. 'इन्हें भी इन्तजार है', में संकलित।

और सत्य' में पुराने नैतिक मूल्यों की विजय के दो काण्ड प्रस्तुत हुए हैं। प्रथम गौरी-काण्ड जिसमें एकान्त निमंत्रण पर उसे चन्दू अपनी ओर खींचता है तो वह उसे विवाह-पूर्व ऐसा 'कुकर्म' न करने की 'शिक्षा' देती है और वह अपनी भूल स्वीकार कर आलिंगन ढीला कर देता है।[1] दूसरा यशोदा-काण्ड है, जिसमें वह परपुरुष के साथ स्पर्श-पुलक के बाद की सीमा पर छटक कर पृथक् हो जाती है और भारतीय संस्कृति तथा भगिनी-धर्म का उपदेश करती है और फिर वह उसे 'पवित्र बहन' मान लेता है।[2] इन चित्रों में स्थितियों का प्रस्तुतीकरण प्रौढ़ मनोवैज्ञानिक आधारों के अभाव में हास्यास्पद हो जाता है और मूल्याग्रह का स्वप्न तक दुर्बल सत्य बनकर रह जाता है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर कथासाहित्य में जहाँ मूल्यभंजक मुद्रा का उभार ही मुख्यतः चर्चित है ग्रामस्तर पर प्राचीन सामाजिक मूल्यों का पूर्णतः मूलोच्छेद नहीं हो पाया है और न ऐसा संभव ही है। वास्तव में 'ग्रामभाव' का आन्तरिक संगठन ही परम्परित मूल्यों के सूक्ष्म परमाणुओं से हुआ है जिनका विखंडन भयानक विस्फोटक स्थितियों से जुड़ा है। गाँवों के आधुनिक विकास के साथ उक्त विस्फोटक स्थिति का साक्षात्कार आज का एक सत्य है। यह विकास जिस क्षेत्र में जितनी ही तीव्रगति से हो रहा है सामाजिक मूल्यों में बदलाव भी वहाँ उतनी ही तीव्रता से हो रहा है तथा पिछड़ी इकाइयाँ पुरातनता से अमुक्त नवीनता की आहट से आशंकित हैं।

नैतिक मूल्यों की गिरावट

नैतिक मूल्यों की गिरावट समाज-संदर्भ में सेक्स-विस्फोट के रूप में आई है और नये कथा-साहित्य में मनोविज्ञान की उपलब्धियों के सहारे आन्तरिक स्तर पर मूल्य-विद्रोह के रूप में उसकी अभिव्यक्ति हुई है। ग्रामभित्तिक चित्रों में यह अन्तर-अराजकता सहमी-सी आई है। कहीं शंका है, कहीं आश्चर्य है तो कहीं प्रश्नशीलता है! गाँव के लोगों का परम्परागत नैतिकता-बोध धक्के पर धक्के खाकर भी अभी टिका है। 'पाप भाव' की जकड़न छूटती नहीं है। जैनेन्द्र कुमार की कहानी 'विज्ञान' की परानैतिकता आधुनिकतम राजनीति-अनुप्राणित

१. 'स्वप्न और सत्य', पृ० ५३।
२. वही, पृ० २९२।

वैज्ञानिक-दृष्टिविकास से जुड़ी है जिसकी ऊँचाइयों के स्पर्श से अविकसित ग्राम-इकाइयाँ अभी सर्वथा वंचित हैं। अतः नये नैतिक मूल्यों के भौतिकवादी अंधड़ में यहाँ परम्परागत नैतिकता के खंभे हिल उठे हैं, शिविर उखड़ने लगे हैं, रस्सियाँ अभी नहीं कटी हैं !

मार्कण्डेय की कहानी 'सात बच्चों की माँ'[1] में इस सूचना के साथ सन्तो की कहानी आरम्भ होती है कि 'अब तो सात बच्चों की माँ भी नये मनसेधू के साथ भागने लगीं इस गाँव में !' इस सूचना में गाँव के लिए नवीनता है और इस नयी करवट के प्रति आश्चर्य भाव है। शैलेश मटियानी के उपन्यास 'एक मूठ सरसों' के आरम्भ में जो सम्पूर्ण उपन्यास की केन्द्रीय समस्या प्रस्तुत की गई वह इस प्रकार है कि 'होते हुए अपने खसम के पराये मर्द से गर्भ धारण कैसे कर लेती होंगी आजकल की औरतें !'[2] और इस प्रश्नशीलता की छाया में रेवती और फिर उसकी पुत्री देवकी के अवैध गर्भ की गर्म गाथा विकसित होती है। जिस नये आयाम को मार्कण्डेय 'अब तो इस गाँव में' कहकर रेखांकित करते हैं उसे ही शैलेश मटियानी 'आजकल' की बात कहकर व्यक्त कर रहे हैं ! उनके उपन्यास 'चिट्ठी रसैन' की नायिका रमौती के पीछे भी रेवती और देवकी की अभिशप्त नियति हाथ धोकर पड़ी है। पीताम्बर चिट्ठी रसैन से अवैध गर्भ-धारण का कलंक सिर पर है और मन में वैधव्य की दुस्तर लहरें हैं जो नैतिकता-बोध को मथ रही हैं। एक स्थान पर वह कहती है—'संन्यासी चला गया है, अपनी याद का चिमटा उसे थमा गया है और ज़रा-सा मन हिला नहीं कि चिमटा छणाक्-छणाक् बजने लगता है !'[3] यहाँ स्पष्ट ही नैतिकता-बोध का चिमटा एक बोझ है जिसे ग्राममन ढो तो रहा है परन्तु श्रद्धाभाव से नहीं, और लगता है, अब नहीं तो तब वह उसे झटक कर फेंक देगा ! उसकी छणाक्-छणाक् से मुक्ति पा लेगा। शैलेश मटियानी में पर्वतांचल की परम्परावादिता के साथ नैतिकता के अवमूल्यन क्षेत्र की नयी आहट का आकलन भी यत्र-तत्र है।

नागार्जुन के उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' में चाची का वैधव्य अवैध गर्भ

---

१. 'पान फूल' में संकलित।
२. 'एक मूठ सरसों', पृ० १६।
३. 'चिट्ठी रसैन', पृ० ७०।

के कारण कलंकित, तिरस्कृत और लांछित होता है और उनको बहिष्कार से लेकर गर्भपात तक की सामाजिक यातना सहनी पड़ती है तथा मिथिला की प्रख्यात दरिद्र ब्राह्मण-कुलीनता का उच्चाभिमान तुष्ट हो लेता है परन्तु सब मिलाकर नागार्जुन का प्रगतिशील सामाजिक शक्तियों के उद्बोधन का नया दृष्टिकोण जड़ नैतिक नियमों के प्रति गहरी शंकाशीलता उत्पन्न कर देता है ! आदिवासी बंजारी[1] से लेकर बम्बई नगर के पड़ोसी गाँव की आधुनिक सभ्यता में रँगी विकसित-मना रत्ना[2] तक के अवैध गर्भ धारण करने में नैतिकता की जो एक चिटकती सी शृङ्खला दृष्टिगोचर हो रही है वह पर्याप्त सांकेतिक है। रत्ना की सहेली 'सारिका' यद्यपि उसे मर्यादा का उपदेश करती है और कहती है, 'जैसे नदी की मर्यादा उनके दोनों किनारे होवे हैं उसी तरह जो औरत अपने समाज की मर्यादाओं से एक बार निकल जाती है उसका अन्त नदी की बाढ़ की तरह होता है।'[3] परन्तु बाढ़ को रोकना, लगता है, कूलों के वश का नहीं ! विज्ञान और मनोविश्लेषण ने मनुष्य को इस प्रकार अनावृत कर दिया है, साक्षात् और सहजता के प्रति उसे इस प्रकार चेतित कर दिया है कि काल्पनिक नैतिकता एक सामाजिक यंत्रणा के रूप में अनुभूत होने लगी है।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ' में रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' के संदर्भ में अनैतिकता के व्यापक चित्रों में परानैतिकता की स्थापना का प्रश्न उठाया और उन्होंने नैतिक मूल्यों की गिरावट की एक महत्त्वपूर्ण सूची प्रस्तुत की—'नेत्रहीन महन्त सेवादास लक्ष्मी के लिये लार टपकाता है और लरसिंघ भी उससे पीछे नहीं रहता। लक्ष्मी के पीछे नंगा बाबा भी पड़ा है और रामदास की इच्छा उसे दासी बना लेने की है। लक्ष्मी के संदर्भ में असफल होने पर वह जातपात की उपेक्षा कर रमपिअरिया को लाकर घर में बिठा देता है। रमपिअरिया की माँ सात बेटों के बाप छीत्तन से फँसी है। मंगलदेवी भी गाँव में आकर्षण का केन्द्र है। उनसे मिलने के लिये नित्य नये लोग आते रहते हैं—कालेज के विद्यार्थी, एम० एल० ए०, साहित्य-गोष्ठी के मंत्री जी, चर्खा-संघ के कार्यकर्ता तथा कई हिन्दी दैनिकों के सहायक

---

१. 'सूरज किरन की छाँव' की नायिका।
२. 'सागर, लहरें और मनुष्य' की नायिका।
३. वही, पृ० २८५।

सम्पादक भी। टुनटुन जी इसी मंगला के फेर में फरेब करते हैं। कालीचरण भी उसके प्रेमपाश में बँध जाता है। सदाब्रिज फुलिया के पीछे पागल है। फुलिया उससे विवाह करने के बाद भी पैटमैन जी के साथ भाग जाती है और होली की रात सहदेव मिसर से रास रचाती है। खलासी भी एक पतुरिया से मुहब्बत करने लगता है। फुलिया की माँ भी कम नहीं है। रमजुदास की स्त्री उसे 'सिघवा की रखेली' कहती है। तब फुलिया भी रमजुदास की स्त्री की पोल खोलते हुए बताती है कि वह अपने खास भतीजे के साथ भाग गई थी और गुआर टोली के कबरू के साथ रात भर 'रासलीला' रचाती रहती है। नोखे की स्त्री रामलगन सिंह के बेटे से फँसी हुई है और उचित दास की बेटी कोयर टोली के सटवन महतो से। तहसीलदार हरगौरी सिंह भी किसी से पीछे नहीं हैं। वह अपनी खास मौसेरी बहन से रासलीला रचाता है और बालदेव जी कोठारिन जी से लटपटा जाते हैं। सकलदीप किसी 'लैला' के साथ भाग जाता है और लरसिंह सोनमतिया कहारिन की रधिया को उड़ा ले जाता है। वह उसे बाद में इसलिए छोड़ देता है क्योंकि 'नौटंकी कम्पनी' के मालिक की ही बात रहती तो वह सह ले सकता था, पर हारमोनियम और नगाड़ा वाले भी रधिया को कभी फुरसत नहीं देते! जोतखी जी कालीचरण को चुनौती देते हैं कि वह अपनी माँ से पूछ कर बताये कि वह किसका बेटा है? कालीचरण भी प्रत्युत्तर देता है कि वह अपनी पत्नी से पूछे कि उसके पेट में किसका बेटा है? कुमार जी डफ साहब की बेटी से फँसे हैं और प्रशान्त लावारिस संतान है।'[1]

'मैला आँचल' की ही भाँति 'आधा गाँव' में भी नैतिकता का शिविर उखड़ता प्रतीत होता है। 'मर्द ताक-झाँक करते हैं, रखनियाँ रखते हैं...... सैयद जादे चमाइन-नाइन की ओर लपकते हैं। नीच कौम की औरतें ऊँची कौम की धनी लोगों के 'खाजु' बनी हुई हैं। हमाद महरूनिया नाइन से शंका करता है कि उसकी बेटी सैफुनिया उसकी (हमाद की) है या मंजूर, वजीर, फुस्सू, हादी और सुलेमान में से किसी की है। 'सईदा कई लोगों से फँसाई गई और दो-एक पेट गिरे।'[2] मेहरुनिया नाइन और सुलेमान, सितारा और

१. 'हिन्दी-उपन्यास : उपलब्धियाँ', पृ० ६२-६३।
२. 'आधा गाँव', पृ० ३७२।

अब्बास, गुलाबी जान और हरनारायण, बदरुन और समीउद्दीन, बछनिया और वेदार-साकिर, सैफुनिया और सद्दन-तन्नू, खैरू खाँ और नौकरानी गुलबहरी, छिकुरिया और मगफिये और कामिला और बरकतुआ के केस प्रमाण हैं कि सर्वत्र अवैध शरीर-सम्बन्ध, टूटती ज़िन्दगी की बीभत्स मांसल भूख और नैतिक आदर्शों की घोर गिरावट है। डाक्टर राही ने इस उपन्यास में विश्व-नैतिकता की गिरावट के हर आयाम को चित्रांकित करने का प्रयास किया है।

'जल टूटता हुआ' में रामदरश मिश्र ने गीता, पार्वती और शारदा तीन ऊँची जाति की लड़कियाँ और बदमी, फुलकी तथा डलवा तीन निम्न जातियों की स्त्रियों को प्रस्तुत किया और सार्वत्रिक अवमूल्यन की स्थितियों को साकार किया। कुंजू तिवारी और बदमी तथा उमाकान्त पाठक और शारदा में तो मूल्य-भंजन के साथ एक नये मूल्य निर्माण की मुद्रा है परन्तु पार्वती और हंसिया चमार के केलि-केन्द्र से समाज-नीति की धज्जी उड़ जाती है। कामातुरा पार्वती हंसिया को स्वयं समर्पित हो जाती है[1] पर पकड़ जाने पर इलजाम उसपर थोप देती है! हंसिया बहुत पिटता है पर मुँह नहीं खोलता। कथाकार संभवतः सामाजिक अत्याचार का प्रतिशोध प्रस्तुत कर रहा है। क्योंकि बाद में, विवाह के बाद पुनः एक बार वह ब्राह्मण-पुत्री हंसिया चमार की भरी देह देखकर लुब्ध हो मोहिनी डालने का प्रयत्न करती है तो वह अपनी चमाइनि पत्नी की सुन्दरता का बखान कर गहरा तिरस्काराघात देता है!

कुंजू के परदेश गये छोटे भाई बिरजा की युवती पत्नी एक दिन सारे नैतिक बन्धन तोड़कर हरहराती हुई उसपर छा जाती है और इधर कुंजू 'अस्पर्श्य' भयाहु की नैतिकता और मर्यादा-बोध में उसे अस्वीकारता खलिहान की ओर चलने को उद्यत होता है तो वह कहती है, 'खलिहान की लछिमी की फिकर है आपको और घर की लछिमी की फिकर नहीं है?'[2] फुलकी गड़ेरिन और बलई तिवारी तथा दौलतराय की कहानी के साथ दलसिंगार और डलवा का रोमांस भी पर्याप्त विचारोत्तेजक है।

'अलग-अलग वैतरणी' में नैतिक मूल्यों के ह्रास को ग्राम-जीवन की सामाजिकता के एक नये अध्याय के रूप में अंकित किया गया है। जैपाल सिंह

---

१. 'जल टूटता हुआ', पृ० ३५०

२. वही, पृ० १७१।

में एक अभिजात मूल्यानुशासन है और यही कारण है कि अपने उत्तराधिकारी बुझारथ के सम्बन्ध से डोमन चमार की बेटी सुगनी को एक दिन छावनी पर पाकर उन्हें ऐसा धक्का लगा कि उठ नहीं पाये। एक गौरवपूर्ण अध्याय का अन्त हो गया! आगे तब गिरावट ही गिरावट है। बुझारथ सीपिया नाले में पुष्पी को फाँसने चलता है![1] सुरजू सिंह सुगनी चमाइनि के साथ सरेआम पकड़ लिया जाता है।[2] इच्छानुरूप जीवन जीने का सपना सँजोकर रखने वाली फूला की लाश देवा के घर से निकल जाती है।[3] धनेसरी चमाइन को ऊँची जाति की स्त्रियों की पेटफूली, पेट मंड़ाई आदि की दर्जनों रोमांचक कहानियाँ याद हैं।[4] मिसराइन जगन मिसिर से प्रगट रूप में तो विवाह करने के लिए कहती हैं पर वास्तविकता कुछ और रहती है![5] शोभनाथ पर रीझने का पुरस्कार सोनवा को यह मिला कि सगरा में उसकी लाश ही हाथ लगी![6] इसलिए कि उसका जन्म चमाइन की कोख से हुआ था। चमाइन और राजपूत में चोरी-लुका की नैतिकता तो समाज को सह्य है पर 'पैम' की मुद्रा से वह भड़क उठता है। उसे 'भ्रष्टाचार' स्वीकार है परन्तु मानवीयता पर आधारित 'सदाचार' असह्य है और इस प्रकार जिसे नैतिकता कहा जाता है वह इस संदर्भ में ध्वंस-स्थिति का पर्याय हो कर शेष रह गई है, ऐसा लगता है।

स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों को लेकर नैतिकता के ह्रास के जो ग्राम-चित्र नये कथा-साहित्य में अंकित हुए हैं उनमें प्रामाणिकता का प्रश्न सर्वथा पृथक है। वास्तव में बुराइयाँ अथवा प्रवृत्तियों की अधोमुखी स्थितियाँ सार्वकालिक एवम् सार्वत्रिक हैं। अन्तर उनके रूप और उनकी मात्रा का होता है। नगर की नयी सभ्यता का जो ग्राम-जीवन पर 'आक्रमण' हुआ है उससे ग्राम-जीवन बहुत आहत हुआ है। 'नग्नता' जहाँ लज्जा की वस्तु थी वहाँ वह सहज होती जा रही है। सामाजिक नियमों का नियंत्रण ढीला हो जाने के कारण अवैध

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० २८३।
२. वही, पृ० ५८४।
३. वही, पृ० ८३।
४. वही, पृ० २३९।
५. वही, पृ० २८४।
६. वही, पृ० ५७४।

सम्बन्धों में 'भय' की स्थिति नहीं रह गई। फिर भी लगता है, 'रेणु' के 'मैला आँचल' में अति हो गई है। गाँव में गिरावट आई है परन्तु एक सीमा है। ऐसा नहीं कि सम्पूर्ण गाँव में कोई भी 'सज्जन' व्यक्ति नहीं है अथवा सब-के-सब अनैतिक या चरित्रहीन हैं। शिवप्रसाद सिंह और रामदरश मिश्र ने सन्तुलन रखा है। 'राही' में गिरावट की अनुभूति रेणु की ही भाँति बहुत तीव्र है। लगता है, छोटी जातियों की आर्थिक विवशताओं के साथ कामुक मनमानी की स्थितियों में स्वतंत्रता के बाद भी कोई अन्तर नहीं आया है। प्रजातांत्रिक विकास ने उसे और बढ़ावा ही दिया है। राष्ट्रीय भावों की ही भाँति सामाजिक और नैतिक भावों में पतनोन्मुखता के कीटाणु बहुत गहराई तक प्रवेश कर गये हैं।

नयी नैतिकता

आधुनिक कथा-साहित्य में एक नयी नैतिकता आई है जिसका स्रोत मनोविश्लेषण है। इसने अवचेतन का वह दर्शन उपस्थित किया कि समस्त परम्परागत धारणायें ही उलट गईं। सौन्दर्य, प्रेम, आकर्षण, पूजा, भक्ति और सम्बन्धों के सन्दर्भ में अब नयी दृष्टि से सोचा जाने लगा। मनुष्य मनुष्य न रहकर अपने मूल रूप में 'जानवर' अब हुआ है। बाहर से सदाचारी दीखने वाले लोग अवचेतन में कामकुंठाओं का विषमजाल पाले वास्तव में परम दुराचारी हैं। बाहर की काम वर्जनायें भीतर अनेक उपद्रव खड़ा करती हैं। मनोविश्लेषण ने जीवन की समस्त क्रियाओं के केन्द्र में जो 'काम' को रखा तो इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य के केन्द्र में भी वह आ गया। कुंठाओं, विकृतियों और ग्रन्थियों के ऐसे जकड़न-जाल खुलने लगे कि उसकी भयंकरता देखकर परम्परावादी काँप उठे। पाप-पुण्य जैसी कोई वस्तु नहीं रह गई। अवचेतन अनावृत होने लगा और व्यक्ति अपनी पूरी सत्यता और नग्नता के साथ अपने ही सामने खड़ा होने लगा। यह आत्मान्वेषण आधुनिकता का एक महत्वपूर्ण आयाम है। विज्ञान ने वाह्य विश्व सम्बन्धी समस्त गोपनीयता अथवा रहस्य की गाँठों को खोल दिया और मनोविज्ञान ने व्यक्ति के अन्तर-जगत के यथार्थ को उजागर कर दिया ! विश्व-साहित्य ने बड़ी तीव्रता से इस वैयक्तिक स्तर पर अपने को मोड़ा है। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी-कथा साहित्य ने उसी तीव्रता से विकास करके विश्व-कथा-साहित्य के समानान्तर अपने को कर लिया है।

इसी तीव्र विकास की प्रवृत्ति का ही वह प्रभाव रहा कि स्वतंत्रता के बाद ग्रामोन्मुख होकर भी हिन्दी-कथा-साहित्य तीव्रता से नगरोन्मुख हो गया क्योंकि विश्व-साहित्य आज वैज्ञानिक उपलब्धियों और युद्धोत्तर परिवर्तनों को लेकर कुल मिलाकर नगरबोध का साहित्य है। बल्कि, इससे भी दो कदम आगे आज महानगरीय बोध की अन्तरिक्षयुगीन अनुभूतियों के बीच से गुजरता कथा-साहित्य बड़ी निर्ममता से परिचित मान्यताओं का मर्दन करता क्षिप्र-गतिशील है। नयी नैतिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा इसी महानगरीय बोध पर आधारित है। इसे हिन्दी-कथा-साहित्य में कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव और ज्ञानरंजन आदि ने प्रतिष्ठित किया है। ग्रामस्तर पर नैतिक मान्यताओं का विध्वंस ही एक खुले विद्रोह के रूप में उपस्थित हुआ है। अभी नयी नैतिक-मान्यताओं की प्रतिष्ठा योग्य बौद्धिकता से परिपूर्ण भूमि वहाँ तैयार नहीं हो सकी है।

राजेन्द्र यादव की कहानी 'फ्रेंचलेदर' और 'अनुपस्थित सम्बोधन'[१] में यही नयी नैतिकता है। 'फ्रेंचलेदर' में मध्यवर्ग का केशरी क्लर्क है। कम्पनी के केबिन में बैठा बास सिर पर सवार है। केशरी एक ही पाकिट में रामायण का गुटका और फ्रेंचलेदर रखे है। महानगर की धुधुआती, टूटती, सड़ी ज़िन्दगी में काम करते-करते फ्रेंचलेदर के सम्बन्ध में उठी विचार-कल्पनायें मुर्दे केशरी को क्षण भर के लिए हँसाती हैं। रामायण का फ्रेंचलेदर के साथ पाकिट में पड़ा रहना स्वयं एक बहुत बड़ा विद्रोह है और सशक्त संकेत है। भावस्तर पर लगे मोर्चे ने पुरानी नैतिकता के लौह-दण्ड को खराद कर कूड़ा बना दिया! 'अनुपस्थित सम्बोधन' में लड़की सीमा अपने प्रेमी से कहती है कि 'माँ के सामने ही तेज अंकल मुझे ज़ोर से भींचकर ठीक उसी प्रकार चूमते हैं जैसे तुम चूमते हो···देखकर माँ का चेहरा ऐसा खिला गुलाबी हो जाता है जैसे उन्हें ही चूमा जा रहा हो···एक दिन तेज अंकल ने हिचक कर कहा, मुझे यही डर है कि कहीं सीमा को तुम समझकर कुछ कर न बैठूँ! माँ ने बुरा नहीं माना!' इस प्रकार इस कहानी में जीवन-स्थिति सम्पूर्ण रीति से 'सेक्स' को समर्पित है और कथाकार के आगे व्यक्ति जैसे सम्मोहित होकर अपने नग्न अवचेतन की बखिया उधेड़ रहा है।

---

१. दोनों कहानियाँ 'अपने पार' में से संकलित।

ग्रामगंधी कहानियों में यह नयी नैतिकता पल्लवित भर हुई है जिसकी एक झलक मधुकर गंगाधर की कहानी 'तक्षक'[1] में दिखाई पड़ती है। वास्तव में इसमें ग्राम और नगर बोध की भीषण टक्कर है। देवीदत्त थरथरा रहा है और उस विस्फोटक क्षण में मनी उसे 'देवू भैया···' कहकर चिहा उठती है तो वह उसके होठों पर उंगलियाँ रख देता है, 'मनी, मैं तुम्हारा भैया नहीं हूँ। मैं मनु हूँ ··आदि मानव हूँ। मेरे आगे तुम हो, श्रद्धा, सृष्टि की एक मात्र नारी—शेष सृष्टि सूनी है।' और हाथ फैला देता है। मनी कहती ही रह जाती है, 'मगर···मगर···आप मेरे मामा के बेटे हैं···मेरी माँ का सगा भतीजा!' और फिर संस्कार, वर्जना, कुंठा, ग्रन्थि और मनोव्याधि की दुस्तर शृङ्खलायें उस नयी नैतिकता को खोलकर फैला देती हैं जिनसे उबरना कठिन है। पंजाबी ग्रामभूमि की आधुनिकता के स्तर पर नयी नैतिकता का बहुत ही कोमलता से स्पर्श किया है नये कहानो कार पृथ्वीराज मोंगा ने अपनी कहानी 'धूल के बगूले' में।[2]

नगरबोध की इस सेक्सी संदर्भ-भूमि का एक बहुत बड़ा भाग आरोपित, ओढ़ा हुआ अथवा आयातित है। अतः ग्रामभूमि के परिप्रेक्ष्य में उसके चित्रण की संभावना कम है। यहाँ का विद्रोह भी निश्चित रूप से अपनी ज़मीन से जुड़ा हुआ होता है। महानगरीय विकृति बनाम नयी संस्कृति के प्रसार की बात कही जाती है परन्तु तब तक क्या पता किसी नयी अन्तःप्रेरणा से ग्रामांचल की ऊर्वर-उल्लसित हरीतिमा उसे कोई नया अकल्पित मोड़ दे दे! इसके अतिरिक्त जब हम 'भारतीय-समाज' कहते हैं तो उसके भीतर बृहत्तर ग्राम समुदाय और वहाँ के जीवन को जीते करोड़ों भोले लोगों का चित्र सामने आ जाता है! 'सेक्स सम्बन्धी स्वतंत्रता और नैतिक शिथिलता को मान्यता देने में शायद अभी भारतीय-समाज को शताब्दियाँ लग जायेंगी। और तब जीवन की कठोर विषमताओं, भूख, प्यास, शोषण, वैषम्य और युद्ध की आशंका से संत्रस्त मानवता की कठोर बहुविध समस्याओं का समाधान सेक्स और अहं के दायरे में अन्वेषित होता है तो एक ऐसा प्रश्न चिह्न सामने उभरता है जिसके बाद हर चीज शून्य में विलीन हो जाती है!'[3]

---

१. 'हिरना की आखें' में संकलित।
२. 'कहानी' सितम्बर १९७१
३. हिन्दी-उपन्यास : उपलब्धियाँ—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० १९।

३—आधुनिकता

आधुनिकता मूल्य नहीं प्रक्रिया है और ग्राम-कथानकों में यह आंचलिकता का दूसरा पहलू बनकर उसे सृजनात्मक गरिमा प्रदान करती है। रेणु और शैलेश मटियानी में आंचलिकता अधिक है और शिवप्रसाद सिंह और श्रीलाल शुक्ल में आधुनिकता प्रधान है। नये हिन्दी-कथा-साहित्य में आधुनिकता कुछ विशिष्ट फार्मूलों की प्रयोग-स्थितियों को रेखांकित कर प्रायः विज्ञापित होती है। इस का परिणाम यह होता है कि कभी-कभी उसकी प्रामाणिकता जीवन के संदर्भ में कम, साहित्य-संदर्भ में ही अधिकांश बनी रहती है। उसका अभिव्यक्ति क्षेत्र नगरजीवन, उसका बुद्धिजीवी वर्ग, विशेषकर मध्यमवर्ग होता है और ग्राम-जीवन का स्पर्श करते-करते उसका रूप बदल जाता है। पुरातनता जब तक गाँव को खाली नहीं कर देती है आधुनिकता का पूर्ण प्रसार असंभव है। वर्तमान स्थिति संघर्ष और टकराव की है। नये साहित्य में आई आधुनिकता के मूल में अनास्था और संत्रास को बताया जाता है। निश्चय ही आज गाँवों में ये स्थितियाँ हैं परन्तु नगर-जीवन में चित्रित इनके संदर्भों से वे सर्वथा भिन्न हैं। वैसे योरप में अनास्था और संत्रास की जो युद्धकालीन और युद्धोत्तर स्थितियाँ उभरीं वे भारत में अनुभूत ही नहीं हैं। यहाँ उसकी सह-अनुभूति अपनी स्थितियों से जोड़कर अभिव्यक्त होती चल रही है।

अगणित चपेटों और अपरिसीम टूटन के होते भी भारतीय गाँव की संरचना ऐसी है कि अनास्था का पूर्ण उत्कर्ष वहाँ अभी संभव नहीं। नागार्जुन और भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यासों में समाजवादी यथार्थ की शक्तियाँ सक्रिय हैं परन्तु उनका मुख्य संघर्ष आर्थिक स्तर पर है। सांस्कृतिक भूमियों को भी उन्होंने प्रगतिशील हाथों से स्पर्श किया है परन्तु सब मिलाकर किसी न किसी स्तर पर आस्थावान बने रहते हैं। बलभद्र ठाकुर में स्वयं अनास्था है पर जिन आंचलिक क्षेत्रों को उन्होंने उठाया है उनके सजीव पात्रों में आस्था की जड़ बहुत गहराई में है। चाहते हुए भी अपने दृष्टिकोण को उन पर कथाकार लाद नहीं पाता है। इसी लेखकीय ईमानदारी के प्रभाव से शिवप्रसाद सिंह और रामदरश मिश्र तो आस्थावान बने ही रह जाते हैं, विश्वम्भर उपाध्याय और राही भी अटूट अनास्थावादी नहीं हो पाते हैं! जैसी अनास्था यशपाल की कहानी 'शिवपार्वती' में है वैसी अनास्था ग्रामांचल में संभवतः बहुत देर में

आयेगी और वह आयेगी भी तो आधुनिक पुस्तक और पत्र-पत्रिकाओं के पठन-पाठन के प्रभाव से नहीं अपितु कृषि-विकास-क्रम में प्रविष्ट यांत्रिकता और वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रसार से विकसित होगी। उसका विकास लेखक की कहानी 'बदलाव'[1] के धरमू पंडित के रूप में संभावित है।

संत्रास की अभिव्यक्ति नये कथा-साहित्य में मुख्यतः अकाल, अवर्षण और भुखमरी के संदर्भ में हुई है। योरोपीय युद्धजन्य परिस्थितियों की संत्रासकता से कम भारतीय अकाल की स्थितियों में भीषणता नहीं है। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'महाकाल' में 'कुछ होने वाला है' का त्रास ऐसा छा जाता है कि मनुष्य सूख जाता है। मार्कण्डेय की कहानी 'दाना-भूसा'[2], भैरवप्रसाद गुप्त की 'चरमबिन्दु'[3], रामदरश मिश्र की 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो'[4] में मानवता को कलंकित करने वाली वह रोमांचक स्थितियाँ अंकित हैं जो किसी भी स्वाधीन देश के लिए चुनौती हैं। अकाल का संत्रास धुंधुआती तमस्-तिक्तता है। आदमी मर भी नहीं रहा है और जी भी नहीं रहा है। चतुर्दिक मँडराती मौत की छायाओं की अनुभूतियाँ प्रतिक्षण उसे सोखती चली जाती है। न मानवता सम्बन्धी और न राष्ट्रीयता से जुड़ा आदि कोई उद्देश्य सिद्ध हो रहा है और पशु-प्राणी अपने इतने मूल्यवान अस्तित्व की बलि लज्जाजनक मानवीय अंध अवशताओं की वेदी पर देते चले जा रहे हैं। मुद्राराक्षस की कहानी 'प्रियदर्शी'[5] भी इसी संदर्भ को चित्रांकित करती है। कथा में आधुनिकता से जुड़े संत्रास के अन्य संदर्भ भी ग्राम-जीवन से उठाये गये हैं परन्तु उनके पीछे स्थितियों की गंभीरता न होने से वैयक्तिक जीवन की अकुलाहट मात्र बनकर रह जाती है। वास्तव में नये कथा-साहित्य में संत्रास को समाज से नहीं व्यक्ति से सम्पृक्त कर आन्तरिक स्तर पर उसकी उस भयातुरता को अंकित करते चलते हैं जिसके मूल में 'काम' है। युद्ध, अकाल और नौकरी आदि से पृथक् यह संत्रास का नवीन किन्तु मुख्य क्षेत्र हो गया है। सामान्य भूख अब

---

१. 'धर्मयुग' १३ जुलाई सन् १९६९ ई०।
२. 'भूदान' में संकलित।
३. 'धर्मयुग' १ अक्तूबर १९६७, पृ० ११।
४. वही, २९ जनवरी, १९३६, पृ० २५।
५. 'सारिका' जुलाई, १९६८।

सेक्स-भूख में रूपान्तरित हो गई है परन्तु यदि फार्मूलों के आरोपण से पृथक् तथ्य का विश्लेषण हो तो यह संत्रास-क्षेत्र संप्रति नगर अथवा महानगर बोध की सीमा के अन्तर्गत ही है। गाँव में संत्रासक स्थितियाँ अभी कहीं अन्नाभाव से जुड़ी हैं, तो कहीं समर्थों द्वारा किये गये अत्याचार-अन्याय से सम्बद्ध हैं। रणधीर सिनहा की कहानी 'बिछुड़ता हुआ गाँव'[1] में विशुद्ध संत्रास-स्थिति है जिसमें आदि से अन्त तक सृष्ट आतंक का वातावरण भेड़िये के ऊपर आधारित दीखता हुआ भी जब पूरी तरह खुलता है और भेड़ियों के समानधर्मी और बर्बर मनुष्यों के लूटपाट और हिंसा-हत्या के आयाम झलकने लगते हैं रात्रि की उस तमस्-सघनता में न केवल संत्रास-भोक्ता के अपितु उसके सह-भोक्ता पाठकों के हृदय की धड़कन भी तीव्र हो जाती है।

आधुनिकता बोध के संदर्भ में संत्रास के साथ ही कुंठा का नाम लिया जाता है जो मूलतः वैयक्तिक स्तर पर 'काम' से जुड़ी हुई होती है। वास्तव में यह निराशा की चरमावस्था की आहत जड़ स्थिति का नाम है और भारतीय जीवन में विशेषकर ग्राम-जीवन में राजनीतिक उपेक्षा आदि कारणों से समाज में भी परिलक्षित होती है तथा सामूहिकता के स्तर पर भी रेखांकित होती है। सामाजिक कुंठा को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से रेणु के 'जलूस' में अंकित किया गया है। शरणार्थियों की जो नयी 'कालोनी' बसी है उसमें सभी लोग कुंठित है। 'पवित्रा को अचरज होता है, बहुत कम बोलने वाला, कम सुनने वाला, कम सोनें वाला यह गोपाल पाइन इधर 'बकबक' क्यों करने लगा है ?'[2] गोपाल पाइन के मन में कुछ ग्रन्थियाँ हैं जो उसकी कुंठा को प्रकाशित करती हैं—

(१) अपने गाँव (कालोनी) के पृथक् नाम का पुख्ता साइनबोर्ड हो।

(२) 'अपनी पार्टी' के लोगों की तलाश, यानी वह जो 'हिन्दुस्थान' को गाली देता हो, 'बंगाली' की प्रशंसा करता हो।

(३) 'आमी हंगर स्ट्राइक कोर्बो' की बारम्बार धमकी देना।

(४) यह प्रयत्न कि उन सबका गाँव से हेलमेल न बढ़े।

इस कालोनी के लोगों की आजीविका का विश्लेषण करने पर भी उनका सामूहिक कुंठाग्रस्त रूप स्पष्ट हो जाता है। कुछ लोग खेती करते हैं, कुछ लोग

---

१. 'हाथ का जस' (सम्पादक : रेणु) में संकलित।

२. 'जलूस', पृ० १८।

फेरी से जीते हैं, कुछ लोग सरकारी सहायता पर और कुछ लोग दूसरों को फँसा कर जीते हैं किन्तु अधिकांश लोग अपना सम्पूर्ण समय बेकारी में गाली-गलौज और आलोचना-आरोप में व्यतीत करते हैं।

महत्वाकांक्षी व्यक्तियों में कभी-कभी कुंठा विरोध का रूप धारण कर लेती है। कुंठित व्यक्तियों का विरोध अंध विरोध होता है। रेणु के एक पात्र लुत्तो में ऐसा ही विरोध है। वह 'राजनैतिक लंगीबाज' बन जाता है। रचनात्मकता का छोर छूट जाता है। पग-पग पर विध्वंसात्मक धमकी, धौंस और धूर्तता ! 'हाकिम को मालूम होना चाहिए कि लुत्तो भी कोई पोजीशन रखता है कांग्रेस में !'[१] 'यदि किसी दिन हम मिनिस्टर हुए, और भाई-बाप को लेकर कभी आओगे तो हमारा चपरासी तुमको अन्दर नहीं आने देगा !'[२] 'लुत्तो कांग्रेसी आदमी है। जहाँ झगड़ा-फसाद होता रहे, वहाँ पहुँचना उसका धर्म है। कम्परमैज करना जानता है लुत्तो !'[३] ग्राम-स्तर-कुंठित लुत्तो निरन्तर एक न एक उपद्रव खड़ा रखता है। स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में ग्राम-कथानकों के अन्दर आधुनिक नगरबोध की वैयक्तिक कुंठास्थितियाँ अल्प होने के कारण उनके वैसे विशिष्ट चित्रण तो विरल हैं परन्तु सामाजिक-कुंठाओं को कथाकारों ने अधिक उभारा है।

आधुनिकता स्वरूपतः विद्रोहधर्मी है। विद्रोह अन्तर्मुख होकर अधिक विस्फोटक हो गया है। नये सामाजिक मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्षरत कथाकारों की नयी पीढ़ी विद्रोह की मुद्रा को अंकित करने में अत्यधिक सफल हुई है। व्यवस्था के प्रति विद्रोह, स्वीकृत मूल्यों के प्रति विद्रोह, मान्य सम्बन्धों के प्रति विद्रोह और परम्परा के प्रति विद्रोह, विद्रोह के ये चार कोण हैं जिनमें से नये कथा-साहित्य में अपरिहार्य रूप से कोई न कोई उठता है और उसे आधुनिक बनाता है। व्यवस्था के प्रति विद्रोह का जो स्वरूप स्वतंत्रता के पूर्व था वह अब पूर्णतः परिवर्तित हो गया है क्योंकि अब व्यवस्थापक भी वही है जो उसके प्रति असन्तुष्ट है और विद्रोही है। अतः यह आत्मविद्रोह है। इसमें दोहरी कड़वाहट है।

---

१. 'परती परिकथा', पृ० ३५।

२. वही, पृ० २००।

३. वही, पृ० १७७।

दूधनाथ सिंह की कहानी 'कोरस'[1] में फूस की झोंपड़ियों, सुअरों और आदमियों के साथ-साथ किलकिलाते बच्चों के आगे प्रवचन करते मंच के देवता को थरथर काँपते नरनारी साहस करके मंच से नीचे घसीट कर बूटों से कुचल तो देते हैं और उसके मस्तिष्क के जंग लगे विदेशी पुर्जों का साक्षात तो कर लेते हैं परन्तु कठिनाई यह है कि मंचों और देशी-विदेशी देवताओं के गिरने-बदलने से भी गाँव की अभिशप्त नियति परिवर्तित नहीं होती है।

व्यवस्था के प्रति विद्रोह के संदर्भ में कथाकारों के सम्मुख एक समस्या और है। भारतीय लोकतंत्र में राजनीतिक स्तर पर विरोध पक्ष व्यवस्था के प्रति अपना विद्रोह जिस खोखली गहमागहमी के साथ अभिव्यक्त करता दृष्टिगोचर हुआ है उसे देखते कथाकार को अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग अन्तर्मुख करने में गहरा आत्मसंघर्ष करना पड़ा है। राजनीतिक प्रचार-वादिता से उत्पन्न विरोध के सस्तेपन से उबरने के लिए यह वांछनीय था। मार्कण्डेय की 'भूदान' में संकलित कहानियों में बहिर्मुखी विद्रोह उभरा परन्तु कहानी-क्षेत्र में शीघ्र उसने अपेक्षित गंभीर मोड़ ले लिया। उपन्यासों में फिर भी अंकित होता रहा। नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त और विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने प्रगतिशील सामाजिक शक्तियों का उदय और विद्रोह अंकित किया है। इतना होते हुए भी ग्रामजीवन अभी विद्रोह-भूमि नहीं बन पाया है। वह अपनी सामाजिक रूढ़ियों, परम्पराओं, अंधविश्वासों और मूर्खताओं के जाल में अभी इस प्रकार जकड़ा हुआ है कि किसी विद्रोह-धर्मी राजनीतिक चेतना की मानसिक स्वीकृति के पूर्व जीवन की जड़ताओं से उबर लेना आवश्यक होगा। स्वातंत्र्योत्तर कथाकारों ने इस जड़ता की पथरीली भूमि को तोड़ने में बहुत योगदान दिया है। स्वतंत्रता के पूर्व गाँव में जो विद्रोह उगा उसका प्रेरणा-स्रोत कुछ और था। वह पराधीनता की अनुभूति और स्वाधीन चेतना के अभ्युदय का तनाव-संयोग था कि कोई प्रेमचन्द में सूरदास पैदा हो जाता है तो कहीं ताराशंकर बन्द्योपाध्याय में देबू पंडित। देबू पंडित वास्तव में परिनिष्ठित ग्राम-विद्रोही है। सेटेलमेंट कानूनगो के प्रति विद्रोह[2],

---

१. 'सपाट चेहरे वाला आदमी' में संकलित।
२. 'गणदेवता', पृ० १४५।

हरिजनों के पक्ष में जमींदार के प्रति विद्रोह[1], और प्रजा-समिति का भार लेना[2], अत्याचार की तनी कुल्हाड़ियों के सम्मुख निहत्थे खड़े होकर हिंसा के प्रति विद्रोह[3], और बदले में चोरी के अभियोग में गिरफ्तारी[4], नैतिकता के प्रति विद्रोह[5], अछूतोद्धार का विद्रोह[6], कानून के प्रति विद्रोह और गिरफ्तारी[7], तथा विधवा-विवाह के संदर्भ में समाज की मान्यताओं के प्रति विद्रोह[8], ये विद्रोह के आयाम अत्यन्त सहज भाव से 'गणदेवता' में उद्‌घाटित हो गये हैं।

वाह्य-विद्रोह आन्तरिक स्तर पर मूल्य-विद्रोह हो जाता है। जब वह पुराने सम्बन्धों की औपचारिक शुष्कता से ऊब जाता है तो नये सम्बन्धों की खोज करता है। नयी अनुभूति-भूमियों का अन्वेषण करता है। प्रेम के आत्मिक होने को वह अस्वीकार कर देता है। मधुकर गंगाधर की कहानी 'मां'[9] में यही घटित होता है। जो कुछ है यह देह है और उसका सुख है। चम्पा मृत पति शिवचरण बाबू को सरल-सहज रूप में भूल जाती है और उसे रघुबीर के दस्तक बहुत मीठे लगने लगते हैं। यह पतिव्रत और सतीत्व का चूड़ान्त प्रत्याख्यान 'कुलीन' ग्रामभूमि से अभी कुछ दूर है परन्तु उसकी आहट श्रुतिगोचर हो रही है। पानू-खोलिया की कहानी 'एक किरती और' में तथा शैलेश मटियानी की कहानी 'घर गृहस्थी'[10] में यही उपहासास्पद स्थिति है। किन्तु पहली कहानी 'अ-कुलीनों' के पर्वतांचल की है तो दूसरी मिरासी जाति की एक वेश्या की है। पहली कहानी का पति-बहिष्कार और दूसरी कहानी का

---

१. 'गणदेवता' पृ० २०४।
२. वही, पृ० २२१।
३. वही, पृ० २४३।
४. वही, पृ० २५५।
५. वही, २८०।
६. वही, पृ० ४७२, ५०१।
७. वही, पृ० ६०५।
८. वही, पृ० ६२३।
९. 'हिरना की आँखें' में संकलित।
१०. 'कहानी' अक्तूबर १९६८ में प्रकाशित।

पति-स्वीकार दोनों विद्रोह-गर्भित सांकेतिक स्थितियाँ हैं।

परम्परा के प्रति विद्रोही के लिए वैवाहिक संदर्भ सबसे निकटवर्ती सिद्ध हुआ है। कमलेश्वर की कहानी 'सीखचे'[1] में अत्यन्त स्पष्टता के साथ सीखचे सामाजिक मृत परम्पराओं के रूप में चित्रित हैं जिनमें कसे काँपते विश्वासों को भीषण ठोकर लगती है। विवाह के सात फेरों के विषय में सशक्त अनास्था-स्वर उठकर लड़खड़ाती मान्यताओं को धराशायी कर देता है। लगता है कि सीखचे बहुत पुराने और सुदृढ़ हैं, परन्तु अन्ततः वे जकड़ी मानवात्मा से अधिक सशक्त नहीं हैं। उनके प्रति शंकाशीलता, अस्वीकृति और अनास्था यदि उत्पन्न हो गई, उनका अस्तित्व मनोजगत से खिसक गया तो बाह्य जगत में वे कब तक टिके रहेंगे ? अत्यन्त तीव्रतः गतिमान परिवर्तन-चक्र उसे काट रहा है, तोड़ रहा है। शैलेश मटियानी की कहानी 'लीक'[2] में भी परम्परा की यही उन्मूलन वृत्ति है। अत्यन्त तीव्रता के साथ संवेदित हो रहा है कि 'ज़माने की रफ्तार पाँवों से तेज' है। लोगों को लीकों पर संदेह हो गया है। वे टूट रही हैं। गोपाल प्रधान को इस आधुनिकता की अनुभूति अपनी नयी टैक्सी को नयी सोर-पिथौरागढ़ लाइन पर लगाने के सिलसिले में होता है। वह सोचता है कि लोग पतली लीकों को छोड़कर चौड़ी सड़कों पर आ रहे हैं। इस अनुभूति के साथ वह अपनी कुल परम्परा और पुरखों की लीक तोड़कर अपनी कन्या का विवाह शिक्षित युवक प्रोफेसर कुंडलनाथ से करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है किन्तु इस संदर्भ में एक आखिरी 'लीक' का आग्रह रह जाता है कि बरात घूमधाम से आवे ! कुंडलनाथ इस 'लीक' को इस शर्त पर मानने के लिए तैयार हैं कि तब विवाह के बाद वह भी अपने पुरखों की आखिरी लीक का पालन करेगा। अर्थात् प्रतिष्ठित जीवन परित्याग कर जुआरियों-शराबियों के बीच खूब पियेगा और रहेगा।···और व्यंग्य की चोट से 'लीक' टूटती दृष्टिगोचर होती है। समाज की यह 'लीक' न केवल विवाह के संदर्भ में अपितु अन्यान्य सामाजिक संदर्भों में भी टूटती जा रही है। राजेन्द्र अवस्थी की कहानी 'एक बाँह धरती के ऊपर'[3] में पूजा-पाठ और

---

१. **'राजा निरबंसिया' में संकलित।**

२. **'मेरी तैंतीस कहानियाँ' में संकलित।**

३. **'एक प्यास पहेली' में संकलित'।**

देवाराधन संबंधित लीक टूट रही है। युवावर्ग में विद्रोही-स्वर उठ रहा है। उग्र-विद्रोह ही नहीं शान्तिपूर्ण अहिंसक विद्रोह भी समाज को नया रूप दे रहा है और कथाकारों ने उसे भी देखा है। नागार्जुन के 'बलचनमा' में 'दुखमोचन' की अपेक्षा उग्र विद्रोह है। बलचनमा समाजवादी है और दुखमोचन सर्वोदयी। बलचनमा में शोषित जनता की बाबुओं से अपने हक के लिए टकराहट का आह्वान है परन्तु दुखमोचन हृदय-परिवर्तन के मार्ग से अग्रसर है और इसीलिए नये परिवर्तन के लिए परम्परावादी लोगों के हाथों पिट कर भी वह घूर बना रहता है और सब सहता है।[1]

विद्रोह के इस विश्लेषण के साथ सहज ही ध्यान आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में रेखांकित उस 'विद्रोह' की ओर जाता है जो 'नयी कहानी' में केन्द्रीय भावतत्व बनकर अभिव्यक्त हुआ है और आत्यन्तिक रूपेण नगरभाव से जुड़ा है। यह विशिष्ट पारिभाषिक 'विद्रोह', कहते हैं, युगीन विश्व-समस्याओं की उपज है और नयी युवापीढ़ी की एकमात्र परिचित मुद्रा है। जो हो, इस विद्रोह में जब अपना चित्र भी अनाम दुष्ट लगने लगता है, अपनी संज्ञा भी संबोधित गाली प्रतीत होने लगती है तो नये कथाकारों के विद्रोह की सचाई में संदेह उत्पन्न होता है। उनकी अप्रतिबद्धता छायावादी कवियों के पलायन की अभिनव मुद्रा प्रतीत होने लगती है और उनके आक्रोश में सुविधा-संभव दुर्बल प्रतिक्रियाओं का पाखंड झलकने लगता है। राजेन्द्र यादव ने 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' में इस विद्रोह का विश्लेषण करते हुए इसके खोखलेपन की ओर संकेत किया है। उनका कहना है कि 'मूलतः यह 'मृत्यु-संत्रास-संभोग-विद्रोह' किसी भी अर्थ में विद्रोह नहीं, केवल प्रतिक्रिया है। 'हमारी पीढ़ी की मजबूरी' कहकर इस प्रतिक्रिया को शहादत की मुद्रा दी जाती है। इसे मैं 'किसी भी विद्रोह का हिस्सा न बन सकने' की नपुंसक प्रतिक्रिया कहना ज़्यादा पसन्द करूँगा। अर्थात् फ्रस्ट्रेशन। जिन्दगी के हर मोर्चे पर पिटा हुआ क्लीव असमर्थ आदमी सबसे बड़ी बहादुरी घर आकर बूढ़े बाप (क्योंकि उसने जन्म दिया!) या औरत पर दिखाता है। फोहश और नंगी गालियों में अपना विद्रोह व्यक्त करता है—लेकिन सुरक्षित जगहों पर ही यानी चहारदीवारी के भीतर—न वह बास को गाली दे सकता है, न दूकानदार को! औरत ही

---

१. 'दुखमोचन', पृ० १०२।

उसके इस फ्रस्ट्रेशन को झेलती है—उसके विद्रोह के लिए 'डस्ट-बिन' बनती है।'[१]

आधुनिकता का एक आयाम है टूटन और नये ग्राम-जीवन को इसने बुरी तरह झकझोर दिया है। गाँव टूट रहे हैं, शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' का यही मुख्य स्वर है। सभी अच्छे-भले लोग गाँव छोड़कर शहर चले जा रहे हैं। समस्त नव परिवर्तित स्थितियों का सारांश निचोड़ कर जगन मिसिर कहते हैं, संस चली गई !' गोगई महाराज कहते हैं, 'अंगरेजी जमाने से भी ज्यादे विपत्ति बढ़ गई।' सुखदेव राम सभापति की शिकायत है, 'लड़ाई-झगड़े खूब होते हैं, मगर सभापति को कोई साला नहीं पूछता !' मास्टर शशिकान्त को स्कूली बच्चों की मुखमुद्रा सालती है, 'उन्हें डाँटो तब भी और हँसाओ तब भी चेहरे में कोई फर्क नहीं पड़ता।' विचित्र मुर्दनी है। अद्‌भुत टूटन है। भले लोग गाँव छोड़-छोड़कर चले जा रहे हैं। मन पर एक आतंक सा छा जाता है। यह कोई गहरी कचोट है कि जगन मिसिर कहते हैं, 'यहाँ रहते हैं वे जो यहाँ रहना नहीं चाहते पर कहीं जा नहीं सकते। यहाँ से जाते अब वे हैं जो यहाँ रहना चाहते हैं पर रह नहीं सकते !'[२] और जाते-जाते विपिन एक जलता सवाल छोड़ जाता है, 'फिर गाँव का क्या होगा ?'[३] प्रश्न गंभीर और अनुत्तरित है। गाँव की नयी टूटन के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न गाँव के वर्तमान अस्तित्व के सम्मुख खड़ा है।

टूटन के साथ-साथ भग्नाशा (फ्रस्ट्रेशन) लगी है। गाँव में इसका प्रभावशाली अंकन डा० राही के उपन्यास 'आधा गाँव' में मिलता है। उपन्यास में लगभग एक दर्जन संगीन गालियाँ हैं जो लगभग तीस बार प्रयुक्त हुई हैं। द्रष्टव्य है कि ये समस्त गालियाँ उपन्यास के उत्तरार्द्ध में हैं। इनके वक्ता भी कुछ खास लोग हैं, मिग़दाद, हाजी जी, फुन्नन मियाँ, हकीम जी और हरिजन एम० एल० ए० परशुराम, और ये लोग क्रम से जमाने की चोट से उत्तेजित, पागल, विक्षुब्ध, निराश, असफल और मन बढ़े लोग, समुच्चय रूप में भग्नाश (फ्रस्ट्रेटेड) लोग हैं। ये लोग पूर्वार्द्ध में संयमित-संतुलित भाषा का व्यवहार

१. 'कहानी : स्वरूप और संवेदना', पृ० १५६।
२. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ६८६।
३. वही, पृ० ६८७।

करते हैं और उत्तरार्द्ध आते-आते सनक जाते हैं और उपन्यास भग्नाश एवं उजड़े लोगों की व्यथा-कथा हो जाता है। नगर जाने के बाद गाँव में बचे ऊबे, पीड़ित, रिसते लोग जिनका मन आर्थिक असन्तुलन से निचुड़ गया है अपनी मनोव्याधिग्रस्त जिन्दगी का बोझ ढोते प्रतीत होते हैं। उनका मानसिक संघर्ष गालियों में व्यक्त होता है।

अप्रतिबद्धता गाँव की प्रकृति के विरुद्ध है परन्तु गाँव के जनमे डाक्टर देव महानगर में निवास करने लगते हैं तो उनका यह सोचना कि 'परिवार के बड़े-बड़े कारखानों को पीठ पर लादकर चलना असम्भव है।'[1] अथवा 'तमाम संबंधों से गुँथे परिवार को ढोना पुराना बोध है, सड़ा हुआ मूल्य है!'[2] इस आधुनिक मुद्रा अप्रतिबद्धता को रेखांकित करता है। अकेलेपन की अनुभूति की भी यही स्थिति है। महानगर बोध से जुड़ी यह आधुनिक अनुभूति जब गाँव से जोड़ी जाती है तो प्रामाणिक नहीं लगती है। रमेश सत्यार्थी की कहानी 'एक लैम्प पोस्ट'[3] ऐसी कहानी है। कमल और देवन बहन भाई हैं। कमल ने देवन को बचपन में सहारा देकर पढ़ाया। वह सरकारी अधिकारी हो गया। अविवाहित कमल अनाथ-सी होकर टी० बी० से आक्रान्त हो गई। अब उसे कौन पूछता है? वह अकेलेपन को जिये जा रही है। किन्तु गाँव में उसकी चित्रित स्थिति अटपटी है। यह गाँव है जहाँ न खेत-खलिहान हैं, न माल-मवेशी हैं, बाग-बगीचे, चिड़ियाँ-फसल, कुछ नहीं, बस मनुष्यों का रेगिस्तान है और कमल मकान के पिछवाड़े का उजड़ा लैम्प पोस्ट देख रही है तो उसे लगता है कि वह अकेली नहीं है। आरोपित स्थिति से पृथक रामदरश मिश्र के उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में सतीश के भीतर यह अकेलेपन की अनुभूति अपनी समस्त आधुनिकता के साथ सहज रूप में अंकित हो गई है। वह भीड़ में अपने स्वर के अकेलेपन को बहुत गंभीरता के साथ अनुभव करता है।[4] सतीश जैसी ही स्थिति शिवप्रसाद सिंह के विपिन की है। वह अजनबीपन की व्यथा जीने लगता है। उसे लगता है, उससे उसका गाँव एकदम अलग और

---

१. 'खाली घर', डा० रामदरश मिश्र, पृ० २८।
२. वही, पृ० २९।
३. 'कल्पना', दिसम्बर १९६८।
४. 'जल टूटता हुआ', पृ० १०७।

अपरिचित हो उठा है।[१] ऐसा नहीं कि पुरानी पीढ़ी के परम्परावादी सज्जन व्यक्तियों में 'आधुनिकता' का उभार संभव नहीं ! युगीन मूल्यानुसंक्रमण की चपेट में आहत शालीन व्यक्तित्व विक्षोभ की कड़वाहट को पचा नहीं पाता है और उसका प्रत्यक्षीकरण होता है शिवप्रसाद सिंह के खलील चाचा में। गाँव ने उसे ऐसे धक्के दिए कि अपना समस्त सौजन्य समेट वह गाँव छोड़ने के लिए विवश है। ठीक समय पर भेंट हो जाती है विपिन से और पहली बार खलील के मुँह से कड़वी-तीखी शब्दावली जो सुनने को मिलती है वह अत्यन्त सशक्त रूप से आधुनिकता बोध के युगीन विक्षोभ को अभिव्यक्त कर देती है। वह कहता है, 'बड़ी बेहूदा किस्म की हवा चल रही है !'[२] इस नयी अनुभूति में गहरी संवेदनात्मकता है।

मुक्त-कामता भी आधुनिकता के सन्दर्भ में चर्चित है। परन्तु कुछ विशेष जातियों के अतिरिक्त शेष ग्रामजीवन में अब भी प्राचीन पवित्रतावादी मूल्य का झंडा बुलन्दी पर है। रेणु का परानपुर यद्यपि बिहार का अत्यन्त समृद्ध, प्रगतिशील और आधुनिक गाँव है परन्तु मलारी-काण्ड को देखते लगता है कि गाँव आधुनिकता को झेलने के लिए प्रस्तुत नहीं है। मलारी का अररिया-कोठी जाना परानपुर में एक 'कांग्रेसी झमेला' हो जाता है। पंचायत का टाट पड़ जाता है। प्रश्न पर प्रश्न उभड़ते हैं। वह सुवंशलाल के साथ क्यों गई ? 'हिन्नू चा गरम' क्यों पिया ?'[३] परानपुर की नटिनों में नहीं मलारी में गाँव का औसत काम-जीवन हम आँकते हैं। नटिनों की मुक्त-कामता उनकी परम्परा है। ऐसी ही वृत्ति रांगेय राघव के उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' के कर-नटों में है। उनका वासस्थान बड़ी जात वालों का चरागाह बन जाता है और पूरा वातावरण व्यभिचार-बलात्कार से लेकर गर्भपात की बद्‌बू से भरा रहता है। कुछ लोग इस नयी मुक्त-कामता को आधुनिक बुद्धिवाद से जोड़ते हैं। जैनेन्द्र कुमार सन् १९६० के पहले और बाद की कहानी में सबसे मुख्य अन्तर इसी निरन्तर वर्धमान बौद्धिकता को मानते हैं।[४] और इस संदर्भ में अपनी

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ५५४।
२. वही, पृ० ५५४।
३. 'परती परिकथा', पृ० २०६।
४. कहानी : अनुभव और शिल्प, पृ० ९१।

'विज्ञान' शीर्षक कहानी का उल्लेख करते हैं जिसमें श्री एक्स जी किसी अपनी महान आदर्शवादी विश्वयोजना में नारी सामर्थ्य का पूरा-पूरा उपयोग कर लेना चाहते हैं। इसके लिए नग्न नारी शरीर की नापतौल होती है और लगता है कि जो वैज्ञानिक है वह हाड़मांस का आदमी नहीं है![1] शायद इन्हीं कारणों से डा० नामवर सिंह प्रस्तावित करते हैं कि 'कल्पनाशील साहित्य ने अपनी पुरानी संवेदनाओं को त्याग कर नयी संवेदनायें बना ली हैं। विज्ञान और प्रविधि ने धीरे-धीरे उनकी संवेदनाओं को अमानवीय बना दिया है।'[2] परन्तु ये बुद्धिवादी स्थितियाँ गाँव में 'वर्तमान' नहीं, संभावित भविष्य हैं और सुदूरवर्ती हैं। इस सार्वभौम वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने ग्रामजीवन का जिस रूप में स्पर्श किया है वह है उसकी एकतानता का विनष्ट हो जाना। टुकड़ों में जीती जिन्दगी नगरों की भाँति वहाँ भी विकास के नये चरणों के समागम के साथ उभरी है। ललित शुक्ल की कहानी 'एक वैतरणी और'[3] में उसका पात्र नियामत ऐसी ही जिन्दगी जी रहा है। उसका खेत चकबन्दी अधिकारियों के नक्शे से गायब हो गया है और मौके पर मौजूद है। 'बड़े परिश्रम' से सभी उसे ढूँढ़ते हैं पर अन्त तक वह नहीं मिलता है। पूरी घटना टुकड़ों पर आधारित है और नियामत की टुकड़ों में बँटी जिन्दगी युगीन अन्तर्विरोध का एक नमूना बन जाती है।

ग्रामस्तर पर आधुनिकता के प्रमुख अवशिष्ट आयामों का यदि संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत करें तो शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'कलंकी अवतार'[4] में तथा राही के उपन्यास 'आधा गाँव' के फुन्नन मियाँ के प्रसंग में जो कासमाबाद के शहीद-समाधि-उद्घाटन के अवसर पर[5] सम्मुख आता है गहरा मोहभंग है।

---

१. कहानी : अनुभव और शिल्प—पृ० १६८।
२. २० दिसम्बर १९६८ को विज्ञान भवन दिल्ली में पुरस्कार-समर्पण समारोह के सिलसिले में आयोजित ज्ञानपीठ-विचार गोष्ठी में 'कल्पनाशील साहित्य पर विज्ञान प्रविधि का प्रभाव' का विषय प्रवर्तन (रिपोर्टिङ्ग: 'धर्मयुग' १२ जनवरी १९६९)।
३. 'अनाहूत', सितम्बर-अक्तूबर १९६९ में प्रकाशित।
४. 'धर्मयुग' २० अप्रैल १९६९, पृ० १३।
५. 'आधा गाँव', पृ० ३६६।

शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'आदिम हथियार'[1] में अस्वीकार-नकार की मुद्रा है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'मुरदा सराय'[2] में 'मृत्युबोध है। लेखक की कहानी 'झगड़ा'[3] में सेक्स विस्फोट है। और 'पुराने गुलाब : नये गाँव'[4] में नयी पीढ़ी का खोखलापन है। 'अलग-अलग वैतरणी' में सुखदेवराम के इस कथन में कि 'जब देखो कि सारा गाँव कटकटा कर तुम्हारी निन्दा कर रहा है तो जानो कि तुम बड़े आदमी हो रहे हो,'[5] आधुनिकता निर्लज्जता और नंगई है। खोखले युवाविद्रोह के चित्र 'रागदरबारी' में बिखरे पड़े हैं।[6] किन्तु गाँवों में कथाकारों द्वारा चित्रित यह आधुनिकता वहाँ के ग्रामीण किसानों आदि के द्वारा जिये जाते जीवन का न तो नया दर्शन बनने जा रही है और न ही ऐसा है कि उसका रूप वही है जो चित्रित हुआ है। जीवन तो निरन्तर गतिशील है और इस गतिशील जीवन के परिवर्तित परिवेश की पकड़-दृष्टि में आधुनिकता की महत्ता स्वीकार की जायेगी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सत्य ही कहा है : 'आधुनिकता अपने आप में कोई मूल्य नहीं है। मनुष्य ने अपने अनुभवों द्वारा जिन महनीय मूल्यों को उपलब्ध किया है उन्हें नये संदर्भों में देखने की दृष्टि आधुनिकता है।'[7]

४—सम्बन्ध-तनाव

सम्बन्धों का तनाव, नये सम्बन्धों की खोज और पीढ़ियों का संघर्ष नये सामाजिक मूल्यों के रूप में आधुनिकता का महत्वपूर्ण आयाम बनकर सन् १९६० के बाद हिन्दी-कथा-साहित्य में उभरा है और ग्रामकथानकों में भी इसका विकास दृष्टिगोचर होता है। पीढ़ियों का संघर्ष और पिता-पुत्र आदि

---

१. धर्मयुग, ३४ सितम्बर १९६९।
१. 'मुरदा सराय', में संकलित।
३. 'नयी कहानियाँ', अप्रैल १९६८।
४. 'ज्ञानोदय', नवम्बर १९६७।
५. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ३३७।
६. 'रागदरबारी', पृ० १८०, १२३, ७०।
७. 'सामंजस्य की खोज : परम्परा और आधुनिकता', 'धर्मयुग', २८ सितम्बर १९६९।

के द्वन्द्व तो सनातन हैं परन्तु इधर इनके जो चित्र उभरे हैं उनमें पिताओं के प्रति युगीन अस्वीकृति एक सर्वथा नये धरातल पर उभरी है। वह अपवाद नहीं शनैःशनैः नया मतवाद होती जा रही है और उसके पीछे (निर्लज्ज-प्रगल्भ हो सही) एक दर्शन भी उपस्थित किया जाता है। ज्ञानरंजन की 'पिता'[१] शीर्षक कहानी में पिता के गँवारपन को लेकर पुत्र से शीत युद्ध ठन जाता है और स्थिति पर्याप्त तनावपूर्ण हो जाती है। पुत्र में नागरिक सुख-सुविधाओं को लेकर पूरा अहंकार है और वह पुरातन जीवन-व्यवस्था की कठोरताओं से ऊबा-सा लगता है। उसमें नयी पीढ़ी का अहं मुखर है। वह पिता को 'ढोंगी' और 'वज्र अहंकारी' कहकर चिल्लाना चाहता है। स्थिति की गंभीरता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह पिता के अस्तित्व को भी सहन करने के लिए तैयार नहीं है। वास्तव में 'पिता' उसी तरह आज सत्ता का प्रतीक है जिस तरह 'नारी' पराधीनता का।

स्थिति को बहुत साफ किया है रामदरश मिश्र ने। उनकी इसी 'पिता'[२] शीर्षक कहानी में विद्रोही पुत्र की मनःस्थिति को विश्लेषित किया गया है। कथाकार आरम्भ में चिरंतन जीवन मूल्यों के अवमूल्यन का प्रश्न उठाता है। पिता के प्रति पुत्र का श्रद्धा-भाव एक चिरंतन मूल्य है, एक सामाजिक स्वीकृति है और धीरे-धीरे टूटकर यह टूटना ही एक नया मूल्य होता जा रहा है। 'पुत्र अब पैदा होने के लिए पिता का एहसानमन्द नहीं रह गया है। बल्कि उसे इस बात का जिम्मेदार समझता है कि उसने अपने आनन्द के लिए एक जीवन को दुनिया के नरक में जीने के लिए मजबूर कर दिया।'[३]

पुत्रों द्वारा पिताओं का तिरस्कार-ताड़न 'रागदरबारी' में सर्वाधिक चित्रित हुआ है। ठाकुर दुरबीन सिंह अपने नशेबाज भतीजे का जोरदार तमाचा बुढ़ापे में बरदाश्त नहीं कर पाते हैं और कुँए की जगत पर गिर जाते हैं।[४] वृद्ध कुशहर प्रसाद को उसका युवा-पुत्र पीटता है और वह गिलगिलाता है तो उसमें कथाकार भी जायजा लेता है।[५] छोटे पहलवान से पूछा जाता है कि उसने अपने

---

१. 'फेंस के इधर और उधर' में संकलित।
२. 'खाली घर', में संकलित।
३. वही, पृ० ११०।
४. 'रागदरबारी', पृ० ७०।
५. वही, पृ० ११५।

जन्मदाता बूढ़े बाप को क्यों मारा तो वह भुनभुना कर कहता है, 'कोई स्टाम्प लगाकर दरखास्त दी थी कि हमें पैदा करो ! चले साले कहीं के पैदा करने वाले !'[१] रुप्पन भी कई प्रसंगों को लेकर अपने पिता वैद्य जी से विरोध रखता है और लगता है कि कविवर पंत की कामना 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' अब चरितार्थ की तीव्रता पर है।

शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'बेहया'[२] में भी यही द्वन्द्वशील आधुनिकता है। कामतानाथ और उसका बाप दोनों सुभागी के घर का चक्कर लगाते हैं। कामतानाथ अपने पिता से लड़ता है और गृह परित्याग कर देता है। लक्ष्मी-नारायण लाल के उपन्यास में एक और सुभागी है जिसके लिए एक तहसील-दार साहब और उनके पुत्र में प्रतिद्वन्द्विता ठन जाती है। वास्तव में पुत्रों से कम बेहया इस युग के पिता-गण भी नहीं हैं। फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'हाथ का जस और वाक का सत्त' में भी एक पिता-पुत्र का तनाव है और प्रतिस्पर्द्धा में कोई किसी से घट कर नहीं है। पुत्र की बधू घर में आती है तो पिता अत्यन्त बेहयाई के साथ 'जवान तड़ातड़' पहाड़िन बैठा लेता है।

कहाँ से आया यह संघर्ष ? कहा जाता है कि स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक स्थितियों के समानान्तर इस सामाजिक मूल्य का विकास हुआ है। राजनीति में पुरानी पीढ़ी के नेतृ वर्ग ने जो सत्ता व्यामोह और उसके साथ चिपटे रहने की दीर्घसूत्रता प्रकट की तो उसकी व्यापक प्रतिक्रिया नयी पीढ़ी के युवा वर्ग में हुई। नयी पीढ़ी की आकांक्षायें पूर्ण नहीं हुईं और उसका मोहभंग हो गया। यहाँ राजनीतिक कुंठा पारिवारिक जीवन-संघर्ष के रूप में परिणत होकर सम्मुख आयी। आधुनिकता से सम्पृक्त होकर इसने 'स्वीकृति' और 'सम्मान' पा लिया। पुनः यह पिता-पुत्र संघर्ष सत्तारूढ़ और विरोधी का प्रतीक हो गया। उक्त कारणों के अतिरिक्त जनसंख्या वृद्धि और भीषण महार्घता के कारण उस जीवन की नारकीय कठिनाइयों के कोण भी इस सम्बन्ध में कुछ संकेत करते हैं। प्रत्येक प्रकार की प्रज्वलित भूख ने मनुष्य को पशु बना दिया और उसने नैतिक मान्यताओं, सामाजिक स्वीकृतियों और संबंधों को ठोकर लगा दी। विज्ञान और प्रविधि ने भावुकता को जब आसनच्युत कर दिया तो मनुष्य ने

---

१. **'राग दरबारी', पृ० १२३।**
२. **'इन्हें भी इन्तजार है' में संकलित।**

अपने को प्रत्येक प्रकार की प्रतिबद्धता और पूर्वाग्रह से मुक्त कर चिन्तन आरम्भ किया और क्या आश्चर्य कि पहली बार उसे 'मातृदेवो भव : पितृ देवो भव' निस्सार लगा हो। माता अर्थात् मातृ सत्ता तो उसी की भाँति अधिकारच्युत है और उसका समस्त आक्रोश अधिकार-सम्पन्न पितृ-सत्ता पर उबल पड़ता है। वह उसकी परम्परागत महानता को अस्वीकार कर जीवन-युद्ध में उसे अपना प्रतिस्पर्द्धी मान लेता है और इस प्रकार एक संघर्षशील नयी चेतना उत्पन्न होती है।

शनैः शनैः पिता-पुत्र संघर्ष वर्ग-चेतना के रूप में विकसित हुआ। पिता परम्परावादी वर्ग और पुत्र विद्रोही वर्ग। मधुकर गंगाधर के उपन्यास में एतवारी हलवाहा परम्परावादी है और उसका बेटा झिंगुरवा विद्रोही वर्ग का है। कहीं-कहीं यह विद्रोही वर्ग विकासवादी वर्ग के रूप में अंकित हुआ है। सिद्धेश की कहानी 'खम्भा'[1] में अविनाश जी पूर्ण रूप से परम्परावादी पिता हैं और गाँव पर अपने मकान में रिटायर्ड जीवन व्यतीत करते हैं। गाँव में बिजली आ गई है, खंभे गड़ गये हैं। परन्तु न तो गाँव के किसी अन्य ग्रामीण ने और न ही अविनाश जी ने बिजली ली। ये लोग पुरानी पीढ़ी के हैं। अविनाश जी का बेटा नगर में रहता है और बराबर ज़ोर देता रहता है कि बिजली लगवा ली जाय। यह बिजली लगवाना पिता-पुत्र के भीतर एक द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है और एक दिन जबकि उनका बेटा घर आने वाला है रात में भीषण तूफान आता है, सुबह सोकर अविनाश जी सबसे पहले उठते हैं तो जा कर उस खंभे को निहारते हैं। उनके मन में था कि उसे उड़ जाना चाहिए था किन्तु उसे 'सही सलामत' देखकर उन्हें बहुत निराशा होती है! क्योंकि यही खंभा सम्पूर्ण द्वन्द्व का मूल और प्रतीक है। वे यह सहन करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं कि उनका बेटा आकर बिजली न लगवाने के संदर्भ में उनसे कुछ कह कर उनकी परम्परावादिता को चुनौती दे।

डा० शिवप्रसाद सिंह ने एक निबन्ध[2] में इस पिता-पुत्र द्वन्द्व के संदर्भ को मनोविज्ञान-सम्मत 'इडिपस ग्रन्थि' से जोड़ा है और उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी', विजय चौहान की 'मुक्ति', ज्ञानरंजन की 'पिता' और मनोहर श्याम

---

१. 'मंच' वर्षांक ७०, पृ० ५६ में प्रकाशित।
२. 'घर के बाहर कुछ है : घर के भीतर कुछ' (डा० शिवप्रसाद सिंह) 'धर्मयुग' ९ जुलाई १९६७, पृ० १२।

जोशी की 'एक दुर्लभ व्यक्तित्व' का उल्लेख करते हुए यह विश्लेषित करने का प्रयास किया है कि जहाँ 'देवा की माँ', 'दादी माँ' और 'गुलरा के बाबा' आदि के रूप में स्वतन्त्रता के बाद कहानियों में आत्मान्वेषण का क्रम चल रहा था वहाँ सन् १९६० के बाद एक मोहभंग का झटका लगा और बुजुर्गों के प्रति आक्रोश-भाव उदित हुआ। डाक्टर सिंह की स्थापना है कि पिता-पुत्र द्वन्द्वांकित कहानियों में मूल्य-सहित विद्रोह नहीं, मूल्य-रहित आक्रोश है।

ग्रामजीवन से संदर्भित कहानियों में जहाँ भी पिता-पुत्र द्वन्द्व दिखाया गया है वहाँ आक्रोश की ही प्रधानता लक्षित होती है। नयी पीढ़ी में अधीरता अत्यधिक है और मात्र दृष्टिकोण के अन्तराल भी उसे उत्तेजित कर देते हैं तथा वह पुरानी पीढ़ी को झटक देती है। पारिवारिक खटपट के अतिरिक्त किसी बड़े उद्देश्य अथवा महान् सामाजिक परिवर्तन को यह पिता-पुत्र द्वन्द्व मूल में छोड़कर उभरता तब कहीं इसे नये सामाजिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने में हिचक नहीं होती।

पिता-पुत्र की ही भाँति पति-पत्नी का तनाव नयी कथा की एक प्रमुख आधुनिक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति नारी के उभरते नये स्वतंत्र व्यक्तित्व की माँग का प्रतिफल है। बुद्धिजीवी मध्यमवर्ग की स्वच्छन्द नागरिक भूख, नैतिकता के टूटते बन्धन और सहकर्मी के रूप में उभरा शिक्षित नारी का नया रूप, सब मिलाकर नारी के प्राचीन 'अर्धांगिनी' अथवा 'अबला' रूप को रूपान्तरित कर रहे हैं। विवाह-संस्था की महत्ता के साथ आर्थिक दृष्टि से पति की परावलम्बिता भी खिसक रही है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व के साथ नारी की स्वतन्त्र आजीविका का प्रश्न जब पति के परम्परापोषित, शास्त्र समर्थित और लोक-प्रचलित अधिकार और स्वामित्व को चुनौती देता है तो तनाव और संघर्ष स्वाभाविक है। किन्तु इस संघर्ष और तनाव की स्थिति गाँव में नहीं है। ऐसा नहीं कि वहाँ पति-पत्नी के बीच उक्त स्थितियाँ नहीं उभरती हैं। परन्तु, उनके संदर्भ दूसरे होते हैं। आधुनिकता और स्वतंत्रता के चरण अभी गाँव की गलियों में प्रवेश नहीं पा सके हैं। वे अभी अपरिचित की भाँति पहुँचकर उसके सीवान पर खड़ी हैं। तो भी, कुछ प्रभाव इनका किसी न किसी रूप में लक्षित हो रहा है और कहीं-कहीं आधुनिक तनाव की आहट भी मिल जाती है। सुषमा शुक्ल की कहानी 'लाल पलाश'[1] में तनाव का मूल कारण तो बहुत

१. 'कहानी' दिसम्बर १९६८ में प्रकाशित।

घिसा-पिटा है अर्थात् पति भीखम को फूला के नैहर वाले प्रेमी की बात मालूम हो जाना और वर्षों बाद सेना से एक अवकाश में आने पर भी जलते-भुनते बाहर सो रहना सामान्य व्यापार है परन्तु उसकी अगली कथात्मक परिस्थिति में एक नवीन मनोवैज्ञानिकता है। युवा नारी-देह की स्पर्श-गंध की दुर्निवार मादकता में आक्रोश बिखर जाता है। लक्ष्मीनारायण लाल की कहानी 'टूटता हुआ पुल'[1] में तनाव इसलिए है कि नगर की चकाचौंध में विमोहित हरी अपनी गँवार पत्नी लीला की कुरूपता को झेल नहीं पाता है। काशीनाथ सिंह की कहानी 'आखिरी रात'[2] में तनाव आर्थिक कारणों से उत्पन्न होता है। पत्नी में ग्राम-भाव है और वह सारे सम्बन्धों से जुड़ी हुई है। पति का नगर भाव अपने मध्यमवर्गी अर्थसंकोच की अभिशप्त नियति से जूझ रहा है और अनावश्यक सम्बन्धों का बोझ उसे दुर्वह प्रतीत होता है।

नये कथा-साहित्य में पति-पत्नी का तनाव उनके बीच तीसरे के प्रवेश की स्थिति से भी जुड़ा हुआ है। कमलेश्वर की कहानी 'तलाश' और मोहन राकेश की कहानी 'ग्लास टैंक' में यही स्थिति है। मन्नू भंडारी की कहानी 'तीसरा आदमी'[3] में भी यह 'आउट साइडर' गहरी शंकाशीलता बनकर जम जाता है और पति-मन को वैचारिक घात-प्रतिघात से आविल कर देता है। यह 'आउट साइडर' पत्नी के प्रेमी के रूप में ही नहीं पति की प्रेमिका के रूप में भी प्रवेश करता है। ग्राम कथानकों में यह तीसरे का तनाव बहुत कम चित्रित है। कुणाल श्रीवास्तव की कहानी 'पराया बेटा'[4] में अवश्य ही इसे ग्रामस्तर पर कुछ नये संदर्भों में चित्रित किया गया है। आठ वर्ष विवाह किये हो जाते हैं और जब जगन तेवारी को पुत्र प्राप्ति नहीं होती है तो वे दूसरा विवाह कर लेने को प्रस्तुत होते हैं। तभी उनकी पत्नी कैलासो को सुवरन सेवकिया के 'इष्ट' हनुमान जी के प्रसाद से पुत्र पैदा होता है। वह पुत्र जवान होकर घर सँभाल लेता है कि अकस्मात एक दिन बीमार पड़ता है, एकदम मरणासन्न! पत्नी जब उसे 'चंगा' करने के लिए सुवरन सेवकिया को बुलाने की बात छेड़ती है तो तेवारी

---

१. 'सूने आँगन रस बरसे' में संकलित।
२. 'लोग बिस्तरों पर' में संकलित।
३. 'यही सच है' में संकलित।
४. 'धर्मयुग' ९ जुलाई १९६७, पृ० १९।

के भीतर दबा फोड़ा भयानक रूप में टीस उठता है। परन्तु वे करें क्या? परायेपन की अनुभूति स्वार्थ के कारण दब गई है। दुर्गा कमासुत बेटा है। तो भी उस 'तीसरे' के पुनः प्रवेश सहन के लिए तेवारी प्रस्तुत नहीं हैं और गहरे अन्तर्मन्थन के बाद वे डाक्टर बुलाने के लिए चल देते हैं। नारी की यह 'आधुनिक' दुर्बलता कि वह पति और प्रेमी दोनों की सहेज-संभाल करती चलती है नये कथा-साहित्य में आधुनिक नगरबोध के स्तर पर बहुत चित्रित हुई है। शानी के उपन्यास 'कस्तूरी' की नायिका धान माँ में भी यही दुर्बलता है। युवावस्था में अपने प्रेमी हीरा सिंह और पति कालिका 'दोनों' को बनाये रखा।'[1]

इन्हीं स्थितियों से जुड़ा प्रश्न है नये सम्बन्धों की तलाश का। कमलेश्वर कहते हैं: 'पुत्र अब परलोक के लिए नहीं इहलोक के लिए ज़रूरी हो गया।... पुरुष अधिक स्वतंत्र सेक्स-जीवन की माँग कर रहा है और स्त्री विवाह संस्था के पक्ष में होते हुए भी अपनी स्वतंत्र मान्यताओं के अनुकूल चलना चाहती है।'[2] फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यास में 'मैला आँचल' में डाक्टर के मन में आधुनिकता की संवेदनीयता इसी संदर्भ में उठती है। वह सोचता है, 'इस दुनिया में माँ-बेटा, पिता-पुत्र, भाई-बहन और स्वामी-स्त्री जैसा कोई सम्बन्ध नहीं!'[3] 'अलग-अलग वैतरणी' में शिवप्रसाद सिंह अपनी कथा-यात्रा की अनुभूति व्यक्त करते हैं, 'खून के रिश्ते भी झूठे होते जा रहे हैं।'[4] इस प्रकार सारे सम्बन्धों की परम्परागत व्याख्यायें आज अधूरी हो गई हैं और कथाकार सामाजिक मूल्य के रूप में उभरते नये सम्बन्धों की परख बहुत सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत करने में संलग्न दृष्टिगोचर होते हैं। यदि विवाहिता पत्नी से शरीर की चिरंतन भूख नहीं मिटती है तो पुरुष प्रेमिका की खोज करता है। पुत्र की युवा-भूख में यदि माँ बाधक है तो सारे सम्बन्धों को झटक कर पुत्र उसे 'आउट साइडर' के रूप में लेकर धक्का दे देता है। इस लोक में और अभी सारा ऐहिक और ऐंद्रिक प्राप्तव्य हस्तगत कर लेने की बलवती कामना आधुनिकता

---

१. 'कस्तूरी', पृ० ३०।
२. 'नयी कहानी की भूमिका', पृ० १५९।
३. 'मैला आँचल', पृ० १८९।
४. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ८६८।

का लक्षण हो गयी है। दायित्वबोध उखड़ रहा है और वह यदि कहीं शेष है तो वहीं जहाँ ग्रामभाव मृत हो गया है। रामदरश मिश्र के उपन्यास 'बीच का समय' में यह संदर्भ बहुत मार्मिकता से चित्रित हुआ है। प्रेम की इन्द्रधनुषी मरीचिका में प्रोफेसर शील रीता के साथ गुजरात प्रान्त के अंचलों में भटकता है। मानसिक स्तर पर अनजाने ही वह नये आधुनिक सम्बन्ध की तलाश में है परन्तु ग्राम भावापन्न पुराने सम्बन्ध की गहरी आन्तरिक बद्धता से अमुक्त स्थिति उसे खुलने नहीं देती है। कथाकार उस स्थिति को इस रूप में प्रस्तुत करता है—'शील पाता है कि वह हमेशा लड़कियों के साहचर्य में इसी तनाव से गुज़रा है। वह एक चिरंतन भूख के लिए किसी भी लड़की से नहीं कह सका कि मेरी हो जाओ।...उसके भीतर एक धक्का सा लगा।...वह कैसे किसी से कहता कि मेरी हो जाओ, उसकी 'मेरी' होकर गाँव पर एक भैंस जो बैठी है। उसे लगता है कि उसके सारे तनाव के भीतर अनजाने रूप से पत्नी के प्रति उसका दायित्वबोध भी काम करता रहा है। पत्नी के पास गये उसे वर्षों हो गये लेकिन फिर भी आने-अनजाने यह चेतना बराबर बनी होती है कि उसकी पत्नी है, वह कैसे किसी लड़की को प्रेमबन्धन में बाँधे ?'[1]

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में नये सामाजिक मूल्यों के रूप में सम्बन्धों का जो तनाव अंकित किया गया है वह मुख्यतः नगरबोध से जुड़ा हुआ है। ग्राम-जीवन में परम्परागत सम्बन्धों का पूर्णतः उच्छेद नहीं हो पाया है। ग्राम-जीवन को अपनी कथा-पट-भूमि बनाने वाले कथाकारों ने सम्बन्धों के तनावों को उसकी सहजता से काट कर नहीं देखा है और जहाँ भी यह आरोपण-रहित सहजता है वहाँ तनावों के भीतर भी सम्बन्धों की स्वीकृति निहित है। आधुनिकता में मूल प्रश्न स्वीकृति का है। अस्वीकृति-सहित तनाव ही आधुनिकता है और स्वीकृति-सहित तनाव में वह समसामयिकता है जो क्षणिक भी हो सकती है।

५—विघटन का सामाजिक कोण : पारिवारिक विघटन

स्वतंत्रता के बाद गाँवों में बहुत तीव्रता से विघटन-बिलगाव एक नये सामाजिक मूल्य के रूप में विकसित हुआ है। इसके प्रथम प्रहार में संयुक्त

---

१. 'बीच का समय', पृ० ३७।

परिवार की कड़ियाँ ध्वस्त हो गई हैं। प्रेमचन्द की कहानी 'सुजान भगत' से आरम्भ टूटन-यज्ञ गोपाल उपाध्याय की कहानी 'दरार-दर-दरार'[१] तक आते-आते पूर्णाहुति की स्थिति तक पहुँच जाता है, जब लगता है कि पिता, बहन, भाई और अन्य रिश्ते खोखली संज्ञा मात्र रह गये हैं। पिता के आगे तीन भाइयों में बटवारा हो रहा है और वह अत्यन्त निरीह-स्थिति में सारी पीड़ा पीकर मौन रहने के लिए विवश है। स्वतंत्रता पूर्व एक दशक से उमड़ी यह प्रवृत्ति स्वतंत्रता के बाद वाले प्रथम दशक तक कुछ-कुछ समझौते की आशा-वादिता से पूर्ण रहती है। यह शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'बीच की दीवार' से स्पष्ट है किन्तु सन् १९६० के बाद यह प्रवृत्ति व्यापक प्रसार पाकर एक नये सामाजिक मूल्य के रूप में अनचाहे भी प्रतिष्ठित हो जाती है। समाज की अन्य परिवर्तित परिस्थितियाँ इसमें सहायक होती हैं। विज्ञान, राजनीति, रोजगार, नौकरी, कानून, अवमूल्यन, वैयक्तिकता के उभार और परम्परा-विद्रोह आदि के प्रभाव विघटनवादी सिद्ध होते हैं।

'दरार-दर-दरार' सामान्य ग्राम-जीवन में तो उभड़ते ही हैं। नये मूल्यों से अपेक्षाकृत कम प्रभावित पर्वतांचल में भी विघटन-बिलगाव की स्थितियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। शैलेश मटियानी की कहानी 'पुरखा'[२] में परिवार टूट रहा है और इस टूटन की पीड़ा परिवार के प्रधान आनन्दसिंह थोकदार को उन्मथित कर रही है। नगर के मध्यमवर्ग में यह बिखराव मर्मान्तक ऊब, विरसता, संत्रास, अविश्वास और तिक्तता भर देता है। ज्ञानरंजन की कहानी 'शेष होते हुए'[३] में इसकी रोमांचक स्थितियाँ अंकित हैं। कहानी में मझला बाहर से आता है तो उसे लगता है कि 'किसी नकली जगह के सामने व्यर्थ खड़ा हुआ है। 'वह' कठोर दृश्यों को स्वीकार कर लेता है। एक ही घर में कई घर हो गये हैं। मझला सोचता है कि 'यहाँ कोई संघर्ष' नहीं किया जा सकता। सिर्फ ध्वंस को निज के टूटने तक किसी तरह सहा जा सकता है। कहानी में मझला तटस्थ द्रष्टा और सम्पृक्त भोक्ता दोनों है। उसकी इस अनुभूति में कि जैसे 'ये सब लोग किसी एक स्थान से नहीं, अलग-अलग जगहों

---

१. 'धर्मयुग' ८ फरवरी, १९७०।
२. 'सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ' में संकलित।
३. 'फेंस के इधर और उधर' में संकलित।

से आये हैं' विघटन-बिखराव की अद्भुत मार्मिकता व्यंजित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नगर से लेकर सामान्य ग्राम और पर्वतांचल तक में चतुर्दिक अवमूल्यित पारिवारिकता कथा-साहित्य में विघटन-बिखराव का नया मूल्यांकन बनकर चित्रित हुई है।

समाज-विघटन

रेणु के 'जलूस' की रचना स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग डेढ़ दशक बाद हुई। कथाकार स्वतंत्र ग्रामीण-समाज की नवपरिवर्तित स्थिति को देखकर बहुत क्षुब्ध है। वह उनकी द्विधाग्रस्त, बिखरी हुई और अनिश्चय की स्थिति को देखकर व्यतीत चौदह वर्षों को बनवास के दिन घोषित करता है। स्वाधीनता प्राप्ति के साथ ही जनता को बनवास हो गया, समाज विघटित और विरूप हो गया, यह एक सत्य बनकर उभरा। बाहर से विकास का प्रसार सघन होता गया और भीतर से समाज खोखला होता गया। विसंगति और अन्तर्विरोधों के बीच व्यर्थताओं का जीवन एक ऐसी विवशता हो गई, जिससे निस्तार नहीं था। रेणु ने 'जलूस' में समाज की इस विघटन-शील मनोवृत्ति का एक चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'देश में बड़े-बड़े काम हो रहे हैं। ब्लाक, कम्यूनिटी हाल, बी० डी० ओ०, ह्वी० एल० डब्ल्यू,० सोशल आर्गेनाइजर, एम० ओ०, पी० ओ०—बहुत सारे 'आ' वाले शब्दों का प्रचलन हो गया है और प्रत्येक मिडिल पास कन्ट्राक्टरी के सपने देखता है। सोते जागते, उठते-बैठते, किसी कांग्रेसी बाबू का गुणगान करता है।...'आम चुनाव सामने' है। प्रत्येक खद्दरधारी उम्मीदवार है और टिकट की पैरवी के लिए देश के कोने-कोने में पैतरें बाँधे जा रहे हैं।...समय पर वर्षा नहीं होती। असमय में बाढ़ आती है। ऋतुओं की 'महिमा' नष्ट हो चुकी है। सूरज-चाँद-तारों का कोई विश्वास नहीं—क्या जाने किसी दिन उगना बन्द कर दें, कुछ कहा नहीं जा सकता। कोई कहता है, देश आगे बढ़ रहा है। कोई इसे योजन भर पीछे खिसका हुआ देखता है—तीर के वेग से एक तारा चल रहा है आसमान में—रूस का स्पुतनिक!'[1]

अन्तरिक्ष युग का शुभारंभ करने वाला रूस का स्पुतनिक सन् १९५७ में

---

१. 'जलूस' पृ० १०१।

छोड़ा गया और अमरीका द्वारा चन्द्रविजय का सपना सन् १९६९ में साकार हो गया। बारह वर्षों के भीतर ही स्वाधीन मानव-जाति ने धरती से उठकर आसमान में कदम जमा लिया और अपना देश स्वतंत्र हुआ तो इस देश के कथाकार उसकी प्रगति के विषय में आस्थावान भी नहीं प्रतीत हो रहे हैं। कथा-साहित्य में जो सामाजिक जीवन अंकित होता है वह अत्यन्त उखड़ा और बिखरा हुआ है। उसकी समस्वरता विखंडित हो गई। पुराने जीवन-मूल्य टूटते जा रहे हैं। नये मूल्यों का निर्माण नहीं हो रहा है। समाज में नये-नये परोपजीवी वर्ग उत्पन्न होते जा रहे हैं। तिमिराच्छन्न ग्रामांचल को विकास के प्रकाश से जगमगाने के लिए मोटी-मोटी धनराशि व्यय हो रही है परन्तु अन्धकार की परतें टूटती नहीं नज़र आ रही हैं। खण्डविकास क्षेत्रों के उदय के साथ वास्तव में विकास खंडित हो गया। वह कहीं हो रहा है, कहीं नहीं हो रहा है। वह जहाँ नहीं हो रहा है, वह क्षेत्र है गाँव। गाँव और नगर का असन्तुलन वृद्धि पर है। जिस विकसित समाज की अपेक्षा थी वह सर्वथा दुःस्वप्न सिद्ध हो रहा है। सामूहिक समाज-जीवन में यदि ऊब और उदासी है तो नव-विकास के किस आयाम के प्रति आभार प्रदर्शित किया जाय? कथाकार किससे प्रभावित हो? ललित शुक्ल की कहानी 'धुँधलका' में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण-समाज का यह धुँधलका अंकित हुआ है। नयी स्थितियाँ मनुष्य को मनुष्य बनकर जीवित भी नहीं रहने देतीं। विकास-दीप के तलवर्ती अंधकार का एक चित्र कथाकार के शब्दों में—

'एक औरत बस के पास कारन करके रो रही है। उसके 'वो' परदेश जा रहे हैं। दीवाल की आड़ में गाँजे की एक बड़ी पुड़िया एक ओले से निकल कर दूसरे में जा रही है। सितलू चमकटिया इतनी ठर्रा पी गया है कि गाँजे की चिलम लड़खड़ा रही है। उसके पास खड़े लेखपाल मुस्करा रहे हैं जिन्होंने उससे कल इन्तखाब की उजरत पन्द्रह रुपये ली थी। ब्लाक का ग्राम-सेवक जन्टूमैन बना सायकिल की दूकान के पास खड़ा है। उसने हरप्रसाद से टमाटर के अच्छे बीजों के लिए चार रुपये वसूले थे—बीज ऐसे थे कि उनमें अंखुआ ही नहीं फूटा!'[1]

समाज में अंधविश्वास और तस्कर व्यापार अर्थात् अति प्राचीन और

१. 'नई कहानियाँ' अक्तूबर १९६९, पृ० ६१।

अत्याधुनिक प्रवृत्तियाँ एक रंगमंच पर हैं, यह विसंगति अप्रत्याशित नहीं परन्तु विकास के नाम पर नये शोषकों का जाल समाज की उस अधोगामी स्थिति का द्योतक है जो अत्यन्त हीन और चरित्र-विघटित है। स्वतंत्रता के बाद इसकी प्रतिक्रिया में विद्रोह-विस्फोट भी हुआ परन्तु सब मिलाकर हव सामाजिक विघटन को और प्रोत्साहित करने वाला ही सिद्ध हुआ। इस विद्रोह-वृत्ति को पचाने की क्षमता अकिंचन और अशिक्षित गाँव में थी नहीं अतः आक्रोश की स्थितियाँ नगरों में ही उभरीं। उनका छनता-छनता जो कुछ विकृत प्रभाव अविकसित गाँवों में पहुँचा उसने उन्हें अंध प्रतिक्रियाओं में अत्यन्त आकुल और विक्षिप्त कर दिया। फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'परती : परिकथा' में यह आकुलता बहुत कुशलता के साथ अंकित हुई है। पंचवर्षीय योजनाओं की नवइयत एक भीषण हलचल बन जाती है। मूल्य मूढ़ समाज समस्त सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर गुत्थमगुत्था हो जाता है। इस संदर्भ में डाक्टर रमेश कुंतल मेघ का विचार द्रष्टव्य है। विद्वान समीक्षक का कथन है, 'हिन्दी के संदर्भ में सामाजिक-विभाजन का टूटने वाला बिन्दु दूसरी पंचवर्षीय योजना के सन् १९६० के आसपास आया। जिन क्षेत्रों में उत्पादन तथा प्रति केपिटा आय ज्यादा थी वहाँ प्रत्याशा के स्तर में विस्फोट हुआ। बंगाल, केरल और मद्रास में यह विस्फोट क्रोध और अस्वीकृति में फूटा।'[1]

बंगाल, केरल और मद्रास में आय के अतिरिक्त शिक्षा का स्तर भी ऊँचा है अतः मोहभंग की प्रतिक्रियाओं में विस्फोटक अस्वीकृति और आक्रोश के दर्शन होते हैं। बिहार और उत्तर प्रदेश में स्थिति कुछ और है। वहाँ के पिछड़े गाँवों में संघर्ष और विस्फोट तो क्या उसकी शक्तियों की पहचान की क्षमता भी नहीं है। अतः व्यापक विघटन-बिखराव और टूटन में उनकी परम्परागत पहचान खोती जाती है। नयी पहचान निखर नहीं पा रही है और खोयी सामाजिकता असमंजस, अनिश्चय, द्विधा और अस्थिरता के चौराहे पर खड़ी है। अवसरवादिता और धुरीहीनता के धक्के से नैतिक ग्राम-मन के अंगद-पाँव लड़खड़ा रहे हैं। समाज भीड़ बन गया है। गाँव खंडहर हो गये हैं। व्यक्ति सूखे पत्ते की भाँति उड़ रहा है।

---

१. 'विकल्प' प्रवेशांक सन् १९६७, पृ० २४२।

ग्राम-विघटन

रामदरश मिश्र की कहानी 'खंडहर की आवाज़'[1] में गाँव की इस उजड़न-विघटन की कथा बहुत मार्मिकता के साथ अंकित की गई है। बहुत दिनों बाद श्रावयिता एक पूर्व परिचित गाँव में जाता है तो देखता है कि वहाँ वह स्कूल जिसमें एक त्याग-मूर्ति विद्वान पंडित जी के सान्निध्य में वह कभी 'साहित्य-रत्न' का अध्ययन सम्पन्न करता था, खंडहर की तरह उदास पड़ा है। उसकी आँखों के सामने अतीत उभरता है और खद्दर की पवित्र निखार में प्रशस्त काया वाले पंडित जी की सुध में वह डूब जाता है। स्वतंत्रता आन्दोलन के लोकप्रिय सेनानी उस पंडित जी ने तब जहाँ गुलाब लगाये थे वहाँ अब बबूल उग आये हैं। उनके द्वारा निर्मित कुँआ कूड़े से भर गया है। कुत्ते, स्यार, साँप-बिच्छू और गिरगिट उसमें निवास करते हैं। श्रावयिता और गहरे में डूबता है। उसे लगता है कि स्वराज्य के बाद राजनीति की बयार चली तो 'साहित्य-रत्न' के साथ पंडित जी की मान्यता भी समाप्त हो गई। विषम मानसिक प्रतिघातों में पंडित जी राजनीति में उतर आये और स्कूल छूट गया। वास्तव में शिक्षा के क्षेत्र में उनकी पूछ नहीं होती है। स्वतंत्रता के बाद की हवा उनके अनुकूल नहीं पड़ती है। विवश होकर उसी के अनुकूल स्वयं को बनाने के लिए वे राजनीति में—विरोधी पार्टी में—आ जाते हैं। स्कूल क्षेत्र से चुनाव में उतरते हैं। गंदी प्रतिद्वन्द्विता में फँस जाते हैं। जो भोल्हू कभी उनकी पद-सेवा किया करता था वही सरकारी दल में आकर उनसे टक्कर लेता है। विद्या-विनोदी पंडित जी वोट के चक्कर में अपढ़-गँवारों की अभ्यर्थना करते फिरते हैं और सर्वस्व गवाँ कर हार जाते हैं तो पुनः अपनी खेती पर वापस आ जाते हैं। घास-पात करते हैं, कटिया-टँवरी करते हैं और आधा पेट खाकर सो रहते हैं। पुनः युगीन झोंके उन्हें सरकारी दल में ठेल देते हैं। तब उन्हें दुकान का कोटा मिल जाता है, बाँध का ठेका मिल जाता है, इंजीनियर की जी-हुजूरी, मजदूरों का पेट काटना, फिर धनी होकर एक विवाह करते हैं और एक दिन मर जाते हैं। श्रावयिता कहता है कि वे मरे नहीं, उन्होंने आत्महत्या कर ली। देह और आत्मा के संघर्ष ने उन्हें तोड़ दिया। वास्तव में पंडित जी की 'आत्महत्या'

---

१. 'धर्मयुग' २ जून १९६८ में प्रकाशित और 'खाली घर' कहानी-संग्रह में संकलित।

गाँव की हत्या है और सामाजिक विघटन-बिखराव का सूचक है । देश स्वाधीन हुआ किन्तु गाँव पराधीन हो गये । आज उन्हें राजनीति नचा रही है, तोड़ रही है, पतित बना रही है, क्योंकि वे उसे जानते नहीं हैं और वह उनके सिर पर लाद दी गई है ।

'अलग-अलग वैतरणी' सन् १९६७ में और 'जल टूटता हुआ' सन् १९६९ में प्रकाशित हुआ । पहले का प्रमुख पात्र विपिन है और दूसरे का सतीश है । दोनों में गाँव के नवनिर्माण के सपने हैं जो गाँव की टूटन के साथ टूट जाते हैं और आश्चर्य है कि दोनों अनुभव के एक ही बिन्दु पर पहुँचते हैं । दोनों की पीड़ा, तड़पन और कचोट गाँव के संदर्भ में एक ही शब्दावली में व्यक्त होती है । विपिन कहता है, 'फिर गाँव का क्या होगा?'[1] और सतीश की भी यही पीड़ा है, 'लेकिन इस गाँव का क्या होगा?'[2] क्योंकि स्वतंत्रता के बाद गाँव की टूटन एक सत्य बनकर सम्मुख आई है । उसकी सामाजिक अन्तर्सूत्रता खंडित हो गई और इकाइयाँ बिखर कर विरूप हो गई । उनमें एक सर्वथा नवीन बर्बर जन्तु दहाड़ने लगा और वे परस्पर टकराने लगे । 'जल टूटता हुआ' में यह टकराहट व्यापक रूप में चित्रित हुई है । सम्पूर्ण गाँव संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है । प्रत्येक प्रकार का संघर्ष है । बलई तिवारी और दौलत राय का रोमानी संघर्ष है, महीपसिंह और जगपतिया का वर्ग-संघर्ष है, महीपसिंह और सतीश का प्रतिक्रियात्मक राजनीतिक संघर्ष है और रघुनाथ सभापति और वकील साहब का खेत सम्बन्धी संघर्ष है । गाँव में अराजकता जैसी स्थिति है । सरपंच और सभापतियों की हत्या के समाचार मिलते हैं । बैलों की चोरी और सेंध भी गाँव में राजनीति से जुड़ गई । रामकुमार के दो बैल चोरी चले जाते हैं । दीनदयाल के घर सेंध पड़ती है । रामकुमार का खलिहान फूँका गया और बलई का खून हो गया । गाँव की राजनीति में दिल्ली की राजनीति का प्रवेश हो गया । मारपीट और फौजदारी अर्थात् शरीर की राजनीति ने अपना सफल निवास किया । ऐसा नहीं कि पहले मारपीट और फौजदारी नहीं होती थी, पर उसका कारण भिन्न होता था । रामदरश मिश्र एक महत्त्वपूर्ण बात इस संदर्भ में कहते हैं । पहले पट्टीदारी, जाति और गाँव

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ६८७ ।

२. 'जल टूटता हुआ', पृ० ५७१ ।

की प्रतिष्ठा के नाम पर लोग जूझते थे। बिरादरी और पट्टीदारी बनी थी। मगर आज पट्टीदारी केवल खाने-पीने में ही दिखाई पड़ती है।[1] किसी भी सामूहिक प्रश्न पर अब कोई किसी का साथ देने को प्रस्तुत नहीं है। बिरादरी का भोज-भात संगठन की अन्तिम कड़ी थी जो कालक्रम से शनैः शनैः समाप्त होती जा रही है। अब भोज-भात, पट्टीदारी, बिरादरी अथवा भयवद्दी के आधार पर न होकर नयी राजनीतिक पार्टीबन्दी, आदि के आधार पर होने लगे और वह भी अत्यन्त खंड रूप में। विघटन और बिखराव की यह चरम सीमा है कि ग्रामीण एक पंगत पर साथ-साथ बैठकर भोजन नहीं कर सकते हैं। लेखक की कहानी 'लाखा राय की अरदास' में एक पुरानी पीढ़ी का वृद्ध परदेश से बहुत दिनों पर अपनी जन्मभूमि वाले गाँव पर आया है। उसकी अभिलाषा है कि पूरे गाँव का जूठन उसके आँगन में गिरे परन्तु उसे बहुत आश्चर्य हो रहा है कि बहुत गिड़गिड़ाने पर भी उसे सफलता नहीं मिलती है। पूरे गाँव में चार-पाँच 'राजनीतिक' महंथ हैं और सभी एक दूसरे के प्रति घोर असहिष्णु हैं। वे एक दूसरे के साथ बैठ कर भोजन नहीं कर सकते। बल्कि, यदि भोज की स्थिति में लाखाराय उनके 'शत्रुओं' को आमंत्रित करते हैं तो वे उसे खड़मंडल करने के लिए सब कुछ कर सकते हैं। बहुत खेद प्रकट करने पर एक 'महंथ' लाखाराय को समझाता है कि अब एक गाँव में कई गाँव समझ लेना चाहिए। क्योंकि गाँव की आबादी पाँच सौ से बढ़कर दो हज़ार पहुँच गई है। प्राचीन काल में जैसे एक गाँव अपने पड़ोसी गाँव से लड़ता-झगड़ता था वैसे ही एक गाँव में बने कई-कई गाँव परस्पर टकराते रहते हैं। प्रत्यक्षतः इस ग्रामीण-तर्क में बहुत ज़ोर है परन्तु प्रश्न तो, यह है कि प्राचीन काल में जिन कारणों से एक गाँव अपने पड़ोसी गाँव से टकराया करता था वे कारण अब रहे नहीं, विपरीत इसके सहयोग, सहकार आदि के सरकारी, गैरसरकारी क्षेत्रों का विकास हुआ, देश पराधीन से स्वाधीन हुआ, फिर कैसा असहकार और पारस्परिक अंध संघर्ष ? किन्हीं आदर्शों का संघर्ष नहीं, विशुद्ध राजनीतिक संघर्ष भी नहीं, कोई स्वत्व रक्षा का संघर्ष नहीं, मात्र संकुचित स्वार्थों के संघर्ष गाँव को विघटित कर रहे हैं।

व्यक्ति-विघटन

शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग-अलग वैतरणी' में ग्रामीणों के वैयक्तिक विघटन

को बहुत कुशलता के साथ चित्रांकित किया है। उपन्यास का आरंभ मेले के उल्लास के साथ होता है परन्तु उस उल्लास में भी गाँव की घिसीपिटी विखंडित इकाइयाँ छिप नहीं पातीं। संगठन-सहकार के अभाव में अत्याचार-अन्याय का प्रतिरोध भी नहीं हो पाता। सामाजिक अनुशासन न रहने से, गाँव के शिखरों के भंग हो जाने से सारा परिवेश ही पुंसत्वहीनता, जड़ता, मनमानी और विघटित मानसता से परिपूर्ण हो गया। एक चित्र द्रष्टव्य है—

'अब तो इस गाँव में ऐसी वारदातें होती हैं कि कोई थाना-पुलिस में रपट भी नहीं करता।······खेत कट जाते हैं, मवेशी खूँटे पर से या सीवान में से हाँक दिये जाते हैं दिन दहाड़े, पर कोई रपट नहीं, कोई पंचायत नहीं। सबको मालूम है कि किसने क्या किया!'[1]

इस चित्र से स्पष्ट है कि गाँव का प्रत्येक व्यक्ति उस किसी अनाम अपरिभाषित सामाजिक पीड़ा से गुजर रहा है कि उसमें सुरक्षा और व्यवस्था के प्रति उत्पन्न गंभीर वितृष्णा और अविश्वास ने उनके मन को विघटित कर दिया है। उसमें किसी 'सु' के लिए कोई उत्साह नहीं रह गया। वह 'कु' को मौनभाव से एक मूल्य के रूप में जीने लगा है। इस संदर्भ में 'अलग-अलग वैतरणी' का दूसरा चित्र बहुत मार्मिक है—

'अब तो किसी से खेती-बारी पर बात करने में भी डर लगता है। अजब प्रेत की तरह जिन्दगी है यह!···गाँव के हर व्यक्ति की आत्मा में कोई अतृप्त, प्यासा, बेचैन प्रेत हाहाकार कर रहा है!'[2]

शिवप्रसाद सिंह ने गाँव की इस नवपरिवर्तित वर्तमान स्थिति को बहुत ही यथार्थ रूप में ग्रहण किया है। विघटन के साँप ने समाज, गाँव, परिवार, और व्यक्ति को इस प्रकार छू दिया है कि उसके विष से त्राण नहीं दिखाई पड़ता। योजनाओं से जो आशा थी वह पूर्ण नहीं हुई। कृषि-क्रान्ति ने कृषि को व्यवसाय की ओर मोड़कर नागरिक-समृद्धि की और गाँव को मोड़ा अवश्य परन्तु उससे विघटित इकाइयों के संगठन और एकात्मकता की दिशा में किसी प्रगति की आशा नहीं। उससे उत्पन्न असन्तुलन संभव है दरारों को और चौड़ा कर दे। परिवेश की भीषणता का यह प्रमाण है कि अब ग्राम-कल्याण की बात

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ३४८।

२. वही, पृ० ३५७।

सरकारी-तंत्र से तो होती है। क्योंकि अधिकारियों-कर्मचारियों को नौकरी करनी है। किन्तु स्वयं ग्रामीणों में से कोई इसके लिए सच्चे मन से खड़ा नहीं होता है। कभी कोई 'अलग-अलग वैतरणी' का विपिन उठता भी है तो दो पग चलते ही उसका मन बैठ जाता है। गाँव की गलियों में भर गया बदबूदार धुआँ उसे सहन नहीं होता है।[1] उनकी समस्त मनोभिलाषाओं की कलियाँ मुरझा जाती हैं। अन्तिम रूप से अपने गाँव को गतानुगतिकता की मृत केंचुल से मुक्त करने की कामना टूट जाती है।[2] ग्राम-सुधार का सारा उत्साह ठंडा पड़ जाता है और बाद में जब कोई इसकी चर्चा भी करता है तो वह सह नहीं पाता और कड़वाहट से भरा मन गाँव के नरक के नाम पर गाली देने लगता है।[3] विपिन शिक्षित युवक है, उसमें उत्साह है, धैर्य है, सतेज सूझ है और अटूट ग्राम-प्रेम है। शिवप्रसाद सिंह ने उसकी रचना में अद्‌भुत कौशल से परम्परा और प्रगति के तंतुओं को ताने-बाने की तरह संजोया है और इस प्रकार वह नये गाँव का, जमींदारोत्तर गाँव का और स्वातंत्र्योत्तर उगते गाँव का प्रतिनिधि युवा व्यक्तित्व हो जाता है। जब वह उखड़ जाता है, आन्तरिक स्तर पर टूट जाता है, विघटित होकर भाग जाता है तो गाँव के प्रति पाठकों में कोई आशा शेष नहीं रह जाती।

विपिन जैसी ही स्थिति भैरवप्रसाद गुप्त के मन्ने की है। उसमें उकसता ग्राम-सुधार का उल्लास दबकर मुरझा जाता है और साथ ही वह स्वयं भी मुरझा जाता है। स्वतंत्रता पूर्व का गाँव अपने भीतर पैदा होने वाले प्रतिभाशाली व्यक्तियों को उठाकर नगर में फेंक देता था और स्वतंत्रता के बाद का गाँव उसे वहीं तोड़ देता है। गाँव की स्वातंत्र्योत्तर जड़ शक्तियों से जूझता मन्ने अनुभव करता है कि—

'मन्ने को इस गाँव ने पीस डाला। उसके व्यक्तित्व को दबोच दिया।··· मन्ने क्या सचमुच लाश बनता जा रहा है? उसमें जीवन नहीं था, प्राण नहीं था, शक्ति नहीं थी, जिससे वह गाँव की धरती से रस खींचता और उससे

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ४६५।
२. वही, पृ० ४६८।
३. वही, पृ० ६६३।

अपने जीवन को अंकुरित करता !'[1]

'सती मैया का चौरा' में भैरवप्रसाद गुप्त ने गाँव के उस अभिशप्त जड़-जीवन को अंकित किया है जो मन्ने जैसे महत्त्वाकांक्षी युवक को द्वन्द्व-द्विधा में फँसा कर विघटित-मन कर देता है। वह यह अनुभव तो करता है कि वह भीतर से टूट रहा है परन्तु इस टूटन से मुक्ति की कोई राह नहीं रह जाती है। वह उस स्थिति में निचुड़ते जाने के लिए विवश है। उसके पंख कट-से जाते हैं। वह गाँव छोड़ नहीं सकता है।[2] इस प्रकार उच्च सामाजिक मूल्यों से फिका मन्ने पूर्णरूपेण विघटित हो जाता है । वह नौकरी करता है और बाल-बच्चेदार होकर ईमानदार जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा करता है।[3] परन्तु उसकी अपनी वास्तविकता तब प्रकाशित होती है जब स्वयं तटस्थ दृष्टि से आत्मनिरीक्षण करता है, अपनी अन्तरात्मा की ध्वनि सुनने का प्रयास करता है। उसे लगता है यह सब कुछ व्यर्थ हुआ। इस व्यर्थता की अनुभूति के साथ मुखौटों का बोध होता है। उसे लगता है कि ढोंग के अतिरिक्त उसमें कुछ नहीं रह गया है। और इसी को वह अपनी आत्मा की आवाज़ समझता रहा है।[4] जैसे 'अलग-अलग वैतरणी' का विपिन, 'जल टूटता हुआ' का सतीश और 'सती मैया का चौरा' का मन्ने टूटता है उसी प्रकार 'रीछ' का विमल भी गाँव की सेवा के सन्दर्भों को लेकर, गाँव निवास की चोटों से आहत होकर भीतर से टूट जाता है और समस्त उत्साह ठंडा पड़ जाता है। वह बी० ए० पास हो जाता है तो गाँव आकर इसकी प्रसन्नता को अभिव्यक्त करने का भी अवसर नहीं रहता है क्योंकि रीछों के अत्याचार में पिसते तेज शंकर की व्यथा से वह स्वयं बहुत मर्माहत हो जाता है। वह देखता है कि गाँव में संघर्ष वृद्धि पर है। एक ओर सहकारिता की चर्चा उभरती है तो दूसरी ओर अ-सहकार के प्रतीक मुकदमों का जाल प्रसार पाता जा रहा है। कटुता और वैमनस्य बढ़ता जा रहा है, नयी-नयी विकासी धाँधलियाँ उन्नति पर हैं, 'नम्बरियों' का जाल पृथक है, सब मिलाकर गाँव की स्थिति ऐसी घुटनपूर्ण हो गई है कि विमल की इच्छा

---

१. 'सती मैया का चौरा', पृ० २९७।
२. वही, पृ० ३१५।
३. वही, पृ० ४१७।
४. वही, पृ० ४७२।

गाँव को दूर से सलाम कर लेने की होती है। वह सोचता है : 'एम० ए०' करूँगा। व्यर्थ इस पचड़े में पड़ गया। न गाँव बनता है, न मैं अपना जीवन बना पा रहा हूँ!'[1] स्पष्ट है कि विमल की इस नकारात्मकता में एक मर्म-व्यथा है। वह गाँव के तल से उठा एक स्वावलम्बी युवक है और उसमें आत्म-निर्माण से अधिक ग्राम-निर्माण की कामना है। पर जहाँ भी होम करने बैठता है हाथ जल जाता है। गाँव की अधोगामी और प्रतिगामी शक्तियों के संघर्ष में उसका व्यक्ति विघटित हो जाता है। ग्राम निर्माण नहीं हो पाता है और आत्मनिर्माण की दिशा में मात्र वह कुछ परीक्षायें पास कर लेता है। इन परीक्षाओं की सिद्धि में वह अपनी मूल्यवान आकांक्षाओं की जो गाँव के अभ्युत्थान से जुड़ी हैं बलि दे देता है। विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का विमल एक बहुत ही सशक्त ग्राम-चरित्र है और गाँव की उठती-उकसती शक्तियों का प्रतीक है जो स्वातंत्र्योत्तर राजनीति और सामाजिक विसंगतियों की टक-राहट में टूट जाता है। कथाकार उसके बलिदान की सार्थकता दिखाकर उसके प्रति अपनी श्रद्धांजलि भले व्यक्त कर दे परन्तु उपन्यास के पाठक उसके जीवन के उन मोड़ों से भलीभाँति परिचित रहते हैं जो मूल्यों की टकराहट में स्वयं बन जाते हैं। यहाँ साम्यवाद मूल्य नहीं, मूल्यानुसंक्रमण की प्रतिक्रिया में विघटित मूल्यों की एक प्रतिक्रिया है जिसके लिए वह चतुर्दिक से निराश होकर समर्पित हो जाता है।

ग्राम-जीवन के प्रति अरुचि

गाँव के सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में 'अन्तर-वाह्य' विघटन के व्यापक उभार के परिणाम-स्वरूप ग्रामीणों में स्वयं अपने गाँव के प्रति अरुचि-उदासीनता अथवा हीनता का भाव और नगरों के प्रति आकर्षणपूर्ण उच्चत्व का भाव जो पैदा हुआ उसने उसे बहुत ही दुर्बल कर दिया है। गाँव और नगर का अन्तराल बहुत प्राचीन है और लोक-परम्परा में नगरों की अपेक्षा ग्राम-जीवन को सदा से उच्चासन और आदर मिलता आया है। किन्तु विश्व-व्यापी औद्योगिक क्रान्ति की संवाहक वैज्ञानिक उपलब्धियों का जो वैभव-विस्तार नगरों में हुआ है उसने उक्त प्राचीन धारणा को परिवर्तित कर दिया

---

१. 'रीछ', पृ० ५७२।

है। भारत गाँवों का देश है और इधर शताब्दियों से गाँवों की घोर उपेक्षा हुई है। ब्रिटिश काल में गाँव और अधिक उजड़े किन्तु उनके पारस्परिक संगठन-सहकार भाव ने उन्हें और उनके स्वरूप को सुरक्षित रखा। उनका ग्राम-भाव अकिंचनता में भी विशुद्ध और अमिश्र था तथा उनके स्वरूप की खोल इतनी सुदृढ़ थी कि समस्त वाह्य परिवर्तनों के प्रभाव ऊपर से फिसल जाते रहे। गाँवों के उस स्वरूप में छीजने का आरम्भ देश में राजनीतिक चेतना के उदय के साथ हुआ। राजनीतिक चेतना में विशुद्ध नगर-भाव है और धार्मिक चेतना में संगठित ग्राम-भाव के वह विरोध में पड़ती है। गाँधी के गाँधीवाद ने राजनीतिक आन्दोलन से जुड़ कर भी अपने को धार्मिक परिवेश से सम्पृक्त रखा क्योंकि वह ग्राम और नगर-भाव के समन्वय का दर्शन था। इसीलिए गाँधी के प्रभाव से गाँवों की प्रतिष्ठा बढ़ी, गाँवों की स्वरूप रक्षा का आश्वासन सुदृढ़ हुआ और गाँवों में आत्मविश्वास बढ़ा किन्तु समाजवादी आन्दोलन ने ग्राम-भाव को निर्ममता से छील दिया है। उसकी सुरक्षा-खोल नष्ट हो गई है। गाँधीवाद उसकी रूप-रक्षा में निष्ठावान रहा और समाजवाद उसके रूपान्तर अथवा नगरीकरण के लिए कृत-संकल्प है। भारत में स्वाधीनता-प्राप्ति गाँधीवाद का अन्त है और वही ग्राम-भाव का अन्त है। 'मैला आँचल' के अन्त में गाँधी जी के श्राद्ध का चित्र अंकित है और वहाँ पहुँचकर पाठक अनुभव करता है कि इसके साथ ही साथ गाँव की एकता और उसके परम्परागत स्वरूप की भी अन्त्येष्टि हो जाती है।[1] स्वातंत्र्योत्तर प्रथम दशक में आंचलिकता का उभार और ग्राम-प्रतिष्ठा पूर्वप्रभाव का प्रकाशन था। बाद में देश जैसे-जैसे समाजवादी लक्ष्यों की ओर अग्रसर होता गया और पंच-वर्षीय योजनाओं के रूप में उसके विकास चरण आगे बढ़ते गये त्यों-त्यों वाह्य विकास के साथ आन्तरिक दृष्टि से ग्राम-भाव विघटित होता गया। और इस विघटन के साथ ही वह नया भाव पैदा हुआ जिसे नगर-प्रेम कहते हैं। नये और पुराने भावों के संघर्ष की स्थितियाँ भी कथा-साहित्य में अत्यन्त सजीवता के साथ चित्रित हुई हैं और सामूहिक ग्राम-मानस में नयी उगी नगराकांक्षा आज गाँव के सामाजिक जीवन में एक नये मूल्य की भाँति प्रतिष्ठित होती चली जा रही है। आसन्न कृषि-क्रान्ति से इसे और अधिक प्रोत्साहन मिलना

---

१. 'मैला आँचल', पृ० ३६७।

अवश्यम्भावी है। स्वतंत्रता के बाद ग्राम-जीवन के आलेखन में हिन्दी-कथाकारों का एक विशाल समुदाय उतरा और प्रथम दशक के व्यतीत होते-होते यकायक प्राय: सबने अपने को उससे असम्पृक्त कर लिया। देश का नेतृवृन्द राजधानी-प्रिय हो गया, अधिकारी वर्ग तो नगरवासी है ही, स्वयं ग्रामीणों का मन गाँव से उचट गया। उन्हें नगर अच्छा लगने लगा। अब या तो अपने गाँव को भी नगर में रूपान्तरित कर देंगे या गाँव छोड़कर नगर-निवास करने लगेंगे। गाँव के जीवन को कथा-साहित्य में अंकित करने वाले कथाकारों ने भी समय से अपने को समेट कर नगर और नगरबोध में सुरक्षित कर लिया है। अतः अब यह कहना कठिन है कि मिट्टी के घर, कच्ची पगडंडियाँ, बाग-बगीचे और खेत-खलिहान वाला क्षेत्र विशेष ही गाँव है! मानसिक स्तर पर लोगों ने इस क्षेत्र का परित्याग कर दिया है। जो विवशता वश पड़े हैं, उनके मन पर भी एक व्यापक उच्चाटन का प्रभाव है।

फणीश्वर नाथ रेणु की कहानी 'उच्चाटन' में इसी मति-फेर और 'विघटन के क्षण'[1] में इसी विपर्यस्त स्थिति को कथाकार ने अंकित करने का प्रयास किया है। शेखर जोशी की कहानी 'कविप्रिया'[2] में गाँव की एक साधारण लड़की अपने प्रेमी द्वारा शहर में जाकर काव्य-रचना करने के समाचार से हर्षित होती है। 'अलग-अलग वैतरणी' में देवनाथ कस्बे में दूकान कर लेता और करैता से पिंड छूटने पर उसे भारी खुशी होती है। विपिन शहर के कालेज में लेक्चरर हो जाता है और अपना गाँव नरक की भाँति लगने लगता है। शैलेश मटियानी का शंकर[3] जब दिल्ली देखता है तो एक हूक उठती है, काश कि उसके साथ उसकी घरवाली भी आ जाती! ललित शुक्ल की कहानी 'आखिरी सलाम'[4] में रसूल अपने गाँव को ही आखिरी सलाम बोल रहा है! 'आधा गाँव' में लोग गंगौली गाँव को छोड़कर भाग रहे हैं! ग्राम-निवास दुष्कर

१. दोनों कहानियाँ 'आदिम रात्रि की महक' में संकलित हैं।
२. 'कोसी का घटवार' में संकलित।
३. 'एक शब्दहीन नदी' का पात्र : कहानी 'सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ' में संकलित।
४. 'कात्यायिनी' (लखनऊ) मई सन् १९७० में प्रकाशित।

प्रतीत होता है। निकटवर्ती गाज़ीपुर नगर उन्हें खींच रहा है।[1] रेणु के 'नोबीन नगर'[2] गाँव की अत्यन्त ही पवित्र सी लगने वाली पवित्रा जब 'उड़न छौंड़ी' बन नरेशवर्मा के स्कूटर पर बैठकर पूर्णिया उड़ जाती है तो उसकी मूर्ति के खंडित होने के साथ विस्थापितों के इस नये गाँव की भी प्रतिमा का भंजन हो जाता है। रेणु के 'परानपुर' के निवासियों का पूरा ध्यान नवनिर्माण के अतिरिक्त राजनीतिक, शैक्षिक और पत्रकारिता आदि के संदर्भों में पटने पर केन्द्रित रहता है और गाँव का सूत्र संचालन जैसे गाँव से नहीं, उसके बाहर से होता रहता है!

इस प्रकार आत्मस्वरूप के प्रति अवधान का विचलन आधुनिक ग्राम-बोध के संदर्भ में एक गंभीर संकट बनकर हिन्दी कथा-साहित्य में प्रतिफलित हुआ है। गाँव उजड़ जाते हैं तो गाँव को अंकित करने वाले कथाकार उन खेतों पर नगरबोध का धूहा टाँग देते हैं। जिन कथाकारों में गाँव के इस विघटन के प्रति पीड़ा है वे उसे तटस्थ दृष्टि से आज भी अंकित करते चल रहे हैं परन्तु प्रभावों के कोण इस प्रकार गड्डमगड्ड हो गये हैं कि कोई समन्वित प्रतिफल निष्पन्न नहीं होता। 'परती : परिकथा' में आशावादिता है परन्तु स्वयं लेखक बाद में अपनी उस आशावादिता का आलोचक हो जाता है। विकास गाँव को न गाँव छोड़ता है और न वह नगर बन पाता है। समस्या गाँवों की गाँव की दृष्टि और गाँव के सम्बन्धों में ही हल हो सकती है। सदियों के संस्कारित गाँवों को नवता के ग्रहण में समय लगेगा। तब तक विघटन को जीना होगा। ग्राम-कथाकार इसे झेलने में यदि असमर्थ है और वह नगर के सुरक्षित सम्बन्धों में पहले ही जीने के लिए प्रतिबद्ध हो गया है तो उसके साहित्य की प्रामाणिकता संदिग्ध होगी। गाँव का मूल्य-संकट और मूल्य-संक्रमण निस्सन्देह कथा-साहित्य में आज प्रतिध्वनित नहीं है। कथाकारों ने स्वराज्य के प्रथम दशक के पश्चात् न जाने कैसे यह मान लिया अब भारत के सात लाख गाँव नगर हो गये और उन्होंने नगर के माध्यम से आधुनिकता को धूमधाम से अभिव्यक्ति देना आरम्भ किया। गाँव छूटा तो छूटा ही पड़ा है। गाँव का विघटन बड़ी तीव्र गति से चक्रित है। और सन् १९६० के विघटन और सन् १९७० के विघटन में

१. 'आधा गाँव', पृ० ३७०।
२. 'जलूस' उपन्यास की पृष्ठभूमि।

अन्तर हो गया है। हिन्दी में नयी कहानियाँ सेक्स-संकट बनाम मानवीय संकट की अन्तर वैयक्तिकता में उलझी हैं। कुछ उपन्यासों ने उसके विघटन को व्यापक रूप से अंकित किया है परन्तु नवीनतम परिस्थितियों की लेखा नहीं उभर पाई है। कथाकार आधुनिकता के उस सशक्त आयाम से उबर कर अथवा उसकी प्रतिबद्धता से मुक्त होकर ग्रामांचल में प्रवेश करे जिसका केन्द्र सेक्स है तो कुछ काम बने और ग्राम-जीवन का विघटन-यथार्थ जिसने भीषण ऐतिहासिक परिवर्तन के कगार पर गाँवों को लाकर खड़ा कर दिया है, यथातथ्य रूप में चित्रांकित हो सके।

६—भ्रष्टाचार

स्वतंत्रता के बाद वर्ग-वैषम्य की खाई का पट जाना अपेक्षित था परन्तु वह और चौड़ी हो गई। शोषण-गति नयी-नयी शकलों में और तीव्र हो गयी। गरीबों की गरीबी में अभिवृद्धि हुई। अन्याय और अत्याचार वृत्ति के रूप में पनप उठे। धार्मिक अनुशासन के साथ सामाजिक अंकुश भी गिर गया। अभिजातवर्ग में एक सर्वथा नये प्रकार की नंगई और निर्लज्जता आई। समाज में जो कुछ निन्दनीय और विग्रहणीय था उसके होते लोग प्रशंसापात्र और संपूज्य बने दीखने लगे। कुल मिलाकर एक नया सामाजिक मूल्य उभरा 'भ्रष्टाचार', जिसके लिए विकट प्रतिस्पर्द्धा में लोग जीने लगे और इस मूल्यानुसरण में लघु-महान, शिक्षित-अशिक्षित और नेता-जनता आदि का जैसे भेद मिट गया। उसी प्रकार नगर और गाँव का भी अन्तर समाप्त हो गया। स्वातंत्र्योत्तर 'भ्रष्टाचार' शनैः शनैः प्रकृति बन गया।

'अलग-अलग वैतरणी' में एक पात्र है जगन मिसिर, बड़ी खरी बातें करता है। वह एक स्थान पर कहता है, 'पहले गाँव में जुलुम जमींदार के लोग करते थे।...जमींदारी टूट गई...जिस पर जुलुम होता था वही आज ज़ालिम हो गये। छुटभैये लोग दो पैसे के आदमी हो गये तो आँखें उलट गईं। आज जुलुम कौन करता है गाँव में ?...छुटभइये गोल बनाकर अपने से कमज़ोरों को सताते हैं।...जमींदार था तो एक खोल थी, जो कुछ होता था, उसकी खोल के साथ नत्थी कर दिया जाता था। इसीलिए उस वक्त—में लड़ाई साफ थी। अब किससे लड़े ? अपने ही भीतर के लोग खोल ओढ़कर डाकू-लुटेरे

और ज़ालिम बन बैठे हैं।'[1]

शिवप्रसाद सिंह ने करैता गाँव में भ्रष्टाचार के विविध आयाम अत्यन्त कुशलता के साथ उजागर किये हैं। गाँव में एक व्यक्ति है जगेसर जो अपनी वर्तमान सेवा-वृत्ति से सम्पूर्ण भारत की रक्षा करने वाला अर्थात् सेना का जवान है परन्तु वह अवकाश में गाँव आकर अपना पूरा भक्षक रूप खोलकर पसार देता है। वह गाँव में घूमते एक ग़रीब वायस्कोप वाले को बुरी तरह तिरस्कृत कर लूट लेता है![2] वह फरियाद भी किससे करे? इस जगेसर का बाप देवी चौधरी गाँव के एकमात्र पुरानी पीढ़ी के अवशिष्ट सज्जन व्यक्ति खलील चाचा की रेहन दबाकर भरी सभा में कह देता है, 'काहे का रुपया, काहे का खेत?'[3] और भ्रष्ट वातावरण का यह एक ऐसा सघन दबाव है कि कोई उसके विरुद्ध यह जानकर भी कि यह घोर अनुचित कर रहा है मुँह नहीं खोलता है। मुँह खोले भी कौन? भाँग तो कुएँ में पड़ गई है और जाने-अनजाने अवसर इसी पाकर सभी भ्रष्टाचार में संलग्न हैं और अपने मौन द्वारा अपना ही समर्थन कर रहे हैं। सबको एक ही धुन है, लूटपाट कर जल्दी बड़े आदमी हो जायँ। स्वतंत्रता के बाद लूट का एक नया क्षेत्र खुला: योजना-विकास और दोतरफा लूट-चक्र चला। तंत्र जनता को लूटता है और जनता तंत्र को लूटती है। तंत्र को लूटने वाले परोपजीवियों की लम्बी पंक्ति 'राग दरबारी' में दृष्टिगोचर होती है, वैद्य जी, प्रिंसिपल साहब, सुपरवाइजर रामस्वरूप, पं० राधेलाल, कालिकाप्रसाद, सर्वदमन सिंह और नया सभापति सनीचर। इसी लिए शिवपाल गंज के भोक्ता और द्रष्टा शोध-छात्र रंगनाथ को ऐसा लगता है कि किसी गाँव में नहीं, 'डाकुओं के गिरोह में आ गया है।'[4] करैता गाँव में जो गुंडे हैं वे जलूस निकालते हैं और नारा लगाते हैं, 'गुंडागर्दी नहीं चलेगी!'[5] कहने के लिए जमींदारी टूट गई परन्तु बड़ी जातियों का छोटी जातियों पर जमींदाराना अत्याचार, अवैध शोषण और अनैतिक ताड़न ज्यों

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ६३२।
२. वही, पृ० ३५४।
३. वही, पृ० २७८।
४. 'राग दरबारी', पृ० १८९।
५. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ११८।

का त्यों है ! करैता में सूखा पड़ता है तो एक ओर झिनकुआ अपना भूखा पेट दिखा रहा है और दूसरी ओर उसका मालिक जगजितवा हाथ ऐंठ कर उसकी पीठ पर जोर का लात मार रहा है ।[1] अधिकार हीन लोगों पर समर्थों की ओर से यह स्वातंत्र्योत्तर पद-प्रहार उस स्थूल-सूक्ष्म भ्रष्टाचार का उदाहरण है जिसके नागफाँस में गाँव फँसा हुआ है । पुरानी व्यवस्था की जगह नयी व्यवस्था हो गई पर 'माटी की औलाद'[2] टीमल कुम्हार की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। नयी व्यवस्था का नया भ्रष्टाचार उसके सिर पर घहराया ! 'पाप जीवी'[3] बदलू मुसहर के लिए जैसे स्वराज्य हुआ ही नहीं। भ्रष्टाचार के घिनौने, गन्दे और स्वार्थी हाथों से जैसे स्वतन्त्रतापूर्व उसका बाप पकड़ा गया, उसी प्रकार स्वतंत्र भारत के गाँव में वह भी एक दिन पकड़ लिया जाता है और नष्ट हो जाता है । 'गंगा तुलसी'[4] आज भी गाँव में पूर्ण रूप से असुरक्षित है । छोटे लोग आज भी 'जूते'[5] हैं । इनकी सन्तानें, देश की नयी पीढ़ी जिसके कन्धों पर राष्ट्रनिर्माण का दायित्व है, अपनी मैली बनियाइन साफ करने के लिए आज भी एक बट्टी 'साबुन'[6] जैसी वस्तुओं के अभाव में टूट रही है और भीषण 'त्रास' को जी रही है । बिहार के टमका-कोइली[7] गाँव में बाढ़-पीड़ितों के लिए जो गेहूँ सहायतार्थ आया है उस पर गाँव के सबसे धनी नित्या बाबू दाँत गड़ाये हैं !

एक विशेष समय में सामाजिक जीवन में दृष्ट इस प्रकार के भ्रष्टाचारों को समसामयिक संकुचित स्वार्थों एवम् क्षेत्रीय राजनीति से जुड़ा पाते हैं । संक्रामक व्याधियों की भाँति अपनी क्षिप्र प्रसारशीलता के कारण इसने समूचे सामाजिक जीवन को आक्रान्त कर लिया । आरम्भ में एक विशिष्ट सत्तारूढ़ दल और उसकी निरंकुशता के रूप में जनता इससे परिचित हुई । स्वतंत्रता

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० २४७ ।

२. शिवप्रसाद सिंह की कहानी : 'कर्मनाशा की हार' में संकलित ।

३. वही ।

४. वही ।

५. मार्कण्डेय की कहानी : 'महुए का पेड़' में संकलित ।

६. वही ।

७. नागार्जुन के उपन्यास 'दुखमोचन' की पृष्ठभूमि ।

के पश्चात् वह द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव का नियंत्रण-युग था। कोटा-परमिट एवम् तास्कर्यादि के रूप में यह 'अभिनव समाज-धर्म' प्रथम बार जन-सामान्य के सन्मुख प्रत्यक्ष हुआ। 'मैला आँचल' में इसकी गूँज सुनाई पड़ती है।[1] अमरकान्त के उपन्यास 'ग्रामसेविका' में ग्राम-सभापति स्वयं भ्रष्टाचार का प्रतीक है। अनूपलाल मंडल के नवीनतम उपन्यास 'उत्तर पुरुष' (१९७०) में, जो बसन्तपुर गाँव से जुड़ा हुआ है, प्रशासन के भ्रष्टाचार का चित्रण स्मृति-अनुप्रकाशी शैली में हुआ है। सुरेन्द्रपाल के उपन्यास 'लोकलाज खोई' में एक फत्तेसिंह लम्बरदार हैं जो बी० डी० ओ० के आने पर बहुत खुश हैं क्योंकि नाद-चरन के अनुदान से लेकर कुंआ-खोदाई तक की सिफारिश में गहरी रकम हाथ लगती है। 'राग-दरबारी' शिक्षा-क्षेत्र के व्यापक भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ है। 'रीछ' और 'जल टूटता हुआ' में चकबन्दी का भ्रष्टाचार अनावृत हुआ है। नागार्जुन की 'इमिरितिया' में राजनीतिक भ्रष्टाचार और धर्माडम्बर अनावृत है। 'कलावे' (जयसिंह) में कचहरियों का भ्रष्टाचार और 'अँधेरे के विरुद्ध' (उदयराजसिंह) में विकास-कार्यालय का भ्रष्टाचार अंकित हुआ है। 'अँधेरे के विरुद्ध' में एक भूतपूर्व जमींदार परिवार से सम्बन्धित नरेन्द्र अपने ही क्षेत्र में बी० डी० ओ० बनकर आता है। उसमें नयी तेजस्विता है परन्तु कार्यालय में 'राजकाज' का ऐसा परम्परागत समझौतापरस्त परिवेश है कि वह उखड़ जाता है। भ्रष्टाचार का 'सदाचार' अधिकारियों से अधिक जनता में आ गया है। इस वर्ग के लोगों ने विकास-कार्यालय को भ्रष्टाचार का अड्डा बना दिया है।[2] ओवरसियर, इंजीनियर, ठीकेदार और निर्माण कार्य मानो भ्रष्टाचार के पर्याय हो गये हैं।[3] राशन ब्लैक हो जाता है[4] और इसमें प्राप्त गेहूँ में कंकड़ भरे हैं।[5] उच्च अधिकारियों का दौरा जिसमें गाँव चरागाह बन जाता है, अंग्रेजी राज की भ्रष्टाचारिता की परम्परा और नौकरशाही वृत्ति, अधिकारी-पत्नी की मनमानी, सब प्रजातांत्रिक भ्रष्टाचार का रूप ग्रहण कर

१. 'मैला आँचल', पृ० १२७।
२. 'अँधेरे के विरुद्ध', पृ० २९।
३. वही, पृ० ६५, ९२, १६१।
४. वही, पृ० १३८।
५. वही, पृ० ६९।

लेते हैं ।[१] संक्षेप में, उपलब्धि के रूप में यह कि भ्रष्टाचारियों का ही समाज में सिर ऊँचा है ।[२] सरकारी-गैरसरकारी सेवाओं में भ्रष्टाचार प्रकृति हो गई है । मुक्तेश्वर तिवारी 'बेसुध' ने 'ऊपर झापर'[३] शीर्षक रचना पौराणिक कथा के आधार पर भ्रष्टाचार से जुड़ी एक चुभती फैन्टेसी लिखी है ।

फणीश्वर नाथ रेणु की कहानी 'पुरानी कहानी : नया पाठ'[४] में पुरानी कहानी तो कोसी का भीषण जलप्लावन है परन्तु उससे जुड़ा नया पाठ भ्रष्टाचारी जन-सेवियों का है । इस बाढ़ से 'इस क्षेत्र के पराजित' उम्मीदवार, पुराने जन-सेवक जी का सपना सच हुआ । कोसका मैया ने उन्हें फिर जन-सेवा का 'औसर' दिया । वे रात-दिन फोन मिला रहे हैं । प्रेस-रिपोर्टर वर्तमान एम० एल० ए० का बयान पहले ही भेज देता है । पचास की जगह उसने डेढ़ सौ गाँवों के जलमग्न होने का समाचार बताया । 'और झूठ क्यों ? भगवान ने चाहा तो कल तक दो सौ गाँव जलमग्न हो सकते हैं !' कस्बा रामपुर के व्यापारियों और महाजनों ने समझ लिया—'सुभ-लाभ' का ऐसा अवसर बार-बार नहीं आता ।......यह अकाल का हल्ला चल ही रहा था कि भगवान ने बाढ़ भेज दिया ! दरवाजे के पास तक आई गंगा में कौन नहीं हाथ धोयेगा ? 'उनके गोदाम खाली हो जाते हैं और रातों-रात बही-खाते द्रुस्त !'......तभी रिलीफ गाड़ी और रिलीफ नावों की व्यवस्था होती है । मुख्यमंत्री का आसमानी दौरा होता है । रिलीफ कमेटी में सभी राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधि होते हैं । उसके चुनाव में तू-तू मैं-मैं !......अगली नाव पर काँग्रेसी झंडा होता है । सवार जन-सेवक जी हैं । माइक पर भाषण होता है । पिछली नाव पर विरोधी हैं । चिन्ता बाढ़ की नहीं वोट की है । 'पचास टिन किराशन, दस बोरा आटा और चावल के साथ रिलीफ की नाव पनार नदी की धारा में डूब गई ।' भगवान जाने ! और सारी सहायता के नाटकीय पृष्ठ गाँवों को बिना स्पर्श किए ऊपर-ऊपर उड़ जाते हैं ! नये प्रजातांत्रिक परिवेश में इस प्रकार के चित्रों को देखकर जनता के साथ कथाकार का ऐसा मोहभंग होता है कि

१. 'अँधेरे के विरुद्ध' पृ० १४९ ।
२. वही, पृ० १६४ ।
३. 'ऊपर झापर', धर्मयुग, २१ मई सन् १९६१ ।
४. 'आदिम रात्रि की महक' में संकलित ।

अत्यन्त कुंठित और क्षुब्ध होकर बाह्यदृश्यों से आँखें मूँदकर अन्तर्मुख हो जाता है। सामाजिक मूल्यों के अवमूल्यन का यह ऐसा संक्रमण काल सिद्ध हुआ है जिसमें विश्वासों के क्षितिज टूट-टूट कर गिर गये हैं। अत्यन्त उलझा और घोर असहज लोकमानस क्रिया नहीं उन प्रतिक्रियाओं को जीता हुआ प्रतीत हो रहा है जिनका सूत्रधार भ्रष्टाचार है। भोलापन और सारल्य ग्रामीणों के स्वभाव से अन्योन्याश्रित समझे जाते थे और आज यह स्थिति एकदम उल्टी हो गई है। वास्तव में यह बहुत गंभीर स्थिति है और वास्तविकता जितनी भीषण है, लगता है अपने पूरे तीखेपन के साथ साहित्य में अभी उभर नहीं पाई है। कथाकार किसी न किसी रूप में संस्कारित गाँव से प्रभावित है और भ्रष्टाचारी गाँव का सम्पूर्ण यथार्थ उनकी दृष्टि से किंचित् फिसल जाता है। नगर के बौद्धिक जगत से संबंधित भ्रष्टाचार की अपेक्षा इस परम अबौद्धिक ग्राम क्षेत्र से संदर्भित भ्रष्टाचार का स्वरूप बहुत ही भयंकर तमसपूर्ण है।

इस अध्ययन से निष्कर्ष यह निकलता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कथा-साहित्य में ग्राम-जीवन से संबंधित नये सामाजिक मूल्यों का आलेखन यद्यपि उतनी धूमधाम और सक्रियता से नहीं हुआ है जितना नगर-जीवन के सन्दर्भ में हुआ है तथापि कुछ सशक्त कथाकारों ने उसकी नयी टूटन और विघटनकारी शक्तियों की परख बड़ी कुशलता के साथ प्रस्तुत की है। एक तो नगर की तुलना में नये सामाजिक मूल्यों के प्रतिफलन की गति ग्रामांचल में मन्द रही है, दूसरे ठीक इसी अवसर पर कथाकारों में ग्राम-जीवन के प्रति सामूहिक उपरति का भाव उदय हुआ है और कथा-साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण भाग, कहानी अथवा आज की नयी कहानी में ग्राम-जीवन की घोर उपेक्षा के आयाम उभरे हैं। निस्सन्देह परम्परित गाँव आज अनेक कारणों से रूपान्तरित हो रहे हैं किन्तु इस रूपान्तर की एक दिशा—आर्थिक विकास—को छोड़कर शेष सर्वत्र घोर निराशा-जनक लक्षण उदित हुए।

षष्ठ अध्याय

नये गाँव की समसामयिक समस्यायें

ग्राम पंचायत

स्वतंत्रता के बाद प्रजातांत्रिक नवता का साक्षात्कार भारतीय पात्रों को तीन माध्यमों से हुआ, ग्राम पंचायत, विकास क्षेत्र और आम चुनाव, तथा ये तीनों ही अनेक कारणों से उसके लिए अनुकूल नहीं पड़े। यद्यपि शताब्दियों से उपेक्षित स्थिति में पड़े रहने के कारण गाँव पूर्णतः छीज गये थे तथापि उनका एक दुर्बल स्वरूप अवशिष्ट था और वह इस नवपरिवर्तित स्थितियों के धक्के से टूट कर बिखर गया। पराधीनता के आर्थिक शोषण की पीड़ा ग्रामीणों को उतनी नहीं हुई जितनी स्वाधीनता के राजनैतिक शोषण की। तब गाँव दासत्व की मोहनिद्रा में सोये थे और अब लोकतांत्रिक नवजागरण ने ज्ञात-अज्ञात भाव से एक सीमा में उनकी चेतना का स्पर्श किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि ग्राम-पंचायतों आदि का अभिनव-वरदान इनकी नव-जाग्रत स्वाधीन चेतना को अपेक्षित जनतांत्रिक विकास प्रदान करने के बदले संकुचित और स्वार्थान्ध वैयक्तिक प्रतिस्पर्द्धा में और जड़ बना रहा है। यह एक अत्यन्त विकट अन्तर्विरोध की स्थिति है।

इस अन्तर्विरोध का साक्षात्कार कथाकारों ने किया है, आरम्भ के प्रथम दशक में उल्लास के साथ और तत्पश्चात् मंदगतिक उदासीनता के साथ ! एक तथाकथित ऐतिहासिक सत्य यह भी है कि पंचायत और विकास आदि के प्रति बँधी आशायें शनैःशनैः नष्ट हो गईं और व्यापक मोहभंग की विक्षुब्ध प्रतिक्रिया में जनवर्ग का ही एक अंग होने के कारण कथाकारों ने उधर से मुख मोड़ लिया। उनके प्रारंभिक चित्रों से भी यह विदित होता है कि प्रजातांत्रिक इकाई के रूप में ग्राम पंचायतों के निर्माण-मूल में ही वह खोखलापन है जो उसे वांछित प्रभावों के लिए उकसने नहीं देता है। हिन्दी का कथाकार

बारम्बार उसके ध्वंस पर अश्रुपात करता है, विक्षोभ और आक्रोश व्यक्त करता है, तीखे व्यंग्य से व्यवस्था के मर्म को छेद-छेद देता है और हास्यास्पद स्थितियों के रेशे-रेशे को छितरा कर रख देता है ! अन्त में ऐसा प्रतीत होता है कि वह विश्वास खो देता है। यह अनास्था की स्थिति समाज की ही भाँति कथा-साहित्य में भी एक घुटनपूर्ण कुंठा की स्थिति उत्पन्न करती है। ग्रामीण-जीवन में यह कुंठा वह स्थिति है जो समस्त प्रकार के सामाजिक अथवा मान-वीय मूल्यों के प्रति उन्हें जड़-संवेदनाओं में हतचेत कर अन्ध पशु-प्रतिक्रियाओं के लिए उत्तेजित कर देती है। इसी का यह प्रभाव है कि स्वातंत्र्योत्तर पंचा-यतों से 'पंचपरमेश्वर' तो लुप्त हो ही गया, गाँव में अत्याचार, अन्याय, शोषण, नंगई, प्रवंचना, लूटपाट, मनमानी, हिंसा, गोलबन्दी, विघटन, वैमनस्य, अलगाव, मुकदमेबाजी और चतुर्मुखी पतन जो दिन-दिन वर्धमान दृष्टिगोचर हो रहा है उसके मूल में घूमफिर कर किसी न किसी ओर से ग्राम पंचायतें, उनके चुनाव, सभापति अथवा उसके अधिकारी-कर्मचारी सिद्ध होते हैं। सन् १९६० के पूर्व तो प्रथम उत्साह में ग्राम-पंचायतों के द्वारा कुछ विकास कार्य भी हाथ में लिये गये परन्तु इसके पश्चात् तो ये मात्र पार्टी-बन्दी और संघर्ष का अखाड़ा रह गईं और रचनात्मकता का भाव सार्वजनिक हित-साधन क्षेत्र से व्यक्तिगत विद्वेष में पर-पक्ष के अहित-साधन की प्रजातांत्रिक प्रपंच रचना में रूपान्तरित हो गया।

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' के आरंभिक सवा सौ पृष्ठों में जमींदारी उन्मूलन के बाद आया ग्राम-पंचायत का चुनाव-संघर्ष चित्रित है तथा इसी संघर्ष से उत्पन्न विघटन-वैमनस्य वह पृष्ठ-भूमि हो जाता है जिस पर सम्पूर्ण उपन्यास आधारित होता है। गाँव की संरचना में अंग्रेजी राज के कारण जो-जो दोष आ गये थे, सभी इस अभिनव पंचायत कार्यक्रम से और बृहदाकार होकर छा जाते हैं। जमींदारों की अपहृत जमींदारी खिड़की की राह वापस मिल जाती है। गाँव में वह दरार पड़ती है जो उत्तरोत्तर चौड़ी होती जाती है। अवशिष्ट सहकार भावना समाप्त हो जाती है। पार्टी-बन्दी को प्रोत्साहन मिलता है। अभ्युत्थान के नाम पर एक बार पुनः बहुत बुरी तरह गाँव का अधःपतन होता है और वह इस चरम सीमा तक पहुँचता है कि अच्छे-भले लोग गाँव छोड़कर पलायित होने लगते हैं। प्रस्तुत उपन्यास इस नग्न समसामयिक सत्य को विशाल पैमाने पर प्रस्तुत करता है।

जमींदारी उन्मूलन के बाद करैता गाँव की छावनी के जमींदार बाबू जैपाल सिंह देखते हैं कि गाँव की हवा बदल गई और पुराने सम्बन्ध समाप्त हो गये तो उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब वे कभी छावनी पर नहीं जायेंगे। 'उन्होंने अपनी जिन्दगी के ज्यादे दिन लोगों को झुके माथे पर झुकी आँखों में देखकर बिताये थे। उन्हें नीच जात वालों को तने-सीधे देखने का ताव न था।[1]' परन्तु जब उन्हें पंचायत-चुनाव के आने का समाचार मिलता है तो वे डाँवाडोल हो उठते हैं। 'यदि वे इस चुनाव से उदासीन हो जाते हैं तो करैता में उनके परंपरागत कुल-बैरी सुरजू सिंह के सभापति हो जाने की सम्भावना प्रबल हो हो उठती है और ऐसी स्थिति में मीरपुर के बबुआन खानदान की प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती क्योंकि 'इन टुकड़हों ने हाथी से टक्कर लेने की जैसे कसम खाली[2] है। बाबू जैपाल सिंह चुनाव की गोटी बैठाने के लिए फिर एक बार करैता आते हैं और उनके आगमन का समाचार मात्र गाँव में एक सनसनी बन जाता है।[3] लोग अनुमान करते हैं, 'लगता है बुढ़वा चुनाव की वजह से आ रहा है।[4]' यह चुनाव भी गाँव में एक नये प्रकार का आतंक बनकर आता है। इससे बैर-विद्वेष की बुझती आग में आहुति-सी पड़ जाती है। गाँवों में एक ऐसा ऐतिहासिक परिवर्तन आता है जिसमें समस्त बल पड़ जाता है, पार्टी लाइन से वैर-शोधन पर। करैता में भी लोग सोचने लगे हैं कि 'सुरजू भी अब वे ही सुरजू नहीं हैं। उन्होंने अपनी अलग 'पाल्टी' बना ली है। उनकी पालटी में एक से एक बदमाश और नंगे-लुच्चे भर गये हैं। हरिया, सिरिया, छबिलवा, शशधर……।[5]' 'गाँव में पार्टी का यह विकृत रूप अपनी सम्पूर्ण भयंकरता के साथ पनप उठता है। गाँव की समूची सृजनामक शक्ति इसी पार्टीबन्दी की रौरवीकृत घुटन में बलबलाने जैसे लगती है।

चुनाव का अवसर आते-आते तनाव चरम सीमा पर पहुँच जाता है। सुरजूसिंह, जैपालसिंह और सुखदेवराम (हरिजन) तीन उम्मीदवार हैं और तीनों

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ३२।
२. वही, पृ० ३३।
३. वही, पृ० ४७।
४. वही, पृ० ४९।
५. वही, पृ० ५०।

की दरियाँ पृथक-पृथक पड़ी हैं। सुरजूसिंह की दरी पर चहल-पहल अपेक्षाकृत अधिक है और पान-सिगरेट आदि खूब चलता है[1] परन्तु वे अप्रत्याशित रूप में हार जाते हैं। जीत जाता है सुखदेव राम।[2] जब जैपालसिंह की छावनी पर सोल्लाह उत्सव मनाये जाने की आहट मिलती है तो लोग चौंकते हैं।[3] और बहुत मन्थन के बाद सुरजूसिंह का दल राजनीतिक सूक्ष्मता के इस तत्त्व से परिचित होता है कि यह उत्सव अपनी 'हार' को 'जीत' के रूप में परिणत करने से जुड़ा है। चुनाव की वह तिरपट गोटी रही। स्वयं को जीतते न देखकर बबुआनों ने अपना वोट सुखदेव राम को दे दिया जिससे विरोधी सुरजूसिंह हार गया।[4] इस चाल में पुराने घाघ जमींदार का मस्तिष्क लगा होता है। वह समय के अनुरूप अपने को मोड़ लेता है। अपने वोट से जिता कर वह सुखदेव राम को इस स्तर पर उपकृत करता है कि वास्तविक सभापति वही है।[5] यह रहस्य आगे देवा-काण्ड में खुल जाता है।[6] और फिर यह रहस्य भी अनावृत हो जाता है कि किस प्रकार जनता के आगे सिर झुकाकर भी पंचायतों के सहारे भूतपूर्व जमींदार गाँव के अब भी भाग्य-विधाता बने हैं![7]

पंचायतों के दोष

इस प्रकार गाँव में पंचायतों के साथ न तो गाँव में पुरानी सुधारवादी धारा विकसित होती है और न प्रगतिशील तत्त्व पनपते हैं। गाँव दुर्भाग्यवश प्रतिगामी शक्तियों के हाथ में चला जाता है। इसकी प्रतिक्रिया में कुंठित नया रक्त जिसे न तो दिशा मिलती है और न वांछित नेतृत्व मिलता है, पथ-भ्रष्ट होकर 'गुंडई' पर उतर आता है। पंचायत बन जाने पर करैता में भी गुंडों का जलूस निकलता है और नारा लगता है कि 'गुंडागर्दी नहीं चलेगी!'[8]

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ६७।
२. वही, पृ० ७०।
३. वही, पृ० ७१।
४. वही, पृ० ७३
५. वही, पृ० ७७।
६. वही, पृ० ८३ से ८५ तक।
७. वही, पृ० ८७।
८. वही, पृ० ११६।

किन्तु गुंडा कौन है ? सत्तारूढ़ या विरोधी ? करैता गाँव का जगन मिसिर वास्तविकता को पहचानता है। 'सुरजू और बुझारथ' एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ !'[1] दोनों के बीच में है जनता, गाँव के साधारण जन, खाते-कमाते जन, जिन्हें 'फसल मेंट पाल्टी'[2] की अत्यन्त उचित संज्ञा मिलती है। दिग्भ्रमित युवाशक्ति इस यथार्थ को आत्मसात नहीं कर पाती है। यह देश का दुर्भाग्य है। शिवप्रसाद सिंह ने इस उपन्यास के अन्तर्गत पंचायत प्रकरण को भारतीय प्रजातंत्र के प्रतीक के रूप में बुना है जिसमें उसकी समस्त दुर्बलतायें स्पष्ट हो उठती हैं। गुटबन्दी के नीचे पिसती सामान्य ग्रामीण जनता है। जो इस फसल से उस फसल को मेंट लेने तक के मध्य अपना सीमित अनर्थ जीवन जी रही है। गुटबन्दी का जाल बुनने वाले और पंचायत-प्रपंच में बुलन्द आवाज़ वाले वे सुविधाप्राप्त गुटप्रिय लोग हैं जो परस्पर विरोधी देखते हुए भी यथार्थतः एक हैं। करैता गाँव में जगन मिसिर का स्वर अकेला होकर भी अत्यन्त भेदक है। वे स्पष्ट कहते हैं, 'पंचायतें साली बिल्कुल गंडागोल हैं।'[3] तो सत्तारूढ़ लोग चौंक उठते हैं। सुखदेवराम सभापति कहते हैं कि आजकल पार्टीबन्दी और गोलबाजी का ही जमाना है और रास्ता इसी के भीतर से खोजना होगा तो मिसिर तड़ाक से उत्तर देते हैं, 'गोल हमेशा बदमाश लोग बनाते हैं। भले मानुसों की गोल नहीं होती।'[4] पंचायतों के संदर्भ में जगन मिसिर की टिप्पणी अत्यन्त सटीक प्रतीत होती है। गाँवों में स्वातन्त्र्योत्तर ग्राम पंचायतें तथ्यतः गलत लोगों के गोल के रूप में कथा-साहित्य में चित्रित हुई हैं।

मार्कण्डेय की कहानी 'बातचीत'[5] में पंचायतों की चर्चा आती है, 'पंचायत बनी थी किसानों के फायदे के लिए, सो सरपंच हो ही गये गयादीन ठाकुर, खूब मुठ्ठी गरम होती है !' यह प्रथम दशक का कटु अनुभव रहा जो दूसरे दशक में और भी विकसित लक्षित होता है। शैलेश मटियानी की कहानी

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० १२१।
२. वही, पृ० ११६।
३. वही, पृ० ६३३।
४. वही, पृ० ६३४।
५. 'हंसा जाइ अकेला' में संकलित।

'वापसी'[1] में परदेश से सात वर्ष बाद धरमवीर मास्टर बंतासाहु से उऋण होने के सपने लिए गाँव भर लौटता है तो देखता है कि उसकी भूमि के एक भाग पर पंचायत घर बना है। फिर देखता है कि उसकी पत्नी परताप चौधरी के पीछे-पीछे खाली पड़े पंचायत घर में चली जाती है! वह फिर से माँ बनने वाली है। ग्रामसेविका बनी थी तो उसका एक बी०डी०ओ० से अनुचित सम्बन्ध हो गया था। पंचायत और विकास के साथ यही गिरावट गाँव के पल्ले पड़ी! धरमवीर के गाँव के ही नहीं सारे भारत के पंचायत-घरों की (जो कभी बन गये, अब तो वे बन भी नहीं रहे हैं) यही दशा है। वे या तो भ्रष्टाचार के अड्डे हैं या संघर्ष के अखाड़े हैं!

सबसे दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है प्रजातांत्रिक चेतना-शून्य गाँवों की पंचायतों में राजनीतिक पार्टियों के प्रवेश की। रेणु के उपन्यास 'परती : परिकथा' में रचनात्मक शक्ति जितेन्द्र (भूतपूर्ण जमींदार) के रूप में उभर रही है और अन्यान्य राजनीतिक पार्टियों के रूप में उसे गिराने के लिए छिछले नेतृत्व वाले लोग सक्रिय हैं। इन लोगों का अन्तिम मोर्चा पंचायत के चुनाव-अवसर पर दृष्टिगोचर होता है। कम्युनिस्ट भी लुत्तो (कांग्रेसी), गरुड़ध्वज और वीरभद्र के साथ एक जुट जितेन्द्र के विरुद्ध मोर्चेबन्दी में आ जाते हैं। दृष्टि पंचायत पर अटकी है। मुकदमे में पराजित लोगों को समझाया जा रहा है कि 'पंचायत का मुखिया यदि अपनी पार्टी के आदमी को चुनोगे तो समझो कि गई ज़मीन फिर मिल कर रहेगी।'[2] 'प्रलोभन अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में दिया जा रहा है, 'ग्राम-पंचायत सभी सुखों की माँ है। इसपर कब्जा करो तो फिर कौन पूछता है ज़मीन ? कितनी ज़मीन लेगा ?'[3] इसी मनोवृत्ति का परिचय 'रागदरबारी' में भी मिलता है। एक ही व्यक्ति वैद्य है, स्कूल मैनेजर है, गाँव का कुल-पूज्य ब्राह्मण है, कोआपरेटिव का मैनेजिंग डायरेक्टर है मगर पंचायत को अधिकृत किये बिना उसके पेट का पानी नहीं पच रहा है और उसे हथियाने के लिए पूरी शक्ति के साथ लपक रहा है।[4] जमींदार युग में जो भावना भूमि अथवा

---

१. 'सुहागिनी तथा अन्य कहानियों', में संकलित
२. 'परती : परिकथा', पृ० २२४।
३. वही, पृ० २४३।
४. 'रागदरबारी', पृ० १३४।

संपत्ति पर अधिकार करने से जुड़ी थी वही प्रजातंत्र में तंत्र की ग्रामस्थ निचली इकाई पर स्वार्थान्ध अधिकार-भावना में परिणत हो गई और उसके ऊँचे उद्देश्य शिक्षा-दीक्षा-शून्य ग्रामांचल के दलदल में फँसकर व्यर्थ हो गये। समर्थ लोगों ने पंचायत को अपनी निजी सम्पत्ति बना लिया। इससे ग्रामीण-समाज के भीतर अनेक भयानक दोष आ गये और पंचायतों में भी उकसते ही घुन लग गये। उनके निर्णय पुरानी और नयी दोनों पीढ़ी के द्वारा अमान्य होते दृष्टिगोचर होते हैं। पुरानी पीढ़ी मनमानी और नंगई के रूप में उसे ठुकराने लगी[1] और नयी युवापीढ़ी विद्रोह के रूप में।[2] पंचायतें एक जड़ सत्ता के रूप में अवशिष्ट रह गईं।

आरम्भ में ग्राम पंचायतों को लेकर गहरी आशावादिता दृष्टिगोचर होती है और गाँव में अभूतपूर्व जागृति आ जाती है।[3] रामदरश मिश्र के उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में इस आरंभिक उल्लास का बहुत ही सजीव चित्रण हुआ है। ग्रामीण छानबीन करते हैं कि किसे सभापति बनाया जाय ? दीनदयाल मुलायम आदमी हैं, सतीश कड़ा आदमी है, अमलेश जी निकम्मे कवि रईस हैं, रामकुमार विधर्मी हैं और दलसिंगार मउगा है।[4] मगर यह छानबीन की भावना जिसकी पूर्णता सहकार पर निर्भर है चल नहीं पाती है। चुनाव निर्विरोध नहीं होता है। टूटे जमीदारों के कुंठित नखदंत अनुभूत स्वाद की संभावना-ललक में पुनः एक बार पनपना उठते हैं और मैदान में दीनदयाल और रघुनाथ दो प्रत्याशी डट जाते हैं। चुनाव प्रचार आरम्भ होता है। दीनदयाल द्वारा अधिक लोगों को खड़ा कर विपक्ष के वोट वंटित कर देने के कई विफल प्रयास होते हैं। वोट की गोटी से गोटी काटने की युक्ति प्रयुक्त होती है।[5] उपन्यास में गाँव के दकियानूस लोग असफल होते चित्रित हैं और अच्छे भले लोग उभर

---

१. मधुकर सिंह की कहानी 'वह दिन', उनके कथा-संग्रह 'सन्नाटा' में संकलित।
२. शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'आदिम हथियार' 'धर्मयुग' १४ सितम्बर १९६९।
३. 'जल टूटता हुआ', पृ० २१३ से २१५ तक।
४. वही, पृ० २१६।
५. वही, पृ० २२३।

रहे हैं। सोशलिस्ट और कांग्रेसी एक मंच पर कार्यरत हैं। जमींदारी दबाव और ज़ोर-ज़बरदस्ती व्यर्थ होती दीखती है। प्रगति-विरोधी दीनदयाल की ओर से कई षड्यन्त्र भी रचे जाते हैं परन्तु वे पराजित हो जाते हैं और गाँव की पंचायत में अन्ततः प्रगतिशील लोग, सतीश, रामकुमार, जग्गू, झिलमिट और सुग्गन सभी विजयी सभापति रघुनाथ के साथ आ जाते हैं। किन्तु, इस आरंभिक सफलता से कोई स्थायी लाभ हो नहीं पाता है क्योंकि गाँव में 'विरोध' का अर्थ 'वैर' के अतिरिक्त कुछ दूसरा होता ही नहीं। अतः विघटन और विध्वंस की वह बाढ़ आती है कि विकास का सारा जल टूट कर बिखर जाता है, बह जाता है। पंचायतें गाँव में सत्यानाश का बीज बोकर पंगु और अर्थ-हीन हो जाती हैं। उधर से ध्यान खींचकर लोग अपने दल-दुरुस्ती और मोर्चों की मरम्मत में संलग्न हो जाते हैं। पंचायतें ग्रामोत्थान का नहीं शक्ति-परीक्षा का माध्यम बन जाती हैं। कथाकार का भी ध्यान उसके द्वारा प्रस्तुत निर्माण अथवा विकास कार्य पर बिल्कुल ही नहीं जाता है। उसकी दृष्टि उस केन्द्र पर स्थिर रहती है जहाँ इस नवोत्थान की दिशा में संभावित ऐतिहासिक परिवर्तन के दुराहे पर गाँव के कदम अवांछित डगर पर बढ़ जाते हैं। भ्रष्ट नौकरशाह सरकारी तंत्र उसे और बढ़ावा देता है। भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'सती मैया का चौरा' में सती मैया का चौरा पंचायत द्वारा निपट कर भी अन्यान्य उलझनों में फँस जाता है। विकास की छटपटाहट गाँव में तो दृष्टि-गोचर होती है पर सरकारी अधिकारियों की मनोवृत्ति प्रगति-विरोधी है। मन्ने से एक पंचायत इन्सपेक्टर स्पष्ट शब्दों में कहता है, 'मैं फर्ज पूरा करूँ कि अपनी नौकरी देखूँ ![1]' उपन्यास में गुप्त जी ने इस प्रकरण-यथार्थ को इस कोण से उठाया है कि समस्त वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है। 'सौ गुलाम घर सूना' वाली स्थिति है। अधिकारी और कर्मचारीगण का ध्यान एकमात्र अपनी 'नौकरी' पर केन्द्रित रहता है। यह नौकरी कागज़ के अधीन है अतः वे जनता के नहीं, कागज़ के सेवक हैं, उनका पेट कागज़ भरता है और कागज़ का पेट वे भरते हैं! इस बीच केवल एक जनप्रतिनिधित्व का अधिकारी उभरता है जो 'वेतन' नहीं पाता है परन्तु वह अपने 'अधिकारों' को ही इस सीमा तक वेतन मानकर संघर्षरत दीखता है कि भयावह हो उठता है। गाँव इस सभापति अथवा ग्राम-प्रधान नामक जीव के बोझ से कराह उठता है।

१. 'सती मैया का चौरा', पृ० ६९६।

सभापति

हिन्दी कथा-साहित्य में जो ग्राम सभापतियों (बिहार में इन्हें मुखिया कहते हैं) का चित्रांकन हुआ है उससे सम्पूर्ण पंचायत-राज का खोखलापन जग-जाहिर हो जाता है। प्रायः भूतपूर्व जमींदार इस पद को अधिकृत किये बैठे मिलते हैं। 'ग्रामसेविका' का सभापति भूतपूर्व जमीदार है। हिमांशु जोशी की कहानी 'आदमी ज़माने का' तथा अमरकान्त की कहानी 'पलाश के फूल' में भी इसी वर्ग के लोग अपना नूतन जाल फैलाये हैं। जहाँ पर ये भूतपूर्व जमींदार अधिक व्यवहार-कुशल और राजनीतिज्ञ हैं वहाँ वे स्वयं न खड़े होकर किसी छोटी जाति के ऐसे आदमी को खड़ा कर जिता देते हैं जो उनका आश्रित होता है। इससे वे प्रजातांत्रिक अथवा दलितोन्मेष का बाह्य आदर्श भी खड़ा कर देते हैं। दूसरों के कंधे पर बन्दूक रखकर शिकार करना सरल होता भी है। 'अलग-अलग वैतरणी' में बाबू जैपाल सिंह हरिजन सुखदेव राम को खड़ा कर जिता देते हैं। 'राग दरबारी' में वैद्य जी अपने द्वार पर पड़े रहने वाले निठल्ले कुत्ते सनीचर को पूरी शक्ति लगाकर सभापति पद पर आसीन करा देते हैं! 'रीछ' में भी यही होने जाता है और कुछ लोग चढ़ोरा भंगी को प्रस्तावित करते हैं[1] परन्तु संदर्भ कुछ दूसरा हो जाता है और सफलता नहीं मिलती है। इस प्रकार के वैशाखियों पर टिके सभापतियों की मनोवृत्ति अत्यन्त हीन और अप्रजातांत्रिक होती है। 'अलग-अलग वैतरणी' का सभापति कहता है, 'जब देखो कि सारा गाँव कटकटा कर तुम्हारी निन्दा कर रहा है तो जानो कि तुम बड़े आदमी हो रहे हो!'[2] 'राग दरबारी' का सनीचर स्पष्ट ही कहता है, 'हम तो नाम भर के प्रधान होंगे। असली प्रधान तो तुम वैद्य महाराज को समझो!'[3] और सभापति हो जाने के बाद 'मैदान के कोने में लकड़ी का एक केबिन बनाकर परचून की दूकान खोलता है जो बाद में सरकारी गल्ले की दूकान हो जाती है!'[4] 'ग्रामसेविका' उपन्यास में चित्रित सभापति जी के बारे में कथाकार की टिप्पणी है कि उन्होंने 'गाँव की जनता के लिये अपना जीवन

---

१. 'रीछ', पृ० ४६३।
२. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ३३७।
३. 'राग दरबारी', पृ० २५७।
४. वही, पृ० ३३९।

अर्पित कर दिया। मसलन, वह ग़रीबों को रुपये सूद पर देते!'[1] कथाकार प्रधान जी का आगे और विस्तृत चित्रांकन करता है, 'मुकदमा लड़ाना भी प्रधान जी का विशेष गुण है!' वे दफ्तर के बाबुओं के दलाल हैं।[2] वे पूरी तरह नेता बनकर एसेम्बली के चुनाव के सपने देख रहे हैं। और सभी पार्टी वालों को प्रसन्न रखते हैं। कथाकार की टिप्पणी है कि 'भीतर से वह घोर सम्प्रदायवादी थे...यह भी मानते थे कि जबतक धरती है, अमीरों और ग़रीबों का भेद बना रहेगा।...प्रधान जी शासनारूढ़ दल में सम्मिलित होकर कुछ विशेष प्रकार के पैसे वाले लाभकर ठीके के लिए भी आतुर हैं।[3] इन बातों के अतिरिक्त गाँव में आने वाली ग्रामसेविका को फाँसने की भी लालसा प्रबल है।[4] ऐसा लगता है कि जो कुछ अवैध, अनैतिक और अप्रजातांत्रिक है वही ग्राम सभापतियों का इष्ट और अभीष्ट है। श्रीलाल शुक्ल 'राग दरबारी' में एक चुभता सा व्यंग्य इसी संदर्भ में भूतपूर्व सभापति के लिए प्रस्तुत करते हैं, 'गाँव' के प्रधान रामाधीन भीमखेड़वी के भाई थे जिनकी सबसे बड़ी सुन्दरता यह थी कि वे इतने साल प्रधान रह चुकने के बावजूद न तो पागलखाने गये थे, न जेलखाने।'[5] सभापतियों की सनक के परिप्रेक्ष्य में व्यंग्यकार की यह टिप्पणी अत्यन्त सार्थक प्रतीत होती है। और समय में अपने जिन कृत्यों के लिए उन्हें दंडित होना चाहिए प्रजातांत्रिक वरदान-काल में उन्हीं को लेकर वे पुरस्कृत और समादृत हैं। सेवाभावना, ऊँचे उद्देश्य और नये प्रजातांत्रिक आदर्शों आदि को ताक पर रखकर ये ग्राम-प्रधान वास्तव में पुरातन सामन्तवादी और अधिकारवादी मनोवृत्ति की कुसंस्कृत धुन में संघर्षरत दृष्टिगोचर होते हैं। लेखक की एक व्यंग्यकथा 'हम सभापति' में लोग एक सबसे उग्र और उतावले प्रत्याशी से पूछते हैं कि आप सभापति क्यों बनना चाहते हैं तो वह गंभीरता के साथ उत्तर के रूप में प्रश्न करता है—कि लोग क्यों कलक्टर और डिप्टी बनना चाहते हैं?[1] अर्थात् कलक्टर-डिप्टी की ही भाँति समृद्धि लेकर,

---

१. 'ग्रामसेविका', पृ० ८३।
२. वही, पृ० ८४।
३. वही, पृ० ८५।
४. वही, पृ० ६८।
५. 'राग दरबारी', पृ० १३३।
६. 'आज', २३ दिसम्बर सन् १९६० ई०।

सम्मान लेकर, अधिकार लेकर और वैयक्तिक अभ्युत्थान के लिए सुवर्ण सुअवसर लेकर, यह सभापति पद का चुनाव आया तो इसे क्यों हाथ से निकलने दिया जाय? मूढ़-अपढ़ जनता के अवचेतन में नौकरशाही का आदर्श जो बद्धमूल हो कर जम गया है वह कागजी प्रजातंत्र से लगता है उखड़ने वाला नहीं और सभापति गण उसी भ्रष्ट आदर्श से परिचालित दीख रहे हैं तो क्या आश्चर्य ?

सरपंच

हिन्दी कथा-साहित्य में ग्राम पंचायत और सभापतियों की भाँति ही न्याय-पंचायत, सरपंच, पंच और सरपंची भ्रष्टाचार का चित्रण तो मिलता है किन्तु इस क्षेत्र में आदर्शवादिता भी दृष्टिगोचर होती है। नागार्जुन का दुखमोचन[1] और रामदरश मिश्र का सतीश[2], ये दो ऐसे सरपंच चित्रांकित हैं जो सम्पूर्ण भ्रष्ट वातावरण की कलुष-कालिमा से ऊपर उठ जाते हैं। सतीश में गाँधीवादी और दुखमोचन में सर्वोदयी भावना निहित है। सतीश सरपंच निर्वाचित होने पर गाँव में न्याय-पक्ष को पुरस्कृत करता है। उसका तेजस्वी व्यक्तित्व तब पूर्ण निखार पर आता है जब सर्वहारा जगपतिया और भू-स्वामी बाबू महीप सिंह का विवाद उसकी न्याय-पंचायत में आता है। जगपतिया की ओर न्याय है परन्तु यह न्याय का पक्ष अनन्त आपदाओं का पक्ष है। सतीश आपदाओं से भयभीत नहीं होता है क्योंकि वह सरपंची को न्यायपीठ बनाने के लिए प्रतिबद्ध है। यद्यपि महीप सिंह उसके भूतपूर्व आश्रयदाता हैं तथापि न्याय-तुला पर से वह इस भार को हटा देता है। घूस, सिफारिश और दबाव के विरुद्ध उसके मन में एक आग है। समाज के शोषित-पीड़ित लोगों के प्रति उसमें सहानुभूति है। न्यायपक्ष के लिए समस्त संसार से शत्रुता मोल लेने के लिए भी वह प्रस्तुत है। समाजवादी कहलाने वाला उसका मित्र रामकुमार बिछल जाता है परन्तु वह अडिग है। वह ऐसी नपुंसक राजनीति का विरोधी है जो अवसरवाद और स्वार्थपरता पर टिकी हुई है। वह महीपसिंह के विरोध में निर्णय देकर और दंडित कर उन्हें अपना व्यक्तिगत शत्रु बना देता है। यह न्याय वास्तव में बहुत महँगा पड़ता है। महीपसिंह सतीश को दिये खेत बलात् जोत लेते हैं। गाँव में

---

१. इसी नाम के उपन्यास का मुख्य पात्र ।

२. 'जल टूटता हुआ' का एक प्रमुख पात्र ।

कोई साँस नहीं लेता है। इस अवसर पर सतीश के मन में सत्य और न्याय के प्रति एक हलकी शंकाशीलता उठती है, परन्तु पुनः वह अपने को सँभाल लेता है। उसकी स्थिति गिरने लगती है और वह स्थिति भी आ जाती है जब मज-दूरिनों के साथ खेत में सोहनी करते दृष्टिगोचर होता है।[1]

कथाकार रामदरश मिश्र ने सतीश में गांधीवादी आदर्श का निखार देखा है परन्तु इस आदर्श के अनुरूप सामाजिक परिवेश न होने के कारण उसके मन में द्विधा और द्वन्द्व की लहरें भी उठती हैं। खेत के विवाद को लेकर उसे न्यायालय में जाना पड़ता है और सबसे बड़ा परिताप जो उसे दग्ध करता है यह है कि 'सरपंच होकर, पढ़ा-लिखा होकर, बड़ा आदमी कहलाकर भी महीप सिंह के अन्याय का प्रतिकार नहीं कर पा रहा है!'[2] रामदरश मिश्र ने गाँव के रगड़े-झगड़े और लूट-हत्या की गुत्थमगुत्थ के बीच सरपंच के रूप में सतीश का इस प्रकार सृजन किया है कि न्याय के प्रति उसका विश्वास अन्त तक नहीं टूटा है। वह अन्त तक न्याय को एक मूल्य के रूप में स्वीकारता है और गड़ासे के वार तक झेलने की पीड़ा उसकी इस आस्था को नहीं डिगा पाती है।[3]

रामदरश मिश्र के इस आदर्श चरित्र की ही भाँति नागार्जुन के प्रसिद्ध उपन्यास 'दुखमोचन' के प्रमुख पात्र दुखमोचन जी हैं! इनका नाम अत्यन्त सार्थक और अन्वर्थ है। ये सरपंच के रूप में एक निस्पृह जनसेवक हैं। सन् १९५५ की अवशिष्ट आदर्शवादिता को केन्द्र बनाकर कथाकार दुखमोचन के उस कष्ट-सहिष्णु रूप को उभारता है जो मानापमान और वैयक्तिक लाभ-लोभ से परे है। पुरातन जड़मूल्यों के दुराग्रही लोगों द्वारा उन्हें शारीरिक यंत्रणा भी दी जाती है परन्तु सब झेलकर भी वे अपने पथ से विचलित नहीं होते हैं।[4] गाँव की गुटबन्दी, जातिवादी टंटे-बखेड़े और वैर-विरोध के बीच 'ईमानदारी पर दुनिया टिकी है' का स्वर फूंकते हुए दुखमोचन पूरे गाँव के दुख को अपना दुख मान लेते हैं। दुखमोचन के न्यायाधीश होते गाँव में जैसे विकास का राम-राज्य आ जाता है। पंचायतें सफल हो जाती हैं। जुरमाना वसूल हो जाता

---

१. 'जल टूटता हुआ' पृ० ४३१।
२. वही, पृ० ४९४।
३. वही, पृ० ५५९।
४. 'दुखमोचन' पृ० १०२।

है। एस० डी० ओ० और अंचलाधिकारी उनके सेवाकार्य में सहयोग करते हैं। विवादों का सटीक निर्णय होता है। श्रमदान द्वारा पुनर्निर्माण होता है। गाँव में प्रायः एकता आ जाती है और लोग मिलजुल कर आत्मनिर्माण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। बाढ़ आदि दैवी आपदाओं के समय दुखमोचन का सेवाकार्य और बढ़ जाता है। उसमें यश-कामना भी नहीं है और इस प्रकार एक व्यक्ति पूरे वातावरण को परिवर्तित कर देता है।

नागार्जुन के 'दुखमोचन' में भविष्यत् स्वराज्य-सुख की व्यामोहग्रस्तता कल्पित है। यह वह आशावादी दृष्टि है जो सन् १९६० आते-आते बुझ गई और मोहभंग के तमसाकार वातावरण में सरपंची भ्रष्टाचार के वे दैत्य उभड़े जिनके पैरों तले न्यायप्रिय ग्रामात्मा दबकर मर गई। मूल्य के रूप में 'न्याय' का नया अर्थ हो गया 'अन्याय'! श्याम व्यास की कहानी 'रेवड़'[1] में गाँव के सरपंच का भ्रष्टाचार सारा गाँव चुपचाप सहन करता है। किसी में मुँह खोल कर विरोध या प्रतिकार करने की क्षमता नहीं है। इसी बीच एक दिन उस समय एक चरवाहे का अहं जाग्रत हो उठता है जब सरपंच से वह उसके मवेशियों को चराने की मजूरी माँगता है और सरपंच धमकाता है कि बिना धन्धा टैक्स दिए चरागाह में चराई का धन्धा करते हो, टैक्स लगा दूँगा। वह प्रश्न यह उठाता है कि चरागाह तो सार्वजनिक है किन्तु सरपंच की मनमानी और धौंस के आगे पूरे गाँव में कोई सिर उठाने वाला नहीं है तो वह चरवाहा अनुभव करता है, 'उसकी हाँक के आगे कैसे सारे पशु खड़े हो जाते हैं! कहीं वह 'रेवड़' के बीच तो नहीं खड़ा है?' प्रकाश सक्सेना की कहानी 'धरती का बटवारा'[2] में पुराना जमींदार स्वराज्य हो जाने पर तिकड़म से गाँव का सरपंच हो जाता है और गरीब चमारों का आर्थिक-नैतिक प्रत्येक प्रकार का शोषण-चक्र तीव्रता से चलता है।

शासन सत्ता के आगे मूक जनता की असमर्थता का उक्त चित्र बहुत मार्मिक है। लोकतांत्रिक और विश्वजनमत की नयी करवटों के प्रभाव में यदि कभी जन-वर्ग के इन मूक पशुओं के बीच कोई विद्रोही पैदा होता है तो सत्ताधारी तदनुरूप अपने को मोड़कर उसके प्रभाव को असफल बनाने का प्रयास करते

---

१. **'नई कहानियाँ', अप्रैल १९६९।**

२. **'धरती बिहँसी' में संकलित।**

हैं। ग्रामस्तर पर इस कूटनीतिक पैंतरे को हमीदुल्ला खाँ की प्रतीक कथा 'अंधा गाँव'[1] में देखते हैं। गाँव वालों का चुना सरपंच जमाखोरी के लिये ग्रामीणों की धान की खड़ी फसल खरीद लेता है। उसकी इस देशद्रोही मनोवृत्ति के प्रति गाँव को एक डेढ़ बिगही बुढ़िया मात्र विद्रोही है। सरपंच उसे इस आधार पर धमकाता है कि तू गाँव की एकता नष्ट कर रही है। बुढ़िया के न मानने पर सरपंच और सेक्रेटरी जब उसे एक कुएँ में डालने लगते हैं तो वह कहती है कि मुझे छोड़ दो नहीं तो मेरे मरने पर जो इस कुएँ का पानी पियेगा वह मेरे मत का हो जायेगा। वे लोग नहीं मानते हैं परन्तु बुढ़िया की मौत के बाद उसकी बात सत्य निकलने लगती है। दूसरे दिन धड़ाधड़ बयाना फिरने लगते हैं तब घबराकर दोनों बहुत सोच-विचार करते हैं और स्वयं भी उस कुएँ का पानी पी लेते हैं। फिर, पूरा गाँव पूर्ववत् उनकी बात मानने लगता है। उत्पीड़क स्वयं शहीदाने अंदाज में सामने आते हैं। शोषक शोषितों के नारे लगाने लगते हैं और सत्ताधारी विद्रोहियों की मुद्रा धारण कर लेते हैं। प्रस्तुत कहानी में सम्पूर्ण देश में छाया यही छलपूर्ण भ्रष्टाचार निचली इकाई में ग्रामस्तर पर सरपंची भ्रष्टाचार के रूप में अंकित हुआ है।

सरपंच की ग्रामस्थित न्याय-पंचायत का मार्मिक प्रत्याख्यान कुशल व्यंग्यकार श्रीलाल शुक्ल की लेखनी से 'राग दरबारी' में हुआ है। वहाँ न्यायालय का गाम्भीर्य नाममात्र के लिए भी नहीं है। लगता है कोई हास्यास्पद नाटक हो रहा है। गाँव की जनता पीड़ा-भोग और न्यायिक अधोगति की उस अनुभव-अति पर पहुँच गई है कि उसका साक्षात्कार सनकी, 'मूडी' अथवा मसखरे के रूप में हो रहा है। यह स्वातंत्र्योत्तर दूसरे दशक के बाद की परिणति है! प्रथम दशक में अभी गंभीरता से लिया जाता रहा। 'परती : परिकथा' में पंचायत चुनाव की मोर्चेबन्दी में गाँव का लंगीबाज कांग्रेसी लीडर लुत्तो एक ओर निरसू को सरपंची का प्रलोभन देता है और दूसरी ओर यही प्रलोभन वह पुजारी के सामने प्रस्तुत करता है। पुजारी सरपंची के प्रलोभन में ग्रामवासियों की धर्मान्धता उभाड़कर उसकी उद्देश्य-सिद्धि का एक उत्तम अस्त्र बन सकता था! सरपंची का प्रलोभन भी कितना प्रबल है कि ठाकुरबाड़ी के पुजारी 'नेता' बन जाते हैं।'[2] गाँवों में सरपंच राजनीतिज्ञों के हाथों के

१. 'ज्ञानोदय', जून १९६८।
२. 'परती : परिकथा', पृ० १४९।

खिलौने हैं और इस प्रकार के पद ग्रामोत्थान से नहीं राजनीतिक सिद्धियों से जुड़कर कितने अर्थहीन हो जाते हैं, यह कथा-साहित्य के ऐसे संदर्भ चित्रों से स्पष्ट हो जाता है !

चुनाव-संघर्ष

ग्राम-पंचायतों के संदर्भ में ग्राम-स्तर पर सबसे भयंकर विकृति जिसका कथा-साहित्य में चित्रांकन हुआ है चुनाव से सम्बन्धित है। मताधिकार के महत्त्व और लोकतांत्रिक आदर्शों से अपरिचित ग्रामीण इसे वैर-विरोध के रूप में लेते हैं तथा समूचा वातावरण हिंसात्मक और उपद्रवी तत्त्वों से भर जाता है। भीषण संक्रमण की चपेट में टूटते गाँव में चुनाव स्वार्थपरता की वह उन्मादग्रस्त स्थितियाँ ला देते हैं जो ग्राम-परिवेश में सर्वथा अकल्पित होती हैं। रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' में चुनाव की सरगर्मी का बहुत ही रोमांचक चित्रण मिलता है। निर्वाचन को लेकर पड़ोसी और पट्टीदारों में ही नहीं, परिवार के बीच भयानक विघटन का सूत्रपात हो जाता है। पक्षापक्ष की नयी-नयी पंक्तियाँ चुनाव के दबाव से बनती-बिगड़ती हैं। विभिन्न प्रकार के षड्यन्त्र और उपद्रव नध जाते हैं। कथाकार संघर्ष की जटिलता का आलेखन कर एक पंक्ति में उपसंहार करता है कि 'भाई-भतीजों को भी समझना कठिन हो रहा है।'[1] लाठी, बल्लम और गुंडई के बीच चलने वाला यह चुनाव-संघर्ष कथाकार उदयराज सिंह की दृष्टि में एक ऐसा सत्यानाशी मनसायन और विषाक्त मनोरंजन सिद्ध होता है जिसके कारण ग्राम-पंचायतें गाँव के ऊपर घहराई हुई एक आफत की तरह लगने लगती हैं।[2] अच्छे-भले लोग जान बचाकर भागते हैं और विघटनकारी अथवा उत्पीड़क तत्त्वों की गोटी लाल होती है। शिक्षादि के प्रभाव से प्रभावहीन और मिटते जातिवाद को इस चुनाव ने न केवल पुनरुज्जीवित कर दिया बल्कि राजनीति से जोड़कर और भयावह बना दिया। चुनाव ने ग्रामवासियों को ग्राम-पुनर्निर्माण में भले पीछे ढकेल दिया, चुनाव-संदर्भ में उन्हें बहुत काइयां बना दिया है। 'अँधेरे के विरुद्ध' में चुनाव के साथ-साथ ग्रामीण पेटीशन की भी तैयारी

१. 'जल टूटता हुआ', पृ० ३३०।
२. 'अँधेरे के विरुद्ध', पृ० १८९-१९०।

करते चलते हैं ।[1] लेखक की रचना 'निशानी अँगूठा जिन्दाबाद'[2] में पंचायत-चुनाव के अवसर पर नारा लगता है कि 'पढ़े-लिखे इंसान को : वोट देना धोखा है ।' अथवा 'निशानी अंगूठा : जिन्दाबाद !' वोट काग़ज़ से नहीं लाठी और बल्लम से लड़ा जाता है । विरोधी के घर सेंध लगकर सब साफ़ हो जाता है । फ़सल उखाड़ ली जाती है । मवेशी गायब हो जाते हैं । क्रोध, घृणा, अविश्वास, प्रतिशोध और संत्रास का घुटनपूर्ण वातावरण मतदान के दिन अत्यन्त विस्फोटक हो जाता है । गाँव के मूढ़ सचमुच ही जूझने लगते हैं ! पुलिस को गोली चलानी पड़ती है । इस संदर्भ से जुड़ी लेखक की दूसरी कहानी 'अविश्वास का प्रस्ताव'[3] बीतते समय के साथ आई और लज्जास्पद गंदगियों को चित्रांकित करती है । अविश्वास का प्रस्ताव ब्लाक प्रमुख के विरुद्ध है जिसे लेकर सभापतियों की चोरी और लूट होती है । हत्या, लूटपाट और भीषणतम उपद्रवों के आयाम उजागर होते हैं । इन्हीं स्थितियों की वह क्षोभपूर्ण अनुभूति थी जिसे आचार्य शिवपूजन सहाय को जीवन के अन्तिम दिनों में अपने गाँव उनवांस (शाहाबाद) में झेलना पड़ा था और उन्होंने सुधांशु जी को पत्र लिखते हुए लिखा था कि 'किसान भोले नहीं भाले हैं !'[4]

निष्कर्ष

इस अध्ययन से निष्कर्ष यह निकलता है कि गाँवों में पंचायत राज के उसी रूप को कथा-साहित्य में अंकित किया गया है जो मुख्य रूप से अराजकता और विघटन को ही प्रोत्साहित करने वाला है । कुत्सित मानवीय मनोवृत्तियों का किस प्रकार अकस्मात् विस्फोटक विस्तार स्वातंत्र्योत्तर प्रजातांत्रिक विकास के साथ गाँवों में हो गया, इसका मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय चित्रांकन यदि कथा-साहित्य में नगरबोध की बाढ़ का व्यवधान नहीं आया होता तो अवश्य ही हुआ होता । गाँव में संत्रास, कुंठा, विद्रोह, अविश्वास और अस्थैर्य को उसके विराट और रोमांचक परिवर्तित यथार्थ स्वरूप के अन्तर्गत देखा

---

१. 'अँधेरे के विरुद्ध', पृ० २२१ ।
२. 'आज' २३ फरवरी सन् १९६१ ।
३. 'आज', २६ फरवरी सन् १९६५ ।
४. 'व्यक्तित्व की झाँकियाँ', ले० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृ० ९२ ।

गया होता तो उसमें नगर-जीवन में आये इनके चित्रों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविकता और सजीवता होती। इस विशाल बदलाव का वास्तव में समुचित चित्रण हिन्दी कथा-साहित्य में नहीं हुआ है जबकि यह प्रादेशिक नहीं अखिल भारतीय सत्य के रूप में सम्मुख आया है। 'दिनमान'[1] की एक टिप्पणी के अनुसार आन्ध्रप्रदेशगत चौधरियों के आसन्न चुनाव में स्वतंत्रता के ढाई दशक बाद भी वे ही महादोष वर्धमान दृष्टिगोचर होते हैं जो आरंभिक दौर में उभड़े थे। राज्य भर में १५,८६४ ग्राम पंचायतों में से केवल ११६ ग्राम-पंचायतों के अध्यक्षों का चुनाव निर्विरोध हुआ। कुछ स्थानों पर पिता पुत्र के खिलाफ खड़े हुए। भाई ने भाई से संघर्ष किया। जातिवाद उग्र रूप से सामने आया। ८७ जगह खुलकर दंगे हुए। १८ व्यक्ति गोली से मरे। दो हज़ार से अधिक घायल हुए। आम चुनाव की भाँति चुनाव में पैसा पानी की तरह बहाया गया। सामंतवाद नये सिरे से जी गया है। सामंती परिवार अंग्रेजी राज की भाँति जातिगत संगठन से लाभ उठाते हैं और पंचायत में उसका प्रयोग करते हैं। पुराने प्रभाव वाली जातियाँ और परिवार आज भी सत्तारूढ़ हैं। प्रभावशाली जातियाँ और परिवार ही ग्राम-प्रधान, सरपंच और पंच हैं। निचले लोग पंचायत में पूर्ववत् अपूछ हैं। चुनाव में नये-नये भ्रष्टाचार हुए हैं। मत और मतदाता का मोल पचास-पचास हज़ार तक पहुँच गया है। उनकी चोरी भी हुई है।

कथा-साहित्य में उभड़े पिछले दशक के पूर्व विवेचित संदर्भ-चित्रों का अत्यन्त सार्थक समर्थन 'दिनमान' की इस टिप्पणी से हो जाता है।

पंचायत सेक्रेटरी

नये कथा-साहित्य में प्रजातांत्रिक संस्थानिक-विकास की झलक बहुत अस्पष्ट है। विकास और पंचायत आदि के साथ-साथ पंचायत-सेक्रेटरी, ग्राम-सेवक, लेखपाल, ग्राम-सेविका, ग्राम-लक्ष्मी, बी०डी०ओ०, एम०एल०ए०, एम०पी० और मिनिस्टर जैसे सैकड़ों नये शब्द आ गये। यद्यपि इन नामों के साथ शनैः शनैः उभरने वाले सजीव व्यक्तित्व गत ढाई दशक की प्रजातांत्रिक यात्रा में अपना पूर्णाकार ग्रहण कर चुके हैं और जन-मानस में उनके स्वरूप

---

१. **'दिनमान', ६ सितम्बर सन् १९७०, पृ० २२-२३।**

की धारणा द्विधाहीन रूप में दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित हो गई है तथापि मूल्यवान, मनोरंजक और सजीव होने के बावजूद भी कथा-साहित्य में अपेक्षित विस्तार से इनके चित्र नहीं अंकित हुए। बी०डी०ओ०, ग्राम-सेवक और एम०एल०ए० आदि के चित्र सतही अधिक हैं। जन-भावना और उक्त प्रजातंत्र के प्रहरियों की मनःस्थिति का अन्तर्विरोध भी व्यापक रूप से नहीं उभरा है। इनके चित्र कहीं तो सरकारी योजनाओं के प्रचार से और कहीं उनके विरोध से संदर्भित हैं। 'माटी के लोग : सोने की नैया', 'ग्रामसेविका', 'अमरबेल', 'धरती मेरी माँ' और 'उदय किरण' जैसी रचनाओं में प्रचारात्मकता ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। प्रकाश सक्सेना की एक कहानी 'धरती विहँसी'[1] में एक पंचायत-सेक्रेटरी की सूझबूझ का चित्रण हुआ है। वह एक तालाब की जमीन से पानी निकलवाकर उसे उपयोगी कृषि-भूमि में परिवर्तित करा देता है। प्रारंभ में उसका उग्र विरोध होता है और नयी व्यवस्था पर अगणित ताने कसे जाते हैं। परन्तु यह अकल्पित साफल्य प्रत्यक्ष सबका मुँह बन्द कर देता है। किन्तु देश की लाखों पंचायतों से छनकर निकलने वाला यह पंचायत सेक्रेटरी का प्रतिनिधि व्यक्तित्व नहीं है। यह चित्र आदर्श की अति पर है। इस चित्र की तुलना में 'अलग-अलग वैतरणी' का लेखपाल-चित्र, क्योंकि वह पुराने पटवारियों से भी अधिक साहसी है, बहुत यथार्थ प्रतीत होता है।···'पहले के पटवारी घूसखोर थे, जमींदार के पिट्ठू थे, मगर डकैत नहीं थे। इस लेखपाल ससुरे ने बीस बिगहे रकबे पर भी देवी चौधरी का कब्जा दिखाया।...बीस साल के कब्जे का इन्तखाब भी दे दिया। देवी चौधरी दसगुना लगान अदा कर के 'भूमिधरी' का परचा ले आये।'[2]

ग्राम-सेवक और बी०डी०ओ०

मधुकर गंगाधर की कहानी 'घाव'[3] और मदन पिथौरा की कहानी 'ग्रामलक्ष्मी'[4] और सुरेन्द्रपाल के उपन्यास 'लोकलाज खोयी' में ग्राम-सेवक के जो चित्र उभरे हैं उनमें वह पूरा ग्राम-भक्षक प्रतीत होता है। इन रचनाओं में ग्राम-सेवक गाँव में वैर-विरोध बढ़ाने वाले तथा व्यभिचारादि को प्रश्रय देने

---

१. इसी शीर्षक के कहानी-संग्रह की प्रथम कहानी।
२. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० २७६।
३. 'गर्म गोश्त : बर्फीली तासीर' में संकलित।
४. नयी कहानियाँ : दिसम्बर १९६८।

वाले एक कामचोर कागजी व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। अमरकान्त की ग्रामसेविका और ग्रामलक्ष्मी में आदर्श हैं परन्तु शैलेश मटियानी की कहानी 'वापसी' में वह वैसा नहीं है। ये ग्रामसेविकायें और ग्रामलक्ष्मियाँ सभापति, ग्रामसेवक और बी०डी०ओ० के आगे सेक्स-भूख बनकर उतरी प्रतीत होती हैं और विकास का घृणित हीनत्व ग्रामांचल की शुचिता से मिलकर एक विरोधी भाव उत्पन्न करता है। यही दशा बी०डी०ओ० की है। 'माटी के लोग : सोने की नैया' में विकास का नेतृत्व इसके हाथों में देकर इसका पर्याप्त स्तवन किया गया है।[1] तथा इसी प्रकार उदयराज सिंह के उपन्यास 'अंधेरे के विरुद्ध' का बी०डी०ओ० भी सच्चा एवम् आदर्शवादी है। परन्तु लेखक की रचनायें 'रामबाबू बी०डी०ओ० से मिले'[2], 'तीन समस्या : चौथा हल'[3], 'सरकारी आदमी'[4], 'सरकारी राजकुमारों के सेनापतित्व में'[5], 'आफिसर्स आफ विलायती डिजायन'[6] और 'कुएं के भीतर से विकास बोला'[7] केशवचन्द्र मिश्र की रचना 'महुआ और साँप'[8] और उमाकान्त शुक्ल की कहानी 'श्रमदान'[9] में बी०डी०ओ० का जो रूप निखरा है वह विकास-विरोधी और भ्रष्ट है। निर्विवाद रूप से नये गाँव के संदर्भ में विकास-अधिकारी अदेख रह गया है। आश्चर्य है कि हिन्दी कथा-साहित्य को ग्रामांकन के संदर्भ में गौरवान्वित करने वाले स्तम्भ कोटि के उपन्यास 'मैला आँचल' (सन् १९५४), 'परती : परिकथा' (१९५७), 'सती मैया का चौरा' (१९५९), 'आधा गाँव' (१९६६), 'रीछ' (१९६७), 'अलग-अलग वैतरणी' (१९६७), 'राग दरबारी' (१९६८) और 'जल टूटता हुआ' (१९६९) में बराबर यह ग्राम-जीवन को नया मोड़ देने वाला तत्त्व अस्पर्शित होता आया और सन् १९७० में व्यापक रूप से उभरा भी (अँधेरे के विरुद्ध में) तो परम आदर्शवादी रूप में।

१. 'माटी के लोग सोने की नैया', पृ० १५६, १६५, २०८, २२२, २५४।
२. 'आज', ८ अप्रैल सन् १९५९।
३. ,, २ जून, सन् १९६०।
४. ,, २५ मई सन् १९६१।
५. ,, १६ मई सन् १९६२।
६. ,, २९ नई सन् १९६३।
७. 'हिन्दुस्तान' (साप्ताहिक), १२ मई सन् १९६८।
८. 'धर्मयुग' ५ अप्रैल सन् १९७०।
९. ,, ११ अक्टूबर सन् १९७०।

एम० एल० ए०

विकास-अधिकारी से भी कम विधायक का व्यक्तित्व कथा-साहित्य सापेक्ष बन पाया है। वास्तव में पंचायत, चुनाव और विकासादि से जुड़े लोग नयी सामाजिक जन-चेतना का अंग नहीं बन पाये हैं और न रचनात्मक स्तर पर उनके क्रिया-कलाप को सामाजिक स्वीकृति मिली है। जाने-अनजाने जनमानस में सरकारी अधिकारी वर्ग और नेतृवर्ग के प्रति एक कुभावपूर्ण अलगाव आ गया है। बी० डी० ओ० प्रथम वर्ग में आता है और एम०एल० ए० दूसरे वर्ग में। दोनों को सम्मुख पड़े पूजा होती है और पीठ पीछे गाली मिलती है। यह युगीन विसंगति अत्यन्त जटिल स्थिति की द्योतिका है। मधुकर गंगाधर के उपन्यास 'फिर से कहो' में सोनारी गाँव के लोग जब कभी देश-काल की समीक्षा करते हैं और प्रसंग क्षेत्रीय विधायक महोदय का आ जाता है तो इस प्रकार की वाक्यावलियों में उसका स्मरण करते हैं कि 'यह साला धनेसर सिंह एम० एल० ए० हो गया है तो सीधे मुँह बात नहीं करता।'[1] वास्तविकता यह है कि प्रजातंत्र के चौराहे पर एम० एल० ए० लोगों ने निर्वाचित होजा ने पर इस प्रकार की निर्लज्ज कृतघ्नता और अनैतिकता प्रदर्शित की है कि जनमानस उनके संदर्भ में कड़वाहट से भर गया है। लेखक की कहानी 'कवि सम्मेलन में' में सभापति पद पर आसीन क्षेत्रीय विधायक को देखकर श्रावयिता का मन भूत-काल की एक अत्यन्त विक्षोभ-कारक स्मृति में डूब जाता है जब जन-जन के द्वार पर हाथ जोड़ने वाला यह एम० एल० ए० विजयी हो जाने के बाद अपने छोटे-मोटे सहायकों को नहीं पहचान रहा है तथा उन्हीं का स्वागत-सम्मान स्वीकार कर रहा है जो धन्नासेठ हैं, बड़े जमींदार और रईस हैं। वह फूल-मालाओं में ऐसा डूब जाता है कि जनता का काँटों से उद्धार करना धरा रह जाता है। लक्ष्मीनारायण लाल की कहानी 'रामलीला'[2] में परम्परावादी गाँव में गलित राजनीति का और भ्रष्ट प्रचारात्मकता का प्रस्तोता एम० एल० ए० एक अत्यन्त नए स्वार्थान्ध मुद्रा में अंकित हुआ है। 'जल टूटता हुआ' में तिवारीपुर गाँव का एक युवक एक दिन भरी सभा में नेताओं की नेतागिरी का रहस्योद्घाटन कर देता है तो वह उस पर क्रुद्ध हो उठते हैं। एक विद्यालयी खेल-

१. 'फिर से कहो', पृ० ११।

२. 'धर्मयुग', ११ अक्तूबर सन् १९७०।

कूद प्रतियोगिता में कृषि-मंत्री आने वाले हैं और नहीं आ पाते हैं तो क्षेत्रीय एम० एल० ए० कालीचरण पाण्डेय और एम० पी० बाबू सागर सिंह जनता का उद्‌बोधन करते हैं। लोग ऊब-ऊबकर भी दोनों के सरकारी भाषण सुनते रहते हैं ! लोग सोचते हैं, 'कोई साफ बात नहीं, कोई समस्या नहीं, कोई समाधान नहीं, केवल सरकार की सफलताओं और मजबूरियों की गुण-गाथा, बीच-बीच में गांधी और नेहरू के नाम की छौंक !'[1] अन्त में लोग ग़लती से अध्यक्षीय भाषण के बाद धन्यवाद के लिए गाँव के शिक्षित-युवक चन्द्रकान्त को खड़ा कर देते हैं। नया रक्त पाखंड विडम्बना को पचा नहीं पाता है और बोल बैठता है, 'ये जनता के बीच इनका दुख-दर्द समझने के लिए कितनी बार आये हैं ? आज-कल के नेता लोग तो जनता में पिकनिक करने आते हैं—दो घड़ी के लिए मन बहलाव करने को...!'[2] इस सचाई को दोनों नेता झेल नहीं पाते हैं और उनका आक्रोश इस सीमा तक पहुँच जाता है कि बिना भोजन किये चले जाते हैं।

कांग्रेसी एम० एल० ए० की यथार्थ तांत्रिक-मुद्रा का अंकन 'आधा गाँव' में राही साहब ने किया है। यहाँ लगता है विधायक जनता का प्रतिनिधि उतना नहीं जितना सरकार का दलाल है। एक प्रसंग में वह मीर साहब से कहता है, 'मैं अभी उस बहनचोद थानेदार को बुलाता हूँ। सुन रहा हूँ कि मियाँ लोगों में पाण्डेय जी (कम्यूनिस्ट लीडर) का आना-जाना बहुत हो रहा है आजकल। अब बताइये, यह ज्यादती की बात है या नहीं ? इत्ती तकाबी यहाँ बाँटी गई है...दो तरफ से पुख्ता सड़कें बन गई हैं कि आधे घंटे में आप लोग शहर पहुँच जाते हैं। गाँव में हर गली पक्की हो गई। दो स्कूल चल रहे हैं।...कोई सरकार इससे ज्यादे कर सकती है ?'[3] विधायकों के इन कथा-साहित्य में अंकित संदर्भ चित्रों में उनका जो रूप सर्वथा तिरोहित है वह है सेवक का रूप। यह सेवक का रूप और ऊपर अर्थात् मंत्रीपद तक पहुँचते-पहुँचते और भी अवमूल्यित हो उठता है।

मंत्री

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में मंत्रियों का चित्रण एक नये सामन्त के रूप

---

१. 'जल टूटता हुआ', पृ० ४४३।

२. वही, पृ० ४४४।

३. 'आधा गाँव', पृ० ४२४।

में हुआ है। ये अपने उत्तरदायित्वों को नहीं अधिकारों को जीते हुए अंकित हुए हैं। गाँव राजधानियों से जितने दूर हैं उतने ही दूर मंत्रियों से हैं। इस वास्तविकता के होते हुए भी परानपुर[1] का लंगीवाज कांग्रेसी-नेता लुत्तो अपना रोब जमाने के लिए बारम्बार मिनिम्टरों का नाम लेता है। 'अँधेरे के विरुद्ध' के ग्रामीण बात-बात में मंत्री-मिनिस्टर को तार भेजने की धमकी देते हैं। 'रीछ' उपन्यास के अन्त में चकबन्दी के भ्रष्टाचार की जाँच करने एक मिनिस्टर आता अवश्य है परन्तु उसकी जाँच एक नये प्रकार का भ्रष्टाचार हो जाती है। वह भ्रष्टाचार की आवाज़ उठाने वाले गाँव के सतेज युवक को 'रोटी का टुकड़ा फेंक कर' फुसलाना चाहता है। 'जल टूटता हुआ' में मंत्री आते-आते नहीं आता है। मंत्री वहाँ जाता है जहाँ मुख्यतः उसे उद्घाटन करना है। वह सर्वत्र अपनी छाप छोड़ जाना चाहता है। 'जलूस' में जो शरणार्थी कालोनी बनती है उसका नाम तो पड़ जाता है 'नवीननगर' परन्तु उसका उद्घाटन चूँकि किसी नवी साहब डिप्टी मिनिस्टर के द्वारा होता है अतः विधिवत् कागज पर नामकरण हो जाता है नबीनगर। रामदरश मिश्र की कहानी 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' में भुखमरी और चारों ओर फैली मृत्यु-गंध के बीच मंत्री का रेडियो भाषण होता है कि जनता का मनोबल बहुत ऊँचा है। श्राव-यिता को उसी संदर्भ में स्मरण आता है सेठ की बेटी और मंत्री जी के बेटे की शादी वाले दिन का विशाल भोज। उसे दिल्ली के मंत्री, क्षेत्रीय विधायक और गाँव के भूतपूर्व जमींदार में एक रोमांचक किन्तु रहस्यमय समानता का आभास होता है और स्वराज्य की विसंगतियों में डूब जाता है। शिवानी की कहानी 'पुष्पहार' में स्पष्ट है कि निर्माण वहीं होता है जहाँ मंत्री का वैयक्तिक सम्बन्ध है। मंत्री अपनी प्रेमिका के निर्जन गाँव को हवाई-द्वीप बना देता है। यह और बात है कि कल जिसका स्वागत 'पुष्पहार' से होता था, आज उसपर लात-जूते बरस रहे हैं। चुभता हुआ सम्वेदनीय चित्र है मन्नू भंडारी की कहानी 'नकली हीरे' शीर्षक कहानी में। दो बहनों में से एक भूतपूर्व मिनिस्टर-पत्नी तथा एक अध्यापक-पत्नी है और नव सत्तावाद और गत गाँधीवाद की टकराहट तब उभरती है जब दोनों में साक्षात्कार होता है। मिनिस्टर पत्नी के अहंस्फीत सम्मान और स्तर-बोध उसे मुक्तभाव से मिलने नहीं देता है। व्यंग्य खुलता

१. 'परती : परिकथा' की पृष्ठभूमि।

है कि भूतपूर्व मंत्री की पत्नी जब अपनी बहन से नहीं मिल पाती है तो वर्तमान मंत्रीगण अपनी जनता से कैसे मिल पायेंगे ? वास्तव में कथा-साहित्य में अभी गाँव के परिप्रेक्ष्य में मंत्री महोदय का चित्र विशालता और गंभीरता के साथ अंकित हुआ नहीं है। 'कलावे' में चित्रकूट की प्रधान मंत्री नेहरू-सभा का चित्रण भी सांस्कृतिक कार्यक्रम के संदर्भ में हुआ है। हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यास 'नदी फिर बह चली' में गाँव में प्रधान मंत्री की सभा की चर्चा है जिसमें हल्ला करने वालों को गिरफ्तार किया जा रहा है। एक ही सत्ता-लोकतंत्र-के एक सबसे निचले छोर पर गाँव की सामान्य जनता है और दूसरे सर्वोच्च छोर पर प्रधान मंत्री है तथा दोनों के बीच इतनी भयंकर दूरी है कि भारतीय कथाकार कहीं से कोई सूत्र भी दोनों के समन्वय का ढूँढ़ने में असमर्थ है। लेखक की एक कहानी 'रात की बात' में एक गरीब किसान जो जाड़े की रात कोल्हुआड़ में पड़ी ईख की पत्तियों में घुसड़कर सोते बिताता है, एक दिन वैसे सोते-सोते सोचता है कि यदि जवाहरलाल नेहरू को यहाँ लाकर इस प्रकार सुला दिया जाय तो कैसा लगेगा ? और एक मिथ की भाँति उपजी अपनी इस 'कल्पना' में वह दूरी के मज़े लेता सो जाता है।

चुनाव

गाँव की स्वातंत्र्योत्तर उखड़न और टूटन में सबसे अधिक प्रभाव चुनाव का है परन्तु जबतक किसी सशक्त कथाकार-लेखनी से इसका समग्र दृष्टि से आलेखन नहीं होता है इसकी टकराहट हिन्दी-साहित्य में अगुंजित रहेगी। एक ही समय में भीड़ की राजनीति और सामूहिक सामाजिकता आदि लेकर चुनाव आदि प्रजातांत्रिक आयामों का उद्घाटन और कथा-साहित्यगत अन्तर्मुखता और वैयक्तिकता का उभार दृष्टिगोचर होता है। राजनीति आदि प्रभावों से समाजगत परिवर्तनों की जो सूक्ष्म परख और अभिव्यक्ति-वृत्ति प्रेमचन्दयुग में रही उसका आग्रह स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में आरम्भ में तो कुछ रहा परन्तु शनैः-शनैः वह समाप्त होता गया और सेक्स सीमित नागरिक व्यक्तिबोध की बाढ़ में सब डूब गया।

उसी प्रथम उत्साह में मार्कण्डेय की कहानी 'हंसा जाइ अकेला' में प्रथम निर्वाचन की चहल-पहल का चित्रण हमारे सामने प्रस्तुत होता है :—

'गाँव में चुनाव की धूम मची थी। बाबू साहब बभनौटी के साथ कांग्रेस

का विरोध कर रहे थे। उनके पेड़ों पर इश्तहार टांग दिये जाते तो उनके आदमी उखाड़ देते। किसान बुलाये जाते, उन्हें धमकाया जाता। खेत निकाल लेने की, जानवरों को हँकवा देने की बात कही जाती और हंसा-सुशीला की कहानी का प्रचार किया जाता—'भ्रष्ट हैं सब ! इनका कोई दीन धरम नहीं है ! गन्ही तो तेली है !'

इस लघु उद्धरण में जातिवाद, जमींदारवाद, अनैतिकता, तानाशाही, पशुबल, कीचड़ उछाल नीति और गलत प्रचार-धर्मिता आदि की प्रवृत्तियों का विकास दृष्टिगोचर होता है। मार्कण्डेय ने गाँव के पुराने परिवेश में चुनाव की नवइयत का बहुत ही तटस्थ अंकन किया है। हंसा में निहित अधकचरे ग्रामीण कांग्रेस-कर्मियों का प्रारंभिक उल्लास बहुत मार्मिकता से कहानी में चित्रित है। हंसा स्वयंसेविका सुशीला के प्रभाव से स्वयंसेवक बना था। उसका भाषण होता है—

'पूड़ी मिठाई राजा के तम्मू में खाओ, खरचा-खोराक बाबू साहब से लो और मोटर में बैठो। लेकिन कांगरेस का बक्सा याद रखो।'[1]

इस चुनाव-संदर्भ से स्पष्ट है कि गीतों से उतर कर गांधी-जवाहर का नाम लोकगीतों में गूँजने लगा। प्रथम निर्वाचन की बहती दरिया में हाथ धोने के लिए राजे-महाराजे उतरे परन्तु जनता ने उन्हें धक्का दे दिया। प्रथम चुनाव पूरी तरह गाँधी के प्रभाव से जीता जाता है। गाँव-घर में उस नाम की सार्थक गूँज इस कहानी में चित्रित है। कहानी में गाँव का वातावरण नयी राजनीति के प्रथम सम्पर्क में बहुत सजग चित्रित है। किन्तु यह सजगता अन्ततः बहुत ही सत्यानाशी सिद्ध होती है। रामदरश मिश्र की कृति 'जल टूटता हुआ' पंचायत-राज की सफलताओं की आदर्शवादी अथवा गांधीवादी ध्वनियों से आपूरित है परन्तु समूचा प्रजातांत्रिक सुन्दरताओं का 'जल' वहाँ भयंकर टूटनों में बहता दृष्टिगोचर होता है जहाँ राष्ट्र-द्रोही ग्राम-शक्तियाँ राष्ट्र-सेवक का बाना धारण कर मैदान में आ जाती हैं। कथाकार बहुत कुशलता के साथ उसकी चर्चा मात्र करके छोड़ देता है कि महीपसिंह एम० एल० ए० के लिए खड़े होंगे और अब वे अपना सारा समय कांग्रेस-संघटन और चन्दावसूली में दे रहे हैं। उपन्यास का पाठक अनुमान कर सकता है कि महीपसिंह का

---

१. 'हंसा जाइ अकेला', पृ० ७६।

एम० एल० ए० हो जाना असंभव नहीं है। स्वराज्य के बाद कांग्रेस की बाग-डोर इन्हीं जैसे अवसरवादी लोगों के हाथों में आ गई। गाँव के शोषकों ने सेवक की टोपी पहन ली। रामदरश मिश्र ने उपन्यास में सरपंची और ग्राम-पंचायत के चुनाव और उसके परिणामों को बहुत बिखराव के साथ इस प्रकार समेटा है कि उसमें आमचुनाव का घालमेल यदि होता तो बहुत बोझिल हो जाता। भूतपूर्व जमींदार के भावी नेतृत्व का संकेत ही पर्याप्त है। जब निरा-मिष आदर्शवादी सरपंच सतीश सफल होकर भी टूट रहा है तो सिर उठाता है उसका विरोधी बर्बर भूतपूर्व जमींदार अवसरवादी महीप सिंह और वह भी एक विशाल समुदाय के छद्म-सेवक के रूप में।

भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'सती मैया का चौरा' में भी प्रथम दौर की आशावादिता है। यद्यपि चुनाव के घहराते ही ग्रामीण विवादों के गड़े मुर्दे उखाड़ कर खड़े कर दिये जाते हैं और भीषण वर्ग-संघर्ष तक स्थिति पहुँच जाती है तथापि उपन्यास-नायक मन्ने की आस्था टूटती नहीं है। वह सोचता है कि 'अब गाँव की जनता जाग रही है, किसान जाग रहे हैं, उन पर जो बड़े-बड़े लोगों का प्रभाव था, तेज़ी से नष्ट हो रहा है, वे अपनी शक्ति पहचानने और अपने अधिकारों के लिए लड़ने लगे हैं।'[1] वास्तव में मन्ने के उत्साह में आशावाद के साथ-साथ आदर्शवाद का मिश्रण है। बाद की वस्तुस्थितियाँ और मोड़ लेता पर इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मन्ने जैसे उत्साही ग्राम-पुत्रों के सपने सफल नहीं हुए और गाँव तथा किसान का नव-जागरण चुनाव के संदर्भ में बहक कर पथभ्रष्ट हो गया। ग्रामीण अपनी शक्ति और अपने अधिकारों की पहचान के साथ जड़ सामन्तवादी शोषक शक्तियों से लड़ने के स्थान पर आपस में ही लड़ने लगे। यही देखकर 'अँधेरे के विरुद्ध' का उपन्यास-कार वोट और चुनाव को इस रूप में स्मरण करता है जैसे वह गाँव में एक सत्यानाशी मनसायन, विषाक्त जागरण और प्राणान्तक उलझाव बन कर उतरा है![2]

कथा-साहित्य में अंकित चित्रों में एक मनोवृत्तिगत समसामयिक पकड़ इस प्रकार की लक्षित होती है कि मतदाताओं पर होते हुए भी पशुबल, दबाव,

---

१. 'सती मैया का चौरा', पृ० ७०३।

२. 'अँधेरे के विरुद्ध', पृ० १८९।

प्रलोभन, प्रवंचना और धनपूजा का प्रभाव समग्र निष्कर्ष के रूप में वे अवांछित तत्त्वों को झटक कर फेंक देते हैं। राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यास 'सूरज किरन की छाँव' में द्वितीय आम चुनाव का चित्रण है। कांग्रेस की सीट से पटेल खड़ा है और उसके विरोध में पादरी निर्दलीय उम्मीदवार है। पादरी वास्तव में देशद्रोही है। वह अपने धन-बल और व्यक्तिगत दबाव से वोट क्रय कर लेना चाहता है। दबे लोगों से आश्वासन भी मिलता है परन्तु अन्ततोगत्वा वह अपेक्षाकृत संतुलित उम्मीदवार पटेल की टक्कर में पराजित हो जाता है। लेखक की कहानी 'नयी कथा'[1] वास्तव में चुनाव की कथा है जिसे एक गाँव का लड़का अपने दादा से सुनता है। वह सुनता है कि किस प्रकार गाँव का एक व्यक्ति जो कानपुर में व्यापार करके वहाँ धन्नासेठ बना है चुनाव आते ही गाँव में आकर अड्डा जमाता है तथा गाँव के तमाम चोर-चाई, गुंडे और लफंगों का गिरोह बनाकर पैसे के बल पर प्रभाव और आतंक की एक जबरदस्त हवा बना देता है। लगता है जीत निश्चित होगी परन्तु एक वोट से हार जाता है। कहानी में चुनाव-प्रचार का वातावरण विश्लेषण दृष्टि से देखने पर संकेत करता है कि लाखों भटकाव होने पर भी सामूहिक जन-मानस दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है। पैसे के बल पर चुनाव, वैयक्तिक स्वार्थ-सिद्धि और दुष्टों का आगे आकर भ्रामक प्रचार करना सब एक सीमा तक ही लाभप्रद सिद्ध होता है। जनता हीनदशा में अवश्य है और सफेदपोश राजनीतिज्ञों के आगे दब अवश्य जाती है परन्तु अन्तश्चेतना न तो हीन होती है और न वह दबती है। तीन-चार चुनावों की भुक्तभोगी जनता में इधर और नयी सजगता का विस्तार हुआ है। राजनीतिक मंच पर जन-सेवियों का नग्न-नृत्य देखकर उसके भीतर जिस वृत्ति का गंभीरता के साथ विकास हुआ है वह है उदासीनता की वृत्ति। यदि आधुनिक कथा-साहित्य गाँव से कटा नहीं होता तो राजनीतिक पार्टियों के प्रति सर्वसाधारण जनता की इस 'उदासीनता' का जो चित्र आता निस्सन्देह बहुत ही प्रभावशाली होता और उसमें समसामयिकता के साथ आधुनिकता के अनेक आयाम सहज ही उद्घाटित हो जाते।

---

१. 'आज', २७ मई, ३ जून और १० जून सन् १९५९ में क्रमशः प्रकाशित।

राजनीतिक पार्टियाँ

'अलग-अलग वैतरणी' को छोड़कर प्रायः सभी नये उपन्यासों में जो ग्राम-जीवन पर आधारित हैं राजनीतिक पार्टियों की क्रियाशीलता अंकित हुई है। 'अलग-अलग वैतरणी' में राजनीतिक पार्टियाँ तो नहीं हैं परन्तु राजनीति है, बहुत सूक्ष्म और प्रतीकात्मक। वर्ग-संघर्ष में सरूप भगत जैसे साधु हरिजन-सरदार का मारा जाना[1] भी पर्याप्त सांकेतिक है। सरूप भगत में गाँधी की प्रतिछाया है और जगन मिसिर में राममनोहर लोहिया की। नगर से (भाड़े पर) नेताओं का आना[2] और उनका खा-पीकर समस्या से बिना टकराये चला जाना भी एक (सस्ती) राजनीतिक पार्टी पर गंभीर सांकेतिक व्यंग्य है। राजनीतिक पार्टी में कांग्रेस पार्टी है जिसका अधकचरा हरिजन नेता अपने को बहुत उपेक्षित अनुभव करता है। कथाकार उनकी मनोवृत्तियों का शब्दचित्र इस रूप में प्रस्तुत करता है 'तीन चार वर्षों के भीतर गाँव की माटी ने सुखदेव राम को काफी भोथर कर दिया था। अपनी 'पाल्टी' के लोगों ने भी उनकी उपेक्षा करके उनका रहा-सहा रुतबा भी छीन लिया।'[3] 'जल टूटता हुआ' में समाजवादी रामकुमार और कांग्रेसी सतीश पंचायत चुनाव में एक ही मंच पर कार्यरत दृष्टिगोचर होते हैं। रामकुमार में समाजवादी सिद्धान्तों का निखार नहीं है और न ही उसके क्रियाकलाप से उसका कोई प्रकाशन होता है। वह सिद्धान्तच्युत अवसरवादी के रूप में भी दिखाई पड़ता है किन्तु सतीश में आदि से अन्त तक गाँधीवादी आदर्श की अभिव्यक्ति मिलती है। सतीश का आत्म-पीड़न भी कथाकार द्वारा वर्तमान परिवेश के अनुरूप अंकित किया जाता है! वह गाँव का प्रबुद्ध सरपंच है, वह अपने खेत में मजदूर की तरह खटता है, फटा कुर्ता पहनकर भी हीन भावों से बचता रहता है और जड़ सामाजिक शक्तियों का प्रहार सहता है। लेकिन, राजनीति के साथ गाँव में प्रविष्ट इन जड़ शक्तियों को कोई रोक नहीं सकता है। 'राग दरबारी' में ये गाँव की राजनीति बनाम कालेज की राजनीति बनकर उभरी हैं और पार्टीबन्दी का चरम निखार दृष्टिगोचर होता है।

---

१. **'अलग-अलग वैतरणी' पृ० ६१८।**

२. **वही, पृ० ६०३।**

३. **वही, पृ० ६६।**

पार्टी लाइन पर ग्राम-जागरण और राजनीतिक उन्मेष सबसे अधिक रेणु में मिलता है। डाक्टर सुषमा धवन का कथन है कि 'रेणु ने गाँधीवाद और साम्यवाद दोनों से प्रेरणा ग्रहण की है।'[1] विशेष कर 'परती : परिकथा' को तो राष्ट्रव्यापी कांग्रेसी आन्दोलन का उभार ही गाँव के परिप्रेक्ष्य में कहा गया है।[2] किन्तु यह आन्दोलन पूर्णरूपेण सिद्धान्त विहीनता को प्रश्रय देता है जो शिक्षादि में पिछड़े ग्रामपरिवेश के अनुकूल हैं। पारस्परिक वैर-शोधन 'कांग्रेस के ज़रिये नहीं तो किसी भी पार्टी की मदद से' सम्पन्न कराने की अन्ध आतुरता ग्राम नेताओं में देखी जाती है![3] लुत्तो स्पष्ट कहता है कि वह 'मिसिर के बेटे को दागने के लिए ही तो कांग्रेस में आया है।'[4] राजनीतिक धुरीहीनता और भम्भड़ को दृष्टि से रेणु का परानपुर सम्पूर्ण भारत का प्रतिनिधि चित्र हो जाता है। गाँव में कांग्रेस पार्टी की जो स्थिति है वही कम्यूनिस्ट पार्टी की है। पीताम्बर झाने 'दाढ़ी रखकर, नाम बदलकर, मकबूल बनकर मुसलमान टोले में काम करना शुरू किया।'[5] 'कामरेड दीनदयाल तिवारी को अपना डी० डी० टी० नाम बहुत पसन्द है।'[6] इस प्रकार नाम-रूप के वैचित्र्य के साथ दलितोन्मेष के लाल झंडे के नीचे खाते-कमाते लोग इस पार्टी को ग्राम-स्तर पर पूर्ण सक्रिय बनाये हैं!

सन् १९४६-४७ के समसामयिक राजनीतिक-परिवेश पर आधारित रेणु के प्रसिद्ध उपन्यास 'मैला आँचल' में ग्राम स्तर पर पार्टियों का महत्वपूर्ण त्रिकोण कुशलता के साथ अंकित है। इसमें तीन पार्टियाँ कांग्रेस, सोशलिस्ट और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सक्रिय हैं। मेरीगंज जैसे पिछड़े गाँव में 'आधुनिकता' का प्रवेश इन्हीं पार्टियों के द्वारा होता है। फिर भी उपन्यास में चित्रांकित घटनाक्रम और सन्दर्भों से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि पार्टी-स्पिरिट को समझने में गाँव सर्वथा अक्षम है। गाँव के बौद्धिक स्तर का

---

१. हिन्दी-उपन्यास, पृ० ८६।
२. हिन्दी उपन्यास कला, डा० प्रतापनारायण टंडन, पृ० ३५०।
३. 'परती : परिकथा' पृ० ४४।
४. वही, पृ० ९७।
५. वही, पृ० १६४।
६. वही, पृ० १६६।

परिचय इस एक साधारण घटना से लग जाता है कि 'इन्कलाब जिन्दाबाद' की जगह जलूस में लोग नारा लगाते हैं 'एनकिलास जिन्दाबाघ' और मामा नाम के एक समझदार सज्जन लोगों को इसका अर्थ समझा रहे हैं कि हम जिन्दा बाघ हैं ![१] सबसे अधिक विचित्र गति कांग्रेस-पार्टी की है। गाँव का अपढ़ कांग्रेस-कर्मी गांधीवादी सेवाव्रत और ग्राम-सुधार की हवा बाँध देता है[२] और गाँव में मेल-जोल बढ़ जाता है[३] किन्तु देशव्यापी कांग्रेस की गिरावट, कोटा-परमिट आदि के भ्रष्टाचार की गूँज[४] नये प्रगतिशील नारों की ओर आकर्षण बढ़ाती है। कालीचरन नामक एक तगड़ा नौजवान समाजवादी पार्टी के साथ उभरता है।[५] राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ की भी आहट मिलती है।[६] ये पार्टियाँ अपने प्रगतिशील प्रोग्राम के साथ उभर रही हैं। कांग्रेसी बालदेव को आजीवन हिंसावाद की शिकायत से अवकाश नहीं मिला। इसे लेकर लोगों के व्यंग्यबाणों का उसे शिकार भी बनना पड़ता है।[७] उसके सहयोगी सुराजी बावनदास को 'भारथमाता' की रुलाई से अधिक कुछ सुनाई नहीं पड़ता था[८] और तीसरे सुराजी चुन्नी गोसाई के लेखे 'चर्खा-कर्घा, झंडा तिरंगा और खद्दर को छोड़कर सभी चीजें मिथ्या हैं। सुदेसी बना, विदेसी बैकाठ !'[९] राजनीति में भावुकता का कोमल मिश्रण है। गांधी जी के नाम पर 'मुठिया' निकलती है, भूखे बच्चों का पेट काट कर भी ![१०] किन्तु नयी परिवर्तित स्थितियों में अपने प्रगतिशील कार्यक्रमों के बल पर समाजवादी कालीचरण गाँव की अधिक सेवा कर पाता है[११] और विश्वास-भाजन बनता जाता है।

---

१. 'मैला आँचल', पृ० ४५।
२. वही, पृ० ३७।
३. वही, पृ० ४०।
४. वही, पृ० १२७।
५. वही, पृ० १११।
६. वही, पृ० १३५।
७. वही, पृ० २४३।
८. वही, पृ० १५८।
९. वही, पृ० १५९।
१०. वही, पृ० १६३।
११. वही, पृ० १७७।

जनवादी मोर्चा

'रीछ' में कांग्रेस और साम्यवादी पार्टी का संघर्ष है। मुख्य नायक कामरेड विमल नगर में पढ़ता है और गाँव में आकर राजनीति करता है। वह समझौतावादी है और उग्र-साम्यवादी जमीदार ठाकुर की हवेली जलाने की योजना बनाते हैं तो वह इस हिंसावाद को दबे-दबे विरोध करता है परन्तु उसकी चलती नहीं है और यह काण्ड होकर रहता है। अन्त में विमल की बलि से चाँदसी गाँव में उतरा 'स्वराज्य' साम्यवादी आन्दोलन की विजय का द्योतक हो जाता है। नये कथा-साहित्य में 'रीछ' का साम्यवादी प्रचार उच्चस्तरीय है। अंकन में प्रामाणिकता है और कथा में तराशहीन सरलता है। तो भी उपन्यासकार विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की तटस्थता संदिग्ध प्रतीत होती है। कांग्रेसी गणेश का चित्र अत्यन्त विरूप स्थिति में पक्षधरतापूर्वक ग़लत कोण से उठाया गया है और इससे कथाकार का साम्यवाद पर बल दे देना प्रकट हो जाता है।

संघबद्धता की वृत्ति

वर्तमान राजनीति में संघबद्धता की विशेषता है और इसका प्रभावशाली किन्तु अजटिल रूप में सर्वाधिक प्रयोग नागार्जुन के उपन्यासों में हुआ है। नागार्जुन समाजवादी यथार्थ के प्रस्तोता हैं। इनका दृष्टिकोण प्रगतिशील है। सर्वहारा क्रान्ति, जनवादी मोर्चा और संयुक्त मोर्चाओं जैसे विषयों का उनमें अत्यन्त सहज भाव से प्रस्तुतीकरण हो जाता है। सन् १९५२ में नागार्जुन कांग्रेसी हैं, और उनका 'बलचनमा' कांग्रेस का स्वयंसेवक है। गांधीवादी प्रभाव गाँव में बिखर रहा है। सन् १९५४ में प्रकाशित 'बाबा बटेसर नाथ' में वे जनवादी मोर्चा संभाल रहे हैं और कांग्रेसी व्यंग्य के शिकार बन रहे हैं। कांग्रेस मृत हो चुकी है और गाँव में वह भ्रष्टाचार का पर्याय हो गई है।

संभवतः जनवादी मोर्चों का यह खोखलापन है जो उन्हें १९५७ में सर्वोदयी विचारधारा से प्रभावित 'दुखमोचन' के रूप में प्रकाशित करता है। सन् १९६० के बाद पूर्णरूपेण मोहभंग हो जाने पर वे जनता की अपनी सामूहिक संघबद्ध शक्तियों का आह्वान 'बरुण के बेटे' (१९६६) और 'नई पौध' (१९६७) में करते हैं। 'बरुण के बेटे' में 'हिन्द-हितकारी-समाज' की स्थापना होती है और गाँव में परिवर्तन आता है। 'नई पौध' में नौजवानों की एक

'बम-पार्टी' है जो गाँव में व्याप्त चतुर्मुखी भ्रष्टाचार को रोकने में सक्रिय है। नागार्जुन गाँव की महिलाओं को भी राजनीतिक क्षेत्र में उभार रहे हैं। 'हिन्द-हितकारी समाज' में संघर्ष और समाजवादी आन्दोलन की प्रेरणा माधुरी नाम की एक ग्रामबाला से बल पकड़ती है और 'बम-पार्टी' को बिसेसरी दृढ़ बनाती है। 'रतिनाथ की चाची' में नागार्जुन ने 'किसान-कुटी' के संगठन को उठाया है। 'बलचनमा' में 'सुराजी-आश्रम' है ही और 'बाबा बटेसर नाथ' में कथाकार 'नौजवान-संघ' प्रस्तुत करता है। इस प्रकार गाँव में राजनीति का प्रवेश सभा-संगठनों के माध्यम से प्रस्तुत कर नागार्जुन ने उसका एक रचनात्मक रूप प्रस्तुत किया है। समाजवादी यथार्थ की अभिव्यक्ति होते हुए भी उसमें प्रचारात्मकता नहीं है और न ही उसमें किन्हीं सिद्धान्तों का बोझिल प्रक्षेपण है।

किसान आन्दोलन

भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'सती मैया का चौरा' में दो राजनीतिक पार्टियाँ कांग्रेस और जनसंघ हैं परन्तु कथाकार द्वारा सच्चे अर्थ में राजनीतिक संघर्ष का ग्रामीकरण 'गंगा मैया' में होता है जहाँ वह समाजवादी आन्दोलन का झंडा मटरू किसान के हाथ में थमाकर ललकारता दृष्टिगोचर होता है। मटरू में मोर्चा बनाकर लड़ने का संकल्प उठता है[1] और वह शोषक-वर्ग (जमींदारों) के प्रत्येक ईंट का उत्तर पत्थर से देने के लिए उदग्र दृष्टिगोचर होता है।[2] 'भैरवप्रसाद गुप्त का 'गंगा मैया' समाजवादी चिन्तन से प्रेरित माना जाता है। इस लघु उपन्यास (१९५३) की रचना से पहले वह 'मशाल' (१९५१) में श्रमिक वर्ग के संघर्ष का सैद्धान्तिक स्तर पर चित्रण कर चुके थे। अब वह देहाती-जीवन को अपनी रचना का विषय बनाते हैं। इसके पहले 'गोदान' में होरी मर चुका है, परिस्थितियों से परास्त हो चुका है। इस तरह किसान का परास्त होना समाजवादी जीवन दृष्टि को अखरता है। उसे फिर से जीवित करने के लिए 'बलचनमा' की रचना की गई और 'गंगा मैया' में मटरू किसान को खड़ा करने का प्रयास किया गया है।'[3] इसी क्रम में किसान-

१. 'गंगा मैया', पृ० ५३।
२. वही, पृ० ३३।
३. आज का हिन्दी उपन्यास—डा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ५६।

सभाओं का गठन भी द्रष्टव्य है। नागार्जुन के 'बलचनमा' में एक स्वामी जी हैं (संभवतः स्वामी सहजानन्द सरस्वती हैं) जो कांग्रेस-मंच से पृथक् किसानों को जगा रहे हैं और अपने स्वत्व के लिए संघर्षशील किसान-सभाओं के रूप में संगठित हो रहे हैं। 'रीछ' में तो विमल के द्वारा विधिवत् 'किसान-सभा' का प्रस्ताव आता है जिसका विरोध जमींदार-वर्ग और कांग्रेसी करते हैं।[1]

निष्कर्ष

इस अध्ययन से एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि राजनीति और राजनीतिक पार्टियों की क्रियात्मकता के संदर्भ-चित्र स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में नहीं उभरे हैं। जो कुछ भी राजनीतिक संघर्ष की गूँज अनुगूँज सुनाई पड़ती है वह उपन्यासों तक ही सीमित है। वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर कहानियों ने नहीं, ग्रामजीवन की नवपरिवर्तित स्थितियों और नवाकार ग्रहण करते आयामों का स्पर्श उपन्यासों ने ही किया है। सन् १९६० के बाद की कथाकार-पीढ़ी जबकि पूर्णरूपेण ग्राम-विमुख हो गई है, इस कालावधि में सृष्ट ग्राम-भित्तिक उपन्यास ही हिन्दी के श्रेष्ठ, सर्वश्रेष्ठ और मानक उपन्यास हो जाते हैं। निस्सन्देह भारतीय-जीवन का चित्रण वह नहीं है जो ग्राम-जीवन से कटा है और न ही वह समग्र आधुनिक जीवन-चित्र है जो राजनीति से कटा है। स्वतन्त्रता के बाद गाँव-गँवई के जड़ और मृत परिवेश में राजनीति ने जो प्रवेश किया और उसकी प्रतिक्रिया में जो एक अंध-जागृति, आन्तरिक-टूटन, निरर्थक सक्रियता और अधकचरी नागरिकता आई वह आज का एक विशाल ज्वलन्त सत्य है। इस सत्य से आँख मूँद कर नगर के चायघर और ड्राइंग रूम में सिमटे साहित्य और साहित्यकार को सन्तुलन के लिए गाँवों की ओर लौटना होगा।

वर्ग-संघर्ष

राजनीतिक संदर्भों की ही भाँति वर्ग-संघर्ष भी नये कथा-साहित्य में उपन्यासों तक ही सीमित है। कहानियों में उसके चित्र बहुत कम उभरे हैं। वास्तव में गाँवों में राजनीतिक उन्मेष का ही परिणाम वर्ग-संघर्ष है। प्रगति-

---

१. 'रीछ' पृ० ४६४।

शील मार्क्सवादी विचारधारा के प्रसार के साथ सामाजिक यथार्थ को पुरस्कृत-प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति बढ़ी और नागार्जुन तथा भैरवप्रसाद गुप्त आदि कथाकारों में शोषित-पीड़ित जनता का स्वत्व-संघर्ष उत्कर्षित हुआ। आंध्र प्रदेश के किसान-आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर कृश्नचन्दर ने भी 'जब खेत जागे' नामक उपन्यास की रचना की और बिट्टी (खेत मजदूरों) का नवोन्मेष चित्रित हुआ। भूमिहीन और भूपतियों के इस संघर्ष का सूत्रपात स्वतन्त्रता के पूर्व ही हो गया था किन्तु स्वराज्य के बाद जमींदारी उन्मूलन आदि से दलित लोगों में जो आत्म-विश्वास जगा उसने इस संघर्ष को 'वर्ग-संघर्ष' का रूप देकर कहीं-कहीं राजनीति से जोड़ दिया। भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'गंगा मैया' में ऐसा ही वर्ग-संघर्ष है। मटरू जननेता होकर किसानों की ओर से शोषक जमींदारों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा फहराता है। संघर्ष के मूल में साम्यवादी चेतना है।

रामदरश मिश्र के उपन्यास 'पानी के प्राचीर' में चमारों और ब्राह्मणों के बीच जमकर संघर्ष होता है और बहुतेरे चमार घायल होते हैं। तब अभी स्वराज्य नहीं हुआ है। घायल चमार बैलगाड़ियों पर लदकर अस्पताल में भर्ती होने और मुकदमा करने गोरखपुर चलते हैं, किन्तु आधी दूर से ही उनका नेता गनपत उन्हें समझा-बुझा कर लौटा लाता है। उसका कहना है...'बैजू ने नहीं मारा फेंकू जी, अंगरेजी सरकार ने मारा है।...यह जमींदार-आसामी का फर्क बना रखा है। अगर अंगरेजी सरकार हट जाय, कांग्रेसी सरकार हो जाय तो भाई-भाई आपस में लड़ें ही नहीं!'[1] किन्तु स्वराज्य हो जाने, अंगरेजी सरकार के हट जाने पर भी जब यह विषमता मिटती नहीं है तो संघर्ष की स्थितियाँ अपरिहार्य हो उठती हैं। रामदरश मिश्र जी के स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में जमींदारी टूटकर भी बनी रह जाती है और अत्याचार के चरम बिन्दु पर असामी जगपतिया को अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए ग्राम-परित्याग करना पड़ जाता है। वह कलकत्ते में जाकर ट्रेड यूनियन का नेता हो जाता है और नये रंग में रँग जाता है। वह लाल झंडे के साथ क्रान्ति का संदेश लेकर गाँव में प्रत्यावर्तित होता है और फिर तो पुराने मालिक महीपसिंह से उसकी ठन जाती है। नये नारों के साथ नयी विस्फोटक राज-

---

१. 'पानी के प्राचीर', पृ० १८४।

नीतिक मोर्चेबन्दी के आगे महीपसिंह का पुराना घुना हुआ दल दबक जाता है। कथाकार इस अवसर पर सदियों के दलित लोगों में एक नयी उफनती ओजस्विता देखता है जिसमें युगीन आँच है। इस प्रकार इस सीधे संघर्ष में विजयी होकर जगपतिया खेत काट लेता है।[१]

नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' और 'वरुण के बेटे' में वर्ग-संघर्ष का अत्यन्त सहज रूप चित्रांकित हुआ है। बलचनमा के भीतर जो संघर्ष का संकल्प उठता है वह बहुत ही मार्मिक है और वाह्य-स्थितियों का आन्तरिक विस्फोट है। वह सोचता है, 'जैसे अंगरेज बहादुर से सोराज लेने के लिये भैया लोग एक हो रहे हैं, हल्लागुल्ला और झगड़ा-झंझट मचा रहे हैं, उसी तरह जन-बनिहार, कुली-मजदूर और बहिया-खवास लोगों को अपने हक के लिये बाबू भैया से लड़ना पड़ेगा।' फिर तो यह लड़ाई होकर ही रहती है और बलचनमा इस संघर्ष में आहत होता है। कथाकार शोषित धरती-पुत्रों के संगठन का चित्रण बहुत सहानुभूतिपूर्ण करता है।[२] 'वरुण के बेटे' में संघर्ष गढ़पोखर के लिए है और मछुआरे एक जुट कर होकर जमींदारों के सामने डट जाते हैं। संघर्ष में स्त्रियाँ भी योगदान करती हैं।[३] नागार्जुन के 'बाबा बटेसरनाथ' में वर्ग-चेतना का उभार बहुत प्रभावशाली ढंग से हुआ है। रेणु के 'मैला आँचल' में सत्ता, सुविधा और सम्पत्तिशाली भूपति-वर्ग की मुजाहमत संथालों के साथ चित्रित है और सिर उठाते संथाल लाठियों के बल पर बेदखल कर दिये जाते हैं।[४] 'रीछ' में भी वर्ग-संघर्ष का एक हलका विस्फोट होता है और जमींदारों के आगे साहस-पूर्वक आने वाले नट हैं जिनकी सामूहिक पिटाई इस प्रकार सम्पन्न होती है कि वे पस्त हो जाते हैं।[५] वर्ग-संघर्ष कथाकार हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यास 'लोहे के पंख' में भी है पर वह मिल मालिक बनाम मजदूरों का संघर्ष है। जिसका नायकत्व सर्वहारा विद्रोही मंगरू चमार के हाथों होता है। कथाकार के कोमल ग्रामगंधी उपन्यास 'नदी फिर बह चली' में वर्ग-संघर्ष कृषि-

---

१. 'जल टूटता हुआ', पृ० ३७९।
२. 'बलचनमा', पृ० १९६।
३. 'वरुण के बेटे', पृ० १२४।
४. 'मैला आँचल', पृ० २४६।
५. 'रीछ' पृ० ६८४।

भूमि पर उतरा है। खेतिहर मजदूरों के इस संघर्ष में उपन्यास की नायिका परबतिया बलि चढ़ जाती है। जयसिंह के उपन्यास 'कलावे' में जमींदार और भीलों का संघर्ष है। यह बिना किसी नेता के स्थितियों के सहज विस्फोट का परिणाम है। आरम्भ में तो भील गोफन मार-मार कर जमींदार के लोगों को भगा देते हैं परन्तु दूसरी बार जमकर लगी जमीदार-शक्ति के आगे वे उखड़ जाते हैं और उनका सारा गाँव जमींदार के आदमियों द्वारा जला दिया जाता है। कथाकार इस स्थल पर एक बहुत ही मर्मस्पर्शी संकेत करता है। जब सारा गाँव जल कर गहन निर्जनता और अन्धकार में डूब जाता है तो बाहर से आये वीरजा और गमेती को 'दूर पहाड़ी पर हलकी आग की रोशनी दिखाई पड़ती है।'[1] और वह रोशनी नयी आशावादिता और नव-जीवन का लक्षण होती है। हर्षनाथ के उपन्यास 'टूटते बन्धन' में जिसमें चमार-जाति के जीवन-संघर्ष को कथाकार ने रूपायित किया है, वर्ग-संघर्ष की स्थितियाँ घहराई हुई चित्रित हैं। प्रकाश सक्सेना के कहानी-संग्रह 'धरती विहँसी' में कई कहानियाँ इस आलोच्य प्रसंग में सृष्ट हैं। 'धरती की मुक्ति' और 'धरती की करवट' में चमारों और जमींदार का संघर्ष है तथा 'ढहती-गढ़ी' में किसान-जमींदार-संघर्ष है। इस संग्रह की एक कहानी 'तुल्ली नास्तिक' में वर्ग-चेतना का उभार चित्रित किया गया है।

वर्ग-संघर्ष की नयी पृष्ठभूमि

कथा-साहित्य में चित्रित उक्त वर्ग-संघर्षों में पृष्ठभूमि प्रायः आर्थिक है। इस आर्थिक-पृष्ठभूमि से परे सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक प्रश्न पर वर्ग-संघर्ष का एक रोमांचक चित्रण शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग-अलग वैतरणी' में किया है। सुरजू सिंह और चमार-पुत्री सगुनी-काण्ड के सन्दर्भ में चमारों के बारहों गाँवों के चौधुरियों की एक बटोर होती है और बहुत ऊहापोह के बाद तय होता है कि 'सुरजू सिंह कल सुबह सगुनी को अपनी पत्नी समझ कर खुद आकर चमरौटी से ले जायें, नहीं कल शाम को चमार लोग सगुनी को ले जाकर उनके घर बैठा आयेंगे।'[2] सुरजू सिंह अब क्यों मक्खी बैठने दें और

---

१. 'कलावे', पृ० २०२।
२. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ६०९।

पूर्व निश्चय के अनुसार दूसरे दिन चमारों का जलूस सगुनी को आगे लिये हुए अग्रसर होता है तो गाँव के ऊँचे लोगों के कान खड़े हो जाते हैं। चमारों के इस अहिंसक नैतिक संघर्ष का उत्तर उच्च वर्ग का युयुत्सु सामंती-रक्त हिंसक और अनैतिक आक्रमण से देने के लिए तड़फड़ा उठता है। आश्चर्य तो यह होता है (और यह वास्तव में स्वाभाविक भी था) कि इस संघर्ष के बिन्दु पर गाँव के दोनों विरोधी पार्टी-लीडर एक हो जाते हैं और चमारों के विरुद्ध उच्च वर्ग का संयुक्त मोरचा बँध जाता। चमारों का जलूस 'जब गली के मोड़ पर आया तो ठकुराने के लठैत बिना कुछ कहे-सुने उनपर टूट पड़े।'···एक तरफ चीख मचाती चमारिनें और उनके छोटे-छोटे लड़के-लड़कियाँ और दूसरी ओर स्वजनों की खैर-कुशल मनाती ठकुराने की मातायें-बहिनें!'[1] और इस संघर्ष में बलि चढ़ जाती है सरूप भगत की, हरिजन-चौधरी की! अपने हीनत्व-बोध में दबे निहत्थे फरियादियों के शान्तिमय जलूस पर जिसमें छोटे-छोटे बच्चे भी हैं, बर्बर प्रहार कराकर कथाकार ने गाँव के उच्च अहंस्फीत वर्ग-कलुष को नंगा कर दिया है। प्रहार का बिना कुछ कहे-सुने हो जाना इस बात का द्योतक है कि विषमता का बोध अपनी चरम सीमा पर है। कहना-सुनना समान लोगों के बीच होता है और समानता का गाँव में मापदण्ड 'भूमि' है। अतः इस सामाजिक प्रश्नाश्रित वर्ग-संघर्ष में मूलतः भूमिहीन और भूमिपतियों के बोध का संघर्ष है।

सर्वहारा-प्रतीक : चमार

उपलक्षित चित्रों से एक तथ्य स्पष्ट है कि इस संघर्ष में एक पक्ष प्रायः चमार जाति है। यह जाति भूमिहीन और सर्वहारा जाति का प्रतीक है जिसे स्वातंत्र्योत्तर स्थितियों में संघर्ष-रत चित्रित करके कथाकारों ने प्रजातांत्रिक मूल्यों का पुरस्करण किया है। आदिवासी और नट आदि तथा भूमिहीन कृषि-श्रमिक आर्थिक आधारों पर हरिजनों की ही कोटि में आते हैं। उच्च वर्ग का कोपभाजन यह निम्नवर्गीय सर्वहारा-समुदाय समाजवादी आन्दोलनों से उत्प्रेरित होकर अपने मानवीय अधिकारों के प्रति सजग-सचेत दृष्टिगोचर होता है। कथा-साहित्य में इस वर्ग-संघर्ष को जहाँ राजनीतिक रंग दिया गया है वहाँ

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ६१६-६१७।

प्रचारधर्मिता का आग्रह उसे किंचित् अल्पप्रभावी बना देता है। गाँवों में यह वर्ग-संघर्ष तो सत्य है किन्तु वहाँ ऐसी जागृति की सर्वहारा वर्ग की महिलायें इस संघर्ष में न केवल सहयोग-नेतृत्व प्रदान करें अपितु सिद्धान्त निष्ठा पर बलि हो जायँ सत्य से परे है और आदर्शवादिता से प्रभावित है। अन्य प्रश्नों को छोड़ वर्ग-संघर्ष को एकमेव भू-संघर्ष से ही जोड़ना भी अधूरा बोध है और ऐसी स्थिति में मात्र प्रचलन होकर यह समाजवादी यथार्थ एक साहित्यिक आदर्श हो जाता है।

नक्सलवादी-क्रान्ति

आन्ध्र के किसान आन्दोलन के बाद सर्वहारा क्रान्ति ने उग्र वर्ग-संघर्ष की जो नवीनतम संज्ञा पाई वह है नक्सलबाड़ी-क्रान्ति। 'नक्सलबाड़ी' शब्द इस संदर्भ में एक विस्फोटक प्रतीक की भाँति उभड़ा है। इसमें भूमिहीनों की हथियारबन्द क्रान्ति का आह्वान सन्निहित है। कथाकार शील की कहानी 'चाँद से गाँव'[1] तक में इसे चित्रांकित किया गया है और एक बहुत बड़े रहस्य का उद्घाटन इस क्रम में हो जाता है। अँगरेजी राज में गाँव के जो सामंत गाँधी का नाम लेने वालों को गिरफ्तार कराया करते थे, स्वराज्य हो जाने के बाद चर्खा कातने लगे और काँग्रेसी बनकर जनता का शोषण करने लगे। काँग्रेसी सरकारों के गिरने पर वे दल-बदल करने लगे और नक्सलबाड़ी-क्रान्ति की आहट मिलते ही बन्दूक-लाठी के बल पर मजदूरों का गुंडा-दल बटोर कर किसानों की फसल लुटवाने लगे। नगर के समाचार-पत्र और साम्यवादी-दफ्तरों में यह काण्ड नक्सलबाड़ी काण्ड के नाम से गूँजने लगा।

भाषावाद और जातिवाद

भाषावाद और जातिवाद शहरी आन्दोलन है किन्तु राजनीतिक प्रभाव से चुनाव आदि के संदर्भ में गाँवों में भी इनका विषाक्त रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। जातिवाद तो अपने देश से बिला रहा था। प्रजातंत्र और चुनाव ने आकर इसे पुनरुज्जीवित कर दिया। 'परती : परिकथा' में चुनाव की गोटी जातिवाद के आधार पर बिछाई जाती है। गाँव की इकाई जातियों के खण्ड में विभाजित हो गई है। एक-एक खण्ड को एक-एक राजनीतिक दलाल प्रभावित करता है।

---

१. 'सारिका' अक्तूबर सन् १९७०।

जाति के आधार पर संगठित लोग मानो भेड़ हैं। ग्रामीण समाज में जातियाँ प्रेम-विवाह को छोड़कर और कहीं दुर्लंघ्य बाधा नहीं उपस्थित करती हैं। यह जाति-बाधा है जो 'जल टूटता हुआ' में बदमी और कुंजू तिवारी के लिए और 'जाने कितनी आँखें' में सुवेगा और कमलापति के लिए दुस्तर बनी हुई हैं। किन्तु, तो भी यह बाधा वैयक्तिक स्तर की है। जातिगत सामूहिकता बाधक-विध्वंसक ही मुख्यतः रही। गाँव की जातिगत सामूहिकता की शक्ति जो स्वराज्य से पहले निरर्थक थी, प्रजातांत्रिक संख्यासुर का सहयोगी बनकर भयानक हो गई। इस परिप्रेक्ष्य में 'नदी फिर बह चली' की स्थितियों का विश्लेषण किया जाय तो इस मलिन वृत्ति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। काँग्रेसी प्रशासन, पंचायत और निर्वाचन की प्रतिस्पर्द्धाओं ने गाँव को उखाड़ दिया है। इस समस्त कलुष में एक परबतिया है जो आदर्श की निर्मलता लिए विद्यालय को भूमिदान करती है। विद्यालय के निर्माण से लेकर उसके उद्‌घाटन तक एक ओर रचनात्मक स्तर पर कुछ शुभकार्य हो रहा है और दूसरी ओर इसी संदर्भ में अशुभ-अशिव दुरभिसंधियाँ जाति-वाद के आधार पर कार्यान्वित हैं। इस सन्दर्भ में राजपूत और भूमिहार का जातिवादी विवाद राजनीतिक रंग में उभरता है जिसका चित्रण कथाकार स्पष्टता के साथ करता है। भाषावाद का राजनीतिक रंग ग्रामस्तर पर बालशौरि रेड्डी के उपन्यास 'स्वप्न और सत्य' में उभड़ा हुआ दृष्टिगोचर होता है। भाषावार प्रदेश-रचना के सिद्धान्त को लेकर तेलगू भाषा-भाषी अपने पृथक् प्रदेश स्थापना का आन्दोलन करते हैं। आलोच्य कृति का कथा-नायक भी आन्ध्र असोसियेशन मद्रास की कार्यकारिणी का एक सदस्य है। सन् १९५३ में आन्ध्र-प्रदेश निर्माण तक की आन्दोलन स्थितियों का चित्रण कथाकार ने किया है। इस आन्दोलन के ही समानान्तर एक और आन्दोलन चलता है, 'हिन्दी-विरोधी-आन्दोलन' और कथाकार ने इसका भी चित्रण बहुत विस्तार के साथ किया है। नगरों में उगे स्वातंत्र्योत्तर आन्दोलनों का जो छोर गावों में पहुँचता है वह वहाँ की मिट्टी में मिलकर विरूप हो जाता है। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' (१९४२) और 'भूमि छीनो आन्दोलन' (१९७०) दोनों गाँव की धरती से जुड़े हैं परन्तु दोनों की वृत्तियों में अन्तर है। नये आन्दोलनों में छिछली राजनीतिक स्वार्थपरता का आधिक्य है। किन्तु, नये कथा-साहित्य में आन्दोलनगत नयी हलचलों और करवटों का आलेखन नहीं के बराबर दृष्टिगोचर होता है।

साम्प्रदायिक समस्या

नये कथा-साहित्य में ग्राम-जीवन पर आधारित ऐसी कृति जिसमें साम्प्रदायिक समस्या पर संतुलित दृष्टिकोण उपस्थित हुआ है, नहीं है। वास्तव में ग्राम-जीवन से यह समस्या जुड़ी हुई है ही नहीं। गाँव की परंपरा हिन्दू-मुसलिम मेल की परम्परा है। समस्या वहाँ है जहाँ द्वन्द्व और संघर्ष है और मुख्यतः यह देश-विभाजन और तज्जन्य नर-संहार एवम् उसकी प्रतिक्रियाओं से सम्पृक्त है। इससे सर्वथा विपरीत वह अराजनीति प्रभावी स्थिति है जब शताब्दियों तक गाँव में दोनों जातियाँ एक दूसरे के दुख-सुख में सहभागी बनकर शान्तिपूर्वक निवसती आयीं। ताराशंकर वन्द्योपाध्याय ने 'गणदेवता' में इनके इस रूप को बहुत मार्मिकता से उकेरा है। 'धर्म-कर्म, पर्व-त्यौहार और विवाहादि सामाजिक कामकाज दोनों समाजों में परस्पर न्यौता-पिहानी और लौकिकता का भी आदान-प्रदान चलता था——विशेष रूप से शादी-ब्याह में दोनों तरफ का काफी सहयोग रहता था।...ब्याह में वे लोग चौक-चुमौना दिया करते थे। हिन्दुओं के पूजा-पाठ के अवसर पर जब पूजा हो चुकती तो वे लोग मूर्ति देखने आया करते, प्रतिमा-विसर्जन के जलूस में शामिल होते। एक समय था कि मसान (प्रतिमा विसर्जन) का जलूस मियाँ साहबों के दहलीज तक जाता था।...उनके मुहर्रम का अखाड़ा भी हिन्दुओं के गाँव में आता था।...उन दिनों हिन्दुओं के पूजा-पर्व के बजनिये, प्रतिमा ले जाने वाले कहार, नाई आदि के लिए पूजा के बाद मियाँ साहबों के सिरिश्ते से वृत्ति देने की व्यवस्था थी।'[1] 'गणदेवता' का यह मेल 'आधा गाँव' तक चला आया है और राही साहब के गाँव गंगौली में ताजिये के अवसर पर हिन्दुओं का हार्दिक सहयोग दिखाई पड़ता है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'किसी पाँखें'[2] में मुख्य स्वर दोनों जातियों की एकता का है। किन्तु, नये विषाक्त राजनीतिक प्रभाव दोनों के मन में दरार डाल देते हैं। इस दरार को लेकर भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'सती मैया का चौरा' का एक कथानक अत्यन्त व्यथित और संक्षुब्ध दृष्टिगोचर होता है।

उक्त उपन्यास में हिन्दू और मुसलिम दो परिवारों के बालक मुन्नी और

---

१. 'गणदेवता', पृ० ३२६।

२. 'मुरदा सराय' में संकलित।

मन्ने शैशवावस्था के विद्यालयीय जीवन से ही अभिन्न मित्र हैं और आगे धर्म तथा सम्प्रदाय के नाम पर आने वाली बड़ी-बड़ी बाधाओं के होते भी अभिन्न बने रहते हैं। मन्ने उस मुसलिम जमींदार का पुत्र है जो कैलसिया चमाईन का उस संकटकाल में आँसू पोंछता है जब हिन्दू जाति का कोई भी व्यक्ति उसका सहायक नहीं रह जाता है। मन्ने एक सच्चा मनुष्य बनकर जीना चाह रहा है परन्तु इसमें उसका मुसलमान होना और किसी का हिन्दू होना बाधक हो रहा है। उसकी इस व्यथा-स्थिति को मुन्नी समझता है और एक दिन कहता है—'तुम्हें क्या मालूम नहीं कि मुसलमान तुम्हें काफिर और हिन्दू तुम्हें 'धूर्त-मुसलमान' कहते हैं?'[1] किन्तु दोनों युवक शीघ्र ही इस सत्य का प्रत्यक्ष कर लेते हैं कि गाँव में समस्या साम्प्रदायिकता की नहीं दूसरी है और मिलजुल कर ग्रामोत्थान में लग जाते हैं!

साम्प्रदायिक तनाव और उपद्रव का चित्रण राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यास 'जाने कितनी आँखें' में हुआ है। इस तनाव की पहली आहट तब मिलती है जब करीम मियाँ 'बदरी प्रसाद बाम्हण' की निराधार शिकायतें मुसलिम दारोगा से करता है। आगे एक भीषण दंगे की रोमांचक स्थितियों का प्रत्यक्ष होता है। बुन्देलखण्ड के इस गाँव में जहाँ मुसलमान टोले में कुल बीस घर हैं यह साम्प्रदायिक उपद्रव की आग शहर जबलपुर से आती है जबलपुर की एक हिन्दू-कन्या को रहमतुल्ला भगा कर इस गाँव में लाता है और प्यासन दीदी की जासूसी पर करीम मियाँ के घर वह पकड़ जाती है। स्कूल मास्टर बदरी प्रसाद और जबलपुर के आर्य समाजियों द्वारा उसका उद्धार होता है और यह अत्यन्त ही लोमहर्षक प्रसंग उस समय और विकट मोड़ लेता है जब मुसलमानों द्वारा एक गाय काटी जाने की घटना के साथ दारोगा का पक्षपात खुल जाता है। उपद्रव की आग भड़क उठती है और उसमें बदरीप्रसाद स्कूल मास्टर का घर भस्म हो जाता है।[2]

देश-विभाजन

इस संदर्भ में सबसे मर्म-पीड़क प्रसंग विभाजन का है जिसकी वेदना मोहन

---

१. 'सती मैया का चौरा', पृ० ८९।

२. 'जाने कितनी आँखें', पृ० १८७।

राकेश की कहानी 'मलवे का मालिक' और अमृतराय की कहानी 'दरारें' के अतिरिक्त अत्यन्त विस्तारपूर्वक कर्तार सिंह दुग्गल के उपन्यास 'चोली दामन' में उजागर हुई है। यद्यपि इस समस्या और प्रसंग पर हिन्दी में विशाल महाकाव्यात्मक उपन्यास 'झूठा सच' यशपाल के द्वारा प्रणीत है किन्तु उसकी पटभूमि अत्यन्त व्यापक और अधिकांशतः नगराश्रित है। 'चोली दामन' का कथाकार तत्कालीन विस्फोटक परिवेश में पोठोहार पंजाब के एक धमियाल गाँव को चित्रित करता है। जिसमें हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख शांतिमय जीवन व्यतीत कर रहे थे। इसी बीच 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' का नारा बुलन्द होता है। पहले तो बच्चे खेल-खेल में यह नारा लगा रहे हैं[1] परन्तु निस्सन्देह उसके पीछे बड़ों की प्रेरणा रहती है। मुसलमानों के लड़के नारा लगाते हैं तो तो हिन्दुओं के लड़के दुहराते हैं। गाँव के लड़कों को आन्तरिक बखेड़ों का क्या पता है? किन्तु आतंकित करनेवाली भीषण अफवाहें शीघ्र ही प्रसारित हो जाती हैं—हर हिन्दू सिक्ख मार डाला जायेगा, लूट-फूंक मचेगी, मुसलमान शस्त्रास्त्रों से लैस हैं, काफिरों का सिर उतार कर जन्नत में जाने के लिए तैयार हैं, छह-छह फुट के बाहरी पठान देहात घेर रहे हैं, आग लगाने, हिन्दुओं के बच्चों को जलते कड़ाहों में झोंकने की ट्रेनिंग दी जा रही है—और हिन्दू-क्षेत्रों में हलचल, हड़कम्प, रोना-पीटना शुरू हो जाता है। युवतियाँ कुएँ में कूदने चलती हैं, अफीम-संखिया जुटाने लगती हैं, युवक कृपाण की धार तेज़ करने लगते है?[२]

फिर एक दिन 'अल्ला हो अकबर' के नारों के बीच ढोल-शहनाई बजाकर 'फ़सादी' सारे गाँव को तहस-नहस कर देते हैं और गाँव का इतिहास भूगोल आमूल परिवर्तित हो जाता है।[३]

विभाजन की पृष्ठभूमि पर आधारित प्रस्तुत उपन्यास, किन्तु, हिन्दू, मुस-लिम एकता का प्रचार-मात्र बनकर रह जाता है जिसे पढ़कर एक ज्वलन्त प्रश्न सामने खड़ा हो जाता है कि यदि ऐसा मेल-जोल वास्तव में था तो वैसा हुआ क्यों? उपन्यास में 'मुसलमान' और 'फसादी' में अन्तर रखा गया है। किन्तु

---

१. **'चोली दामन', पृ० १६।**
२. **वही, पृ० २१, २२, २३।**
३. **वही, पृ० ४५-५५।**

इससे स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता है। पीर लोग गाँव-गाँव में आग भड़का रहे हैं। गाँव के मुसलिम लोहार रात-दिन घातक हथियार बनाने में जुटे हुए हैं। धमियाल गाँव का सबसे सीनियर सरदार सोहणे शाह अपने मुसलमान मित्र की लड़की सतभराई के साथ गाँव उजड़ने पर विभिन्न शरणार्थी कैम्पों में भटकता है और कष्ट सहता है। वह उदारवादी और शान्तिप्रिय है। कथाकार कहता है : 'पंचायती गुरुद्वारे को उन्होंने (मुसलमानों ने) मसजिद बना ली थी। इस बात की सोहणेशाह बारंबार प्रशंसा करता। पहले जहाँ गुरु का नाम लिया जाता था, वहाँ अब अल्लाह का नाम लिया जाता है। इसमें क्या अन्तर है ?'[1] यही गाँधीवादी आदर्शवाद 'चोली दामन' का मुख्य प्रतिपाद्य है। इससे उपन्यास हिन्दू-मुसलिम मेल की खोखली नारेबाजी जैसा प्रतीत होने लगता है। नेहरू जी शरणार्थी कैम्पों का निरीक्षण करते हैं। वे सोहणेशाह के कैम्प में पहुँचते हैं। हाथ मिलते हैं। सतभराई के हाथों दूध पीते हैं और 'कृष्ण जी सुदामा के सत्तू खाये'[2] की भावात्मक पुनरावृत्ति सोहणेशाह के मस्तिष्क में तो होती है परन्तु सम्पूर्ण स्थितियों और प्रकरणों के क्रम में उलझे पाठकों को तृप्ति नहीं होती है।

'चोली दामन' में विभाजन-काल अर्थात् स्वतंत्रता मिलने के समय फैली बर्बरता और हिंसा के बीच दोनों जातियों के मेल को मूल्यांकित किया गया है। इसमें पंजाबी गाँवों की समसामयिक पीड़ा है। इस अत्यन्त नाजुक समस्या पर इधर राही मासूम रजा की पुस्तक 'टोपी शुक्ला' (१९६९) प्रकाशित हुई है जिसमें स्वतंत्रता के बाईस वर्षों बाद का बातावरण चित्रांकित किया गया है और उसी समय के बोये हुए पनपते विष-वृक्षों को देखा गया है। 'चोली दामन' से अधिक यथार्थ 'टोपी शुक्ला' में है परन्तु 'आधा गाँव' के लेखक ने इसमें एक लम्बी उछाल लेकर 'पूरे देश' को अभीष्ट कोण से उभारा है। साम्प्रदायिकता सब मिलाकर, निष्कर्ष रूप में, ऐसा प्रतीत होता है कि गाँव की नहीं नगर की समस्या है और धर्म-सम्प्रदाय की नहीं यह राजनीतिक समस्या है। राही मासूम रजा के द्वारा कोई पूरा गाँव इस परिप्रेक्ष्य में उजागर हो तो इस समस्या पर परिवर्तित गाँवों के संदर्भ में नया प्रकाश पड़े।

---

१. 'चोली दामन', पृ० १२९।
२. वही, पृ० २१५।

सुरक्षा समस्या

हिन्दी-कथा-साहित्य में देश की सुरक्षा-समस्यायें नहीं उभरी हैं। देश की बाह्य सुरक्षा से काम अन्तर-सुरक्षा का प्रश्न नहीं है। चीन के आक्रमण की घड़ियों में लगा देश अरक्षित है परन्तु पाकिस्तान-युद्ध में विश्वासों को पुनः प्रतिष्ठा मिली। तत्कालीन गाँवों की जागृति कथा-साहित्य में नहीं अंकित हुई। मधुकर गंगाधर की कहानी 'घाव' में चीनी आक्रमण की गूँज है। उसी समय पंचायतों को मालगुजारी वसूली का अधिकार मिलता है और उसके कर्मचारी गाँवों पर झपटते हैं। विदेशी आक्रमण और धन की कमी का बहाना पर्याप्त है। बन्दूकधारी सिपाहियों के साथ जनता को उसी प्रकार लूटा जाता है जिस प्रकार सीमाओं पर अपनी भूमि लुट रही है। गाँव की असुरक्षा को पूरे देश की असुरक्षा के परिप्रेक्ष्य में बहुत प्रगाढ़ अभिशाप-कालिमा में डुबोकर कथाकार प्रस्तुत करता है। लेखक ने चीनी आक्रमण के समसामयिक ग्राम-जागरण को 'आज' (वाराणसी) में ३ नवम्बर सन् १९६२ से लेकर २२ फरवरी सन् १९६३ तक अपनी उन्नीस कहानियों में चित्रित किया और इसी प्रकार भारत-पाकिस्तान युद्ध के समय उक्त पत्र में २६ सितम्बर सन् १९६५ से लेकर ४ जनवरी सन् १९६६ तक अपनी बारह कहानियों में तत्कालीन जन-जागृति को उट्टंकित किया।

विदेशी आक्रमणों की ही भाँति देश के अंचल विशेष में डाकुओं का आतंक है। इसका सामना भी युद्ध-स्तर पर होता है। इस सन्दर्भ को व्यापक रूप से चित्रित करने वाले कथाकारों में गोविन्दबल्लभ पंत ('कागज की नाव') के अतिरिक्त रामकुमार भ्रमर हैं। रामकुमार भ्रमर ने अपने उपन्यास 'तीसरा पत्थर' में डाकुओं के हृदय-परिवर्तन की समस्या उठाई है। खांडोली गाँव के एक ठकुरास भरे परिवार से जिस प्रकार प्रतिशोध की प्रतिक्रियात्मक भावना से प्रेरित होकर चाचा डाकू बन जाता है उसी प्रकार के संस्कारों से जकड़ा उसका भतीजा भी विद्रोही हो जाता है। डाकू बन जाने के बाद उस जीवन की नारकीयता के प्रति अत्यन्त ऊब की स्थिति में जीने पर भी उससे उबरने का कोई मार्ग नहीं है। कथाकार दस्यु-आतंकग्रस्त चम्बल घाटी की आंचलिकता और वहाँ के जन-जीवन की विवशतायें तो अंकित करता है परन्तु उसके पास कोई समाधान नहीं है। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास 'उदय-किरण' में इस समस्या की बीहड़ता को उभारने के बाद इसका एक

आदर्शवादी किन्तु व्यावहारिक समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। गाँव का नया रक्त आगे बढ़कर गाँव की सुरक्षा का भार लेता है और स्त्री-पुरुष एक जुट मिल-जुल कर डाकू-विरोधी मोर्चे का निर्माण करते हैं और उन्हें अपने प्रयास में सफलता भी मिलती है।[1]

गाँवों का नगरीकरण

सम्प्रति ग्राम-विकास की सुचिन्तित दिशा है नगरीकरण और इसका साधन है कृषि-क्रान्ति। आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण में इसका स्वरूप स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ उसके स्वरूप की कुछ ग्राम-संभव परिकल्पनायें जो नये कथा-साहित्य में उठाई गई हैं उपस्थित की जायेंगी। गाँवों के नगरीकरण से ही कथाकार की ग्राम-वापसी भी संभव है क्योंकि आधुनिक कथाकार आधुनिक जीवन का आग्रही है। मधुकर गंगाधर की कहानी 'संतरण'[2] में इस वापसी का शुभारंभ है। गाँव के नगरीकरण के साथ ग्राममन का भी परिष्कार-संस्कार होगा और दूसरी ओर नगरमन की कुंठायें भग्नाशायें अपना प्रभाव प्रकट करेंगी। रांगेय राघव की प्रसिद्ध कहानी 'दिवालिये' में नगर-युवकों के खोखलेपन का जैसे अत्यन्त प्रामाणिक चित्रण है उसी प्रकार अमरकान्त अपनी कहानी 'हत्यारे' और 'गगन विहारी'[3] में लोक-जीवन-सम्पृक्त युवाशक्ति की छीजन और उसके निरर्थक भटकाव की आरंभिक स्थितियों का अंकन करते हैं। लेखक की रचना 'पदयात्रा'[4] में पुराने गाँव और नगरीकरण की दिशा में उभरते नये गाँवों का अन्तराल अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है और अतिथि-सत्कार-वृत्ति कसौटी बन जाती है। पुराने अविकसित गाँव में जहाँ शर्बत-पानी की हार्दिक पूछ है वहाँ नये समृद्ध गाँव में खोखली हँसी की औपचारिकता और फीकी चाय के साथ एक हृदय-हीन दुराव मिलता है। नगरीकरण वास्तव में प्रबुद्ध-जन-संभव एक बौद्धिक स्थिति है। यह स्वतःसंभवी है और बलात् लायी जाने पर कृत्रिम संकुचित मनता और नये संत्रास की स्थितियों के अतिरिक्त

१. 'उदय किरण', पृ० ८६-९३।
२. 'हिरनों की आँखें' में संकलित।
३. दोनों कहानियाँ 'देश के लोग' में संकलित।
४. 'धर्मयुग' २३ जुलाई, १९६७।

इससे और कोई उपलब्धि संभव नहीं है। मधुकर सिंह की कहानी 'वह दिन'[1] का श्रावयिता कलकत्ते में एक मजदूर यूनियन का नेता है। गाँव पर से पत्नी का पत्र पाकर और जटिल समस्ताओं की सूचना पाकर वह अपनी नागरिक कल्पना में तो हर समस्या से शान्तिपूर्वक निपट लेता है परन्तु गाँव के अबौद्धिक यथार्थ का साक्षात्कार होने पर वह यूनियन का नेतृत्व भूल जाता है। उसे लगता है कि नागरिक पद्धति पर यहाँ की समस्याओं से निपटना कठिन है। यहाँ बहुत कुछ है जो नगर से अधिक उलझा और पेचीदा है। यहाँ घनान्धकार है। और तो और, अभी गाँव पूरी तरह नगरों से जुड़ भी नहीं सके हैं। मार्कण्डेय अपनी कहानी 'चाँद का टुकड़ा'[2] में यातायात की ग्रामीण कठिनाई पर एक चुभता व्यंग्य करते हैं। 'जल टूटता हुआ' में फेंकू बाबा की पुत्रवधू के पेट में लड़का फँस कर मर जाता है परन्तु बीस मील दूर गोरखपुर अस्पताल तक उसे समय पर पहुँचाने का कोई साधन नहीं है।[3] इन स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में लगता है कि लेखक की कहानी 'पुराने गुलाब : नये गाँव'[4] की स्थितियाँ जिसमें सन् २००० से पूर्ण नगरीकृत गाँव के संदर्भ में एक स्कूल मास्टर की मनःस्थितियों की परिकल्पना की गई है, अभी बहुत दूर हैं। यह अच्छा भी है क्योंकि भविष्य के गाँव की कल्पना उक्त रचना में अत्यन्त ही भीषण रूप में उभरी है। लोग रामचरितमानस और राम की कहानी भूल रहे हैं। चुल्लू भर पानी के लिए दंगे हो जाते हैं। गाँव में टेलीविज़न सेट और आयरन सूट आ गये हैं। विश्वसुन्दरी की जयजयकार में ग्रामीण भी योगदान करते हैं। होटल और जलपान-गृह गाँवों में उपलब्ध हो गये मगर सारे विकास के होते भी अधिकांश लोगों को नींद लाने की गोलियाँ खाकर ही सोने की विवशता है।

रुग्ण-सभ्यता

उक्त परिकल्पना एक नये प्रकार की रिक्त और रुग्ण-सभ्यता की अति है। गाँव में प्रवेश करता नगर उसे संभवतः अस्वस्थ दिशा में ही ले जा रहा

---

१. 'कहानी' नववर्षांक १९६९ (कथाकार के संग्रह 'पूरा सन्नाटा' में संगृहीत)।
२. 'हंसा जाइ अकेला' में संकलित।
३. 'जल टूटता हुआ', पृष्ठ ३७१।
४. 'ज्ञानोदय' नवम्बर सन् १९६७।

है। स्वातंत्र्योत्तर कहानी-साहित्य में बीमार-सभ्यता की एक विचित्र मनः-स्थिति शानी की कहानियों में मिलती है और यह प्रायः वहीं है जहाँ नगर का ग्राम-प्रवेश अंकित है। 'शेफाली'[1] की कहानी पोलिंग अफसर आफताब के साथ जंगल में स्थित एक गाँव तक जाती है और एक घिनौना रोमांस उभड़ता है। फिर पुरुष की लालसा के विषदन्त यक्ष्मारोग से टकरा कर टूट जाते हैं। 'नारी और प्यार'[2] कहानी नगर से गाँव में जाती है और एक बीमारी के साथ। 'ज़िन्दगी जलती है'[3] की नायिका भी क्षय-ग्रस्त हो जाती है। 'राख'[4] और 'कंगाल'[5] में भी रोग और मरणोन्मुखता है तथा प्रसंग नगर और ग्राम-भाव की टकराहट का है। गाँव को सर्वप्रथम नगरभाव की संग्राहकता के संदर्भ में सक्षम बनाना होगा। वर्तमान पतनशील ग्रामस्थिति में नगर का संपर्क अनुकूल नहीं पड़ रहा है। गाँव की यह पतनशील स्थिति सनातन रूढ़ि-जैसी हो गई है। ताराशंकर वन्द्योपाध्याय 'भूखा देश, कमज़ोर और रोग-जर्जर लोग, अभिभावक-विहीन समाज'[6] की जिस स्थिति को देखकर ग्राम-प्रदेश की खैर के लिए रोते हैं वही स्थिति 'अलग-अलग वैतरणी' में भी विद्यमान है—'चारों और कीचड़, बदबूदार नाबदान, गू-मूत, बीमारियाँ, कुलबुलाते कीड़े, मच्छर, ज़हरीली मक्खियाँ—इनके बीच भुखमरी, डरावनी हड्डियों के ढाँचे, किचरीली आँखों और बीमारी से फूले पेट वाले छोकरे, घरों में बन्द गन्दगी में आपाद-मस्तक डूबी औरतें जो एक दूसरे को खुले आम चौराहे पर नंगियाने में ही खुशी पाती हैं, धुंधुवाते मन के अपाहिज जैसे नव-युवक जो अँधेरी बन्द गलियों में बदफेली करने का मौका ढूंढ़ते फिरते हैं, हारे-थके प्रौढ़ जो न गृहस्थी के जुए को उतार पाते हैं, न उसमें उत्साह से जुत पाते हैं, मौत का इन्तज़ार करते बुड्ढे अपने ही बेटों-बेटियों से उपेक्षित बिलबिलाते रहते हैं—यही है न हमारी जन्मभूमि करैता! भइया, मैं तो भर

१. 'बबूल की छाँव' में संकलित।
२. वही।
३. वही।
४. वही।
५. 'डाली नहीं फूलती' में संकलित।
६. 'गणदेवता', पृ० ५५५।

पाया !'[१] यह ग्राम-व्यापी पतनशील, रुग्ण और 'महाहीन स्थिति से पहले उबार तो हो ! अभी तो गाँव कहीं अप्राकृतिक मैथुन[२] की कुत्सित नारकीयता में डूबा है तो कहीं अपनी ही पत्नी से न मिल पाने की लिजलिजी सामाजिक बाधाओं से वह उबर नहीं पाया है ![३] और सब मिलाकर साहित्य में उसका जो रूप आया है वह आर्थिक विकास के उस रूप से कहीं किसी बिन्दु पर सम्प्रति मिल नहीं रहा है जो उसे नगरीकरण की दिशा में ले जा रहा है। गाँव का यह भीषण अन्तर्विरोध वास्तव में कथा-साहित्य में पूरी तरह उभर नहीं पाया। इसे देखकर प्रेमचन्द के कृत्रिम पुनर्प्रस्तुतीकरण के उस प्रश्न की किसी न किसी बिन्दु पर सार्थकता प्रतीत होने लगती है जिसकी खिल्ली डा० नामवर सिंह ने उड़ाई है।[४] गाँव सम्बन्धी ठेठ आज का प्रामाणिक जीवन इतना जटिल हो गया है कि बिना अन्तरंग में प्रवेश किये उसका यथावत् अंकित होना संभव नहीं। नगर में बैठकर यह अनुमान तो किया जा सकता है कि गाँव नगरीकरण की ओर जा रहा है और इस संदर्भ में पत्र-पत्रिकाओं में आये साहित्य को पढ़कर इस अनुमान को समर्थन भी मिल सकता है परन्तु यथार्थ वास्तविकता के साक्षात्कार से कुछ और ही सिद्ध होगा। गाँव गाँव नहीं रह पा रहे हैं परन्तु वे नगर भी नहीं हो पा रहे हैं और उनकी टूटन, छीजन और रुग्ण-रिक्तता एक चुनौती बनी हुई है।

नया शोषण

नगर गाँव के निकट आकर उसे खा रहा है और दूर रहकर उसका परम्परागत शोषण पूर्ववत् है। अन्तर मात्र शोषण के प्रकार का है। नये प्रकार में नवीनता है, आधुनिकता है। इस अन्तराल को चित्रांकित करने वाली एक लम्बी कहानी 'बलवा'[५] शीर्षक सुधा अरोड़ा ने लिखी है।

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ६६३-६६४।
२. देखिये, 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० ४६२-६३, 'धरती', पृ० ४०२, 'रतिनाथ की चाची', पृ० १२७।
३. देखिये, शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'एक यात्रा सतह के नीचे', 'बबूल', पृ० १००, 'जल टूटता हुआ' पृ० १०५ और 'अलग-अलग वैतरणी', पृ० २४४।
४. कहानी : नयी कहानी, पृ० ५७।
५. 'धर्मयुग' २ और ९ सितम्बर सन् १९७०।

सोनेलाल ग्रामीण को नगर के राजनीतिक लोगों ने किराये के आन्दोलन-कारियों के रूप में पैसे का प्रलोभन दिखाकर फुसला-बहला लिया और वह उसी प्रकार के अन्य गँवारों के झुंड में अपनी स्त्री और बच्चे के साथ नगर पहुँचा तो सर्वथा नयी विपत्ति का सामना हुआ। पुलिस की लाठी चार्ज में भगदड़ मची तो स्त्री-बच्चे से वह बिछुड़ गया और लाख सिर मारने पर भी वह उन्हें न पा सका। इसकी प्रतिक्रिया और परिणाम में वह गाँव छोड़कर नगर-निवासी बना और पुनः जबकि वह गरीब नागरिक है बच्चों के अपहरण करने वाले एक अनैतिक दस्यु-दल के चंगुल में फँसकर पैसे और अपने बच्चे की खोज के चक्कर में अनेक बच्चों को गुब्बारा और चिड़िया बेचने के बहाने गायब कराता है। अंत में पुलिस की हवालात में कुत्ते की मौत मर जाता है! उसकी रक्षा न गाँव कर सका और न नगर। यही सोनेलाल आज का गाँव है जो शहरी आन्दोलनों की चपेट में आ गया है।

निष्कर्ष

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में नये गाँवों की नयी समसामयिक समस्याओं की अभिव्यक्ति के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इनके अनेक महत्वपूर्ण आयाम अस्पर्शित रह गये हैं। सन् १९६० तक का बदलाव जो अंकित हुआ है वह भी अपूर्ण है। आधुनिकता की अभिव्यक्ति-भूमि के रूप में गाँव कथाकारों की दृष्टि में उतरा ही नहीं। जबकि वहाँ नगरों की ही भाँति टूटन, कुंठा, अस्थैर्य और जीवन की जड़ता लक्षित होती है। पंचायतों आदि के रूप में गाँव में जो ऐतिहासिक परिवर्तन आया उसे भी साहित्य का सहयोग नहीं मिला। इन परिवर्तनों के संघात से गाँव की मनःस्थिति में जो एक सर्वथा नवीन उभार आया वह भी अदेख रह गया। पंचायतों की स्थापना से लेकर कृषि-क्रान्ति के स्वाधीनतोत्तर गाँव ने शनैः शनैः अपने को खोया है, उसकी सांस्कृतिक निजता और परम्परित विशेषतायें सब विलीन होती गई हैं। किन्तु कथा-साहित्य में जो कुछ भी आया है वह प्रेमचन्दयुगीन परिप्रेक्ष्य से मुक्त नहीं प्रतीत होता है। इसीलिए उसका यथार्थ स्वरूप नहीं उभर पाया है। संस्थानिक परिवर्तनों के साथ उसे नये-नये नामों ने आकर नये सिरे से झकझोरा है, जगाया है, उत्तेजना दी है और नयी भागदौड़ में उलझाया है। गरीबी-अशिक्षा आदि पुरानी दयनीयताओं के अतिरिक्त उसकी नयी राजनीति-

शून्यता आदि नयी-नयी दयनीयताओं के संदर्भ में जो चित्र उभरता है वह अचित्रित रह गया है। राजनीति-प्रवेश के साथ गाँव ने साहित्य का साथ छोड़ दिया और नगर को उपजीव्य बनाने के बाद साहित्य ने गाँव को छोड़ दिया।

प्रेमचन्द के कथांचल पर एक विहंगम दृष्टि डालने से हमारा उक्त निष्कर्ष अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। 'सवा सेर गेहूँ' शीर्षक कहानी में प्रेमचन्द लिखते हैं—'किसी गाँव में शंकर नामक एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा गरीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में, न देने में। छक्का-पंजा न जानता था, छल-प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी, ठगे जाने की चिन्ता न थी, ठग-विद्या न जानता था। भोजन मिला खा लिया, न मिला चबैने पर काट दी, चबैना भी न मिला तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा।"

प्रेमचन्द का यह औसत किसान परिवर्तित परिवेश में बहुत परिवर्तित हो गया है। उसकी सीधी-सादी मुखमुद्रा पर छाए खिचाव, तनाव और अज्ञात भय स्पष्टतः बीते बीस वर्षों के छलावे की अनुभूति कराते हैं। भोजन न मिलने पर चना-चबैना और पानी पर दिन काट देना उसकी विशेषता है, पर आज वह राम का नाम भूल चुका है। रामनाम की जगह वह जमाने को, शासन को, सरकार को, नेताओं को, अधिकारियों को और अन्त में अपने को गालियाँ देता है। फिर रामनाम का वातावरण गाँव में रहा कहाँ? रामायण गई, कथावार्ता गई, भजन-कीर्तन गया। सचमुच इतना बड़ा परिवर्तन हो गया, आश्चर्य होता है।

जब प्रश्नाकुल उँगलियों से नए सन्दर्भों की परतों को उकेरते हैं, तब सामने आते हैं, चुनाव, विकास, पंचायत और कोआपरेटिव आदि जिन्होंने गाँवों को झकझोर कर एकदम बदल दिया है। योजकों की नीयत पर सन्देह करने का सवाल ही पृथक है। यहाँ नवीनता के टकराव से उत्पन्न भिन्नत्व की दशा देखकर हम रोते हैं। विकास अधिकारी और कर्मचारी आज के शंकर कुरमी के सम्पर्क में आकर उसे 'ठग-विद्या' की पूरी दीक्षा दे गए हैं। चुनाव और उससे पैदा एम० एल० ए० और एम० पी० आदि उसके भीतर, उसके बाहर सर्वत्र एक बिखराव का पुष्ट बीज बो गए हैं। आज पार्टीबन्दी के गरल को गाँव पी रहे हैं। शहरी राजनीति के सधे खिलाड़ी गाँव में स्वयं तो

'स्पोर्ट्समैन स्पिरिट' में जाते हैं और उनके-जैसी शिक्षा-दीक्षा और मानसिक-स्तर न होने के कारण उनके सम्पर्क में आए गाँव निवासी जो पार्टीबन्दी के दलदल में फँसते हैं तो परस्पर वैर का भाव ले लेते हैं।

प्रेमचन्द की कहानी 'लाग-डाँट' में 'जोखू भगत और बेचन चौधरी में तीन पीढ़ियों से अदावत चली आती थी। कुछ डाँड़-मेड़ का झगड़ा था।' लेकिन आज यहाँ क्या झगड़ा है। तुम 'हँसुवा-बाल' में वोट देने वाले और हम 'जोड़ी बैल!' तुम 'दीपक' के झंडा बरदार और हम 'झोपड़ी' के निवासी। बस, हमारा तुम्हारा भोज-भात बन्द, बोलचाल बन्द, दोनों आदमी पैंतरे पर! एक-दूसरे को उजाड़ने की ताक में। 'लाग-डाँट' का रूप तब दूसरा था। 'एक दल की भंगबूटी चौधरी के द्वार पर छनती, तो दूसरे दल के चरस-गाँजे के दम भगत के द्वार पर लगते थे।...भगत सनातन धर्मी बने, तो चौधरी ने आर्यसमाज का आश्रय लिया...चौधरी स्वराज्यवादी हो गए तो भगत ने राज्यभक्ति का पक्ष लिया।' और एक सीमा पर पहुँच कर सारी लाग-डाँट बुझ जाती है। दोनों गले मिलने लगते हैं। तीन पुश्तों की अदावत एक क्षण में शान्त हो जाती है और दोनों साथ-साथ स्वराज्य के लिए भाषण देने लगते हैं। इस स्वराज्य नामक 'मूल्य' के बिन्दु पर दोनों मिल जाते हैं। आज तो यह और इस तरह के सभी मूल्य जब टूट गए तो गाँव में अद्भुत विघटन छा गया है। गाँव टूटते जाते हैं। दरार चौड़ी होती जा रही है और एक गाँव में कई गाँव हो जाने के बाद एक ग्रामीण में कई ग्रामीण हो जाने के, विघटित व्यक्तित्व के आयाम उभरने लगे हैं। हौसले पस्त हो गए। त्योहार-बहार, उत्सव और सार्वजनिक हँसी-खुशी के मैदान सूने पड़ गए। जहाँ रामलीलाएँ लगती थीं, वहाँ कभी-कभी सूचना-विभाग की ओर से डाक्यूमेन्टरी फिल्मों का प्रदर्शन हो जाता है और प्रायः देखने के लिए वे ही लोग जाते हैं जिस दल अथवा पार्टी का कोई 'नेता' इस 'सरकारी नाच' को लिवा आता है। यह एक ज्वलन्त सचाई है कि आज गाँव ऐसा जड़, निर्जीव, अन्धस्वार्थी, कामकाजी और राग-द्वेष से जर्जर हो गया है कि प्रायः गाँव-गाँव में सालों-साल लगनेवाली रामलीलाएँ टूट गईं। श्रीरामचन्द्र की जयकार करने, चौपाई बाँचने, गाने-बजाने और सम्वाद के लिए किसी में हूब नहीं रहा। प्रेमचन्द तक 'रामलीला' भूमि फीकी नहीं पड़ी थी——

'वह आनन्द उन्माद से कम न था। संयोगवश उन दिनों मेरे घर से बहुत थोड़ी दूर पर रामलीला का मैदान था और जिस घर में रामलीला पात्रों का

रूप-रंग भरा जाता था, वह मेरे घर से बिलकुल मिला हुआ था। दो बजे दिन से पात्रों की सजावट होने लगती थी। मैं दोपहर से वहाँ जा बैठता और जिस उत्साह से दौड़-दौड़कर छोटे-मोटे काम करता उस उत्साह से तो आज अपनी पेंशन लेने भी नहीं जाता। एक कोठरी में राजकुमारों का शृङ्गार होता था। उनकी देह में रामरज पीस कर पोती जाती, मुँह पर पाउडर लगाया जाता और पाउडर के ऊपर लाल, हरे, नीले रंग की बुन्दकियाँ लगाई जाती थीं...' (रामलीला)

किन्तु आज इस लीला-भूमि के निवासियों के बालक मात्र बड़े-बूढ़ों के मुँह से साश्चर्य उसकी 'बरनक' सुनते हैं। थोड़े दिनों में यह भी बन्द हो जाएगा। रामायण गाना, रामायण पढ़ना वे भूल चुके हैं; सम्भव है कुछ दिनों में नाम भी भूल जाएँ। रामनगर और दिल्ली की रामलीला और गाँव-गाँव में लगने वाली 'लीला' में अन्तर है। रेडियो पर कार्यक्रम सुनने और स्वयं उसका स्रष्टा-द्रष्टा बनने में अन्तर है। एक ग्रामीण का इस सम्बन्ध में कथन है कि जब इतनी अधिक नई-नई प्रत्यक्ष लीलाएँ नित्य सामने आने लगीं कि उस राम-लीला पर ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं मिलती। बी० डी० ओ०, ए० डी० ओ० लीला, सी० ओ०, ए० सी० ओ० लीला, थाना विकास-लीला, चकबन्दी-लीला, चुनाव की महालीला, रोज-रोज चुनाव, यह पंचायत, यह ब्लाक, यह जिला परिषद, यह कोआपरेटिव बैंक, कुर्सी छीनो-लीला, दलबदल-लीला, यानी 'आयाराम-गयाराम' की लीला, निर्लज्ज नंगे नाच की लीला, रावण से भी बड़े-बड़े भ्रष्टाचारी 'असुरों' की लीला, बानर-भालुओं से भी भीषण चरने-खाने वालों की लीला, विद्यार्थियों की लीला, हड़तालियों की लीला, घेराव-पथराव-लीला, एक से बढ़कर एक लीला। परिवार-नियोजन और लूप लीला! स्मग-लिंग और ब्लेक मार्केट की लीला, भूदान-ग्रामदान लीला! क्या विशेष शगल थी उस जमींदार-पुत्र की प्रेमचन्दी 'रामलीला' में? नैरेटर का पिता है जो वेश्या को तो ताव पर आकर एक अशर्फी दे देता है और विदाई के अवसर पर रामचन्द्र को देने के लिए उसकी जेब से दो रुपए भी नहीं निकलते हैं। नैरेटर का 'अन्तःकरण उस समय विप्लवकारी विचारों से भर' जाता है और वह मन मसोस कर अपने पास के दो आने अपने श्रद्धेय देवता को अर्पित कर सन्तुष्ट हो लेता है। क्या आश्चर्य कि ऐसे ही अगणित अन्तःकरणों के विप्लव-कारी विचारों के दबाव से वह जमींदारी टूट गई, जिसका 'नशा' प्रेमचन्द की

कथाभूमि का एक विशिष्ट स्मृतिचिह्न है।

'नशा' शीर्षक कहानी में नैरेटर अपने मित्र जमींदार-पुत्र ईश्वरी के गाँव पहुँचता है और देखता है कि 'ईश्वरी का घर क्या था, किला था। इमामबाड़े का सा फाटक, द्वार पर पहरेदार टहलता हुआ, नौकरों का कोई हिसाब नहीं, एक हाथी बँधा हुआ।' किन्तु वही नैरेटर आज के बदलते माहौल में अपने मित्र के यहाँ यदि पहुँचता है तो कुछ टूटे-फूटे या सही-सलामत हालत में किलेनुमा मकान तो दिखाई पड़ेगा, सम्भव है हाथी भी बँधा हो, पर उसे बेहिसाब नौकर नहीं दिखाई पड़ेंगे और यदि वह सच्चा जमींदार है तो जमींदारी टूटने के बाद बाहर से सिमटा मगर भीतर से वह बहुत फैला मिलेगा, जिसे देखकर, जिसकी 'बादशाहत' में रह कर किसी गरीब को 'नशा' तो नहीं वितृष्णा अवश्य हो सकती है। छोटे किसान को यदि बैल खरीदने के लिए दो सौ की तकाबी मिलती है, तो साल बीतने भी नहीं पाता की अमीन वसूली के लिए सिर पर सवार है और उस भूतपूर्व जमींदार को ट्रैक्टर खरीदने के लिए आठ हजार की तकाबी मिलती है तो वह भी विशेष छूट और वसूली के नियमों की गहरी ढिलाई के साथ। हाथी की जगह ट्रैक्टर, जीप, ट्रक, बिजली, निजी नल-कूप, ग्राम-सेवक दरवाजे पर हाजिर, विकास अधिकारियों की दावत, खेती के नये प्रयोग, नए साधन, नई सुविधाएँ, सब उपलब्ध। चहल-पहल का केन्द्र उसका दरवाजा नहीं, अब उसका 'फार्म' हो गया। मछली के शिकार और बजरे पर सैर नहीं, नए जमींदार के औक-शौक भी नए। वह टेबुल पर समाचार-पत्र रखकर, ग्राम-पंचायत से लेकर जिला परिषद् तक की गोटी बैठाता रहता है। नाच मुजरा कहाँ ? वैसे यदि मन ऊबा तो ट्रांजिस्टर बजा कर सुन लेता है।

एक भली चीज यह आ गई गाँव में भी। 'ईदगाह' का हामिद अपने दोस्तों के साथ मेला जा रहा है। उसे चौंकाने वाली वस्तुओं में भड़कीले वस्त्र, इक्के-ताँगे और मोटर के हार्न की आवाज आदि हैं, परन्तु इस पृष्ठभूमि में आज उसे सहज ही साइकिल पर ट्रांजिस्टर बजाते भागते जाते युवक दीख जाते। शहर के दामन में पक्की चारदीवारी वाले अमीरों के बगीचे, बड़ी-बड़ी इमारतें, अदालत, कालेज और क्लब ही नहीं, ट्यूब-वेल और आटा-चक्की आदि भी दिखाई पड़ी होती। तब मोहसिन को महमूद की अम्मीजान के लिए यह नहीं कहना पड़ता कि वे मनो आटा स्वयं पीस डालती हैं। उस सीजन में शायद

गाँव से आते में उन्हें नारमा अथवा सोनारा के विकसित बीजवाले गेहूँ के प्लाट देखने को मिलते और क्या ताज्जुब कि मिठाई की दुकान से रातोंरात सारी मिठाई जिन्नों द्वारा तुलवा लेने की बाल-कल्पना गेहूँ की यह हैरत-अंगेज पैदावार देखकर इसका सम्बन्ध भी जिन्नों से जोड़ देती। एक एकड़ में अस्सी मन ! और इस परिप्रेक्ष्य में 'सवा सेर गेहूँ' के न चुका सकने की विवशता में विप्र जी के यहाँ शंकर का बीस वर्ष तक गुलामी करना और तब भी कर्ज की भरपाई न होना और उसके जवान बेटे की गर्दन पकड़ जाना, कैसी विसंगति ?

प्रेमचन्द इस कहानी के अन्त में पाठकों को गारण्टी देते हैं कि यह घटना सत्य है और ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है। 'आत्माराम' में भी एक ऐसे ही 'पुरोहित जी' तमाम ग्रामीणों के छी-छी करते रहने पर भी महादेव सुनार के सामने अपनी माँग ले कर आ जाते हैं, किन्तु तब यह शोषण-अपहरण वृत्ति 'वाद' रूप में नहीं 'अपवाद' रूप में है। महादेव सुनार मुक्तमन और ऊर्ध्वहस्त घोषणा करता है कि उसके यहाँ जिसका जो बकाया है बिना किसी सही-सबूत पेश किए आकर ले ले और महीना बीत जाने पर भी कोई हिसाब लेने नहीं आता है। महादेव का नैतिकता-बोध अखंडित रूप में जगता चला जाता है। संसार में धर्म है, सद्व्यवहार है। 'संसार बुरों के लिए बुरा है और अच्छों के लिए अच्छा है।' लेकिन स्वराज्य के बाद, मोहभंग के बाद, इस नैतिकता-बोध के लिए कहाँ जमीन रह गई ? आज शायद महादेव होता तो 'नए' ग्रामीणों, अधकचरे नेताओं, पार्टी पालिटिक्स के डीलरों, सार्वजनिक सेवा-व्यवसायियों और धन-लोभी जनसेवियों के बीच वह ऐसा घोषणा कर के सस्ते नहीं छूट जाता और फिर एक जबरदस्त अन्तर्विरोध यह कि सन् १९६३ के स्वर्ण-नियंत्रण कानून के बाद 'आत्माराम' का यह दृश्य ही गाँव में दुर्लभ हो गया— 'बेदों ग्राम में महादेव सोनार सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से संध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ ख-ट्खट् किया करता था।' महादेव की जाति पर एक सामूहिक 'सुलतानी' घहराई और शहर वाले तो नई स्थिति में जमे रहे पर गाँव वाले उखड़ गए, उनकी स्थिति एक नए किस्म के छूत हरिजन की हो गई, जो जातिगत दुर्बलदेही होने के कारण मेहनत-मजदूरी लायक भी नहीं रहे। लोहार के घर हथौड़े की ठाँय-ठाँय तो सलामत रही, पर सोनार के घर हथौड़ी की खट्-खट् जाती रही। कभी गाँव में उनका 'राज' था। उनके नाम में एक रूमानियत निहित थी। आज गाँव छोड़कर शहर की

ओर भागने वालों में ये सबसे आगे हैं। गाँव में सोनार और तेली इन दो जातियों के जातिगत पेशे जाते रहे। आज ये 'निर्माता' नहीं अधिक से अधिक परम्परागत पेशे में एक फेरी वाले की हैसियत से लगे हैं। तब महादेव के लिए कहाँ स्थान है ?

वास्तव में परिवेश की, रुचि की और बोध की गिरावट ने तमाम नक्शा ही बदल दिया है। 'गुल्ली-डंडा' का इंजीनियर अपने बाल-मित्र गयाराम मजदूर के साथ आज पुराना खेल शायद नहीं जमा पाएगा। शायद वह आज यदि गया जैसे अपने किसी हीनतम मित्र पर सदय है तो उसे मिट्टी काटने, बाँध का ठेका देने आदि के विषय में मदद देगा। 'दो बैलों की कथा' के हीरा-मोती काँजी हाउस में आज अकाल, अभाव, मँहगाई और चारे की समस्या वाले युग में यह नहीं सोच सकते कि 'आओ दीवार तोड़ डालें।' आज इतना ताव कहाँ ? आज तो ये हीरा-मोती ही नहीं प्रेमचन्द का सम्पूर्ण कथांचल ही जैसे काँजी हाउस में बेदाना-बेपानी दम तोड़ रहा है।

सप्तम अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-भित्तिक कथा-साहित्य के शैली-शिल्प का अध्ययन

१—नये शिल्प-विकास का स्वरूप

स्वतंत्रता के पश्चात् कथा-साहित्यगत वस्तुतत्त्व की ही भाँति, बल्कि उससे अधिक तीव्रगतिक, आमूल प्रभावी और क्रान्तिकारी परिवर्तन शैली-शिल्प में लक्षित होता है। इसे मुख्यतः चार रूपों में रेखांकित किया जायेगा—

क—प्रेमचन्द से प्रभावित शिल्प

ख—आंचलिकता से प्रभावित शिल्प

ग—आधुनिकता से प्रभावित शिल्प

घ—प्रयोग-धर्मी शिल्प

प्रेमचन्द की शैली आदर्शोन्मुख यथार्थ से नये युगीन स्तर पर सम्पृक्त समाजवादी यथार्थ-विधा नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त और लक्ष्मीनारायण लाल आदि में यद्यपि परिवर्तित स्थितियों का साक्षात्कार कराती है किन्तु शैली-संगठन में उस पर प्रेमचन्द का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। समाज की ही भाँति वह शैली भी साकांक्षी है, संगठन सापेक्ष है और किसी न किसी निर्णय या परिणाम पर सोद्देश्य पहुँचती है। कथा-यात्रा के आरोह-अवरोह और विराम-चिह्न जटिल और संश्लिष्ट होकर भी सर्वथा अस्पष्ट नहीं है। उसमें समूचा बल जीवन पर है। शिल्प और वाह्य-परिवेश पर संपूर्ण बल देने वाली रेणु, शैलेश मटियानी, राजेन्द्र अवस्थी और राही आदि में आई आंचलिकता स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में समग्रतः ग्राम-जीवन से जुड़ी रहकर भी प्रेमचन्दी प्रभाव से उसकी सर्वथा मुक्ति की घोषणा है। इस शिल्पाधारित आंचलिकता से भिन्न नयी कथा-जीवन-मुद्रा का दूसरा महत्वपूर्ण आयाम आधुनिकता है जिसकी चिन्तन और बौद्धिकता प्रधान प्रवृत्ति उसे मुख्यतः यद्यपि नगर-जीवन से जोड़ती

है तथापि आंचलिक-कथा से पृथक् अस्तित्व वाली ग्राम-कथा के लिए भी नये शिल्प की पृष्ठभूमि बन जाती है। प्रयोग कहानी और उपन्यास दोनों में हुए हैं जिनके कारण उनके परम्परागत ढाँचे टूट गये हैं। भाषा सम्बन्धी प्रयोगों में लोक-भाषाओं का मिश्रण एक उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत हुआ। इन प्रयोगों का आगे सम्यक् विश्लेषण किया जायेगा।

२—आधुनिकता और आंचलिकता

आंचलिकता को परिभाषित करते हुए जब उसे विशेष जनपद की संस्कृति के चित्रण, वहाँ की आस्था, रूढ़ि, सन्देह और अंधविश्वासों आदि के यथा-तथ्य अंकन के साथ-साथ लोक-जीवन, गीति, नृत्य, लोक-भाषा और विशिष्ट मुहावरों आदि के साथ जोड़ा गया और कहा गया कि ग्राम-कथानकों पर आधारित कहानियों में यदि ये तत्व साधन न होकर साध्य हों तभी उन्हें आंच-लिक की संज्ञा दी जा सकती है,[1] तभी मूल्य स्तर पर प्रगतिशून्य और अतीतो-न्मुखी होने के कारण आधुनिकता से वह कट गई, ऐसा प्रतीत होता है।

आंचलिकता के ठीक विरुद्ध आधुनिकता का मूलस्वर विद्रोह अथवा विरोध का स्वर, सांस्कृतिक शून्यता का स्वर है। वह यथार्थ की कड़ी जमीन पर अपने युग को झेलने का क्रम है। उसमें परम्परा और व्यवस्था की सुरक्षा नहीं है। पुरानी प्रतिभा की पुनर्स्थापना की जगह उसमें प्रतिभा-भंजन की मुद्रा है। आन्तरिक स्तर पर इसके किसी छोर पर आंचलिकता का गठबन्धन संभव लगता है। डाक्टर धर्मवीर भारती कहते हैं, आधुनिकता संकट-बोध है और डाक्टर नामवर सिंह का विचार है कि कोई भी बिना समाजवादी हुए आधुनिक हो ही नहीं सकता है। बाह्य-स्तर पर जहाँ आंचलिकता ने परम्परागत शिल्प को तोड़ा है वहाँ अवश्य ही वह आधुनिकता के निकट है परन्तु जिस खूंटे के साथ वह बँधी है वह है पुराने मूल्यों का तरल राग बोध! जबकि आधुनिकता का शिल्प नये मूल्य-बोध के तनाव को लक्ष्य करता है।

स्वाधीनता आन्दोलन के सिलसिले में महात्मा गाँधी आदि नेताओं के द्वारा 'गाँवों की ओर लौटो' का जो नारा दिया गया था, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कथा-साहित्य में उसी का एक आवर्तन आंचलिकता की प्रवृत्ति के रूप में प्रतिफलित

---

१. हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया : डा० परमानन्द श्रीवास्तव।

हुआ। इसमें आत्मोन्वेषण के साथ आत्मप्रदर्शनपूर्ण ध्यानाकर्षण वृत्ति भी रही। इसलिये अंचलों की बाह्य चित्र-विचित्रताओं पर ही बहुलांश दृष्टि अटकी रह गई। परिवर्तित जीवन को गंभीरता के साथ आकलित करने की संयमितता कम थी। इसी कारण शिवप्रसाद सिंह[१], रामस्वरूप चतुर्वेदी[२], जैनेन्द्रकुमार[३] और उपेन्द्रनाथ अश्क[४] आदि को इससे शिल्प के प्रति गहरी शिकायत रही। अमृतराय[५], प्रभाकर माचवे[६], डा० विश्वनाथ तिवारी[७], डा० शीलकुमारी अग्रवाल[८] और डाक्टर त्रिभुवन सिंह[९] ने भी आंचलिकता के बाह्य, अ-गंभीर, बिखरे और प्रचार-प्रदर्शनपरक रूपवादी शिल्प की कड़ी समीक्षा की है। आंचलिकता के रूप में लोक-साहित्य का नैकट्य और सांस्कृतिक पुरस्करण यद्यपि निन्द्य नहीं था तथापि उसमें सृजनात्मकता का अभाव और चित्रण का सतहीपन खटकता है।

प्रथमावर्त्त में आंचलिकता का जलूस आधुनिकता के झंडे के नीचे आगे बढ़ाया गया था। आंचलिकता को ही आधुनिकता कहा गया और ग्राम-जीवन को लेकर लिखी कहानियों को ही 'नयी' कहा गया। स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य का यह ऐतिहासिक सत्य है कि आधुनिकता के सन्दर्भ में सर्वप्रथम ग्रामीण-जीवन अथवा विकसित-अविकसित आंचलिक इकाइयों पर लिखी गई कहानियों के ही नये शिल्प ने ध्यान आकृष्ट किया था। स्वतंत्रता के बढ़ते चरण के साथ जैसे-जैसे देश में औद्योगीकरण, संकेन्द्रन और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों का दबाव बढ़ने लगा, कथा-साहित्य ने ग्राम-जीवन की आकर्षणहीन निर्जनता से अपना रुख पलट लिया और नगर-जीवन की कुछ भोगी, कुछ ओढ़ी और कुछ

---

१. **'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति' सं० डा० देवीशरण अवस्थी, पृ० १४४।**
२. **वही, पृ० १७६।**
३. **'कहानी : अनुभव और शिल्प', पृ० ८०।**
४. **'हिन्दी-कहानी : एक अन्तरंग परिचय', पृ० ८३।**
५. **'गीली मिट्टी' की भूमिका में।**
६. **'नयी कहानी : दशा, दिशा, संभावना', सं० श्री सुरेन्द्र, पृ० १२३।**
७. **'छायावादोत्तर हिन्दी गद्य साहित्य', पृ० १२१, ८५।**
८. **'हिन्दी उपन्यासों में कल्पना के बदलते हुए प्रतिरूप', पृ० २३०।**
९. **'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', पृ० ४३७-३८।**

आयातित कुंठा, संत्रास, देहवादी विद्रोह, मृत्युबोध, कामपीड़ा और विरसता आदि में आधुनिकता देखी जाने लगी। सन् १९६० के लगभग नगरबोध आधुनिकता का पर्याय हो गया और आंचलिकता पर प्रहार तीव्र हो गया। राजेन्द्र यादव ने इस शिल्प की कटु समीक्षा करते हुए भी इसमें 'रोचक' सुखद विशेषता के साथ-साथ गहरी आत्मीयता और विराट कथा-संभावनायें देखीं और गंभीर उत्तरदायित्वपूर्ण सृजन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के संदर्भ में इसका उल्लेख किया।[1] किन्तु प्रश्न उठता है कि कथा में अपेक्षित गाम्भीर्य क्या आधुनिकता के किसी आयाम से जुड़े बिना नहीं आ सकता है ?

आधुनिकता और आंचलिकता में दो शिल्पगत प्रवृत्तियाँ हैं जो ग्राम-कथानकों को प्रभावित कर दो दिशा देती हैं और प्रायः दोनों विपरीत मार्गी हैं। ग्रामजीवन की पृष्ठभूमि पर लिखने वाला कथाकार जब रेणु की तरह आंचलिकता के छोर को पकड़े होता है तो वह जिस मात्रा में अल्प आधुनिक होता है उसी प्रकार शिवप्रसाद सिंह की तरह जब आधुनिकता की भूमि पर खड़ा होता है तो उसी मात्रा में अल्प आंचलिक रह जाता है। गाँव और अंचल का अन्तराल भी स्पष्ट है। किसी अंचल विशेष पर लिखने के कारण ही कथाकार तब तक आंचलिक संज्ञा का अधिकारी नहीं होगा जब तक उसकी समस्त मूलभूत अनिवार्यतायें लक्षित नहीं होती हैं। उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा होते गहराई जीवन की नहीं, सज्जा नूतन शिल्प की और वैशिष्ट्य उस अंचल विशेष का उभर कर ऊपर आ जाता है। यह वैशिष्ट्य उस मोहकता को पहले पेश करता है जिसका उपजीव्य कभी भूगोल होता है तो कभी इतिहास। इसीलिए इस शिल्प में अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति एकनिष्ठ आस्था की स्थिति है और मरणोन्मुख परम्पराओं के प्रति भी उसमें एक भावुक व्यामोह है। 'कठोर' वर्तमान लोकगीत और लोककथा-स्थितियों को धक्का देकर उनकी स्वप्न-शीलता को चूर्ण-चूर्ण कर उन्हें अपदस्थ करना चाहता है तथा इसके प्रति भी एक करुण-क्रन्दन आंचलिक शिल्प में विद्यमान है। नये स्वर, नये परिवर्तन और नये संघर्ष की चुनौतियों को झेलने की इसमें वृत्ति नहीं है।

शैलेश मटियानी की सर्जना के दो क्षितिज हैं, कुमायूँ और बम्बई। कुमायूँ घर है और बम्बई बाहर, एक बहक। घर को लेकर उनका जो राग फूटा और सौन्दर्य-रुचि में उन्मेष आया वही उनका निजत्व है तथा उस जड़-अबोल

१. कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृ० १३३।

अंचल को जो प्यार की वाणी दी है वह एक मूल्यवान उपलब्धि है। उसमें प्रौढ़ आंचलिकता है किन्तु आधुनिकता रहित है। यहाँ तक कि उसमें समकालीनता भी नहीं है। उनका अंचल पुरातनता में समाधिस्थ एक क्लैसिकल पार्वतीय अंचल है और शुद्ध रूप से किसी भी नये परिवर्तन से पृथक, लोकगीत और लोककथाओं में डूबा स्थिर जीवन का चित्र-विचित्र संगीतात्मक कला-मंडप है। अल्मोड़ा को लेकर लिखे गये अपने प्रथम आँचलिक उपन्यास 'हौलदार' में मटियानी जी स्वयं स्वीकार करते हैं कि उन्होंने वहाँ के जन-जीवन के सामाजिक-आर्थिक पहलुओं के गहन-व्यापक स्तरों को नहीं छुआ और उनका आग्रह आंचलिक शिल्प के प्रस्तुतीकरण पर ही केन्द्रित रह गया। यही आंचलिक शिल्प का आग्रह उनकी अन्य कृतियों में भी लक्षित होता है। उनके नायक-नायिकायें अभिशप्त पीड़ा भोग में जर्जर और कुंठित कम नहीं हैं परन्तु कहीं कोई आक्रोश, संक्षोभ और विद्रोह वृत्ति नहीं लक्षित होगी। वे नियति भोग की अनिवार्यताओं को मनसा स्वीकारते, देवी-देवताओं, लोक-कथाओं में डूबे पूर्ण अतीतजीवी हैं। उनपर प्राचीन मूल्य छाये हैं। उनके अंचल में बुरूंश फूलों का अखण्ड कुमायूँनी सौन्दर्य तो है पर आधुनिकता की हवा नहीं है। भूत-प्रेत, लोकगीत, कथा, रामलीला, पोस्टमैन और भाभी-प्रेम आदि में डूबी मटियानी जी की कहानियाँ भी आंचलिक राग-बोध-संयुक्त हैं। 'चिथड़े', 'नीत्शी', 'पुरखा' और 'दो दुखों का एक सुख' जैसी कुछ कहानियों में आधुनिक सम्वेदनाओं की पकड़ का शिल्प अवश्य ही स्पष्ट है परन्तु सब मिलाकर उनका कथा-शिल्प 'काला कौआ' में प्रतिनिधि रूप से अभिव्यक्त होता है जिसमें क्लैसिकल समस्वरता है।

आधुनिकता सहित कृषक-क्षेत्रों की आंचलिकता का सशक्त रूप उभरा रेणु में और उन्होंने ही 'मैला-आँचल' (सन् १९५४) की भूमिका में सर्वप्रथम इस 'आंचलिकता' शब्द का प्रयोग किया। इस आंचलिकता के दुर्बल उपचार से रहित, शुद्ध आज का नवपरिवर्तित ग्राम-जीवन आधुनिकता-बोध के परिप्रेक्ष्य में शिल्प की ताज़गी के साथ शिवप्रसाद सिंह के द्वारा अंकित किया गया। 'आर पार की माला' (१९५५) से लेकर 'अलग-अलग वैतरणी' (१९६७) तक उनका समूचा साहित्य नये गाँव-बोध का दस्तावेज है। आधुनिकता रहित क्लैसिकल पार्वतीय आंचलिक शिल्प, आधुनिकता सहित कृषक-क्षेत्रों के आंचलिक शिल्प और आधुनिक ग्राम-बोध युक्त अनांचलिक शिल्प के अतिरिक्त

कथा-साहित्य में समकालीन आंचलिकताभास का एक शिल्प भी शानी में एक नये अन्य और नागर स्वाद-समन्वय की स्थितियों को लेकर उभरा ! शानी मध्यप्रदेश के पिछड़े बस्तर इलाके के आदिवासियों के जीवन का नागरिक यथार्थ-द्रष्टा है । उस वन्य अंचल में सर्विस करने वाले खाते-पीते सुखी लोगों द्वारा देखे-भोगे वहाँ के जीवन अथवा देशी-विदेशी पर्यटकों के कौतूहल मिश्रित निरीक्षण के माध्यम से उभरे वहाँ के जन-जीवन को, विशेषकर मुसलिम परिवार, गरीब-रुग्ण लोग, सामान्य स्थितियों के बीच उपजी असामान्य अनुभूतियों को एक नये शिल्प के माध्यम से शानी प्रस्तुत करता है ।

आदिवासी जीवन को लेकर आंचलिक शिल्प निखार राजेन्द्र अवस्थी और जयसिंह में दृष्टिगोचर होता है । प्रादेशिक रूपाभा को बलभद्र ठाकुर ने, तटीय छवि को देवेन्द्र सत्यार्थी और उदयशंकर भट्ट ने आंचलिकता के स्तर पर शिल्पायित किया है। सघन आंचलिकता का प्रयोग-धर्मी शिल्प एक नगर को लेकर शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' ने तो एक गाँव को लेकर राही मासूम रज़ा ने प्रस्तुत किया । 'आधा गाँव' के शिल्प पर आगे स्वतंत्र रूप से विचार किया जायेगा । अनांचलिक शिल्प की विधिवत् घोषणा ग्राम-कथा के सन्दर्भ में शिवप्रसाद सिंह, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय और श्रीलाल शुक्ल को करनी पड़ी । इस प्रकार आंचलिक शिल्प के कतिपय रूप जो आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट हुए वे निम्नांकित हैं—

१—आधुनिकता रहित क्लैसिकल पर्वतीय आंचलिकता का शिल्प

२—आधुनिकता सहित कृषक-क्षेत्रों का आंचलिक शिल्प

३—आधुनिक ग्रामबोध युक्त अनांचलिक शिल्प

४—प्रादेशिक, तटीय और आदिवासी आदि विशिष्ट जीवन-छविधारक आंचलिक शिल्प

५—आंचलिकताभास शिल्प

६—सघन आंचलिकता का प्रयोगधर्मी शिल्प

७—अति आंचलिक शिल्प ।

(३) आंचलिक शिल्प का विकास

स्वातंत्र्योत्तर कथा-शिल्प का पूर्व कथा-शिल्प से भिन्नत्व स्पष्ट करने के लिये 'आंचलिक' संज्ञा और तद्नुरूप सृजन के प्रवर्तक तो फणीश्वर नाथ रेणु हैं किन्तु यह प्रवृत्ति बहुत प्राचीन है । डाक्टर प्रतापनारायण टंडन कथा-

साहित्य में इस शिल्प का आरम्भ आचार्य शिवपूजन सहाय की कृति 'देहाती दुनिया' (१९२६) से मानते हैं।[1] डाक्टर सत्यपाल चुघ अवधप्रान्त के ग्रामीण अंचल के जीवन, उनकी सामाजिक रूढ़ियों, विकृतियों, संकीर्णताओं और विशिष्ट वृत्तियों के चित्रण से सम्पन्न होने के कारण 'निराला' की कृति 'बिल्लेसुर बकरिहा' में आंचलिकता का प्राचीन रूप देखते हैं। इस सम्बन्ध में डाक्टर बदरीदास का शोध बहुत मूल्यवान है। अपने 'हिन्दी उपन्यास : पृष्ठभूमि और परम्परा' शीर्षक शोधग्रन्थ में आंचलिकता की प्रवृत्ति के विकास को चार-पाँच दशक और पीछे खींच ले जाते हैं। आंचलिक उपन्यास को प्रादेशिक-उपन्यास की संज्ञा देकर उसकी एक विशाल प्राचीन परम्परा का उल्लेख उन्होंने किया है।[2] संक्षेप में वह निम्नलिखित रूप में है—

१—भुवनेश्वर मिश्र—'घराऊ घटना' (१८९३)
'वलवन्त भूमिहार' (१९०१)

२—जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—'बसन्त मालती' (१८९९) (मुंगेर ज़िले का मलयपुर अंचल, मल्लाहों का जीवन, लोकभाषा, लोक-रीतियाँ)

३—हरिऔध—'अधखिला फूल' (१९०७)
(गोरखपुर ज़िले का एक गाँव)

४—गोपालराम गहमरी—'भोजपुरी ठगी'।

५—रामचीज सिंह — 'बन विहंगिनी' (१९०९)
(संथाल परगना, आदिवासी क्षेत्र, कोल-कुमारियों का जीवन-संघर्ष)

६—ब्रजनन्दन सहाय—'अरण्यबाला'
(विन्ध्याचल के एक पहाड़ी गाँव का चित्रण)

७—मन्नन द्विवेदी—'रामलाल' (१९१४)
(गोरखपुर की बाँसगाँव तहसील का एक गाँव)

डाक्टर बदरीदास ने 'रामलाल' को उक्त सबमें सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास घोषित किया है। इसमें एक अंचल विशेष के जमींदार, महाजन, पट-

---

१. हिन्दी उपन्यास कला, पृ० १२४।

२. हिन्दी उपन्यास पृष्ठभूमि और परम्परा, पृ० ३६८-३७३।

वारी, डाकिया, साधु, पंडित आदि सबकी वर्ग-गत और वैयक्तिक विशेषताएँ अंकित हैं। इसके अतिरिक्त आल्हा, भजन, त्योहार, मेला, ऋतु-रंगीनी, लोक-गीत, वैवाहिक रीति-रिवाज आदि का चित्रण रिपोर्ताज की शैली पर किया गया है। इस शोध से यह सिद्ध है कि आंचलिकता का अनाम विकास अपनी समस्त संभावनाओं के साथ उपन्यास-साहित्य के विकास के साथ ही हिन्दी साहित्य में आरम्भ हो गया था। रेणु आदि ने उसका अभिनवी अथवा आधु-निकीकरण मात्र किया है। कृषि-क्षेत्र की, आदिवासी क्षेत्र की और पर्वतीय क्षेत्र की आंचलिकता आदि सभी आंचलिक-शिल्प रूपों का विकास-बीज उक्त संक्षिप्त सूची में दिखाई पड़ रहा है। अंचल विशेष का ग्राम-जीवन इस शिल्प की प्रमुख विशेषता रही। 'हिन्दी उपन्यासों में मुख्यतः वे ही उपन्यास आंच-लिक माने गये जो मुख्यतः ग्रामीण जीवन से संबंधित रहे।'[1] एक दृष्टि यह रही कि आंचलिक उपन्यास वे हैं जिनमें अविकसित अंचल विशेष के आदि-वासियों अथवा आदिम जातियों का विशेष रूप से चित्रण किया गया हो। इस दृष्टिकोण से पुरस्कर्ता आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हैं।[2] इस प्रकार चाहे अंचल विशेष का ठेठ ग्रामीण जीवन हो चाहे आदिवासी क्षेत्र का चित्रण हो, दोनों ही दृष्टि से आंचलिक उपन्यासों के प्रारंभिक विकास की उक्त रूपरेखा जन्य प्रवृत्ति अत्यन्त भविष्णु प्रतीत होती है। सन् १८९३ और १९१४ के बीच की उक्त रचनाएँ महावीर प्रसाद द्विवेदी काल के आरम्भ में पड़ती हैं और उनमें शिल्प के तराश और भंगिमा के चुस्त-चुटीलेपन की आशा नहीं की जा सकती और न ही आज के पारिभाषित 'आंचलिक उपन्यास' की कोटि में विधिवत् परिगणित कर सकते हैं। ये शिल्प वृत्तियों के प्रागुप्रारूप हैं। इनमें 'स्थानीय रंग' का वह आवश्यक तत्त्व है जो किसी उपन्यास को आंचलिक बनाने वाले उपकरणों में से प्रमुख हैं। 'स्थानीय रंग' का चित्रण देखकर 'व्यापक अर्थ' में किसी उपन्यास को आंचलिक घोषित कर देने की चलन समीक्षा-क्षेत्र में प्रवेश कर गई है। 'जिस क्षेत्र या काल की कथावस्तु होती है उसी के अनुरूप वातावरण की सृष्टि किये बिना कोई भी उपन्यासकार सफल नहीं हो सकता। उस व्यापक अर्थ में तो सभी उपन्यासों को आंचलिक मानना पड़ेगा।

१. हिन्दी उपन्यास कला : डा० प्रताप नारायण टंडन, पृ० २९०।
२. 'सारिका', नवम्बर १९६१, पृ० ९१।

प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, शरत्, के० एम० मुंशी सभी के उपन्यास आंचलिक ही तो हैं। पाठक वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में अपने को मध्यप्रदेश में पाते हैं तो शरत् के उपन्यास उन्हें बंगाल में पहुँचा देते हैं और मुंशी के उपन्यास गुजरात में। क्षेत्रीय वातावरण की सृष्टि में सफल होने पर भी हम इन सब उपन्यासों को आंचलिक नहीं मानते हैं।'[1]

(क) आंचलिक शिल्प : विशिष्टता और उपलब्धियाँ

ग्राम-जीवन-चित्र में चटक स्थानीय रंग के साथ जब किसी विशेष आंचलिक इकाई की समस्याओं और जीवन-संघर्ष-सूत्रों की गझिन बुनावट रूपवादी स्पष्टता और विशिष्टता के साथ उभरती है तब हम उसे आंचलिक-शिल्प के अन्तर्गत परिगणित करते हैं। यह एक विशेष सर्जनात्मक प्रवृत्ति है। न केवल उपन्यास में अपितु स्वातंत्र्योत्तर काव्य-प्रयोगों में भी इसका उभार हुआ। 'कल्पना' के 'नवलेखन-विशेषांक'-१ की टिप्पणी में शिवप्रसाद सिंह ने 'तार-सप्तक' के आधार पर अत्यन्त पुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि उस काल के सभी कवि छायावादी एकरसता से उबरने के लिए गाँव की ओर विशेषकर आंचलिक तत्त्वों की ओर आकृष्ट होते हैं।[2] साहित्य में गाँव अपनी पूरी शक्ति के साथ उभरता है। उसकी दबी-ढकी धड़कनों और स्पन्दनों की आहट सर्वत्र सुनाई पड़ने लगती है। यह आंचलिकता के माध्यम से विमुक्त भारतीयता का समुल्लसित ज्वार था जिसमें सांस्कृतिक और सामाजिक सुन्दरताओं की महत् उपलब्धियाँ हस्तगत हुई। प्रसिद्ध आंचलिक कथाकार राजेन्द्र अवस्थी ने 'एक प्यास पहेली' नामक अपनी कथा-कृति की भूमिका में इस स्थिति का सम्यक् विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है कि हिन्दी के आंचलिक शिल्प ने समग्र युग-चेतना को आन्दोलित किया है। इसके प्रकाश में ग्रामीण अपने रूढ़ संस्कारों में जड़ित होते हुए भी नागरी सभ्यता से अधिक सचेतन जान पड़ते हैं। डाक्टर शिवनारायण श्रीवास्तव ने 'आंचलिक रंगों के आधिक्य' से एक नूतन प्रवृत्ति का उभार इस रूप में लक्षित किया है कि अपनी विशिष्ट चित्रित भौगोलिक संस्कृति और जीवन-पद्धतियों को लेकर कोई भू-भाग अपनी

---

१. हिन्दी साहित्य को कूर्मांचल की देन, डा० भगतसिंह, पृ० २७७।
२. 'कल्पना' नवलेखन—विशेषांक-१, अगस्त-सितम्बर १९६९, पृ० ५।

सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ एक अलग इकाई के रूप में प्रत्यक्ष हो उठता है।[1] प्रकाश वाजपेयी ने आंचलिक शिल्प की उपलब्धियों को संक्षेप में निम्न रूप में बताया[2]——

१——सामान्य उपन्यासों से नवीन भिन्नत्व

२——लेखकीय विशेषज्ञता

३——व्यापक कैन्वस से लघुता की ओर

४——व्यक्तिवादी उपन्यास शिल्प की प्रतिक्रिया

५——लोकरंग और लोक-जीवन सम्पन्नता

६——अंचल का फोटोग्रैफिक चित्रण

७——असाधारण भाषा

८——स्वच्छन्द, सरल, अकृत्रिम गृहीत वन्य या ग्राम-जीवन।

व्यक्तिवादी उपन्यास-शिल्प की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आंचलिक उपन्यासों में बिखराव की सृष्टि होती है और यह बिखराव उसके शिल्प का मेरुदण्ड है। उसमें किसी व्यक्ति की नहीं, सम्पूर्ण अंचल की समवेत कथा होती है। उसमें जीवन अपनी समग्रता में भास्वर होता है। कहानी में क्रम, व्यवस्था, सन्तुलन, सुगढ़ता और यांत्रिकता आदि यदि है तो वह आंचलिक शिल्प नहीं है। यह संभव है कि उसमें कोई 'अंचल' डाल दिया गया है। राजेन्द्र अवस्थी की कृति 'सूरज किरन की छाँव' उक्त कारणों से ही अल्प-आंचलिक शिल्प सम्पन्न उपन्यासों की कोटि में आ जाती है। उनके दूसरे उपन्यास 'जाने कितनी आँखें' में कथानक की स्वच्छन्दता कुछ अधिक निखार पाती है और एक सम्पूर्ण अंचल अपने बहुविध जीवनाकांक्षाओं में समुद्वेलित स्थितियों की अभिव्यक्ति पाता है।

(ख) तुलनात्मक अध्ययन

कथा-साहित्यगत आंचलिक शिल्प की प्रवृत्ति न केवल हिन्दी-साहित्य की अपितु विश्व-साहित्य की एक बलवती प्रवृत्ति है। नगर-जीवन की भौतिकवादी सुख-सुविधाओं के इस वैज्ञानिक-विकास-युग में भी ग्राम-जीवन की सहजता,

---

१. हिन्दी उपन्यास : डा० शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ० ३१५।

२. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : प्रकाश वाजपेयी (उपलब्धि चर्चा)

लोक-जीवन की अकृत्रिम जीवन-माधुरी और विशिष्ट अंचलों की अनाविल रमणीयता साहित्यकारों के लिए आकर्षण की वस्तु बनी हुई है। कृषि-जीवन की उत्तमता पर आज भी आँच नहीं आई है। आज भी संसार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास वही हैं जो ग्रामजीवन अथवा कृषि-कृषक जीवन पर आधारित हैं। नगर सभ्यता में एकरसता और शुष्क यांत्रिकता है जिससे उत्पन्न ऊब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'आंचलिक शिल्प' के रूप में उद्भूत हुई है। इसने आज के खंडित मनुष्य को उसके खोये जीवन वास्तव से जोड़ा है। अमरीका, इंगलैंड, रूस और भारत में आंचलिक साहित्य नदी, पर्वत, घाटी, जंगल, अविकसित आदिवासी क्षेत्र और विकसित विशाल कृषि-क्षेत्रों की अपार विशालता और सम्पन्नता लिये युगीन-जीवन के दबाव से सहज रूप में एक दूसरे को प्रभावित करता हुआ विकसित हुआ है और विश्व-साहित्य की जीवन्त औपन्यासिक निधि बन गया है।

आंचलिक उपन्यासों के निर्माण के पीछे एक नवीन सांस्कृतिक दृष्टि भी काम कर रही थी। योरप और अमेरिका में मध्यवर्गीय यथार्थवादी और आदर्शवादी असंख्य उपन्यास लिखे जा चुके थे। मध्यवर्ग धीरे-धीरे निर्जीव और निष्प्राण होने लगा था, उसका जीवन कुछ स्वीकृत प्रतिमानों पर चलता जा रहा था जो धीरे-धीरे खोखले हो रहे थे। मध्यवर्ग की इस गिरती हुई परिस्थिति में नये रक्त संचार की आवश्यकता थी। नयी जीवन-विधियों की नियोजना अपेक्षित थी। ऐसी स्थिति में अनेक उत्साही और पर्यटक उपन्यासकारों ने सुदूर एशिया और अफ्रिकी प्रदेशों में जाकर वहाँ की शक्तिशाली जीवन पद्धतियों से सम्बन्धित उपन्यास लिखे। वे अधिकतर अंचल विशेष की रीति-नीति, व्यवहार और जीवन से सम्बन्धित थे। वास्तव में आंचलिक उपन्यास उन्हें ही कहा जायेगा जिनमें इस प्रकार के नूतन, शक्तिशाली और बहुत कुछ आदिम जीवन-विधियाँ पायी जाती हैं।'[१]

विश्व-साहित्य में आंचलिक-शिल्प के विकास की उक्त स्थितियों के अतिरिक्त एक अन्य वैचारिक आयाम का स्पष्ट विवेचन डाक्टर शिवप्रसाद सिंह ने किया है और बताया है कि आंचलिकता का सशक्त आन्दोलन के रूप

---

१. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी--'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास' (ले० प्रकाश बाजपेयी) की भूमिका, पृ० २।

में सबसे प्रभावशाली रूप अमरीकी साहित्य में दिखाई पड़ता है जहाँ 'न्यू फ्रन्टियर्स मूवमेन्ट' के झण्डे के नीचे विदेशी प्रभावापन्न नागर-आधुनिकता, उद्योगीकरण आदि के विरोध में इसे अपनी धरती और लोक-संस्कृति से जोड़ने के साथ क्षेत्रीय-जीवन-विशेषताओं को उभार कर व्यापक प्रसार दिया गया है। विशेषकर योरोपीय संस्कृति के प्रति अंध श्रद्धा-भाव को ध्वस्त करना उनका उद्देश्य है।[1]

भारतीय साहित्य में भी विश्व-साहित्य के समानान्तर आंचलिकता के पीछे सांस्कृतिक पुनरुद्धार की एक अन्तरान्दोलित प्रवृत्ति क्रियाशील प्रतीत होती है। विभिन्न कथाकार-मानस में एक-एक सुपरिचित 'ग्रामीण-अंचल' इस प्रकार उग जाता है कि उसका समग्र जीवन उद्भासित हो जाता है। जिस प्रकार हार्डी में इंगलैंड का वेसेक्स अंचल और विलियम फाकनर में अमरीका के दक्षिणी अंचल अपने समस्त रस-गंधों के साथ उभरते हैं उसी प्रकार फणीश्वर नाथ रेणु में पूर्णिया अंचल, वृन्दावनलाल वर्मा में बुन्देलखण्ड, गणेशनारायण दाण्डेकर (मराठी) में बराड़ अंचल, रतिनाथ भादुड़ी में बंग-अंचल, विश्वनाथ सत्य-नारायण (तेलुगू) में आंध्र और झबेर चन्द्र मेघाणी (गुजराती) में सौराष्ट्र अंचल उजागर हो जाता है। 'गोदान', 'बलचनमा', 'परती : परिकथा' और 'अलग अलग वैतरणी' में उसी प्रकार गाँव के किसान का समग्र सांस्कृतिक-जीवन परिलक्षित होता है जिस प्रकार 'वर्जिन साइल' (तुर्गनेव), 'पूअर पीपिल' (दास्तएविस्की), 'अन्ना करेनिना (ताल्सताय), 'वाइनबर्ग' (शेरवुड एण्डरसन), 'गुड अर्थ' (बक) 'होड़माटी' (नित्यानन्द महापात्र-उड़िया), 'रंति तंगाशि' (तकाशि शिवशंकर पिल्ले—मलयालम) 'नदई' (दीनानाथ शर्मा—असमिया), 'धरती नुं अवतार' (ईश्वर पेटलीकर—गुजराती), 'पदरे पण्य' (राघव विनायक दिघे—मराठी), 'गणदेवता' (ताराशंकर बन्धोपाध्याय—बंगला) और 'माटीर माणिष' (हितेश डैका—असमिया) में उभरता है। इन उपन्यासों को देखकर लगता है कि विश्व-जीवन का मूल कृषक-जीवन है और वह वास्तव में एक है। सारे संसार के किसानों की समस्याएँ, प्रवृत्तियाँ और अन्तरमन की बनावट लगभग समान है। यांत्रिक नागर सभ्यता की चपेट की समस्या भी किसी न

---

१. आधुनिक परिवेश और नवलेखन, पृ० ११६।

किसी रूप और अंश में सर्वत्र है। आंचलिक शिल्प इस सार्वभौम प्रश्न से जूझने का शिल्प है।

अंग्रेजी में मेरिया एजवर्थ (१७६७-१८४९) और हिन्दी में फणीश्वर नाथ रेणु (१९२१) ने सर्वप्रथम अपने उपन्यासों के लिए आंचलिक नाम दिया। शताब्दी के अन्तराल के बीच आंचलिकता की जो-जो प्रवृत्तियाँ विश्व-साहित्य में उदित हुई सबको भारतीय साहित्य ने आत्मसात् किया। अर्नेस्ट हेमिंग्वे में जो अनन्त स्फीत महासागर अपनी अजस्र शक्तियों के साथ उद्वेलित है और संघर्षरत मनुष्य के साहस और धैर्य का प्रयोगस्थल बना हुआ है वही उदयशंकर भट्ट में भी हिल्लोलित है। मार्क ट्वेन की मिसिसिपी नदी, शोलोखोव की दोन, अद्वैत मल्ल वर्मन की तीतस नदी, माणिक बन्द्योपाध्याय की पद्मा नदी, समरेश बोस और 'रुद्र' की गंगानदी, रेणु और मधुकर गंगाधर की कोसी नदी, देवेन्द्र सत्यार्थी की ब्रह्मपुत्र और रामदरश मिश्र की राप्ती नदी का स्वर लगभग एक है। शिवप्रसाद मिश्र ने जिस प्रकार गंगा का आंचलिक शिल्प में मानवीकरण किया है, उसी प्रकार असमिया के रजनीकान्त बरदलै ने 'मीरीजियरी' नामक उपन्यास में शोवणशिरी नदी का मानवीकरण किया है। अमरीका की गंगा मिसीसिपी के चित्रण में नदी पुराणपरक और आत्मकथात्मक प्रवृत्ति मार्क ट्वेन में भी है। जिस प्रकार मार्क ट्वेन मल्लाहों-मछुवारों का कथाकार है उसी प्रकार तकाशि शिवशंकर पिल्ले, मज़ोज वसु, समरेश वसु, नागार्जुन, देवेन्द्र सत्यार्थी और मायानन्द मिश्र भी भारतीय स्थितियों में अपनी आंचलिक कृतियों के माध्यम से मछुआ जीवन को उजागर करते हैं। हेमिंग्वे ने अपने उपन्यास 'एक्रास दी रीवर एण्ड इन्टू द ट्रीज़' में अफ्रीका के निवासियों का लोक-जीवन अंकित किया है। भारतीय साहित्य में प्रफुल्ल राय (बंगला), गोपीनाथ महान्ती (उड़िया), विरिंचि कुमार बरुआ (असमिया), पन्नालाल पटेल (गुजराती) और हिन्दी में वृन्दावनलाल वर्मा, राजेन्द्र अवस्थी, जयसिंह और शानी आदि ने अविकसित क्षेत्रों की आदिम जन-जातियों को उठाया है। हिन्दी में शानी और राही ने जैसे मुसलिम परिवारों को अंकित किया है उसी प्रकार मलयालम में बशीर ने अपने उपन्यास 'पथुम्मा गाटे आड़' में केरल के निम्नवर्गीय मुसलिम जीवन को चित्रांकित किया है। शैलेश मटियानी और फणीश्वर नाथ रेणु के आंचलिक उपन्यासों में जो लोककथात्मकता का उभार दष्टिगोचर होता है वह गुजराती-उपन्यासों में सर्वाधिक समृद्ध दृष्टिगोचर

होता है। पन्नालाल पटेल के उपन्यास 'मलेला जीव' और देवशंकर मेहता के उपन्यास 'धरती नो पछेड़ो' में लोक-कथा और लोक-वार्ता का चटक रंग है। इसके अतिरिक्त तमिल के आंचलिक उपन्यासकार चिदम्बर सुब्रमणियन की कृति 'नागमणि' में भी लोककथात्मकता है।

आंचलिक शिल्प और वस्तुतत्वगत यह एकरूपता मूलभूत जीवन की एक-रूपता का पारिचायक और परिणाम है जिसे तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषित करने पर स्पष्ट रूप से परख सकते हैं। इस दिशा में मूल्यवान कार्य डाक्टर इंदिरा जोशी ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी उपन्यास में लोकतत्व' के अन्तर्गत किया है। इसके अतिरिक्त 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास' (प्रकाश वाजपेयी) और 'हिन्दी-मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन' (डा० चन्द्रकांत महादेव वांडिवडेकर) में भी ऐसी तुलनात्मक दृष्टि रखी गई है जिसमें आंचलिक उपन्यासों में चित्रित भारतीय कृषक-जीवन और अविकसित अंचलों का सनातन जन-जीवन समग्र दृष्टि से आकलित होकर नये तथ्यों की पृष्ठभूमि बन जाता है।

(ग) आंचलिक शिल्प और ग्राम कथानक

आंचलिक शिल्प और ग्राम-कथा-शिल्प में अन्तर है। यह अन्तर एक ही काल में कथाकाश में उदित होने वाले दो सशक्त नक्षत्र रेणु और मार्कण्डेय का अन्तर है। एक में विद्रोह है और दूसरे में परम्परा का नव्य पुरस्करण है। किन्तु तत्कालीन कथा-विकास की प्रक्रिया में दोनों ही 'नया' अथवा 'आधुनिक' हैं। परम्परा सिद्ध ग्राम-कथा से भिन्नत्व ज्ञापनार्थ और उसकी विशिष्ट स्वच्छन्द वृत्ति को पूर्वपरिभाषित और सुपरिचित आंचलिक संज्ञा से जोड़ना उचित ही था। अनुचित हुआ नगर-कथा का आन्दोलन और वह भी इस त्वरा में जैसे ग्रामकथा और आंचलिक कथा दोनों के सिर से 'आधुनिक' का सेहरा समेट कर झटपट नये सिर पर स्थापित कर लिया जाय। डाक्टर इन्द्रनाथ मदान ने ठीक ही लिखा कि 'अगर ग्राम-कथा को भी आधुनिकता के संदर्भ में आँका जाता तो नगर-ग्रामकथा के विभाजन की आवश्यकता उसी तरह न पड़ती जिस तरह नयी कथा के नाम की।'[1]

---

१. हिन्दी-कहानी—डा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ४२।

ग्राम-कथा और आंचलिक-कथा दोनों के शिल्प की पृष्ठभूमि गाँव है और इस आधार पर दोनों में कोई विरोध नहीं है। सन् १९५८ के लगभग विरोध उठा नगर-कथा की ओर से और उन्होंने ग्राम-कथा को एकरस-फीकी घोषित किया। मार्कण्डेय ने अपने कथा-संग्रह 'भूदान' की भूमिका में इस स्थिति का विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है, सन् १९५१-५२ के आसपास साहित्यिक गतिविधि से परिचित लोगों के आगे यह स्पष्ट है कि तत्कालीन मरियल कहानी के सामने एक ओर जैनेन्द्र और अज्ञेय प्रश्न चिह्न की तरह खड़े थे तो दूसरी ओर यशपाल के ताजे वैचारिक यथार्थ का रेडीमेड मसाला धूम से बाजार में चल रहा था और युद्धोत्तर भाव-जगत् का क्षत-विक्षत प्रभाव लिये बेचारे नये कहानी लेखक भकुए की तरह कभी इधर, कभी उधर भटक रहे थे।......इन हालतों में ग्राम-कथानकों का आगमन सिर्फ कहानी के नये उत्कर्ष का सूचक मात्र नहीं है बल्कि एक बड़े वर्ग की सामाजिक जागरूकता का नवीन उत्कर्ष है।'[1]

यह सत्य है कि ग्राम-कथानकों के साथ शिल्प की एक प्रभावशाली ताजगी आई और उसमें जीवन्त जीवन का स्पन्दन मिला। इसने सच्चे अर्थ में पहले-पहले भारतीय-जीवन का स्पर्श किया और यही कारण है बुद्धिजीवी वर्ग में इसके आगमन के साथ ही एक नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। कथाकारों को तो इस आधुनातन विधा ने जैसे जगा दिया। इसे लेकर विवादों और आन्दोलनों का उन्मेष भी इसकी शक्तिमत्ता का परिचायक है। बिम्ब, प्रतीक, उपमा, संकेत और नये प्रयोगों से सम्पन्न ग्राम-कथानकों में यदि कोई आलोचना योग्य पक्ष था तो वह था उसका अस्तित्व। क्योंकि उसने उस ग्राम-जीवन और उसके परिवर्तित समाज तथा उसे प्रभावित करने वाली स्थितियों को लिया जो बहुत पिछड़ा, उदास, उपेक्षित और टूटा था। सामाजिक यथार्थ के इन सन्दर्भों से ग्राम-कथा की नियति स्वभावतः जुड़ी थी। वैयक्तिक यथार्थ के अहं केन्द्रित नागर बोधाश्रित और धरती से कटे नये कथा-शिल्प द्वारा ग्राम-कथानकों को असम्मान मिलना स्वाभाविक था। इसके साथ ही अनेक भ्रमों की सृष्टि हुई। सबसे बड़ा भ्रम यह उत्पन्न हुआ कि नगरकथा ग्राम-कथा से आधुनिकता की अभिव्यक्ति की दृष्टि से श्रेष्ठ है और दूसरा भ्रम यह फैला कि ग्राम-कथा और

---

१. 'भूदान' (मार्कण्डेय) की भूमिका से।

आंचलिक कथा एक ही वस्तु है और दोनों ही आधुनिकता से दूर हैं। ग्राम-कथा' और आंचलिकता के सम्बन्ध में उत्पन्न भ्रम का निराकरण आवश्यक है। 'ग्राम कथा ज्यादा व्यापक भावभूमि की वस्तु होती है। वहाँ ग्राम-जीवन से सम्बन्धित समस्याओं पर अनेक रूपों में विचार हो सकता है किन्तु चरित्र, जीवन-समस्याएँ अथवा मनोवैज्ञानिक भावभूमियाँ इस तरह सामान्य रूप से परिचित या सर्वनिष्ठ होती हैं कि उनका सदृशात्मक रूप कमोवेश मात्रा में न केवल भारत के बल्कि विश्वभर के ग्राम-जीवन में पाया जा सकता है। ग्रामकथा, इसीलिए किसी निश्चित प्रकार का आन्दोलन कभी नहीं बनी। ग्राम-जीवन सभी साहित्यों की परिचित वस्तु है जब कि आंचलिकता एक खास प्रकार के विशिष्ट क्षेत्र के जीवन से अपने को पूर्णतः सम्बद्ध कर देती है। उस जीवन को उपेक्षित और अछूता समझकर उसके समग्र रूप का, छोटी से छोटी विशेषताओं के साथ, पुनः प्रस्तुतीकरण आंचलिकता का लक्ष्य होता है।...इस प्रकार स्पष्ट रूप से जानना चाहिए कि प्रत्येक ग्राम-कथा आंचलिक कथा नहीं होती जबकि कोई आंचलिक कथा ग्राम-कथा हो सकती है।'[१]

(४) शिल्पविकास के नये आयाम

कथा-साहित्य के स्वीकृत शास्त्रीय शिल्प सम्बन्धी ढाँचे स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में टूट गये। कहानियों और उपन्यासों में कथानक, चरित्र-चित्रण, आदि-अन्त, चरमबिन्दु, वातावरण और संवाद आदि न सृजनदृष्टि से और न ही मूल्यांकन दृष्टि से उपयोगी अथवा अनिवार्य उपकरण रह गये। नेमिचन्द्र जैन[२], राजेन्द्र यादव[३], कमलेश्वर[४] और डा० विश्वनाथ तिवारी[५] आदि समीक्षकों ने इस तथ्य को बहुत स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। कमलेश्वर तो यहाँ तक कहते हैं कि कथानक, विषयवस्तु, शैली-शिल्प, चरमबिन्दु आदि तो

१. 'आधुनिक परिवेश और नवलेखन' ले० डा० शिवप्रसाद सिंह, पृ० ११९-१२०।
२. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति—सं० डा० देवीशंकर अवस्थी, पृ० १२१।
३. 'एक दुनिया समानान्तर' की भूमिका।
४. 'नयी कहानी की भूमिका', पृ० १०३।
५. छायावादोत्तर हिन्दी गद्य-साहित्य, पृ० १२६।

हुत पहले ही निकष नहीं रह गये थे, परन्तु अब तो युग-बोध, जीवनबोध, इसमष्टि-व्यष्टि आदि भी कहानी में कही गई बात को स्पष्ट करने में अधूरे पड़ते उठा।[1] वास्तव में जब जीवन में ही व्यवस्था नहीं रह गई तो कहानी में व्यवस्था कैसे रह सकती है ? 'अब कथा में सीधे जीवन का कोई छोर इस तीव्रगतिक शक्ति के साथ आता है कि कथानक, चरित्र-चित्रण आदि की बंटित मान्यताओं के ढाँचे उसे पकड़ने में असमर्थ होते हैं । वे उसमें नहीं होते हैं या सब होते हैं, समग्र समवेत रूप में नयी कथा ऐसी प्रभावगत सामासिकता में कसी क्षण-क्षिप्र संवेदनीय स्थितियों के चित्रण से सम्पन्न हो चली है कि उसके शिल्प में आदि और अंत का विभाजन भी दुष्कर है तथा चरमबिन्दु और केन्द्रीय भाव का अन्वेषण भी सुकर नहीं है।

क—कथानक

स्वातंत्र्योत्तर ग्रामगंधी कहानियाँ और उपन्यासों में कथानक सम्बन्धी जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है वह निम्नांकित है—

१—सूक्ष्मता अर्थात् घटना की जगह भाव अथवा विचार से नियंत्रित

२—कथानक का ह्रास

३—अन्तर्सूत्रतापूर्ण बिखराव

४—दोहरी बुनावट और सपाट सरलता

'परतीः परिकथा', 'गंगामैया', 'उदयकिरण' और 'रीछ' जैसे उपन्यासों में तथा 'प्रलय और मनुष्य' (मार्कण्डेय), 'सुबह के बादल' (शिवप्रसाद सिंह), 'रस-प्रिया' (रेणु), 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' (रामदरश मिश्र) और 'केंचुल और गंध' (मधुकर गंगाधर) जैसी कहानियों में कथानक का सूक्ष्म प्रयोग लक्षित होता है । कोई विचार (राजनीतिक-सामाजिक या आदर्शवादी-यथार्थवादी) या कोई भाव, सपना, गीत-कथा-गुंज झनझनाहट की तरह कथानक पर इस प्रकार छा जाती है कि उसका समस्त क्रम और संगठन घटनात्मक अन्वितियों से मुक्त हो जाता है । विशेषकर वैचारिकता से नये सृजन में कथानक अत्यधिक प्रभावित प्रतीत हो रहे हैं । इसीलिए उनका ह्रास न केवल ग्रामधर्मी रचनाओं में अपितु सम्पूर्ण हिन्दी-कथा-साहित्य में दृष्टिगोचर होता है । यह ह्रास उपन्यासों

---

१. 'नयी कहानी की भूमिका, पृ० १०३ ।

से अधिक कहानियों में हुआ है। 'धरती', 'रीछ' और 'सती मैया का चौरा' में जीवनवृत्तांत-परकता के कारण कथा तो अवश्य है परन्तु 'कथानक' नहीं है। आत्मचरितात्मकता और स्मृत्यनुप्रकाशी शैली ने कथानक-ह्रास को अत्यन्त तीव्र कर दिया है। आंचलिकता और प्रतीकात्मकता की प्रवृत्ति भी कथानक विरोधी पड़ती है। 'एक यात्रा सतह के नीचे' अथवा 'देवा की माँ' जैसी कहानियों में कथानक की खोज व्यर्थ होगी।

कथानक सम्बन्धी जो सर्वाधिक ध्यानाकर्षक विकास हुआ है वह है बिखराव। 'अलग अलग वैतरणी', 'मैला आँचल', 'आधागाँव', 'बलचनमा', 'पानी के प्राचीर', 'देहरी के आरपार', 'फिर से कहो', 'राग दरबारी', 'रीछ', 'जाने कितनी आँखें' 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'कलावे,' 'ब्रह्मपुत्र' और 'अँधेरे के विरुद्ध' आदि सभी श्रेष्ठ उपन्यासों में बिखराव है। 'अलग अलग वैतरणी' में एक दर्जन परिवारों की पूरी-पूरी कहानियाँ जुड़ी हैं। 'आधागाँव' सब की समवेत-कथा है जिसे 'समय' का अन्तर्सूत्र जोड़ता है। 'रीछ' और 'धरती' में मुख्य व्यक्ति तो एक-एक ही हैं परन्तु वे कथा के मुख्य पात्र नहीं, जोड़ने वाले अन्तर्सूत्र हैं। कथा तो एक गतिशील काल-खण्ड की है जिसके किसी सन्तुलित-सुसम्बद्ध रूप का कथानक से सम्बन्ध नहीं है। कहानियों में सन् १९६० के पूर्व प्रकाशित संग्रहों में तो किंचित् कथानक-संगठन लक्षित भी हो जाता है परन्तु इसके पश्चात् 'खाली घर' जैसे कहानी-संग्रह में अपने स्तर पर कथानक का बिखराव और उसकी असम्बद्ध-सम्बद्धता पूरी तरह निखर गई है।

दुहरी बुनावट की कथानक-गत चर्चा शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'बरगद का पेड़' और कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' आदि को लेकर होती है परन्तु 'अलग अलग वैतरणी' के प्रकाशन के साथ उपन्यास में भी इसकी चर्चा उठाई जायेगी। मूलतः यह वही प्रवृत्ति है जिसे डाक्टर सत्यपाल चुघ ने 'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि' के अन्तर्गत उपन्यास-कला की नयी प्रविधियों की चर्चा करते हुए अमृतलाल नागर के एक नागर-उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में अन्तिम अठारहवीं प्रविधि 'उपन्यास-दर-उपन्यास की पद्धति' के अन्तर्गत वर्णित किया है।[1] 'अलग अलग वैतरणी' के अन्दर एक और सूक्ष्म परन्तु अत्यन्त सशक्त उपन्यास है जो अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। वह है 'देवीधाम का मेला'

---

१. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि का विकास, पृ० ७१।

जिसे कथाकार ने अपने उपन्यास के आरम्भ में इस ढब के साथ बैठाया है कि पूरे उपन्यास की वह स्वतंत्र नींव बन जाता है। भविष्य की समस्त प्रभावकारिणी प्रवृत्तियाँ उसमें खुल जाती हैं। प्रायः सभी मुख्य पात्र वहाँ अपनी एकत्र-विशेषताएँ छोड़ जाते हैं। वह मेला उस जीवन-मेला का पूर्वभासित स्वतंत्र सूक्ष्म चित्र हो जाता है जो आगे वैतरणी के पृष्ठों में खुलने वाला होता है। इसके अतिरिक्त 'मास्टर शशिकान्त' एक और पूर्ण लघु उपन्यास माडगूलकर के 'बनगर बाड़ी' की भाँति 'अलग अलग वैतरणी' में उलझा है। मास्टर शशिकान्त के करैता स्कूल पर नियुक्त होने से लेकर उसके ग्राम-परित्याग की पूरी कहानी अपनी समस्त औपन्यासिक अन्वितियों के साथ गाँव की समस्याओं से उलझी होकर भी स्वयं स्वतंत्र रूप में चित्रांकित है।

ख--चरित्र-चित्रण

लेखकीय वर्णन और पात्रों के कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण की पुरानी पद्धति के अतिरिक्त नये कथा-साहित्य में चरित्र-चित्रण शिल्प का नवीन विकास हुआ है। अन्तरंग चरित्र विकास में नये मनोवैज्ञानिक प्रयोग हो रहे हैं और वाह्योपचाराधारित छोटी-मोटी बातों को भी चरित्र-विकास में सहायक मानकर उनका सूक्ष्म आकलन होता है। उपन्यासों में उद्धरण शैली, परिवेश पर्यवेक्षण शैली, कविता और चित्रादि के सृजनकार्य, पात्रों के सुलेख, गीत, समाचारपत्रों की कतरनों का उपयोग और उसके द्वारा क्रीत वस्तुओं के चुनाव आदि के विश्लेषण द्वारा चरित्र-चित्रण होता है।[1] कहानियों में चरित्र को विकसित करने वाली विधाओं में मनोविश्लेषण, आत्मविश्लेषण और निरपेक्ष विश्लेषण पद्धति विशेष रूप से गृहीत है।[2]

स्वातंत्र्योत्तर परिवर्तित ग्राम-स्थितियों में जबकि गाँव की एकता और सहकाराधारित मर्यादावादिता खंडित हो गई, पुराने चरित्र नये मूल्यों से और नये चरित्र पुराने मूल्य से टकराते चित्रित लक्षित हो रहे हैं। 'अलग-अलग

१. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि का विकास—डा० सत्यपाल चुघ, पृ० १०२।
२. हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधिक विकास—डा० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० २५३।

वैतरणी' में जैपाल सिंह में प्राचीनता है और सुरुजू सिंह में आधुनिकता। दोनों के चरित्र की एक कसौटी हो जाती है चमार-पुत्री सगुनी। जैपाल जो उसे छावनी पर केवल एक बार देख लेते हैं और उत्तराधिकारियों में हुआ मर्यादाहीन भविष्य की कल्पना उन्हें इस प्रकार मर्माहत करती है कि सदा के लिए गिरकर सो जाते हैं। उधर प्रकट रूप में सगुनी के साथ पकड़ लिये जाने पर भी सुरुजू सिंह के चेहरे पर लाज की शिकन नहीं आती तथा उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे वाली स्थिति हो जाती है! प्रजातांत्रिक विकास के साथ गाँव में जटिल चरित्रों का विकास कथाकार के लिए चुनौती बन गया है। 'परती : परिकथा' के लुत्तो और 'जल टूटता हुआ' के दीनदयाल जैसे चरित्रों के अंकन के लिए आज का कथाकार कथा में राजनीतिक-मंच का रंग भर देता है। अत्यधिक जटिल चरित्रों के चित्रण में सीधी-सामान्य भाषा अक्षम हो रही है तो कथाकार 'राग दरबारी' की भाँति व्यंग्य भाषा का आविष्कार करता है। अथवा 'इमिरितिया' की भाँति चरित्रों की निजी विडंबना को आत्मकथात्मक और आत्मस्वीकृतिपरक विधा में ढाल देता है। वास्तव में ये खण्ड चरित्र-चित्र होते हैं क्योंकि नये कथा-साहित्य की दिशा सुसम्बद्धता की नहीं, बिखराव की है। स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में महान नायकत्व अथवा उदात्त चरित्र सृष्टि की इस समस्या पर समीक्षकों की दृष्टि पड़ी है।[1] 'अलग-अलग वैतरणी' का विपिन, 'रीछ' का विमल, 'जल टूटता हुआ' का सतीश सब छितरा जाते हैं। 'ब्रह्मपुत्र' का देवकान्त एक महान चरित्र हो सकता था परन्तु एक तो उसमें आदर्श की अति है और दूसरे स्वराज्य के जाल में फँसी जनता के साथ उसकी भी नियति ब्रह्मपुत्र की एक मछली की भाँति हो जाती है।

१—प्रत्येक चरित्र एक विचार-धारा : शिवप्रसाद सिंह ने अपने कथा-संग्रह 'मुरदा सराय' (१९६६) की भूमिका में लिखा कि 'चरित्र एक 'आइडिया' बन जाये, एक सूक्ष्म कथ्य का रूप ले ले, इसके लिए कुछ और उच्चस्तरीय चेतना की आवश्यकता होती है।' यह उच्चस्तरीय कथा-चेतना स्वातंत्र्योत्तर कथा-लेखकों में, विशेषकर ग्रामजीवन के शिल्पियों में किस कोटि की है, यह तो पृथक बात है परन्तु यह स्पष्ट लक्षित होता है कि आलोच्य कालावधि और परिवेश की विशिष्ट कृतियों में 'चरित्र' को 'विचारधारा' का प्रतिनिधि बना-

---

१. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—डा० त्रिभुवन सिंह, पृ० ४३७।

जिसे कथाकार करने की हवा समाजवादी यथार्थ के अंकन की प्रवृत्ति के साथ पूरे उपन्यास-साहित्य में विस्तार पा लेती है। मटरू, दुखमोचन, बलचनमा, कारिणी और विमल आदि सभी चरित्र नहीं, एक विचारधारा हैं। सतीश एकत्र-'टूटता हुआ') गांधीवादी विचारधारा है तो विमल ('रीछ') साम्यवादी स्वतंत्रारधारा। नागार्जुन के चरित्र समाजवादी विचारधारा के प्रतीक हैं। परन्तु इनका एकमात्र राजनीतिक विचारधाराश्रित होना खटकता है। विचारधारा को एकमेव राजनीति के खूँटे से बाँध देना समीचीन नहीं। इस चिन्तन और विचारप्रधान बौद्धिकता के युग में स्वतंत्र विचारधारा भी सम्मान्य है और कथा-साहित्य में उसकी भी परिणति वांछनीय है। चरित्रीकृत विचार-धारा की इस प्रवृत्ति का प्रतिबद्धता के स्तर पर प्रयोग भी विवादास्पद है साथ ही आयातित पश्चिमी विचारधाराओं को कथागत चरित्रों के गढ़े ढाँचे में ठोक-पीट कर बैठा देना भी चिन्त्य है। 'मुरदा सराय' और 'दो दुखों का एक सुख' जैसी कहानियों के चरित्र यदि अस्तित्ववादी विचार-धारा के सहज प्रतिनिधि हो जाते हैं तो यह और बात है। 'एक चरित्र एक विचार, अथवा 'चरित्र नहीं विचार' का निर्वाह 'अलग अलग वैतरणी' में भी हुआ है परंतु राजनीतिक नारेबाजी का रूप न देने के कारण पाठकीय बोध प्रक्रिया में उसे ग्रहणार्थ नया आयास करना पड़ता है 'परती : परिकथा' का जितेन्द्र भी एक सशक्त विचार है। वह योजना-विकास की सफलताओं की सरकारी पक्ष की विचारधारा है और बारम्बार उसे जनवर्ग की प्रतिक्रियावादी वामपंथी-दक्षिण-पंथी शक्तियों से जूझना पड़ता है।

कथोपकथन शिल्प की महत्ता भी चरित्र-चित्रण के सन्दर्भ में ही आँकी जायेगी। चरित्रों के व्यक्तित्व विखंडन, उनकी टूटी मनःस्थिति और अस्त-व्यस्तता के अनुरूप अधूरे, टूटे, उखड़े और खंडित वाक्यों का संवाद-शिल्प कथा-साहित्य में प्रतिष्ठित हो गया है। वाच्य को मनःस्थिति का फोटोग्राफ बनाने की माँग है। लाघव, प्रवाह, चुस्ती, सजीवता और सहजता-स्वाभाविकता का आग्रह कृत्रिम-तराश के स्तर पर नहीं रह गया है। इसीलिए कथाकार संवाद-स्थल पर भाषा की चिन्ता उतनी नहीं करता है जितनी प्रामाणिकता की। संवाद में व्यवस्था का भी आग्रह नहीं रहा। कथाकारों ने विभिन्न प्रयोगों द्वारा उसे पूरी तीव्र गति प्रदान की है। विरामबन्दी की विधा 'परती : परिकथा' में उड़ गई पर 'अलग अलग वैतरणी' में बनी रही। परिकथा में गतिशीलता

अधिक है और झटके-झपाटे कथोपकथन की भीड़ में बहुत आते हैं।

२—**पात्रों की मनःस्थिति का लेखकीय कथन**—कथोपकथन संदर्भ का जो सबसे मूल्यवान प्रयोग 'परती : परिकथा' और 'अलग अलग वैतरणी' में हुआ है वह यह कि पात्रों की मनःस्थिति के अनुरूप उसी की भाषा में लेखकीय कथन स्थान-स्थान पर अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से सहजागमित योजित मिलता है। 'परती : परिकथा' में वह झटके से आता है और पाठक जब तक चरित्र से तादात्म्य स्थापित करता है तब तक चरित्र स्वयं आ जाता है या दृश्य बदल जाता है। 'अलग-अलग वैतरणी' में वह दूर तक चलता है और लेखक उसमें डूब कर चरित्र के अन्तर्जगत् को अनावृत कर देता है।

'परती : परिकथा' में नट्टिन टोले के कुहराम के बीच अभी लुत्तो पहुँचा तो नहीं है परन्तु पहुँचने ही वाला है और ऐसे बिन्दु पर कथाकार उसकी मनः-स्थिति का छायाचित्र उसकी भाषा और भंगिमा में उपस्थित करता है—'… …लुत्तो कांग्रेसी आदमी है! जहाँ झगड़ा-फसाद होता रहे, वहाँ पहुँचना उसका धर्म है। कम्परमैज करना जानता है लुत्तो !'[1] इस लेखकीय कथन में लुत्तो की संकुचित नेतृत्व वृत्ति, उसकी मनोवृत्ति और उसकी योग्यता के साथ उसके पूरे मनोजगत् की बनावट का एक चित्र साकार हो जाता है। 'कम्परमैज' शब्द का प्रयोग साभिप्राय है और इस सन्दर्भ में उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का उद्घाटन इस प्रयोग से हो जाता है।

'अलग अलग वैतरणी' में सोनवा-काण्ड पर सरूप भगत की आँखें छलछला जाती हैं और जब वे उन्हें गमछे से पोंछ लेते हैं तो लेखक उनके अन्तस्तल में जाकर उसे शब्दाकृत करता है: 'सरूप भगत जानते हैं कि 'परेम' कोई बुरी चीज नहीं। मगर ई कैसा 'परेम' भाइ आज तक किसी रजपूत-बाभन की लड़की के साथ चमार-दुसाध का परेम काहे नहीं हुआ? और फिर कहते हो 'परेम' तो उसे झेलो। 'परेम' करने वालों को किसी की कब परवाह होती है। 'परेम' का सारा संकट गरीबों के सिर पर डालकर भागते काहे हो?… डिहवा के सेवा उपधिया का लोग 'परमान' देते हैं। सेवा जनम से कुजात थे। कहीं विवाह नहीं हुआ। उन्हें मेहरारू चाहिए थी। चाहे ऊ जाति की हो तो, कुजात की हो। तो बस लेकर बैठ गये। दो एक 'करिया बाभनों' ने

१. **'परती परिकथा', पृ० १७७**

चमारिनें रख लीं तो 'परमान' हो गया।'[1]

इस लेखकीय कथन में चरित्र की मनःस्थिति इस सीमा तक स्पष्ट हो जाती है जिस तक कथोपकथन-शिल्प के पहुँचते की संभावना सरल नहीं। संवाद में किंचित् अनिवार्यतः रहने वाली औपचारिकता से बची यह मनोवैज्ञानिक कथासाहित्य में चरित्र-चित्रण को नयी प्रतिष्ठा प्रदान करती है।

ग—शैली

स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य में पूर्वगृहीत समस्त शैलियों के विकसित रूप को तो कथाकारों ने पुरस्कृत किया है, इस क्रम में अनेक प्रयोग हुए हैं और नयी-नयी विधाओं की भी रंगत दृष्टिगोचर होती है। कुल मिलाकर शैलियों के निम्नलिखित चार रूप मिलते हैं—

१—**मूल शैली**—इसके अन्तर्गत कथात्मक, इतिवृत्त, इतिहास, आत्मकथात्मक, रेखाचित्रात्मक, वर्णनात्मक, लोककथात्मक, यात्रात्मक, संस्मरणात्मक और नाटकीय शैलियों को अन्तर्भूत करेंगे।

२—**परिनिष्ठित शैली**—इसके अन्तर्गत आदर्शवादी और यथार्थवादी शैलियों को लेंगे।

३—**प्रयोग शैली**—इसके अन्तर्गत पत्र, डायरी, संलाप, रिपोर्ताज (सूचनिका), इंटरव्यू (समालाप), ललितनिबन्ध, व्यंग्य, फैन्टेसी (स्वैर विधा), भ्रमोत्पादक, आंचलिक, लोकभाषामूलक, मनोविश्लेषणात्मक, संगीतात्मक, तांत्रिक, गाथा समीकरण, आवर्तक, प्रलापी, समाप्यन्तक और गीतात्मक या कवित्वमूलक शैली की गणना करते हैं।

४—**नयी शैली**—इसके अन्तर्गत रूपवादी, चेतनाप्रवाही, प्रतीकात्मक, फ्लैश बैक (स्मृति अनुप्रकाशी), टोटल टेकनीक (समग्र प्रभावी), चिन्तन और साठोत्तरी नकार आदि शैलियाँ आ जायेंगी।

ग्राम जीवन पर आधारित कथा-साहित्य में उसके अपेक्षाकृत कम जटिल होने के कारण यद्यपि इन सभी प्रकार की शैलियों का पूरा-पूरा प्रयोग नहीं दृष्टिगोचर होता है तथापि ग्राम-कथाकारों में विभिन्न शैलियों की ओर उन्मुखता स्पष्ट है। शैलियों की जटिलता जीवन की ही जटिलता है। आधुनिक

---

१. **'अलग अलग वैतरणी', पृ० ५७७।**

जीवन के संश्लिष्ट आयाम कथासाहित्य को स्वयमेव नये-नये मोड़ दे देते हैं। कहानी और उपन्यास की सम्वेदनाओं के विस्तार और गहराई के अनुरूप ही उसकी शैलियों में भी अन्तर आ जाता है। परिवेश विशेष का प्रभाव भी शैलियों पर पृथक् लक्षित हो जाता है। स्वतंत्रता के बाद की लिखी कहानियों की शैली के सम्बन्ध में डाक्टर नामवर सिंह का विचार है कि उसमें से अधिकांश रेखाचित्र हैं।[1] वह कथाकारों की पूरी पीढ़ी चरित्रांकन की ओर मुड़ी हुई है। पुराने मृत कथा-ढाँचे की जगह अनुभूति की प्रामाणिकता के लिए जीता-जागता आदमी महत्वपूर्ण हो उठा है। मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, रेणु, अमरकान्त और शानी आदि की कहानियों में रेखाचित्र की शैली का सम्मान बहुत अधिक है। डाक्टर सर्वजीत राय ने 'राग दरबारी' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए एक निबन्ध में नये उपन्यासकारों द्वारा 'आदर्शवाद' को प्रच्छन्न रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति का विश्लेषण किया है और लिखा है कि परम्परागत आदर्शवाद के विरोध में और नये मूल्य रूप में आया यह आरोपित आदर्शवाद नहीं है।[2]

'आदमी : एक खुली किताब' (ठाकुरप्रसाद सिंह) में कथात्मक शैली और उनके 'मल्लिका के पत्र' में पत्रात्मक शैली है। इस पत्र-शैली में चतुरी चाचा ने प्रभूत ग्रामगंधी कहानियों का सृजन लोकभाषा में किया। 'चोली दामन' में इतिहास शैली और 'इमिरितिया' में आत्मकथात्मक शैली है। 'अजय की डायरी' (डा० देवराज) के अतिरिक्त 'बबूल' भी डायरी की ही शैली में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने 'मनबोध मास्टर' के नाम से डायरी की विधा में 'आज' में कहानियाँ लिखीं। मार्कण्डेय के 'आदर्श-कुक्कुट गृह' में व्यंग्य शैली है। 'राग-दरबारी' सम्पूर्णतः व्यंग्य कृति है। शैलेश मटियानी की कृतियों में लोक-कथात्मकता का प्राचुर्य है। 'धरती' में संस्मरणात्मक शैली है। 'ग्राम-सेविका' में आदर्शवादी शैली और 'लहरों की छाती पर' में यात्रात्मकता है। भ्रमोत्पादन शैली जैसी 'सिंह सेनापति' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में है वैसी ग्राम-

---

१. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति, पृ० २६७।

२. 'उपन्यासों की नयी पीढ़ी की संभावनायें और आदर्शवाद' शीर्षक निबन्ध (ले० डा० सर्वजीत राय) सम्मेलन-पत्रिका, पौष-फागुन, शक १८९१, पृ० ९३।

मित्तिक कथा में नहीं है। मधुकर सिंह की 'वह दिन' शीर्षक कहानी में साठोत्तरी नकार शैली और रेणु की 'तीन बिंदिया' शीर्षक कहानी में संगीतात्मक कथा-विधा है। 'आधा गाँव' और 'अलग-अलग वैतरणी' में लोकभाषा-मूलकता है। ग्राम-जीवनाधारित कहानियों में फैन्टेसी का प्रयोग (स्वैर विधा) 'धर्मराज का द्वार' (मधुकर गंगाधर), 'भूखा ईश्वर' (धर्मवीर भारती), 'प्रलय और मनुष्य' (मार्कण्डेय) और 'नारद मोह' (मुक्तेश्वर तिवारी 'बेसुध') में है।

आत्मकथा शैली ने 'नयी कहानी' में एक नया मोड़ लिया है। कथाकार 'अपनी कहानी के विविध व्यक्तियों को 'मैं' की आत्मीयता और सम्वेदनशीलता तथा विविध परिवेशों को 'मेरा अपना वातावरण' जैसी सहजता और यथा-तथ्यता दे देता है तो यह उसकी कला-दृष्टि की ईमानदारी और सफलता है।'[1] राजेन्द्र यादव ने 'अपने को दुहराने' की संकुचित परिस्थितियों और 'मैं' प्रधान विस्तृत विस्तार की शैली के अन्तर की भी चर्चा की है। यह 'मैं' कथाकार के निजी 'मैं' के रूप में एक विराट 'मैं' का संक्षिप्त संस्करण होता है और वह 'मुक्ति' (रामदरश मिश्र) जैसी कहानियों में आन्तरिक स्तर पर स्थापित जीवन के प्रति विद्रोही हो उठता है तो ऐसी नयी चेतना प्रवाही शैली लक्षित होती है जो राजेन्द्र यादव के शब्दों में भाषा की शास्त्रीय निर्जीवता पंडिताऊ शब्द रचना और पिलपिले आडम्बर से सर्वथा मुक्त होती है।[2] यह शैली 'परती परिकथा' में भी प्रयुक्त है। वैयक्तिकता के उभार में मनोविश्लेषणात्मक शैली से इसका संयोग हो जाता है। आन्तरिक स्तर पर निखार पाने वाली इस कथा-शैली का विलोम है रिपोर्ताज शैली।

राजेन्द्र यादव ने रिपोर्ताज को आंचलिक कथाकारों की एक दुर्बलता बताया है और लिखा है कि समर्थ होते हुए भी 'समय की नब्ज' न पकड़कर सामन्ती संस्कृति की भावुकता के कारण उन्होंने शहरी कथा द्वारा परित्यक्त खेत-खलिहानों की कहानियाँ उठाईं जो समाजवादी यथार्थ से संदर्भित कही जाने पर भी उनकी दृष्टि में मात्र 'रिपोर्ताज' हैं।[3] राजेन्द्र यादव की इस टिप्पणी से सहमत होना कठिन है, क्योंकि समस्त खेत-खलिहान की कहानियाँ रिपोर्ताज नहीं हैं।

---

१. कहानी : स्वरूप और सम्वेदना, पृ० ८१।
२. वही, पृ० ४०।
३. वही, पृ० ४३।

शुद्ध समय की नब्ज से जिसका सम्बन्ध है वही रिपोर्ताज है और पत्रकार-जगत् की प्रगाढ़ साहित्यिक चेतना का छना हुआ शैली रूप है। व्यापक दृष्टि से 'आधा गाँव' और 'जलूस' दोनों ही इस रिपोर्ताज शैली की महती उपलब्धि हैं। इसी प्रकार कहानी के सन्दर्भ में राजेन्द्र यादव ने फ्लैश बैक शैली की समीक्षा की है। उन्होंने बताया है कि आज की कहानी में वर्तमान आता है। अतीत को जगाने का निमित्त बन कर! उदाहरणस्वरूप 'नयी कहानी' की एक दर्जनों कहानियों को, जो अतीत में जीने की मजबूरी के कारण फ्लैश बैक शैली में लिखी गई हैं, जिनमें 'खेलखिलौने', 'बादलों के घेरे', 'हंसा जाइ अकेला', 'राजा निरबंसिया', 'डिप्टी कलक्टरी', 'मिसपाल', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'जानवर और जानवर' तथा 'कोसी का घटवार' आदि हैं वे लेते हैं और कहते हैं कि इसमें लक्ष्यहीन अतीत को दुहराया गया है जिससे ज़िन्दगी की पकड़ छूट गई है। यह अतीत का पुनरलेखन, पुनरावलोक, पुनर्सृजन, रिक्रियेशन (मनोविनोद?) मात्र होकर कथाकार को स्मृति-जीवी द्रष्टा बनाकर स्रष्टा बनने से वंचित रखता है।[1]

किन्तु जहाँ तक उपन्यास का सम्बन्ध है इस फ्लैश बैक शैली की उपयोगिता और जीवन्तता समीक्षक स्वीकार करते हैं। 'अलग-अलग वैतरणी', 'नदी फिर बह चली', 'जल टूटता हुआ', 'धरती', और 'परती : परिकथा' आदि में इसके कारण अपूर्व प्रभाव क्षमता आ गई है। 'अलग-अलग वैतरणी' में इसका प्रयोग एक विशेष दृष्टि से हुआ है। घटनाक्रम की जड़ जहाँ अतीत में है, गहराई से गोते लगाने की प्रक्रिया है। अमूर्त अवचेतन को कथाकार इस शैली के द्वारा मूर्त्त कर देता है। सत्रहवें परिच्छेद में फ्लैश बैक का पाँच बार प्रयोग हुआ है और संकेत रूप में कथाकार पाँच फुलस्टाप बीच-बीच में देता है। साधारण बुखार से पीड़ित जगन मिसिर दालान में चारपाई बिछाकर इस प्रकार सो रहते हैं कि 'निकसार की हवा' से बच सकें[2] परन्तु इस बाहर के निकसार से बीहड़ उनके मन के भीतर का 'निकसार' है जहाँ से उनके अन्तर्मन को सिहराने वाली अतीत की स्मृतियों की हवा 'फ्लैश बैक' की विधा में आती है। यदि सम्पूर्ण उपन्यास का चरमस्वर है 'गाँव नरक हो गए हैं' तो इसे परित्याग कर

१. कहानी : स्वरूप और सम्वेदना, पृ० १३०-१३२।
२. 'अलग अलग वैतरणी', पृ० २८३।

पलायित विपिन और देवनाथ के सन्दर्भ में उपन्यासगत वैतरणियों का यह सम्पूर्ण मेला फ्लैश बैक है और इस 'टोटल टेकनीक' (समग्रप्रभावी विधा) का प्रयोग भी 'अलग-अलग वैतरणी' में पाते हैं। बहुत व्यापक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कथा-साहित्य के अन्तर्गत अब कविता और ललित निबन्ध से लेकर नाटक आदि समस्त विधायें सिमट आई हैं। राजेन्द्र यादव इसका कारण 'भीतर की अनाम बेचैनी और अबूझ दबाव' मानते हैं।[१] डाक्टर नामवर सिंह ने इसे क्षेत्रापहरण कहा।[२] और अश्क जी ने पूरे उदाहरणों के साथ नयी कहानी के अन्तर्गत निबन्ध, डायरी, स्केच, यात्रावर्णन और संस्मरण आदि समस्त विधाओं के सिमट आने की चर्चा की।[३]

घ--रूपवादी शैली और भाषा का नया निखार

नये कथा-साहित्य की छायावादी प्रभावापन्न रूपवादी शैली के अन्तर्गत, बिम्ब, प्रतीक, उपमा, रूपक, संकेत, संगीत, गंध-वर्ण,-चित्र, ध्वनि-चित्र, लाक्षणिकता, मिथक, लय, अन्योक्ति और नये मुहावरों आदि के प्रयोग की विशिष्टता है। कथा-साहित्य के भीतर काव्य-संभव संवेदनीयता के उन्मेष के लिए यह वाह्योपचाराधारित अलंकरण-सज्जा गृहीत हुई। पुरानी तथा निर्जीव पड़ती भाषा को नयी सृजनात्मकता और नयी प्रभविष्णुता प्रदान करने लिए कथाकारों ने परम्परागत मृत भाषा को तोड़कर नयी सजीव भाषा का अन्वेषण किया। इस भाषा को भी जहाँ उन्होंने अपने तीव्र भावों के संप्रेषण में दुर्बल देखा वहीं सघन संश्लिष्ट बिम्बों, प्रतीकों एवम् संकेतों आदि का प्रयोग किया। कहानी की भाषा यह रूपवादी निखार पाकर और सीधी सपाट नहीं रह गई। किन्तु सन् साठ के बाद सचेतन कथाकारों ने पुनः रूपविधान को परित्याग कर सीधी-सपाट अनलंकृत शैली को प्रतिष्ठित किया। वास्तव में भाषा-प्रयोगों से भाषा की सामर्थ्य वृद्धि हुई और अस्पर्श्य परिवेशों को नयी-नयी अर्थवत्ता मिली। गद्य की घिसीपिटी शुष्कता में अन्तररसता और सौन्दर्यबोध के नये आयाम झलक उठे। जिये जाते जीवन का बोध अपनी पूर्ण प्रामाणिकता

---

१. कहानी : संदर्भ और प्रकृति, पृ० ८१।
२. कहानी : नयी कहानी, पृ० १५६।
३. हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय, पृ० १४८।

के साथ निखर उठा। परिवर्तित-जीवन के मुहावरों की पकड़ और उसके विविध स्तरीय सन्दर्भों की नयी भाषागत विस्फोटक अभिव्यक्ति नये साहित्य की एक उपलब्धि रही।

१—बिम्ब-विधान

सृजनात्मकता, सद्यः संप्रेषण, वातावरण-चित्रण और यथातथ्य अर्थबोध के लिए अमरकान्त, रेणु, शिवप्रसाद सिंह और कमलेश्वर आदि ने सघन बिम्बों का प्रयोग किया है। 'सुबह के बादल', 'कोसी का घटवार', 'जिन्दगी और जोंक' तथा 'रक्तपात' आदि में परिवेश का चित्रण संश्लिष्ट बिम्बरूप में सृष्ट है। 'ग्रामसेविका' में सभापति जब दमयन्ती के लिए 'मक्खन की टिकिया[1]' कहता है और 'हौलदार' में जब डूंगर सिंह 'भगे हुए खरगोश'[2] के रूप में नरुली को संवेदित मानकर हथियाने के चक्कर में पड़ता है तो यहाँ बिम्ब की सघनता अत्यन्त प्रभावशाली हो उठती है। पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' ने 'नयी कहानी की भाषा' में मूल्यवान मौलिक शोध किया है। उन्होंने सामान्य बिम्ब और उपमानमूलक बिम्बों की चर्चा करते हुए नक्षत्रपरक, प्रकृतिपरक पुष्पपरक, वर्णगन्धपरक और मिथकीय आदि बीस प्रकार के बिम्बों का विवरण प्रस्तुत किया है।[3] इनमें विशेषकर शिवप्रसाद सिंह और कमलेश्वर के द्वारा प्रयुक्त बिम्बों की चर्चा है। नीचे रेणु और शिवप्रसाद सिंह के बिम्बों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

रेणु—'परती : परिकथा'

क—वातावरण चित्रण में—'धरती नहीं, धरती की लाश, जिस पर कफन की तरह फैली हुई है—बालूचरों की पत्तियाँ !'[4]

ख—ध्वनि और गति के बिम्ब—'उनके स्वप्नों में कभी-कभी सर्वे के अमीनों की जरीब की कड़ियाँ खनखनाती है—खन-खन, खन-खन ! हाकिम गुस्सा

---

१. 'ग्रामसेविका', पृ० १०८।

२. 'हौलदार' पृ० ३०५।

३. 'कल्पना' अगस्त-सितम्बर, सन् १९६९।

४. 'परती : परिकथा' (आरंभ में)।

से गरजते हैं—ए ! चौप ! 'चपरासी पुकारता है—कहाँ-आँ-आँ ।......'[१]

ग—सादृश्यमूलक—'जितेन्द्र नाथ ने ताजमनी की उँगलियों की ओर देखा—स्वर्णचम्पा की कलियाँ !'[२]

शिवप्रसाद सिंह—'अलग अलग वैतरणी'

क—सादृश्यमूलक बिम्ब—

१—'गोरा मुँह पीली साड़ी में सूरजमुखी के फूल की तरह तनिक झुका हुआ था ।'[३]

२—'उसका सिर खरबूजे की तरह एकदम गोल था । बादामी रंग के पीले मुँह में उसकी साफ उजली आँखें खरबूजे के काले बीज की तरह जड़ी हुई लगती ।'[३]

ख—अमूर्त भावों के विशेष बिम्ब—विरामबन्द भोजपुरी के शब्द-प्रयोग द्वारा—

१—'पुष्पी को कुछ दे दो 'खराई' मारने को ।'[४]

२—'कहीं बैठकर 'मनफेरवट' भी नहीं करने देती ।'[६]

३—'खड़ाऊँ-पानी रखकर 'बींजे' उठायेगा ।'[७]

४—'मामला' 'चौंड़िया' जाता है ।[८]

ग—मुद्रा परिवर्तन के वर्णगन्ध बिम्ब—

१—'सारा चेहरा गेरू के रंग में रँगा था । आँखें फटी-फटी लग रही थीं ।'[९]

२—'जगेसर की आँखें आलू बराबर की हो गई थीं ।'[११]

३—'उनका साँवला चेहरा ललछौंहा हो रहा था ।'[११]

---

१. 'परती परिकथा', पृ० २६३ ।
२. वही, पृ० २८९ ।
३. 'अलग अलग वैतरणी', पृ० ३७९ ।
४. वही, पृ० १०७ ।
५. वही, पृ० १०७ ।
६. वही, पृ० २९१ ।
७. वही, पृ० २८९ ।
८. वही, पृ० ६०६ ।
९. वही, पृ० ३८३ ।
१०. वही, पृ० ३३६ ।
११. वही, पृ० २८७ ।

४—'चेहरा पहले से कुछ लम्बोतर लगता। आँखों के नीचे हल्की कालिमा भी दिखाई पड़ती। पर जब वह लड़के लड़कियों को बटोर कर खिलखिलाती तो सभी कुछ उसकी उजली हँसी में छुप जाता!'[1]

५—'पके हुए चित्तीदार अमरूदों की गंध उसके नथुनों में बस जाती।'[2]

२—प्रतीक और ध्वनि-चित्र मूलकता

आधुनिकता बोध सम्पन्न नयी कहानियों जैसे 'खोई हुई दिशायें', 'मलवे का मालिक', 'प्रश्नवाचक पेड़', 'झाड़ी', 'जार्ज पंचम की नाक', 'साँप', 'खेल-खिलौने', 'चश्मे', 'परिन्दे' और 'अन्धकूप' आदि में समीक्षकों ने प्रतीकों की स्थिति बताई है। ग्राम-जीवन-चित्रण क्रम में शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'सुबह के बादल', 'ताड़ीघाट का पुल', 'कलंकी औतार' और 'चैन' में सशक्त प्रतीकात्मकता है। मार्कण्डेय की 'कल्यानमन', 'जूते', और 'साबुन' में प्रतीक हैं। राजेन्द्र अवस्थी की कहानी 'काले और सफेद साये', शैलेश मटियानी की 'प्रेतमुक्ति' और मधुकर गंगाधर की 'हिरना की आँखें' में भी प्रतीक-प्रयोग हैं। प्रतीकात्मकता की भाँति ही सांकेतिकता की प्रयोगगत नवीनता की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है। यद्यपि प्रेमचन्द की 'कफन' और 'पूस की रात' में पर्याप्त सांकेतिकता है तथापि नये कथा-साहित्य की शिल्पगत सांकेतिकता कुछ और सूक्ष्म और सघन संश्लिष्ट है। विशेषकर साठोत्तरी पीढ़ी के कथाकारों में यह एक विशेष अमूर्त्त स्तर पर प्रयुक्त लक्षित होती है। ध्वनि चित्रमूलकता की विशेषता रेणु में है। 'भट-भट-भट-भट-भट-ट्-ट्। ड्राइवर ट्रेक्टर लेकर आया।'[3] चलने के बाद ट्रेक्टर बन्द हो रहा है—भट-ट-ट-ट-भड़भड़-भड़भड़-भर्र-र-र!'[4] जितेन्द्र के कमरे में टाइपराइटर चल रहा है—'टप्पा-टप्पा-टः टः टः टः टप्पा-टा-र्ट्रि! क्रेंक!!'[5] शंखध्वनि होती है—'तू-उ-उ-उ-उ-य। तु-ऊ-ऊ-ऊ-ऊ!'[6] टेपरेकार्डर

१. 'अलग अलग वैतरणी', पृ० २१२।
२. वही, पृ० २११।
३. 'परती परिकथा', पृ० ५१।
४. वही, पृ० ५३।
५. वही, पृ० १२४।
६. वही, पृ० १८५।

आन हो रहा है—'ट्रिय-टि-टि-रि-रि-रि। ट्रि-रि-रि-रि !'[1] और पूरा उपन्यास इस प्रयोग से झंकृत है। इस प्रकार रूपवादी शैली के विविध प्रयोगों और उसकी उपलब्धियों से नया कथा-साहित्य बहुत ही समृद्ध हुआ है। 'अमरकान्त ने मुहावरेदार मिथकीय शैली के साथ-साथ ठेठ गद्य की सपाटता, रेणु ने लोकतत्वों को उजागर करने वाले असंख्य आंचलिक ध्वनि-रूपों, शब्दों, पदों आदि की सटीकता, शिवप्रसाद सिंह ने सैकड़ों अछूते ग्राम्य शब्दों, बिम्बों, उपमानों, प्रतीकों के माध्यम से सर्जनात्मकता तथा प्रकृति-चित्रों वाली अभिनय अर्थवत्ता, निर्मल वर्मा ने सूक्ष्म संवेदनशीलता, गद्यराग और लयमयता तथा अर्थ की आद्यन्त आच्छन्नता, कमलेश्वर ने बिम्ब-उपमान-मूलक सर्जनात्मकता, प्रवाहमयता और कथा-रसता, नरेश मेहता ने अपने प्रयोगों से भविष्योन्मुखता और बहुविध विकसनशीलता और हरिशंकर परसाई ने बाजारू शब्दों को साहित्यिक प्रतिष्ठा तथा अर्थ की तीखी व्यंग्यात्मकता से पूरी जीवन्तता प्रदान की है।'[2]

३—भाषा के विविध रूपों का विकास

नये कथा-साहित्य ने विशेषकर ग्रामभित्तिक कथा-साहित्य ने भाषा की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य को मूल्यवान उपलब्धियों के स्तर की सर्जनात्मकता से समृद्ध किया है। इसके कुछ प्रमुख आयाम निम्नांकित रूपों में उद्घाटित मिलते हैं—

१—ध्वनिचित्र मूलक शब्दावली—रेणु में।

२—अलंकृत भाषा—शिवप्रसाद सिंह, कमलेश्वर, शैलेश मटियानी, अमरकान्त, रेणु और देवेन्द्र सत्यार्थी आदि में।

३—लोकोक्तियाँ और मुहावरे—(क) पुरानी लोकोक्तियाँ (ख) नयी लोकोक्तियाँ और मुहावरे।

४—वर्ग विशेष की भाषा (क) राजनीतिज्ञों की भाषा जिसमें अंगरेजी के अपभ्रष्ट शब्दों का मिश्रण है, जैसे 'परती : परिकथा' में (ख) विशेष पेशे

---

१. 'परती : परिकथा', पृ० १८८।

२. 'नयी कहानी की भाषा' (पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु') 'कल्पना' अगस्त-सितम्बर १९६६, पृ० १९७।

वालों की भाषा (ग) अधिकारियों की भाषा (घ) स्त्रियों की भाषा आदि ।

५—प्रान्त विशेष की भाषा—बलवन्त सिंह में पंजाबी की, वृन्दावनलाल वर्मा में बुन्देलखण्ड की, शानी में मध्यप्रदेश की, बलभद्र ठाकुर में मणिपुर और उत्तरांचल की, शैलेश मटियानी में कुमायूँ के पहाड़ी अंचल की भाषा का वैभव है ।

६—अंग्रेजी भाषा-प्रयोग-(क) शुद्ध रूप में जैसे अज्ञेय आदि में, (ख) अपभ्रष्ट रूप में जैसे रेणु आदि में ।

७--गालियाँ (अपशब्द) (क) सामान्य : शिवप्रसाद सिंह और रेणु में यथास्थान (ख) संगीन गालियाँ : राही के 'आधा गाँव'[1] में ।

८—गड़बड़ भाषा अर्थात् कृत्रिम ग्रामीण 'अ-भाषा' का एकमात्र प्रयोग 'राग दरबारी' में मिलता है जिसे जोगनाथ नामक ग्रामीण शराबी बोलकर थानेदार को डरा देता है ।

९--लोक-भाषायें विविध-मिश्रित रूपों में मिलती हैं :

(क) अवधी का प्रयोग मिश्रण भगवतीचरण वर्मा 'भूले बिसरे चित्र' में ।

(ख) काशिका का प्रयोग 'बहती गंगा' में ।

(ग) मराठी मिश्रित हिन्दी : 'सागर, लहरें और मनुष्य' में मिलती है— 'बरसोवा रैने सूं कायलाभ ? जास्ता मच्छी नई मिलताय ।'[2] अथवा 'ओ हम बी ये किताब पाड़ाय । अच्चा किताब है । गुड । तुमरा इधर डेली पेपर नहीं आता ।'[3]

(घ) भोजपुरी उर्दू का मिश्रण : राही के 'आधा गाँव' में :

(अ) 'अम्मू तो कहिन रहा कि अम्मा से पूछ ल्यौ ।'[4]

(ब) 'तोहार हम तौन दुरगत बनाइब कि मुस्कियावल भुल जइहो ।'[5]

---

१. 'आधा गाँव', पृ० ३२०, ३२१, ३३७, ३३८ आदि में ।
२. 'सागर लहरें और मनुष्य', पृ० ९ ।
३. वही, पृ० ३५ ।
४. 'आधा गाँव', पृ० ३४ ।
५. वही, पृ० १३८ ।

(स) 'मैं त पहले ही कहे रहयूँ ।'[1]

(द) 'अरे, ई तैं का कर रहा ।'[2]

(य) 'माई मना किहिस है ।'[3]

(ङ) शुद्ध उर्दू : 'आधा गाँव' की भाषा में उर्दू भाषा का निखरा रंग है । उसकी परिनिष्ठित शैली निम्न है–'ये घरेलू इश्क भी कितने अजीब होते हैं । इतने सादे और बरजस्ता होते हैं ये इस्क कि इन पर यकीन नहीं आता । उसने सईदा की कुरबत के एक-एक लमहे को याद किया ।'[4]

(च) भोजपुरी हिन्दी का मिश्रण–'अलग अलग वैतरणी' में–

(अ) 'ई सवख देख रे घुरबिनवा, महफिल लगावे की तैयारी है का ?'[5]

(ब) 'तोहरे मुँह से कहानी सुन के तो सच, धिया, बुझाता है कि सहद चू रही है ।'[6]

(स) 'के है ? दुक्खू । का है हो ? काहे तू मेला कपार पर उठाये जा रहे हो ?'[7]

(छ) बुन्देलखण्डी मिश्रित : राजेन्द्र अवस्थी का उपन्यास 'जाने कितनी आँखें' में–'मेहराज, तुमाये रहते जे मोरो धरम बिगाड़त हैं । कहन कौं तो में इनकी बटिया हों, पर हैं सब कसाई मारे लाने ।'[8]

१०–आंचलिक प्रयोग—शब्दों के ये प्रयोग रेणु और राजेन्द्र अवस्थी में विशेष रूप से मिलते हैं । देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यास 'ब्रह्मपुत्र' में इसके निम्न रूप मिलते हैं :–

(क) विशिष्ट स्थानीय मुहावरे—'ब्रह्मपुत्र जानता है कि चप्पू कितना

---

१. 'आधा गाँव,' पृ० २०४ ।
२. वही, पृ० २१७ ।
३. वही, पृ० २२८ ।
४. वही, पृ० २८४ ।
५. 'अलग अलग वैतरणी', पृ० १६८ ।
६. वही, पृ० २५३ ।
७. वही, पृ० ११ ।
८. 'जाने कितनी आँखें', पृ० ३३ ।

गहरा जाता है।'[१] 'बिन सिधाई मछली।'[२]

(ख) विशिष्ट स्थानीय अर्थ—'माभुली से आया'[३]=मूर्ख

(ग) उपमाओं में परिवेश की सादृश्य-मूलकता—'मुसकान में मूँगे के धागे की-सी चमक, आवाज़ में अण्डी सा खुरदरापन और जीवन में रेशम सी दृढ़ता।'[४]

(घ) मिथकीय प्रयोग—

'मदिरा के सात घूँट चढ़ा जाने पर ब्रह्मपुत्र की गहराई घुटनों तक रह जाती है।'[५]

'ब्रह्मपुत्र के पवित्र जल की सात बूँदें छिड़क कर चाहे तो साँप का विष भी उतार सकते हैं।'[६]

(ङ) सघन आंचलिक बिम्ब—

'ब्रह्मपुत्र की बाढ़ जैसे भागते हाथियों का झुंड !'[७]

(च) बोध-दृष्टान्त में आंचलिकता—

'साल मछली सिग्गा मछली से कहती है, तू भी कुआरी, मैं भी कुआरी !'[८]

(छ) वातावरण से प्रभावित विशेष मनःस्थिति-सूचक आंचलिक लोकोक्तियाँ :—

'ब्रह्मपुत्र की मछली ब्रह्मपुत्र में ही भली !'[९]

'गन्दा अण्डा कौन लेगा ?'[१०]

---

१. 'ब्रह्मपुत्र', पृ० २७।
२. वही, पृ० ११२।
३. वही, पृ० १०६।
४. वही, पृ० १८६।
५. वही, पृ० ४३२।
६. वही, पृ० ३६४।
७. वही, पृ० ११२।
८. वही, पृ० १२२।
९. वही, पृ० ३४४।
१०. वही, पृ० १२३।

'देखो बहन, तुम्हें साँप डस लिया और मैंने मछली पकड़ ली।'[1]
'गाँव में मुर्गे की तरह बाँगो, ससुराल में मुर्गी की तरह कड़कड़ाओ।'[2]

११–व्यंग्य भाषा—'राग दरबारी' में।

भाषा के इन विविध लोक-धर्मी रूपों के अतिरिक्त स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-जीवन के अंकन में कथाकारों ने परिनिष्ठित भाषा का विशेष सशक्त रूप प्रयुक्त किया है। नागार्जुन और भैरवप्रसाद गुप्त ने भाषा को समाजवादी-यथार्थ-सापेक्ष दीप्ति दी। सन् १९६० के बाद भाषा में जबकि उसके रोमानी तत्व कुछ झड़ गये हैं, एक नयी ओजस्विता आई है। कथा की इस अतिरिक्त ओजस्विता सम्पन्न विद्रोहधर्मी युवालेखन की भाषा के आरम्भ को डाक्टर शिवप्रसाद सिंह ने सन् १९६२ के बाद डाक्टर राममनोहर लोहिया के संसद-सदस्य होने से जोड़ा है और 'बाजारू' भाषा के हाथों रूढ़ियों में जकड़ी संसदीय भाषा के 'मर्यादा' ध्वस्त का विश्लेषण किया है।[3] स्वतंत्रता के बाद निस्सन्देह नवीन से नवीनतम कथा-भाषा सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के साथ ढलती और परिवर्तित जीवन-संवेदनाओं का अभिव्यक्तिक्षम रूप ग्रहण करती गई है।

ङ—देशकाल, वातावरण और उद्देश्य

आंचलिक कथा-साहित्य में कोई अन्य सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक—जैसे उद्देश्य निहित न होकर देशकाल और वातावरण का चित्रण ही एक उद्देश्य हो जाता है और उसकी पूर्ति ऐसी शिल्पगत अति तक भी पहुँच जाती है जिसकी कड़ी आलोचना होती है। देश के अन्तर्गत विविध अछूते अंचल, प्रदेश और क्षेत्रों की टोह ली गई है। काल के सन्दर्भ में दो प्रकार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। एक में समय-सापेक्ष रचनायें आती हैं जैसे 'ग्रामसेविका', 'परती : परिकथा' और दूसरे में समय-निरपेक्ष, यथा—'सुबह होने तक', 'कोहबर की शर्त' इत्यादि। वातावरण के अन्तर्गत दो प्रकार के वातावरण

---

१. 'ब्रह्मपुत्र', पृ० १५९।
२. वही, पृ० ६७।
३. 'कल्पना' अगस्त-सितम्बर १९६९, पृ० १८-१९।

को हम अन्तर्भूत करेंगे। एक प्राकृतिक वातावरण और दूसरा सामाजिक वातावरण, आंचलिक शिल्प में दोनों की धूपछाँही आभा अनुरंजन करती है। नया कथा-साहित्य उद्देश्यहीन है ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु वास्तविकता यह है कि प्रतिबद्धता मात्र का प्रश्न इस कोण से उठाया जा चुका है कि यह नये मूल्यों का विरोधी तत्व है। परम्परा-भंजक और विद्रोहधर्मी नया कथा-साहित्य ग्रामजीवन की परम्परावादी स्थितियों से जुड़कर भी और इसके विविध आयामों का उद्‌घाटन करके भी शिल्प दृष्टि से विद्रोही है। अतः उद्देश्य अथवा प्रतिबद्धता पुराने चलन की, जैसे समाज-सुधार, विधवा-विवाह और अछूतोद्धार जैसी न होकर यदि कहीं कथा-साहित्य में परिलक्षित होती है तो वह है राजनीतिक सोद्देश्यता अथवा प्रतिबद्धता। इसके भी दो रूप हैं। एक हलकी प्रतिबद्धता जैसे 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'मुक्तावती' और 'सती मैया का चौरा' में। दूसरी गंभीर प्रतिबद्धता जैसे 'रीछ', 'गंगा मैया', 'मशाल', 'नेपाल की वो बेटी' इत्यादि में। सोद्देश्यता आशावाद और आदर्शवाद से जुड़ी है और इस दृष्टि से 'परती : परिकथा' भी एक सोद्देश्य रचना सिद्ध होती है।

च—अन्य शिल्प वैशिष्ट्य

अश्क जी ने कथा-शिल्प-विकास के चार आयाम दिखाये हैं। प्रथम प्रेमचन्द तक निर्वैयक्तिक यथार्थ दृष्टि, द्वितीय उसके पश्चात् पात्रों के अंतरंग-अवचेतन में प्रवेश की वैयक्तिक दृष्टि, तृतीय विकास में निस्संग दृष्टि और चौथे में आन्तरिक जीवन यथार्थ की संश्लिष्ट निबन्धात्मक विम्ब-रचना दृष्टि।[1] रामस्वरूप चतुर्वेदी की दृष्टि से नयी कहानी के तीन शिल्प उभरे हैं :

१—जो प्रचलित अर्थ में कहानी हैं जैसे 'कोयला भई न राख'।

२—चमत्कारपूर्ण शिल्प युक्त : जैसे 'राजा निरबंसिया'।

३—सुखद-अटपटी-मनःस्थिति की झाँकी जैसे 'अदरख की गाँठ'।

चतुर्वेदी जी ने आंचलिक कहानियों के शिल्प को जनता-माध्यम के अन्तर्गत परिगणित किया है जिसमें कला-माध्यम की अपेक्षा कम सृजन-संभावना होती है।[2]

---

१. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति : में देखिये श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का निबन्ध 'नयी कहानी : एक पर्यवेक्षण'।

२. कहानी : संदर्भ और प्रकृति, पृ० १७६।

लक्ष्मीनारायण लाल की दृष्टि में स्वातंत्र्योत्तर कहानी की शिल्पगत उपलब्धियाँ जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय-काल की अपेक्षा न्यून हैं क्योंकि सारा आग्रह शिल्प पर है, जबकि उस काल का आग्रह जीवन पर है।[1] डाक्टर लक्ष्मी नारायण लाल ने आगे स्वातंत्र्योत्तर कहानियों को पिछली पीढ़ी की कहानियों की तुलना में मरणोन्मुख, फ़ीकी और उदास घोषित किया।[2] वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर कथा-शिल्प परम्पराभंजक शिल्प है। इसके पूर्व प्रेमचन्द के बाद वाले दशक में 'परख' के प्रकाशन के साथ कथा-शिल्प में एक भारी क्रान्ति हो चुकी थी। सामाजिक समस्याओं के प्रति उदासीनता बढ़ गई थी और मनोविज्ञान के सहारे कथाकार वैयक्तिक यथार्थ की गहराइयों में उतरने लगे थे। इसी बीच स्वतंत्रता मिलने पर नयी प्रतिभाओं में नवोल्लास और नये आशा-उत्साहवाद ने जुड़कर अहं की गहराई में सिमटे व्यक्ति को निकाल कर बाहर उदारता के साथ बिखेरना शुरू किया, जीवन-संघर्ष-रत अविकसित अंचलों में, आदिवासी क्षेत्रों में, सौन्दर्यानुरंजित पर्वतांचलों में, खेतों-खलिहानों, स्वतंत्रता-युद्ध की स्थितियों और टटकी निराशाओं में। जीवन का आग्रह यहाँ भी था परन्तु वह स्वयं एक शिल्प रूप से मुद्रित हुआ। उसमें एक नया धरती से जुड़ा यथार्थ-सौन्दर्य था जिसे उपयुक्त कोण से न परख सकने के कारण समीक्षकों ने मृत और उदास घोषित कर उसकी मौलिकता को अदेख कर दिया। शिल्प-विकास में परिलक्षित इन मौलिक नूतनताओं के पीछे समाज की नैतिक व्यवस्था में आई वे नवपरिवर्तित परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूर्ण हाथ रखती हैं जिनका उल्लेख डाक्टर सुखदेव शुक्ल ने किया है[3] और वे हैं—

१—पुरातनवाद से प्रगतिवाद की ओर।

२—धार्मिकता से बुद्धिवाद की ओर।

३—सामाजिकता से व्यक्तिवाद की ओर।

इस प्रगतिवाद, बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद के त्रिकोण पर आधारित स्वातंत्र्योत्तर कथा-शिल्प युग-मानस और ग्राम-मानस के समन्वय का एक प्रयास है। ग्राम-मानस में उपलब्ध अबौद्धिकता के दबाव से उसने सहज रूप लिया जो

---

१. कहानी : संदर्भ और प्रकृति पृ० २१६।

२. 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास', पृ० १३।

३. हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता पृ० ३४३।

यथार्थ का एक आग्रह था। संश्लिष्टता से सहजता की ओर प्रत्यावर्तन उसकी उसकी एक विवशता थी। भोगे हुए यथार्थ के रूप में उसमें समसामयिक आशावाद है, तो विक्षुब्ध मोह-भंग भी है। योजना-विकास में टूटते गाँव-जीवन और उसके सीवान में सिमटती आती नागर यांत्रिकता की संघर्षशील विषमता को चेतना के स्तर पर झेलना बहुत जटिल क्रम है। स्वाधीनतोत्तर ढाई दशक का समग्र ग्राम-भित्तिक कथा-साहित्य इस संघर्ष की प्रतिध्वनि से गुंजित है और उसके शिल्प में इसी की कसमसाहट है। 'अलग-अलग वैतरणी' के उपन्यास-शिल्प में वह नगर की ही काली छाया अप्रत्यक्ष अंकित है जिसने करैता में वैतरणियों का विस्तार कर दिया है और 'खाली घर' के कहानी-शिल्प में कथाकार की समूची शक्ति गाँव-नगर के बीच उठी पर्तों को तोड़ने में लगी हुई है।

प्रश्न नयी कहानी में कहानीपन की सुरक्षा का उठा क्योंकि नये कथा-शिल्प ने चिन्तन की तेज़ धार से उसकी औपचारिकता को छील कर उसे इतना क्षीण कर दिया कि अस्तित्व मात्र शेष रह गया। डाक्टर नामवर सिंह ने कहा कि कविता में जो स्थान लय का है कहानी में वही स्थान कहानीपन का है।[1] नयी कविता में लय एक अति सूक्ष्म तत्त्व हो गया उसी प्रकार नयी कहानी में कहानीपन भी वायवी है। इस कालावधि में शिल्प-दृष्टि से लम्बी कहानियाँ और लघु उपन्यास भी लिखे गये। 'तीसरी कसम' और 'बन्द गली का आखिरी मकान' में कहानीपन अपने सौष्ठव के दो पार्श्वों पर स्थित है। 'तीसरी कसम' में वह 'लय' मात्र और दूसरी में अपने 'वस्तु' रूप को लेकर वह 'उपन्यास' की सीमा में प्रवेश कर गया है। दूसरी ओर 'जलूस' (रेणु) और 'सुबह होने तक' (मधुकर गंगाधर) लघु उपन्यास हैं, एक समय सापेक्ष है दूसरा निरपेक्ष है और दोनों में आदि से अन्त तक कहानीपन की ऐसी एकतानता है कि औपन्यासिक अन्वितियाँ ऋजुतम होकर अदृश्य हो गई हैं। विचार और भाव की एक-एक कड़ी की भाँति ये लघु-लघु उपन्यास हैं जो एक छोर से छूने पर अन्त तक झनक जाते हैं। कथाकार इनमें स्वयं कहीं नहीं है। वह नितान्त असम्पृक्त है। अपने व्यक्तित्व, आदर्श, दृष्टिकोण और विचारों को लेकर उपन्यासों में कथाकार की स्थिति का अन्वेषण बहुत दुष्कर नहीं है। किसी-किसी उपन्यास

१. नयी कहानी : सौंदर्य और प्रकृति, पृ० ६७।

में तो वे अत्यन्त प्रत्यक्ष हैं । 'देवताओं के देश में' (बलभद्र ठाकुर) में एक पात्र परिव्राजक के रूप में और 'मोतियों वाले हाथ' (मधुकर गंगाधर) के एक पात्र जयन्त कथाकार और 'ब्रह्मपुत्र' (देवेन्द्र सत्यार्थी) में एक पात्र नीरद के रूप में कथाकार स्वयं उपस्थित है । नये कथा-साहित्य का आधुनिक असम्पृक्त-शिल्प नये उपन्यास में यदि कथाकार की उपस्थिति मात्र का साहित्य है तो नयी कहानियों में कहानीपन के क्षीण-अस्तित्व का साहित्य है ।

५—शीर्षक-विचार और वर्गीकरण

'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि' में डाक्टर सत्यपाल चुघ ने उपन्यासों के नामकरण पर विचार करते हुए ग्यारह प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है ।[१] इन नामकरण की प्रवृत्तियों में—

१—विरोधाभास के चमत्कार से आकृष्ट करने वाले जैसे 'झूठा सच' ।

२—प्रसंग-गर्भित—'जहाज का पंछी' ।

३—प्रतीकात्मक—'जलूस' ।

४—व्यंग्यात्मक—'हाथी के दाँत' ।

५—अंचल सूचक—'परती परिकथा' और 'ब्रह्मपुत्र' ।

६—पात्रों के नाम वैशिष्ट्य से आकर्षित तथा उपन्यास की प्रवृत्तियों को व्यंजित करने वाले—'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' ।

७—शिल्प-सूचक वैशिष्ट्य से चौंकाने एवम् आकर्षित करने वाले—'बाणभट्ट की आत्मकथा' ।

८—राजनैतिक मत सूचक—'दादा कामरेड' ।

९—हास्य सूचक—'नवाब लटकन' ।

१०—विधेयक के साथ विधान का भी अभिन्न अंग—'सुहाग के नूपुर' ।

११—सहलेखन व्यंजित—'ग्यारह सपनों का देश', 'बारह खंभा' 'योगी की आत्मकथा' ।

सामान्यतः कुछ को छोड़कर ये समस्त शिल्पगत प्रवृत्तियाँ नयी कहानियों की शीर्षक-रचना में भी दृष्टिगोचर होती हैं । शीर्षक-रचना के शिल्प की सघनता उपन्यास से अधिक कहानियों में अपेक्षित है । उपन्यास के समग्र प्रभाव

---

१. 'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि', पृ० ७८ ।

से उसका शीर्षक पृथक् ही क्यों न पड़ता हो, उसकी कोई दुर्बलता नहीं प्रकट होती है किन्तु कहानी में शीर्षक उसका एक ऐसा अभिन्न अंग होता है कि वह कभी उसके समग्र प्रभाव को व्याप्य-व्यापक भाव से समेटे रखता है, कभी उसका चरम बिन्दु बन जाता है, कभी व्यंग्य, प्रतीक और कभी वही पृष्ठभूमि होता है। नीचे स्वातंत्र्योत्तर कहानियों की शीर्षक रचना की शिल्पगत प्रवृत्तियों का एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है—

१—मिथकीय—हिरनाकुस का बेटा, अरुन्धती, कर्मनाशा की हार, कलंकी अवतार, धर्मराज का द्वार, कालिकावतार।

२— इतिवृत्तात्मक—मुर्गे ने बाँग दी, कथा एक सेवा यात्रा की, एक यात्रा सतह के नीचे, और चिराग़ बुझ गया।

३—गीतात्मक—ना जाने केहि वेश में, हंसा जाइ अकेला, दूब जनम आई, मैली धरती के उजले हाथ, तबे एकला चलो रे।

४—लोकगीतात्मक—खैरा पीपर कबौं न डोले, सत्त बोले मुक्त है, राजा निरबंसिया, कोयला भई न राख।

५—पूर्ण वाक्य—इन्हें भी इन्तज़ार है, अँधेरा हँसता है, मैं ज़रूर रोऊँगी, धरती अब भी घूम रही है।

६— व्यक्तिवाचक संज्ञा—(क) लघुजन—घूरा, नन्हों, मूस, घुरहुआ, गर्त्ती भगत, जग्गा, दूखन, गदल, खेदू। (ख) सामान्यजन—शुभो दीदी, देऊ दादा, गुलरा के बाबा, रिद्धी बाबू, रमौती, रहीम चाचा।

७—जातिवाचक संज्ञा—माता, पिता, सँपेरा, पोस्टमैन, डिप्टी कलक्टर।

८—भाववाचक संज्ञा—कर्ज़, ऋण, उपहार, गूँज, ठेस, स्वाद।

९—तीन संज्ञायें— संगीत, आँसू और इंसान; माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो; मैं, कल्याण और जहाँगीरनामा; जंजीर, फायर ब्रिगेड और इंसान; सभापति, मास्टर और नेता।

१०—द्वन्द्व समास—(क) 'और' प्रकट—ज़िन्दगी और जोंक; नारी और पत्थर; केंचुल और गंध (ख) 'और' लुप्त—गंगा-तुलसी, दाना-भूसा, पान-फूल।

११—सम्बन्धकारक (क) विभक्ति प्रकट—कोसी का घटवार, बीच की दीवार, बबूल की छाँव, देश के लोग (ख) विभक्ति लुप्त—अतिथि-सत्कार, गंगाजल, मुरदा सराय, अकासबेल, नौकायात्रा।

१२—सघन बिम्बात्मक—सपाट चेहरे वाला आदमी, नीली झील, चाँद

का टुकड़ा, लाल हथेलियाँ, पलाश के फूल, गुलमुहर का पेड़।

१३—संस्कृत पदावली—किं करोमि जनार्दन ।

१४—लाक्षणिक—जूते, धारा, चेन, तक्षक, लीक ।

१५—सांकेतिक—अगली कहानी, उस दिन तारीख थी, एक और यात्रा।

१६—श्लिष्टपद मूलक—सीमा, रेवड़, आर्द्रा, मूस, माँग ।

१७—प्रतीकात्मक—सुबह के बादल, कलंकी औतार, केंचुल और साँप ।

१८—विशिष्ट गुणबोधक—बहाववृत्ति, शाखामृग, काकचरित ।

१९—अमूर्त्त व्यंजना-व्यंजक—आदिम रात्रि की महक, एक शब्दहीन नदी, दो दुखों का एक सुख, लाल पान की बेगम, बन्द गली का आखिरी मकान ।

२०—चरम बिन्दु व्यंजक—तीसरी कसम, एक किरती और ।

२१—बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव—पुरानी कविता : नया पाठ; एक चीख : एक चमक; खारी बोतल : भारी लहरें; एक औरत : एक ज़िन्दगी; प्यासी धरती : सूखे ताल ।

२२—प्रश्नात्मक—किसकी पाखें ? यहाँ रावण कौन है ? या कुछ और ?

२३—ध्वन्यात्मक—ताड़ी घाट का पुल, हरकू हौलदार, दरार-दर-दरार गुलकी बन्नो, दाढ़ी द्रोणाचार्य की ।

२४—प्रचारात्मक—निशानी अँगूठा ज़िन्दाबाद, हिन्दू-मुसलिम भाई-भाई ।

२५—व्यंग्यात्मक—आदमी ज़माने का, आखिरी सलाम, प्लास्टिक का गुलाब ।

२६—चमत्कारपूर्ण—सोने की नाक, कौए के पीछे बैलगाड़ी, अफीम की बत्ती, बोलने वाले जानवर ।

२७—विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध—जड़ाऊ मुखड़ा, लालझंडा, आधागाँव, ढहती गढ़ी, भूखा ईश्वर ।

२८—विरोध-सूचक—सफेद हाथी, ज़िन्दा मुर्दा, अंधी रोशनी ।

२९—रहस्यात्मक—कोहबर की शर्त, खंडहर की आवाज, एक प्यास पहेली ।

३०—पशु-पक्षीपरक—कठफोड़वा, लोमड़ी, सियार पूजा, बहेंगवा, काला कौआ, दीमक, हिरना की आँखें, काले साँप ।

३१—चित्रात्मक—आरपार की माला, पानी की तस्वीर, काले सफेद साये ।

३२—नवविकास सूचक—भूदान, श्रमदान, धरती की करवट, स्वराज्य की गोद में, शहीद दिवस।

३३—अँग्रेजी प्रयोग—ब्लेड, एक लैम्प पोस्ट, गैंग्रीन।

३४—तांत्रिक—शवसाधना, ब्रह्मशांति, वशीकरण, उच्चाटन।

३५—आधुनिकता बोध-परक—वापसी का सूरज, पूरा सन्नाटा, शहर में, कुछ करने के लिए, वह दिन, एक भटकी हुई मुलाकात।

३६—लघु शीर्षक—(क) दो वर्ण—माता, मूस, गूंज, सीमा, राख, फूल, धारा, चैन (ख) तीनवर्ण—कोरस, साबुन, सँपेरा, पुरखा, फितने, (ग) चार-वर्ण—बातचीत, उपहार, सुहागिनी, अरुन्धती, (घ) पाँचवर्ण—कल्यानमन, सोहगइला, सरवइया, वशीकरण।

३७—उर्दू शब्द—जलवा, फितने, कर्ज, नशा, हस्ती, रिश्ते, तकाबी।

३८—विचित्र शब्द—सामलगमला, नीत्शी।

(६) शैली शिल्प के प्रभावक तत्व

स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-जीवनपरक कथा-साहित्य और आधुनिक नगर-बोध प्रभावित कथा-साहित्य का पार्थक्य स्पष्ट है। दोनों की मूल मानवीय सम्वेदनाओं में कोई तात्विक अन्तर न रहते हुए भी परिवेशगत उत्कट वैभिन्न्य दोनों के बोध को दो दिशाओं में प्रवाहित कर देता है। समाज-जीवन के प्रति जो उदासीनता आधुनिक कथा-साहित्य में है, अकेलेपन की अनुभूति, ऊब, उदासी, कुण्ठा और संत्रासादि की जो अन्तर्मुख पीड़ा है, उसका यथार्थ शिल्प अपने तीखेपन के साथ तब उभरता है जब नगर-जीवन से जुड़ा होता है। ग्राम-भूमि से सम्पृक्त होते ही उसका रूप परिवर्तित हो जाता है। बौद्धिकता और यांत्रिकता के अतिरेक से महानगरानुभूति अन्तररस-विहीनता का पर्याय हो गयी है जबकि ग्राम-जीवन अब भी रसवन्ती रसा से सृजनात्मकता के किसी न किसी स्तर पर जुड़ा मिलता है। अन्यान्य जीवन-रसों का जहाँ अकाल जैसा पड़ा है ऐसे नगरभाव में एकमात्र 'सेक्स' रस है जिस पर समूचा बोध अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ टूट पड़ा है। आवृत से मन परितृप्त नहीं होता है तो उसे अनावृत कर, 'ड्राइंग रूम' न्यून पड़ जाता है तो पार्क में अथवा सड़क पर ही डूबने की प्रक्रिया चल रही है। सारे सम्बन्धों की अस्वीकृति के बाद एक सम्बन्ध, भले ही वह क्षण भर का ही हो, की स्वीकृति शेष रह जाती है और

वह है 'काम' का सम्बन्ध ! गाँव अभी ऐसी बौद्धिकता, आधुनिकता और नागरिकता में प्रशिक्षित नहीं हो पाये हैं अतः पूर्ण प्रामाणिकता के साथ ईमानदारी के साथ और भोगे हुए सत्य की अभिव्यक्ति की प्रतिबद्धता के साथ जब कथाकार उस जीवन को सृजनात्मक स्तर पर उठाता है तो उसका शिल्प स्वयमेव अपनी पृथक राह बना लेता है । अपनी इस स्थापना को स्पष्ट करने के लिए प्रथमतः आधुनिकता बोध अथवा नगरबोध-परक कथा-साहित्य-शिल्प को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्त्वों पर दृष्टिपात किया जाए जिनमें से कुछ निम्नांकित हैं—

क. वैयक्तिकता और आत्मपरकता का उन्मेष; ख. साहसपूर्ण अस्वीकार; ग. चेतन-बिम्ब-सम्वेदना; घ. बौद्धिकता; ङ. विद्रोह और परम्परा-भंजन; च. सेक्सकेन्द्रित ऐहिक सुखोपभोग; छ. जटिल युगीन जीवन ।

ग्राम-जीवन पर आधारित आधुनिक कथा-शिल्प पर भी इन प्रभावक तत्त्वों का कुछ न कुछ प्रभाव निस्सन्देह दृष्टिगोचर होता है परन्तु सम्पूर्णतः उनको प्रभावित करने वाले तत्त्व कुछ और हैं जो इनसे सर्वथा भिन्न हैं । यह भिन्नत्व औपचारिक नहीं, वास्तव में तात्त्विक है । साहित्य के वातायन से उभरते ग्राम-जीवन की झाँकी में उन तत्त्वों के दर्शन प्रमाणित करते हैं कि आज भी भारतीय ग्राम-जीवन नगर-जीवन से बहुत दूर, बहुत भिन्न और बहुत पिछड़ा है । जब कोई महत्त्वाकांक्षी नागर-कथाकार अपना कथागत नगर-बोध नाम-धाम के माध्यम से गाँव के किसी खेत में साहस करके टाँग देता है तो उसका निर्जीव खोखलापन धूहे की भाँति स्वयंसिद्ध हो जाता है । यह प्रभावक तत्त्वों का प्रतिक्रियात्मक अन्तराल है जो सचाई को छाँट कर पृथक् कर देता है । बहुत टूट कर भी आज गाँव सामाजिक-सम्वेदना की पृष्ठभूमि बना हुआ है । विद्रोह की अबूझ कड़वाहट में कातर हो कर भी वह सम्बन्धों को अन्तिम रूप से अस्वीकार करने में असमर्थ है । अपनी संश्लिष्ट संवेदनाओं के लिए वह अवचेतन की भाषा का आविष्कार न कर लोक-भाषा का अन्वेषण करता है । अपने रुग्ण अहं की कुण्ठाओं में अथवा किसी अनाम-अक्षत संत्रास की झोंक में वह किसी काफ़ीहाउस का चक्कर न लगा कर अपने अविकसित अंचलों की मानवता के अन्तर-बाह्य सौन्दर्य में अवगाहन करता है । इस प्रकार, साफ़ है कि दोनों की सम्वेदनाओं के दो छोर हैं । दोनों का यह मौलिक अन्तर वास्तव में उसके शैली-शिल्प के प्रभावक तत्त्वों का अन्तर है । ग्राम-भित्तिक

कथा-साहित्य के प्रभावक तत्वों को सामान्यतः निम्नांकित रूपों में रेखांकित किया जा सकता है—

क. सामाजिक मूल्यशेषता; ख. धरती से जुड़ने का भाव; ग. अन्वेषण वृत्ति; घ. लघुमानवोत्थान; ङ. परम्परागत सहजता; च. जीवन-यथार्थ का आग्रह; छ. नये-पुराने मूल्यों की टकराहट।

उक्त शिल्प-प्रभावक तत्वों के परिप्रेक्ष्य में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामभित्तिक कथा-साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'बलचनमा' (१९५२), 'गंगा मैया' (१९५३), 'पानफूल' (५४) 'आरपार की माला' (५५), 'मैला आँचल' (५४) 'सागर, लहरें और मनुष्य' (५६) और 'ब्रह्मपुत्र' (५६) के प्रकाशन के साथ हिन्दी-कथा-शिल्प में युगान्तरकारी प्रथम परिवर्तन आया। प्रथम बार स्वाधीन जाति की वह नयी चेतना, वह नवोल्लास, मौलिक और ताज़ी पकड़ के साथ कथा-साहित्य में उतरा जिसने प्रेमचन्दोत्तर एक दशक की बौद्धिकतापूर्ण रिक्तता को गहमागहमी के साथ भर दिया। इन कृतियों में द्वन्द्व और संघर्ष के पिटे-पिटाये चित्रण की जगह ग्राम-जीवन के रूप में नये कोण से भारतीय आत्मा की पकड़ उभरी। जटिलता से कथा-साहित्य सहजता की ओर प्रत्यावर्तित हुआ। सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, वायवी और मनोव्याधिग्रस्त विकृत नागरिक चित्रणों से वास्तविक, जीते-जागते, सहज, भोले-भावुक और अत्यन्त निकट से प्रतीत होने वाले ग्रामीण चरित्रों की ओर कथाकार लौटे। शताब्दियों की पराधीनता से मुक्त ग्रामांचलों में ज़िन्दगी की रुलाई नहीं, उसकी मुसकुराहट की अनुभूति एक असाधारण अनुभूति थी। 'आरपार की माला' (शिवप्रप्रसाद सिंह) की कहानियाँ गाँधीवाद से प्रभावित उत्तर ज़मीन्दार युग और अ-मोहभंग की आशावादी मनःस्थिति में सुगबुगाती आधुनिकता का सहज शिल्प निखार प्रस्तुत करती हैं। 'पानफूल' (मार्कण्डेय) और 'आर-पार की माला' में जो मुख्य प्रवृत्ति उभरी वह है पारिवारिक रेखाचित्रात्मकता की। प्रेमचन्द के शिल्प-स्पर्श से सर्वथा रहित इन कहानियों में उनकी परम्परा तो मूलतः सुरक्षित है परन्तु वस्तुतः परम्परावादिता कहीं नहीं है। परिवर्तन-कारी नवता शिल्प की है जिससे स्वातंत्र्योत्तर चेतना मिल कर ग्राम-जीवन की मानवीयता और उसके जीवन-संघर्ष की नयी-सी प्रतीत होने वाली वस्त्वात्मक दीप्ति प्रदान करती है। स्वातंत्र्योत्तर शिल्प-उभार कहानियों और उपन्यासों में दो प्रकार से हुआ। कहानियों में वह एकतान रेखाचित्रात्मकता के रूप में,

जैसा कि 'आरपार की माला' और 'पानफूल' में संकलित कहानियों से स्पष्ट है, विकसित हुआ तथा उपन्यासों में बिखराव पूर्ण आंचलिकता के रूप में उसने 'बलचनमा' (नागार्जुन), 'मैला आँचल' (फणीश्वरनाथ रेणु), और 'ब्रह्मपुत्र' (देवेन्द्र सत्यार्थी) में नवाकार ग्रहण किया। 'ब्रह्मपुत्र' के आंचलिक-शिल्प में सांस्कृतिक महाकाव्यात्मक झाँकी मिली। 'बलचनमा' में नया राजनीतिक-स्पर्श और 'मैला आँचल' में नये सामाजिक मूल्यों की टकराहट की प्रधानता रही।

ग्रामगंधी कथा-शिल्प में दूसरा महत्त्वपूर्ण मोड़ सन् १९५७ में आता है जबकि कमलेश्वर के कहानी-संग्रह 'राजा निरबंसिया', मार्कण्डेय के संग्रह 'हंसा जाइ अकेला' के साथ-साथ रेणु के उपन्यास 'परती परिकथा' का प्रकाशन होता है। 'राजा निरबंसिया' और 'हंसा जाइ अकेला' के प्रकाशन से प्रथम दौर की रेखाचित्रात्मकता में चरित्रात्मकता का समावेश आरम्भ होता है। इस शिल्प में धरती के वास्तविक जीवन से सम्पृक्त अन्तः सौन्दर्य और चेतन-सम्वेदना का उभार हुआ। 'नयी भूमियों' के 'सृजन' का आग्रह प्रबल हो उठा। 'राजा निर-बंसिया' में आधुनिक जीवन को मोड़ देने वाले निम्न-मध्य और मध्य-वर्ग से नयी कहानी का शिल्प जुड़ कर उसे एक गम्भीर जीवनवादी रूप प्रदान करता है। कमलेश्वर में क़स्बे के जीवन का उत्कर्ष है और मूलतः तलवर्ती लोक-जीवन की चेतना का अंकन है। मार्कण्डेय में शुद्ध ग्राम-सम्पृक्ति है। सन् १९५८ में प्रका-शित 'कोसी का घटवार' (शेखर जोशी) तथा 'ज़िन्दगी और जोंक' (अमरकान्त) में भी अपेक्षाकृत अधिक संवेदनीयता और सृजनात्मकता के स्तर पर लोक-जीवन आया। इतने पर भी कथाकार सीधी-सपाट रेखाचित्रात्मकता के व्या-मोहजाल से सम्पूर्णरीत्या शिल्प को मुक्त नहीं कर पाते हैं। इस अवधि में 'बबूल की छाँव' (शानी : १९५८), 'कर्मनाशा की हार' (शिवप्रसाद सिंह : १९५८), और 'ठुमरी' में सर्वथा अछूते अन्तर-संगीत-स्वर का निखार प्रकट हुआ। 'मुक्तावती' (बलभद्र ठाकुर : १९५८) में एक भौगोलिक इकाई आंच-लिकता के सघन प्रयोग के रूप में चित्रित हुई। और 'सती मैया का चौरा' (भैरवप्रसाद गुप्त : १९५८) में 'गंगा मैया' के शिल्प का विस्तार हुआ।

उक्त दूसरे दौर के कथा-साहित्य का अध्ययन करने से एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है। कहानी का शिल्प अभी सरलता-सिधाई की प्रवृत्तियों में उलझा है तभी उपन्यास-शिल्प 'परती परिकथा' के रूप में एक अभूतपूर्व संश्लिष्ट शिल्प के रूप में उदित होता है। वास्तव में आंचलिक शिल्प का नवीन

प्रयोग और उसका निखार दोनों यहाँ उपलब्धि के स्तर पर प्रस्तुत हैं। आदिम-रसगंधों के इस कथाकार ने ध्वनि-चित्रमूलकता, दृश्यात्मकता, चेतना प्रवाही रिपोर्ताजवृत्ति, व्यापक संदर्भधर्मिता और निस्संग दृष्टि से अपने शिल्प को समृद्ध किया है। कसाव, सांकेतिकता, हड़बड़ी, हल्ला और 'उच्छृंखलता' के साथ विकसित होती हुई कथात्मकता उत्तरार्ध में कुछ अधिक क्षीण न होती तो निस्सन्देह शिल्प में और उत्कृष्ट प्रभावात्मकता होती। तो भी, इसमें समस्त पुरातन परम्पराओं को विज्ञान और तकनीक के नये शोध-प्रकाश में उखाड़ फेंकने वाली, पुराने गाँव के टूटते-रिसते मूल्यों को झकझोर कर धराशायी करने वाली विद्रोह-धर्मी आधुनिकता आंचलिक वाग्मिता के साथ नये शिल्प में उजागर हुई है। जित्तन शतप्रतिशत आधुनिक है। विदेश से पन्द्रह वर्ष का आधुनिकतम अनुभव ले कर लौटने पर वह नये गाँव, नये परिवार और नये लोगों की स्थापना के लिए समर्पित हो जाता है। ब्रह्मपिशाच, अग्निवैताल-तंत्र-मंत्र और चक्रादि की कड़ी पुरातन पर्तों को ट्रेक्टर के तीक्ष्ण फालों से छिन्न-भिन्न कर नये क्रम में वह भू-शोधन का द्वार खोलता है। वह परानपुर में कृषि-क्रांति का प्रस्तोता और अग्रदूत है। उसके रूप में नया भारत नये सिरे से उठ रहा है। उसके स्पर्श से युग-युग की हज़ारों एकड़ बन्ध्या धरती शस्य-श्यामला की शत-शत संभावनाओं से पुलकित हो उठती है। यही 'संभावनाओं का महान् शिल्प' फणीश्वरनाथ 'रेणु' की महती उपलब्धि है जो 'परती परिकथा' के रूप में प्रस्तुत हुई।

आलोच्य, कथा-साहित्य शिल्प का तीसरा मोड़ विकसित शिल्प के विस्तार और नानाविध प्रयोगों का है जो सन् १९६१ से लेकर १९६६ तक के बीच प्रकाशित विविध कृतियों में परिलक्षित होता है। प्रमुख प्रभावक कृतियों में 'इन्हें भी इन्तज़ार है' (१९६१), 'हौलदार' (१९६१) और 'आधागाँव' (१९-६६) हैं। 'इन्हें भी इन्तज़ार है' (शिवप्रसाद सिंह) में ग्राम-कथानक-शिल्प को अन्तररसता और प्रजातांत्रिक दीप्ति मिली। नयी प्रतीकात्मकता, नया रागबोध, नया सम्वेदनात्मक स्पर्श और नये कोण से जीवन का साक्षात्कार इस संग्रह की शिल्प विशिष्टताएँ हैं। 'हौलदार' (शैलेश मटियानी) में एक सर्वथा नयी मुद्रा में देशकाल-निरपेक्ष, सनातन रागसिद्ध, लोककथात्मक आंचलिक शिल्प उभरा। रेणु की आंचलिकता में बहिर्मुख वस्तु-चित्र और शैलेश मटियानी की आंचलिकता में अन्तर्मुख भाव-चित्र प्रधान हैं। एक में कृषि-क्षेत्र की परि-

वर्तित समाज-चेतना के अन्तर्विरोध और संघर्षों की प्रतिध्वनि है और दूसरे में पर्वतीय जीवन की परम्परित लोक-चेतना की स्थिर छविलेखाओं का विस्तार है। अपने इस प्रथम आंचलिक उपन्यास की भूमिका में मटियानी ने स्पष्ट लिखा है कि उनका आग्रह मात्र शिल्प के प्रस्तुतीकरण पर है। इस शिल्प में तराश अधिक है और समूची कला कलामुखी है। हिन्दी में अपने ढंग का यह अपूर्व शिल्प पुरातन जीवन-मूल्यों को पुरस्कृत करता हुआ विकसित हुआ। 'सागर, लहरें और मनुष्य' (उदयशंकर भट्ट) के आंचलिक शिल्प में पात्रों के आधार पर परिच्छेद-योजना का प्रयोग हुआ जो 'नदी के द्वीप' आदि में विकसित हुआ था। विशिष्ट लोक-जीवन-छवि की आलेखन वृत्ति के अतिरिक्त इसमें समूचा बल ग्राम और नगर मन के अन्तराल-चित्रण और उनकी टकराहट की प्रतिध्वनियों की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पकड़ पर पड़ गया है। घटनात्मकता और बिखराव-रहित कथानक एकतानता के होते भी इस उपन्यास को आंचलिकता की कोटि में रखते हैं। 'ब्रह्मपुत्र' में यदि नदी-जीवन है तो इसमें समुद्र तटीय जीवन को कथाकार संघर्ष की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करता है।

'आधा गाँव' (राही मासूम रजा) सघन आंचलिक प्रयोग है। हिन्दी-उर्दू की तथाकथित औपचारिक एकता राही के इस उपन्यास में भाषा-प्रयोग के स्तर पर यथातथ्य रूप में सिद्ध हो गयी। 'नगर पुराण-कथा' की शैली में गाजीपुर के संस्मरण-चित्रण से आरम्भ हो कर यह उपन्यास भौगोलिक दृष्टि से सत्य एक गाँव की ऐतिहासिक दृष्टि से वास्तविक पारिवारिक घटनाओं के चित्रण को उपन्यस्त करता है। तीन-चौथाई उपन्यास लिख कर कथाकार कथा को आगे बढ़ाने के लिए भूमिका की आवश्यकता का अनुभव करता है। 'मैं सैयद मासूम रजा आब्दी वल्द सैयद बशीर हसन आब्दी बहुत परेशान हूँ...।' से आरम्भ भूमिका का वह शिल्पगत औचित्य इस रूप में स्वीकारता है कि एक युग की समाप्ति के बाद अपरिचित नवारंभ भूमिका की माँग करता है। अध्यायों के नामकरण में भी एक प्रयोग है। 'आधा गाँव' अर्थात् गंगोली गाँव में निवास करने वाले अपने मुसलिम परिवार-परिजन लोगों को ही कथाकार 'चरित्र' बनाता है। यह एक शिल्प-साहस है। न गाँव काल्पनिक हैं और न चरित्र, फिर भी यह न जीवनी है और न इतिहास है, बल्कि शुद्ध आंचलिक 'उपन्यास' है। भोजपुरी-उर्दू का शिल्प प्रथम बार हिन्दी-जगत् में प्रकाशित हुआ। मुसलिम परिवारों में उर्दू के प्रभाव से कुछ रूप परिवर्तन के साथ भोजपुरी व्यवहृत

होती है। 'कहिन', 'किहिस', 'किहिन' आदि ठेठ प्रयोग हैं और इस प्रकार की सूक्ष्म भाषागत यथार्थ पकड़ शिल्प-प्रयोग की विशेषता है। विकट साहसिक प्रयोग है गालियों का। यथार्थ जीवन में जमींदारी उन्मूलन के बाद आर्थिक दृष्टि से विपन्न भूतपूर्व जमींदार कटकटा कर 'अपशब्दों' का प्रयोग करते हैं और कथाकार 'आधा गाँव' की फ़ोटोग्राफ़ी में उन्हें रोक नहीं पाता है। कृति में परिवर्तित होते, व्यतीत होते अथवा व्यतीत बनते 'समय' की कहानी एक मौलिक शिल्प-प्रयोग है। कथानक ह्रास और बिखराव चरमोत्कर्ष की 'अति' तक पहुँच जाता है।

विस्तार और प्रयोग भूमियों के अन्वेषण के उक्त तृतीयावर्त की अवधि में शिल्पगत विशिष्टता की दृष्टि से 'हिरना की आँखें' (मधुकर गंगाधर : १९६१), 'दो दुखों का एक सुख' (शैलेश मटियानी : १९६१), 'पानी के प्राचीर' (रामदरश मिश्र : १९६१), 'कलावे' (जयसिंह : १९६१), 'नदी फिर बह चली' (हिमांशु श्रीवास्तव : १९६१), 'फिर से कहो' (मधुकर गंगाधर : १९६४), 'कोहबर की शर्त' (केशवप्रसाद मिश्र : १९६५) और 'मुरदा सराय' (शिवप्रसाद सिंह : १९६६) आदि कृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इस अवधि की रचनाओं में आधुनिक दृष्टि की स्पृहा तीव्र है। आंचलिकता के रूप में अपनी धरती की सम्पृक्ति की तो महत्त्वाकांक्षा स्वातंत्र्योत्तर प्रथम दशक में जगी वह सन् १९६० के बाद में वास्तव में एक 'गंभीर उत्तरदायित्व' का रूप धारण कर लेती है। विश्व-जीवन को मथित-व्यथित करने वाली कुंठा-संत्रासादि की झकझोरक वृत्तियाँ जिस रूप और मात्रा में समकालीन ग्राम-जीवन को आक्रान्त करती हैं उनकी सहज-सूक्ष्म पकड़ इस अवधि की शिल्प-संवेदना का आन्तरिक उभार है। मोहभंग, प्रजातांत्रिक चेतना और समाजवादी समाज-संरचना के नारे का भरपूर प्रभाव है। लेकिन, संभवतः ग्राम-माधुरी के सहजात जीवन-व्यामोह को इस काल के कथाकार भी उखाड़ फेंकने में असमर्थ रहते हैं। अतः शिल्प में कहीं-कहीं रागाकुल भावमग्नता और निरपेक्ष तल्लीनता भी दृष्टिगोचर होती है। ग्राम और नगर जीवन की नयी टकराहट कथाकार मधुकर गंगाधर में गुंजित है। निर्दोष और विशुद्ध आंचलिक शिल्प के प्रयोग की दृष्टि से छोटी हो कर भी जयसिंह की कृति 'कलावे' अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

ग्राम-जीवनपरक कथा-साहित्य के शिल्प में चौथा महत्त्वपूर्ण मोड़ 'अलग-अलग वैतरणी' (शिवप्रसाद सिंह : १९६७) के प्रकाशन के साथ आता है और

इसके साथ ही ग्रामकथानकों का कथित सतहीपन विसर्जित हो कर शिल्प में असाधारण गंभीरता, स्थायित्व और समन्वित शिल्प-प्रौढ़ता लक्षित होती है। समग्र-जीवन की पकड़ और प्रचारात्मकता रहित जीवन-यथार्थ की आन्तरिक अभिव्यक्ति इस शिल्प की विशेषता है। परिवर्तित युगीन-जीवन और उसकी गत्वर प्रभाववादिता के समानान्तर नवविकसित ग्राम-जीवन के ध्वंसोन्मुख परिप्रेक्ष्य इस शिल्प में पिटी-पिटायी लीक से पृथक् नयी प्रामाणिकता के साथ उभरे हैं। सन्तुलन और समन्वय के प्रभाव से परिनिष्ठित आधुनिक औपन्यासिक शिल्प के रूप में इसका प्रस्तुतीकरण हुआ है। इस उपन्यास की मुख्य चार शिल्प-विशेषताएँ ऐसी हैं जिन पर ध्यान जाना चाहिए :—

क. आंचलिक और ग्राम-कथा का समन्वित रूप; ख. ग्राम-कथा और आधुनिकता का समन्वित रूप; ग. बिखराव और एकतान शिल्प का समन्वित रूप; घ. देशकाल सापेक्ष प्रचारात्मकता और स्थायित्व-पूर्ण कथा-रस का समन्वित रूप।

'अलग-अलग वैतरणी' आंचलिक होकर भी अनांचलिक कृति है। करैता गाँव, लोकभाषा, लोकगीत और बिखराव-शिल्प के संस्पर्श से इसके रूप में आंचलिकता का भ्रम हो सकता है परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इसमें आंचलिक शिल्प का किंचित् आग्रह नहीं है। आदि से अन्त तक शिल्प नहीं, जीवन की अभिव्यक्ति की प्रधानता है। अंचल को ग्रहण कर उसमें जीवन-संघर्ष की अन्तरंगता का समावेश आंचलिकता के शिल्पाग्रही सतहीपन को विसर्जित करने में एक रचनात्मक दृष्टि है। ग्रामकथाकार के रूप में शिवप्रसाद सिंह आस्थावादी कथाकार हैं परन्तु आलोच्य कृति में आधुनिक दृष्टि है। टूटते गाँव के प्रति भावुकता कम यथार्थ और वैज्ञानिक विचार-दृष्टि अधिक है। व्यक्ति समस्याओं को नये मनोविश्लेषण और समाज-समस्याओं को नवचिंतन के सन्दर्भ में आँका गया है। गाँव हमारे भले ही आधुनिक नहीं हैं परन्तु सार्वभौम आधुनिकता के प्रभाव से उनका वंचित रहना असम्भव है। यह सही आधुनिकता किस प्रकार पुरातनता में सड़ते-गलते गाँवों को और गला कर नरक बना रही है, कथाकार निस्संग-निर्मम दृष्टि से विश्लेषित कर प्रस्तुत करता है।

स्वतंत्रता पूर्व के कथा-शिल्प में एकतान सम्पुटन और समाहार-वृत्ति है। विपरीत इसके स्वातंत्र्योत्तर कथा-शिल्प में बिखराव और विस्तार-वृत्ति है। 'बलचनमा' से ले कर 'अलग-अलग वैतरणी' तक सबमें पर्याप्त बिखराव है।

किन्तु 'अलग-अलग वैतरणी' का बिखराव अनेक उड़ते ग़ुब्बारों के एक केन्द्र में बँधे रहने जैसा है। कृति की घटनाएँ बिखरती प्रतीत होकर भी केन्द्रित रहती हैं। कहीं से कोई रिक्तता नहीं रह जाती है और न कोई छोर छूटा रह जाता है। मूल्यवान प्रश्न इसमें राजनीतिक प्रचारात्मकता का है। स्वतन्त्रता के दो दशक बाद, जबकि देश में घनघोर राजनीतिक गहमागहमी और संघर्ष-संकुलता है, प्रकाशित होने पर भी प्रस्तुत कृति में अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष राजनीतिक संघातशीलता का अत्यल्प होना जहाँ प्रश्न रूप में खड़ा होता है वहीं प्रतीक और संकेताधारित अप्रत्यक्ष व्यंग्यशिल्प में प्रचारात्मकता और बाह्य उछलकूद से रहित संयमित रचनात्मकता में सूक्ष्म से सूक्ष्म राजनीतिक हलचलों और विचारधाराओं की पकड़ दृष्टिगोचर होती है। कोई कृति राजनीतिक पार्टियों के संघर्ष का अखाड़ा बन कर केवल समसामयिक महत्त्वार्जन कर सकती है। राजनीति के सूक्ष्म वैचारिक स्तर का सूक्ष्म प्रयोग 'अलग-अलग वैतरणी' को स्थायित्व-पूर्ण कथा-रस से पूर्ण करता है। इसकी अन्य शिल्प-सम्बन्धी विशेषताओं में वाच्य का विशिष्ट प्रयोग, स्मृति अनुप्रकाशी शैली लोकभाषा का एक विशेष पद्धति पर मिश्रण, तीन नुक्तों का प्रयोग, समग्र-प्रभावी विधा, लोकगीत की क्षीण किन्तु छायी प्रतिध्वनि, उपन्यास-दर-उपन्यास प्रयोग और चरित्र-चित्रण की विशेषता आदि हैं जिनके कारण इसे मानक रूप मिल जाता है।

इसी चौथे मोड़ के प्रकाशन वर्ष में 'रीछ' (विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : १९६७) प्रकाशित हुआ। लोक-मानस में हुए नये परिवर्तनों को जो बाहर-भीतर घटित हो रहे हैं, अंकित करने के लिए राजनीतिक माध्यम को इसमें चुना गया है और गम्भीर प्रभावों की स्थितियों के लिए नियत प्रतिबद्धता के विषय में कथाकार ने भूमिका में विधिवत् घोषणा की है। इतिहास और जीवनी की विधा में उपन्यस्त कथा-नायक का जीवन-संघर्ष कुल मिला कर संघर्ष का शिल्प हो जाता है। 'अलग-अलग वैतरणी' और 'रीछ' के साथ ही इस अवधि में ऐसे तीन और उपन्यास शैली-शिल्प के विविध मौलिक उभार के साथ प्रकाशित हुए जिनमें ग्राम-जीवन के माध्यम से बहुत विशाल पैमाने पर परि-वर्तित भारतीय जीवन को अंकित किया गया है। ये उपन्यास हैं 'रागदरबारी' (श्रीलाल शुक्ल : १९६८), 'जल टूटता हुआ' (रामदरश मिश्र : १९६९), और 'जानें कितनी आँखें' (राजेन्द्र अवस्थी : १९६९)। इनमें 'रागदरबारी' शिल्प-दृष्टि से एक ऐतिहासिक उद्‌घाटन है। सम्पूर्ण कृति व्यंग्य-रचना है। वस्तु

और शिल्प, दोनों दृष्टि से व्यंग्य मूल्यवान है। वस्तु-दृष्टि से आधुनिक भारत की विघटनवादी और पतनशील प्रवृत्तियों को कथाकार इस प्रकार रूपायित करने का प्रयास करता है कि कथाभूमि के रूप में अंकित शिवपालगंज सम्पूर्ण भारत का प्रतीक हो जाता है। पंक्ति-पंक्ति में और पुनः समग्र प्रभाव की दृष्टि से उत्तम व्यंग्य का आद्यन्त निर्वाह जहाँ शिल्प की अपूर्व विशेषता है वहाँ इससे कृति के गम्भीर प्रभाव को क्षति पहुँचती है। तो भी व्यंग्य शिल्प की प्रौढ़ता आधुनिक खोखली शिक्षा-व्यवस्था के साथ जुड़ी होने के कारण बराबर ताज़गी बनी रहती है। 'जानें कितनी आँखें' में आंचलिक प्रौढ़ता नये मूल्यों को समेटती चलती है। परन्तु इसी के साथ प्रकाशित 'दो अकालगढ़' (बलवन्तसिंह) में पंजाब-अंचल की धरती की गमक तो है परन्तु उसमें पुराने स्वच्छन्दतावादी मूल्य पुरस्कृत हुए हैं। परिवर्तित ग्राम-जीवन के प्रामाणिक दस्तावेज़ के रूप में प्रस्तुत 'जल टूटता हुआ' (रामदरश मिश्र) का आंचलिक-अनांचलिक शिल्प मुख्यतः बिम्बात्मक है। बाहर से ऐसा लगता है कि 'गोदान' और 'बलचनमा' के शिल्प का योग नई स्थितियों के दबाव से इसमें नया निखार ले लेता है परन्तु भीतर से इसमें भारतीय जीवन में आये संवैधानिक और संस्थानिक परिवर्तनों का वह प्रभाव विस्फोट झलकता है जो दो प्रकार के जीवन-मूल्यों की टकराहट की अनिवार्य परिणति है। सतीश 'गाँधीवादी' लगता है परन्तु उसका यह गाँधी-वाद (आदर्शवाद) ध्वस्त होते समाज-यथार्थ का एक आन्तरिक संकट है। 'जल टूटता हुआ' में मुख्यतः व्यापक संकट का शिल्प प्रस्तुत किया गया है। इसी वर्ष रामदरश मिश्र का कहानी-संग्रह 'खाली घर' (१९६९) प्रकाशित होता है, जिसमें व्यक्ति-इकाई के भीतर उभरे उस 'संकट' को शिल्पायित किया गया है जो ग्राम-जीवन और नगरजीवन की टकराहट का परिणाम होता है। हिन्दी कथा-साहित्य में जो प्रौढ़ता और गंभीरता सातवें दशक के आसपास आती दिखाई देती है वह मूलतः इन्हीं कथा-कृतियों के कारण, क्योंकि ये लोक-जीवन अथवा ग्राम-जीवन से जुड़ी हो कर सम्पूर्ण भारतीय जीवन को चित्रांकित करती हैं। रेखाचित्र, संस्मरण और आंचलिक शिल्प आदि रूपों में विकसित स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-कथा दो-ढाई दशक में पर्याप्त गम्भीर और सार्थक उत्तर-दायित्वों से परिपूर्ण रूप ग्रहण कर लेती है परन्तु यथार्थतः यह समूचा शिल्प-विकास अधिकांश एकदेशीय है अर्थात् उपन्यासों तक ही सीमित है। ग्रामांचलों से जुड़ी कहानियों में आरम्भ का उठता शिल्प-विकास आगे चलकर 'खाली

घर' को 'आदिम रात्रि की महक' से भर कर भी वस्तुतः रिक्त रह गया है।

इस अध्ययन से स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-जीवनपरक कथा-साहित्य के शिल्प-विकास का एक संक्षिप्त क्रम स्पष्ट हो जाता है। जो उसके उत्तरोत्तर प्रवृत्यात्मक उत्कर्ष को स्पष्ट करता है। उल्लेखित कृतियों को निर्णायक संदर्भ में न ले कर केवल शिल्प-वैशिष्ट्य के निदर्शक तत्त्व के रूप में ग्रहण किया गया है। कालक्रम से संस्थानिक परिवर्तन और राजनैतिक उथल-पुथल आदि का प्रभाव समाज-संरचना से छन कर कथामानस को मोड़ देता है तथा समय के साथ उसका परिवर्तित स्वर पृथक् हो जाता है। इस पार्थक्य के परिप्रेक्ष्य में स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कथा-साहित्य में ग्राम-जीवन की अभिव्यक्ति का दो दशकीय नव-शिल्प-विकास नीचे लिखे काल-क्रम में विश्लेषित किया गया है :

१. आरंभ (१९५० से १९५६ तक) सहज रेखाचित्रात्मकता और आंचलिकता।
२. विकास (१९५७ से १९६० तक) चरित्रात्मकता और नयी भूमियों पर सृजनात्मकता का समावेश।
३. विस्तार (१९६१ से १९६६ तक) विकसित शिल्प का विस्तार और नये प्रयोग;
४. प्रौढ़ता प्राप्ति (१९६७ से १९७० तक) गंभीरता, स्थायित्व और समन्वित शिल्प प्रौढ़ता।

उपसंहार

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कथा-साहित्य में ग्राम-जीवन के चित्रण का आग्रह मूल्य के स्तर पर भी यदि गृहीत दृष्टिगोचर होता है तो वह वरेण्य है क्योंकि तत्त्वतः यह भारतीय जीवन के चित्रण का आग्रह है। देश-विशेष की संकुचित सीमा से ऊँचा उठकर सार्वभौम मानवत्व के सनातन तत्त्वों के अंकन का नारा मात्र अपनी उस दुर्बलता को छिपाने का प्रयास है जो कथा को अन्यान्य जीवन-बिन्दुओं से हटा कर केवल काम-केन्द्रित कर नागर भाव में प्रस्तुत करने में ससमारोह संलग्न दीख रही है। जिसमें अपने निजी परिवेश की प्रामाणिक पकड़ नहीं है उसका विश्व-मानवता के अपरिवर्तनशील जीवन-परिवेशों से तादात्म्य असंभव है। हिन्दी के भारतीय कहानीकार का अपना निजी परिवेश क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में आधुनिकतम सुविधाओं से सुसज्ज कक्ष, होटल, काफी हाउस, महानगरीय भीड़-भाड़ और शिक्षित-सम्पन्न युवा जोड़ों के मुक्त-मिलन-संदर्भों आदि को प्रस्तुत किया जाता है तो स्पष्ट है कि यह सन्तोषजनक नहीं होगा। सामान्य भारतीय जीवन के नहीं ये विशिष्ट नगरांचल के परिवेश हैं और एक बार जिस उत्साह से ग्राम-परिवेशी आंचलिकता विकसित हुई उससे अधिक धूमधाम से यह नयी नगर परिवेशी 'आंचलिकता' प्रतिष्ठित हो गई है। अन्तर्राष्ट्रीय कथा-प्रवाह और राष्ट्रीय जीवन की स्वातंत्र्योत्तर जटिल स्थितियाँ जिनमें ग्रामोन्मुख विकास और नगरोन्मुख सत्ता संघर्ष की विसंगतियाँ उत्पन्न हुईं, इसे प्रतिष्ठित करने में सहायक हुईं। स्वतंत्रता के पूर्व जहाँ 'गाँव की ओर लौटो' का भाव था वहाँ स्वतंत्रता के बाद 'गाँव से भागो' की विवशतायें सम्मुख आ गईं। कथा और कथाकार तथा कथाओं के पात्र सबकी नगरशरणता अभिव्यक्ति स्तर पर गाँवों के प्रति उपेक्षा में रूपान्तरित हो गई। यद्यपि इस उपेक्षा के मूल में मध्यम-वर्ग की विक्षोभकारक युगीन जीवन-प्रवंचनायें भी अंशतः भागीदार हैं तथापि इसका वह कृत्रिम, आरोपित और असहज रूप जिसमें किसी आधुनिक विशिष्ट शिल्प के ढाँचे में कथा को ढालने के लिए ग्राम-जीवन की माटी उठाई जाती है, सर्वथा अप्रामाणिक और हास्यास्पद होता है। जहाँ ग्राम और नगर जीवन की विसंगतियों और उनकी टकराहट

के संवेदित सत्य का रूपायन-प्रयास लक्षित होता है वहाँ कथा अवश्य ही प्रभावकर हो जाती है। ग्राम-जीवन के इस उदासीन-मनचलंता-अंकन की प्रवृत्ति अत्याधुनिक है और क्षणचित्रप्रधान होने के कारण उपन्यासों में नहीं लक्षित होती है।

नवलेखन अथवा युवालेखन के अन्तर्गत समसामयिक लोक-जीवन के परिवर्तित संदर्भों को उजागर करने वाली नई-कहानियों में जो समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रही हैं एक सर्वथा नूतन शोभाचारिता बल पकड़ती जा रही है। नयी कहानी के पात्र और कथाकार ग्राम-परित्याग कर चुके हैं। वे आज सेवा-वृत्ति अथवा व्यवसायादि के क्रम में नगर-निवासी हैं और किसी अवकाश में प्रत्यावर्तित होते हैं तो एक विशेष दृष्टि से गाँव का अवलोकन करते हैं। इस संदर्भ में गाँव और कस्बे की नियति समान अभिव्यक्ति पाती दृष्टिगोचर होती है।

'मैं' की विधा में अंकित उक्त प्रकार की कथाओं के नगर-निवासी ग्रामीण श्रावयिता प्रायः अपने नागर अहं में मग्न रहते हैं। वे अपने पैतृक-गृह, गाँव-गली, अथवा कस्बे की ममता का चर्वण करते हुए वहाँ पहुँचते हैं। जब वे अपने परिजन-परिवार के लोगों की हीनता देखते हैं तो उनमें आत्मोच्चता का ऐसा तनाव उभरता है कि वे खप नहीं पाते हैं तथा सोल्लास अपने माँ-बाप के दारिद्रय, अज्ञान और सामान्य जनों की दीन-दशा एवं दुर्गति का विज्ञापन करते अपने सुरक्षित नगर में लौट आते हैं। शनैः शनैः भोगे हुए जीवन की अभिव्यक्ति और प्रामाणिक सत्य के नाम पर यही प्रवृत्ति सम्प्रति ग्राम-जीवन की कथागत अभिव्यक्ति में प्रतिष्ठित होती जा रही है। इस प्रकार की कहानियों में मुख्यतः तीन मुद्रायें परिलक्षित होती हैं—

१. यथार्थ-वृत्ति

२. मिथ्या-दर्शन-वृत्ति

३. आत्मारोपण-वृत्ति

तत्वतः प्रथम मुद्रा में कथाकार 'जो है' को केवल देखते हैं और सार्थकता का अन्वेषण व्यंग्य होता है। दूसरी मुद्रा में भयानक विसंगति है। द्रष्टा कुछ भी नहीं देख पाता है क्योंकि उसके पास 'दृष्टि' नहीं होती है। तीसरी मुद्रा आधुनिकता-बोध से संदर्भित है। इसमें नगर-बोध का विशिष्ट अहं पूर्ण प्रतिष्ठित होता है।

बल्लभ सिद्धार्थ की कहानी 'तनहाई' (सारिका, अप्रैल सन् १९६९) में बेटा मणि नगर से एक अवकाश में घर आता है और बहुमूल्य सूट में बूट कड़-कड़ाता वृद्ध पिता के सम्मुख विराजित हो जाता है। वह बात इस प्रकार करता जैसे किसी अन्वीक्षा में आया है और टाँगों पर टाँगें चढ़ाकर सिगरेट पर सिग-रेट खींचता चला जा रहा है। उसे प्रत्येक वस्तु अरुचिकर प्रतीत होती है। गाँव-घर का कण-कण उसे काटने लगता है। पार्थक्य, असम्पृक्ति, अनासक्ति और उपरति-उचटन की यही अनुभूति अत्यन्त तीखेपन के साथ सुबोध कुमार श्रीवास्तव की कहानी 'कुम्हड़े की सब्जी' (नयी कहानियाँ, अप्रैल १९६९) में चित्रित हुई है। गाँव का जन्मा व्यक्ति नगर में जाकर प्राध्यापक हो गया है। उसके मन पर नगर का प्रभाव इस प्रकार छाया है कि गाँव पर आकर पग-पग पर टकराने लगता है। पहली टकराहट खपरैल पर पसरे कुम्हड़े को देखकर होती है और सब्जी खाने की वितृष्णा उभर आती है। घर में प्रवेश करते ही गोबर की गन्धानुभूति आकुल कर देती है। वह नाक सिकोड़ लेता है और उच्चाभिमान ऐसा प्रबल होता है कि बछेड़े को सहलाने में हेठी का अनुभव करता है। वह अपने पिता से भी मुक्तभाव से नहीं मिल पाता है। उनके पायरिया लगे दाँतों की दुर्गन्धि वह सह नहीं पाता है। उनके पैरों की फटी बेवाई देखकर कहता है, दवा भेज दूँगा, जैसे उनके ऊपर करुणा की वर्षा कर रहा है। माँ से अपरिचित की भाँति साक्षात् होता है। उसकी आयु जानने की इच्छा होती है। कक्षा पाँच अनुत्तीर्ण पत्नी एक दुखान्त नाटक हो जाती है। उसके घूँघट से टकराहट, लैंप जलाकर लक्ष्मीवत् मान करबद्ध प्रणति की मुद्रा धारण कर लेने की अन्ध-विश्वासवादिता पर टकराहट, काजल-सिन्दूर की पुरा-तनपंथी खलती है, उसकी भावुकता और गँवारपन का प्रत्याख्यान होता है। इस प्रकार उपलक्षित चित्र में समस्त सम्बन्ध छिन्नमूल हो गये हैं और प्राध्या-पक महोदय मानो 'छीः मानुख छीः मानुख' करते ग्राम-प्रवेश करते हैं। सुबोध कुमार जी की एक अन्य रचना 'कुछ करने के लिये' (धर्मयुग, ८ दिसम्बर, १९६८) में भी अवकाश में गाँव पर आगमन चित्रित हुआ है। पृष्ठभूमि में एक एस० डी० ओ० महोदय हैं। बहन के पाणिग्रहण-संस्कार पर अवकाश लेकर गाँव पर आये हैं। उन्हें इतना सम्मान मिलता है कि कोई कुछ करने नहीं देता है। तंग आकर वे सोच रहे हैं कि उनके पास करने के लिये एक ही काम है कि वे कार्य-रत स्थिति में सबका निरीक्षण किया करें। इस कल्पना के

साथ वे ढोलक बजाने वाली लड़की को देखने के बारे में सोचने लगते हैं और उनके भीतर का अफसर और ऊँचा हो जाता है।

यह सत्य है कि नगर-जीवन का अभ्यस्त व्यक्ति व्यावहारिक रूप से गाँव में खप नहीं पाता है परन्तु उसके समस्त पूर्व संस्कारों के इस प्रकार स्लेट की लिखावट जैसे पुँछ जाने में प्रामाणिकता के नाम पर आरोपित चित्र वृत्ति है। नई कहानी के ग्रामांकन में जो भी नगर-निवासी ग्रामीण अवकाश में आता है वह गाँव की प्रतिभा-भंजन की मुद्रा में दृष्टिगोचर होता है। गाँव निस्सन्देह अविकसित, अशिक्षित एवम् अकिंचन हैं और नगर की तुलना में वहाँ का जीवन अवश्य भोंडा-भदेस जीवन है परन्तु उसे मानवीयता के स्तर पर उठाया जाय तो कुछ और ही रूप निखरता प्रतीत होगा। गाँव और नगर का अन्तर जैसा कि प्रायः कहा जाता है व्यर्थ अथवा निराधार नहीं है। दोनों में मौलिक अन्तर आज बहुत स्पष्ट है। नगर जीवन अपने नयेपन और समृद्ध आधुनिकता के साथ टूट रहा है किन्तु उसकी यह टूटन की पीड़ा गाँव की उध्वस्त पुरातनता की पीड़ा जैसी मारक-मर्मभेदी नहीं है।

उक्त संदर्भ में गोपाल उपाध्याय की कहानी 'संतप्त लोक' (धर्मयुग, १६ फरवरी, १९६९) को प्रस्तुत करूँगा। पुत्र नगर में सेवा-रत है, स-पत्नीक रहता है और नगर के मध्यमवर्ग का जीवन जीते चल रहा है। पैतृक गृह पर उसका पिता है, विशाल कृषि-क्षेत्रों का स्वामी किन्तु दाने-दाने का दरिद्र। एक अवकाश में पुत्र का गृहागमन होता है। पिता जब फटे कुर्ते में सामने खड़ा हो जाता है तो पुत्र को लगता है कि यह कुर्ता नहीं भारत का नक्शा है। कृषक-पुत्र कृषि से कट जाने के अपने संस्कारित घाव को झेल नहीं पाता है और एक पराजय-बोध जैसी पीड़ा उसका मर्मछेदन करने लगती है। वह गाँव में खप नहीं पाता है। घर में अपरिचित अथवा पराये की भाँति सहमा रहता है। मातृ-प्रेम उमड़ता है परन्तु आर्थिक विवशतायें संकुचित कर देती हैं। विसंगतियों और तनावों के बीच वह सब पर सकरुण होता है और लौट जाता है। जो स्थिति यहाँ ग्राम-भूमि से संबंधित है वही स्थिति जितेन्द्र भाटिया की कहानी 'ब्लेड' (धर्मयुग, ९ मार्च, १९६९) में कस्बे से सम्पृक्त है। नगर की तुलना में पीड़ाभोग और अभिशप्त जीवन की जो नियति ग्राम की है वही कस्बे की है। संस्कार और सम्बन्धवश नगर में सेवा-रतजन यहाँ अवकाश में आकर जिस प्रकार 'खो' जाते हैं वह टूटन की एक विचित्र स्थिति है।

एक प्रकार से यह गाँव के ऊपर नगर-संस्कृति का आक्रमण है जिसे अशोक अग्रवाल की कहानी 'गाँव में' (धर्मयुग ३१ जनवरी १९७१) में चित्रांकित किया गया है।

नगर-जीवन व्यतीत करते ग्रामीणों के लिए यहाँ अवकाश में आकर कुछ उपलब्ध कर लेना प्रायः असंभव है फिर भी अभिमन्यु अनन्त की कहानी 'वापसी का सूरज' (कल्पना, जून १९६९) में 'वह' चलते-चलते एक वस्तु प्राप्त कर लेता है। वर्षों बाद अवकाश में आया वह आधुनिकता के दबाव से बहुत डावाँडोल है। ऊब मिटाने सागर की ओर जाता है और घास लिये आती स्त्रियों को देखता है। सोचता है, बोझ से दबी होने पर भी वे हँसती-बोलती चली जा रही हैं! इस अवसर पर उनका उल्लास उसके भीतर एक दाह-सा पैदा करता है। जो स्वयं जीवन से उच्छिन्न हो चुका है वह जीवन-सम्पृक्ति देखकर ईर्ष्या-दग्ध हो रहा है। सागर के तट पर बैठकर वह व्यर्थता और अकेलेपन की अनुभूतियों में निमग्न हो जाता है। लगता है, 'अतीत उसने बेच दिया है।' बैठे-बैठे उसकी दृष्टि एक बालक पर जाती है जो वंशी लगाये है तथा शाम हो जाने पर भी निराश नहीं है। उससे परिचय होने पर उसकी ग्रामीण आशावादिता संक्रामित होकर उसे इस प्रकार प्रभावित करती हैं कि वह बच्चा उसका अध्यापक प्रतीत होने लगता है। वह अपने छोटे से अध्यापक के मुख पर आस्था और आशा की आभा देखता है और जी जाता है।

इसके विपरीत स्थिति रामजी मिश्र की कहानी 'बेकार' (ज्ञानोदय, अप्रैल, १९६९) में चित्रित है जिसका नायक 'वह' महानगर से अवकाश में अपने कस्बे में आकर मर-सा जाता है। वह तीन वर्ष से दिल्ली-निवासी है और वहाँ का कुछ भी उसे अच्छा नहीं लगता है। यहाँ तक कि जिस मेज और कुर्सी पर वह पिछले तीन साल से लगातार बैठता आ रहा है, वे भी उसे पराई लगती हैं। वह सोचता है, सब कुछ यांत्रिक है। महानगर एक महायंत्र है। उसमें उसके जैसे लोग पुरजों की भाँति जुड़े हैं। इसी मनःस्थिति में अनेक आशाओं से परिपूर्ण वह एक अवकाश में अपने कस्बे में आता है। किन्तु यहाँ की स्थिति अत्यन्त विकट है। लोग उसे अब 'वहाँ का' मानने लगे हैं। वह यहाँ से कट गया है। वह जैसे सबके लिए व्यंग्य है, बेकार है! वास्तव में इस कहानी का 'वह' एक अहं है जिसके भीतर उच्च अभिजात महानगरीय बोध अपनी अकड़ लिये सचेत है। वह अकड़न ढीली पड़ती नहीं है और अपनी जन्मभूमि में कोई

कार्यक्रम नहीं मिल रहा है। विशुद्ध रूप से यह अवकाशी मुद्रा और आत्म-प्रदर्शन की मुद्रा है। मधुकर गंगाधर की कहानी 'वशीकरण' में महानगर से वकालत (रचना-२, १९६९) पास कर एक व्यक्ति जब अपने गाँव पहुँचता है तो उसके भीतर आत्मसम्मान और आत्म-स्थापना की भूख इतनी तीव्र होती है कि वह विक्षिप्त हो जाता है और आत्महत्या तक की स्थिति आ जाती है। मधुकर सिंह की कहानी 'वह दिन' (कहानी, नववर्षांक, १९६९) में नागरिक श्रावयिता गाँव के यथार्थ से टकराने का प्रयत्न करता है परन्तु अकृतकार्य होता है। गाँव की समस्यायें ऐसी नहीं हैं कि कोई व्यक्ति गिने-गिनाए छुट्टी के दिनों में उनसे निपट ले! उन्हें झेलना कठिन साहस का कार्य है। वे कथानायक 'जाली' हैं जो किसी स्वाद में आकर्षित वहाँ पहुँच जाते हैं। 'सामना' (लेखक-ओमप्रकाश दीपक, धर्मयुग, २३ फरवरी सन् १९६९) शीर्षक कहानी के एक बाबू 'वह' कार्यालय से अवकाश लेकर गाँव पहुँचते हैं। उन्होंने गाँव की जो सुधि ली है, उसका एक कारण है। वे किसी म० के कारण गाँव पहुँचे हैं। म० एक लड़की थी और उनकी दृष्टि में अभी लड़की ही है, जबकि अब वह छह बच्चों की माँ है। 'वह' साहब पहुँचते हैं, सामना भी होता है, मगर निराश लौट आते हैं। वहाँ लाज में लिपटा ऐसा ग्रामत्व उभरता है जिसकी उन्हें कल्पना भी नहीं होती है। नगर के पास अपनी एक विशेष दृष्टि है। उस दृष्टि से गाँव को देखने में वह संलग्न है। किन्तु द्रष्टा और दृश्य में किसी विन्दु पर तालमेल नहीं बैठ रहा है। ग्रामीण पेट की भूख मिटाने के लिए नगरोन्मुख होते हैं वहाँ जाकर, वहाँ के रंग में रँग कर जब प्रत्यावर्तित होते हैं, एक नयी भूख साथ लिये आते हैं! जहाँ समग्र रूप से अभाव ही अभाव है, जहाँ ग्राम-रुचि अतृप्त रह जाती है वहाँ नगर-रुचि कैसे परितृप्त हो सके, यह अन्तर्विरोध नई कहानियों में बहुत ही तीखेपन के साथ अभिव्यक्त हो रहा है।

नये कथाकारों में सबसे अधिक छुट्टियों में गाँव को देखा है रामदरश मिश्र ने। उनके कथा-संग्रह 'खाली घर' की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण कहानियों में (खंडहर की आवाज, माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो, खाली घर, मंगल-यात्रा, एक और यात्रा, एक औरत : एक जिन्दगी) यही अभिनव मुद्रा लक्षित होती है। किन्तु, इन कहानियों की प्रामाणिकता असंदिग्ध है। मिश्र जी में सघन आधुनिक संवेदनायें हैं। गाँव की माटी की सुगन्ध का आकर्षण, ग्राम-वासिनी भारत माता की मृत्यु, राजनीतिक प्रभावों में सन्निपात-ग्रस्त ग्राम-नियति का अभिशप्त रूप

और उसकी टूटन आदि को पूर्वग्रह-रहित दृष्टि से अवकाशों में देखा गया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी ग्राम और नगर के मध्य का अन्तराल समाप्त नहीं हुआ अपितु वह उत्तरोत्तर विस्तीर्ण ही हुआ है। नगर के स्थापित जन अवकाश में पार्टी-पिकनिक के संदर्भ में यदाकदा ग्रामांचल को स्मरण करते हैं। सेवा-दल भी नगर से गाँवों में जाता है। ऐसे अवसरों पर दोनों स्थानों का पार्थक्य यथार्थ रूप में उभड़ता है। शान्ति मेहरोत्रा की एक कहानी 'कथा एक सेवा यात्रा की' (धर्मयुग, ७ अप्रैल, १९६८) इसी परिप्रेक्ष्य में अंकित है। इसमें नगर से एक सेवापार्टी गाँव के लिए प्रस्थान कर रही है। चालीस का स्कार्फ और अस्सी की साड़ी के बाद नेचुरल शेड के पाउडर के लिये बाजार छान डाली जाती है। तब गाँव जाने की तैयारी पूर्ण होती है। कथा का श्रावयिता नागरिक है। ग्राम-दर्शन की अभीप्सा उसके मन में है तथा वहाँ के किसी काल्पनिक रोमानी-सुख को जीने की प्रबल लालसा है। उसकी पार्टी वाले अंकिचन ग्रामवासियों की सेवा और सहायता के लिये 'चैरिटी-शो' की व्यवस्था किये हुए हैं।

पार्टी गाँव में पहुँचती है तो यथार्थ के प्रथम धक्के में ही समस्त उत्साह हिल उठता है। सोचा जाता है कि 'खाने-पीने का इतना प्रबन्ध करके न चला गया होता तो भूखों मर जाते। शहरों में तो सुधार की बात समझ में आती है लेकिन यहाँ बियावान में क्या खाक सुधार होगा? एक समस्या हो तो सुलझाने की कोशिश करे मगर यहाँ तो न बिजली, न पानी, न रहने लायक मकान, न पहनने लायक कपड़े, न कालेज, न अस्पताल, न होटल, न जलपान-गृह, यहाँ अपना रहना ही दूभर, दूसरों को रास्ता क्या दिखावें?...जब ऐसी बेहूदा जगह बसे हैं तो कष्ट झेलेंगे ही, हम क्या करें?' इस प्रकार न तो पिकनिक का ही मज़ा आता है और न वह 'गंदा गाँव' सपनों-से जगमगा ही उठता है। नागरिक साहब-सज्जनों पर रात्रि में जब चींटी, मच्छर और खटमल आक्रमण करते हैं, अश्वत्थ-वृक्ष हरहराने लगता है तो भारी साँसत में प्राण पड़ जाते हैं। दूसरे दिन 'ग्राम-सेवा' की खानापूर्ति 'खटमल मारो अभियान' के रूप में जैसे-तैसे हो जाती है। फिर कुछ नहीं होता है। चौथे दिन मीटिंग होती है और गंभीर रूप में विचार होता है कि काम किधर से शुरू किया जाय?

एक सज्जन का प्रस्ताव है कि ग्राम-वासियों को 'किचेन गार्डेन की उपयोगिता' समझाई जाय। दूसरे सज्जन की राय है, 'यहाँ का अहम मसला है

पानी का, सिंचाई तो दूर रही, लोगों के चाय पीने तक के लिए पानी की तंगी है' अतः इस सज्जन का कार्यक्रम सम्पादकों के नाम पत्र लिखवाने, हड़ताल कराने और पुनः उसे देशव्यापी आन्दोलन का रूप प्रदान करने का है। तीसरे एक महिला सदस्य का विचार है कि ग्रामीणों में 'संतुलित आहार' का प्रचार होना चाहिए। इसी प्रकार कुछ लोग रोगों की रोकथाम और कुछ लोग बड़े पैमाने पर कृषि-प्रयोग की बातों पर बल देते हैं और इन कार्यक्रमों का खोखलापन और हास्यापस्द स्वरूप स्वयमेव खुलता जाता है। सेवाव्रती कार्यक्रमों पर किये जाने वाले विचार को ही एक मूल्यवान उपलब्धि मानकर प्रसन्न हैं। इस विचार-चर्या के पश्चात् रेकार्ड प्लेयर पर बढ़िया धुनें बजने लगती हैं और चाय-पकौड़ियों के दौर चलने लगते हैं। इस प्रकार अभियान सफल हो जाता है। सालों-साल इसी प्रकार गाँवों में 'छुट्टियाँ बिताकर सेवा करने तथा प्राण फूँकने की बात दुहराई जाती है। फिर सोचा जाता है कि अगले वर्ष किसी पहाड़ पर या समुद्र के किनारे किसी सुन्दर ग्राम में प्राण फूँकने चला जायगा।

आधुनिकता के नागर रंग में रँगे व्यक्ति जब गाँव में जाते हैं, चाहे यथार्थ जीवन में अथवा चाहे साहित्य में, तो वे अपनी वैयक्तिक समस्याओं और अनुभूतियों के मानसिक वृत्त से बाहर निकल कर गाँव की कठिनाइयों और समस्याओं को समझ ही नहीं पाते हैं। व्यवस्थापक और संयोजक जाति के ये विशिष्ट नागरिक जन हैं जो शिष्ट रोमानी मुद्रा में ग्रामप्रवेश करते हैं। जैसे एक गाँव में एक पार्टी का कार्य है उसी प्रकार सम्पूर्ण देश में एक पार्टी की सरकार की समस्त योजनाएँ और विशेषकर पंचवर्षीय योजनाएँ हैं। न तो नगर निवासी और न उसके द्वारा बनाई योजनाएँ गावों में खपती हैं। इस संदर्भ में गाँव के पिछड़ेपन और उसके दुख-दारिद्रय का विज्ञापन तो कम नहीं होता है मगर नाना प्रकार के तनावों और द्वन्द्वों में जीने वाले नागरिकों द्वारा गाँव में छुट्टियाँ बिताने से कुछ काम बनता नहीं दृष्टिगोचर होता है। यह और बात है कि शिवानी की कहानी 'पुष्पहार' (सारिका, दिसम्बर, १९६८) के नायक जैसा कोई व्यक्ति यदि मंत्री है तो उसका गाँव उसके अवकाश में आने पर उसकी प्रेमिका का निवास होने के कारण स्वर्ग बन जाता है!

कथा में 'सेक्स' और 'रोमांस' का मसाला पुराना है जिसकी खोज में नागरिक गाँव की ओर जाते हैं। अब यह यथार्थ की चोट से बिखर गया। अब वे वहाँ अकाल, गरीबी, दुर्घटना, बाढ़ और दुर्दशा देखने के लिए आते हैं।

वहाँ आकर उन्हें कोई प्रेरणा नहीं मिलती। विपरीत इसके एक अरुचिपूर्ण अलगाव उत्पन्न होता है। यह स्थिति भी परम अनपेक्षित है और मिथ्या है। गाँव में बहुत कुछ है जो प्रेरक है। ज्याँ पाल सार्त्र का एक पात्र लुसियस महा-नगरीय संस्कृति के अति बौद्धिक परिवेश और वैज्ञानिक सभ्यता की यांत्रिकता से अस्थिर होकर एकबार टहलने के लिए निकलता है और नगर से बाहर एक पहाड़ी पर बैठ जाता है। सोचता है, 'कितने वर्षों तक मैं सोता रहा और तब एक चमकीले दिन जाल से बाहर आया।' वह बहुत उत्साहित हो जाता है और चारों ओर के ग्रामीण वातावरण को स्नेह से देखता है। उसे अनुभूति होती है कि 'मैं क्रियाशील होने के लिए बना हूँ।' ('एक जननायक का शैशव' शीर्षक सार्त्र की रचना, कल्पना, नवम्बर १९६८)। इस प्रकार खुला हुआ गाँव उसके मन की गाँठों को खोल देता है। अपने गाँवों के देश में इस प्रकार के आयाम कथा-साहित्य में अस्पर्शित रह जाते हैं। कथाकारों पर नगर संत्रास बनकर छाया हुआ है। यह आरोपित अवास्तविक स्थिति शनैः शनैः व्यक्तित्व का एक अंग बनती चली जा रही है। गाँवों में पहुँच कर कथाकार इसे उतार फेंकने में अस-मर्थ प्रतीत होते हैं। परिणाम यह होता है कि गाँव देखकर भी अदेख रह जाता है और दिखाई पड़ता है वह सब जो अपने भीतर बद्धमूल है!

समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों के अतिरिक्त शिव-प्रसाद सिंह, शैलेश मटियानी और रेणु की अनेक प्रसिद्ध कहानियाँ वास्तव में छुट्टियों में देखे हुए गाँव की कहानियाँ हैं। दूधनाथ सिंह की कहानी में 'रक्त-पात' भी एक अवकाश में ही गाँव पहुँचने पर हो जाता है। कथाकार यदि नगर निवासी है और ग्राम जीवन से संस्कारित सम्बन्ध है तो इस प्रकार की कहानियों में प्रामाणिक रूप से वह अपने को व्यक्त करने के लिए स्वाधीन है और यह सहज स्वाभाविक है परन्तु अधुनातन अस्वीकृतियों की अतिजीवी स्थितियों में जब वास्तविकतायें फिसलने लगती हैं तो नई कहानी की इस नयी ग्रामांकन मुद्रा के प्रति मानसिक सहयोग नहीं होता है। ऐसा नहीं कि पाठकों में ग्राम-जीवन के प्रति रुचि का अभाव है किन्तु ऐसी कहानियाँ जिनमें वही सुपरिचित नागर-कुंठा-विस्फोट ग्राम-भूमि पर भी टँगा होता है तो अटपटा होने के कारण उससे तादात्म्य नहीं हो पाता है। जीवन की वाह्य विसंगतियों से विक्षुब्ध और अपने निपट निजी अहं में सिमटा-संकुचित कथाकार आन्तरिक स्तर पर होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों की धड़कनों को सहेजने बटोरने में आज इतना

उलझा है कि ग्रामांचल के परिवर्तन, बिखराव और वहाँ के अपरिभाषित जीवन-संघर्षों से ऊब जाता है। वहाँ की भूमि पर पैर रखते ही ऐसा उखड़ता है कि व्यर्थता-बोध, अजनबियत, बोरियत, और संत्रास आदि आधुनिक भाव-बोध की सारहीन शब्दावलियों के पीछे-पीछे भाग खड़ा होता है। आज का नवपरिवर्तित और संक्रान्तिशील ग्रामांचल कथाकारों के धैर्य की कसौटी बन गया है।

सातवें दशक की कहानी गाँव से और अधिक दूर हुई है। छठवें दशक तक उसका स्वतंत्र ग्राम-संदर्भित अस्तित्व था और उसके पश्चात् अवकाश-दृष्ट ग्रामांकन वृत्ति चलती रही। शनैः शनैः इस रुचि का भी ह्रास होता जा रहा है। कहानी-पत्रिकायें बढ़ती जा रही हैं। पत्र-पत्रिकाओं के कहानी-विशेषांक धूम-धाम से प्रकाशित होते चले जा रहे हैं और एकरस यंत्रगतिक आधुनिक-नगर-बोध की बहुआयामी पुनरावृत्तियों पर पुनरावृत्तियाँ होती चली जा रही हैं। सन् १६७० में कृति परिचय, नागफनी, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कहानी, विकल्प, आजकल, महादेश, अणिमा, रूपान्तर, कथाभारती, अंकन, हस्ताक्षर, संचेतना, सारिका, अपर्णा, राष्ट्रवाणी और कहानीकार आदि पत्रिकाओं के कहानी-विशेषांक अपनी नवीन-नवीन अन्वेषण की घोषणाओं के साथ प्रकाशित हुए। सबने सातवें दशक की कहानी को प्रामाणिक तलाश का दावा किया और नये-नये सुगढ़-अनगढ़ हस्ताक्षरों को सिद्ध-सुपरिचितों के साथ प्रतिष्ठित किया। किन्तु क्या नयी और क्या पुरानी पत्रिकायें कथ्य की दृष्टि से संभवतः किसी गूढ़ समझौतावश एक ही निर्णायक बिन्दु पर रहीं और वह बिन्दु था ग्रामजीवन का सम्पूर्णतः बहिष्कार-तिरस्कार। यह एक विचित्र कथा-युग है जिसमें वैविध्य समाप्त हो गया है और समस्त कथाकारों का व्यक्तित्व समस्वर हो गया है। फार्मूलों के विरोध के दावे के साथ उठने वाली कहानियाँ स्वयं फार्मूला हो गई हैं। उनमें जिस जीवन के यथार्थ का स्पर्श है वह वास्तव में नगरजीवन का घिसा-पिटा जीवन-संदर्भ है। कथाकार केवल उठाने वाले कोण का चयन लेता है। भाषा का निखार अवश्य ही आशातीत प्रभाववादिता के साथ हुआ है। शैली में सफाई बहुत आई है किन्तु कथा खो गई है। सातवें दशक की पत्र-पत्रिकाओं की भूमि पर उगी कहानियों में संदर्भित जीवन ही यदि भारतीय है तो वह यथार्थ से बहुत दूर है। युवालेखन का मंच नगर के मध्यवर्गीय कोमल-जीवनाकांक्षी कथाकारों के हाथ में है। इन मध्यवर्गीय कथाकारों के मनोजगत् में एक अत्युच्चवर्गीय अनुदार व्यक्ति बैठा है जो कतिपय निश्चित जीवन-प्रतिमानों के

प्रति समर्पित है। कथाकार आज बद्ध हो गया है। इतना बद्ध वह किसी युग में नहीं था। वह कथा में नगर-भूमि की कुछ निश्चित-नियमित और अत्यन्त सुपरिचित जीवन-भूमियों का परित्याग कर कहीं अन्यत्र खुली हवा में न जा सकने के लिए अत्यन्त विवश प्रतीत होता है। इन्हीं स्थितियों में ग्राम-जीवन के चित्रों का लोप हो गया है और कथा-जीवन में आज गाँव कहीं रहा नहीं।

इस विरोधी वातावरण में हिन्दी की लब्ध-प्रतिष्ठ प्राचीन पत्रिका 'वीण' ने मार्च सन् १९७१ में 'ग्राम-संस्कृति-अंक' और अप्रैल में उसका परिशिष्ट निकाल कर भरपूर साहस का परिचय दिया। परिशिष्ट में इस पत्रिका के सम्पादक श्री मोहन लाल उपाध्याय 'निर्मोही' ने 'आंचलिकता का परिवेश' सम्पादकीय के लिए चुन कर सन् १९५० और ६० के बीचवाले दशक के भग्न कथागत शिल्प और अभिव्यक्ति-क्रम को जोड़ने का प्रयत्न किया किन्तु जहाँ सम्पूर्ण परिवेश ही नागरमति में चौंधिया गया है वहाँ ग्राम-जीवन के अंधेरखाते की नियति किसी विशेष परिवर्तन की दिशा में खुलती नहीं दीख रही है। इस पत्रिका ने अपने जुलाई सन् १९७१ के अंक में डाक्टर सत्येन्द्र का एक गंभीर निबन्ध प्रकाशित किया, 'संस्कृति : ग्राम वासिनी' और इस निबन्ध में ७९ वर्षीय चिन्तक पत्रकार पं० बनारसी दास चतुर्वेदी की २८ वर्ष पूर्व की एक उपेक्षित ग्राम-संगठन योजना के संदर्भ में अत्यन्त मूल्यवान निष्कर्ष उपस्थित किये गये। गाँव-गाँव को इकाई मान कर योजना बनाने के जिस निर्णय पर भारत सरकार सन् १९७१ में पहुँची है, वह महात्मा गाँधी की प्रेरणा से पं० चतुर्वेदी ने बहुत पहले उपस्थित किया था। साहित्यिक पत्रिकायें और साहित्यकार कुंठा और संत्रा- सादि की घिसीपिटी निरर्थक चर्चाओं से विरत होकर यदि भारतीय आत्मा के अन्वेषण में उदग्र हों तो कितना भला !

विजेन्द्र अनिल ने बगेन (शाहाबाद) से प्रकाशित 'अनु × राग' पत्रिका का १९७१ में 'ग्राम सर्वेक्षण विशेषांक' प्रकाशित किया। 'सारिका' ने जुलाई १९७२ में 'ग्राम-कथा' अंक निकाला। लखनऊ से प्रकाशित कहानी-पत्रिका 'कात्यायनी' ने भी मई सन् १९७० के अपने अंक को 'ग्राम-विशेषांक' के रूप में प्रकाशित किया था। युवालेखक की अत्याधुनिक विचारधाराओं वाली पत्रिका के लिए इसे अप्रत्याशित-जैसा समझा गया। इस अंक के सम्पादकीय लेखन में अश्विनीकुमार ने अनेक तथ्यों का उद्घाटन किया। उन्होंने लिखा कि इस विशेषांक के लिए

नयी पीढ़ी के १०० लेखकों को व्यक्तिगत रूप से सूचित किया गया और साथ ही अन्य सैकड़ों के लेखकों से सम्पर्क किया गया। किन्तु ९८ प्रतिशत लेखकों की ग्राम-समस्या पर कलम ही नहीं उठ पाई। सम्पादक ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि नगर-निवासी नकली भारत को जानते हैं और गाँवों के शोषित-पीड़ित असली भारत के बारे में उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसके बाद भी भिन्न-भिन्न नामों का झंडा लेकर नयी पीढ़ी के लेखक भारत में क्रान्ति करने का, वर्गहीन, शोषणहीन समाज के निर्माण की बात करते हैं तो हँसी आती है। सम्पादकीय का निम्नलिखित अंश मूल रूप में उद्धृत करना आवश्यक है—

'ग्राम-विशेषांक निकालने के पीछे एक उद्देश्य था। वह यह कि नगर के वासी ग्रामनिवासियों की समस्याओं और कठिनाइयों को समझें और उसके निराकरण का उपाय खोजें, जिससे भारत सही अर्थों में समृद्ध हो सके, क्योंकि आज भी वास्तविक भारत गाँवों में ही बसता है। अगर भारतवर्ष के गांव उन्नति नहीं करते, या गाँवों में युग के अनुरूप क्रान्तिकारी विचारधारा का प्रवेश नहीं होता है तो कभी भी नगरों में भूखी, नंगी, दिगम्बर आदि पीढ़ी का झंडा लेकर चलने वाले लेखकों की नयी पीढ़ी अपने को क्रान्तिकारी विचार-धारा की पीढ़ी कहलाने का अधिकार नहीं रखती और न वह वर्गहीन, शोषण-हीन समाज का लक्ष्य ही पूरा कर सकती है।

'गाँवों में वास्तविक भूखी, नंगी, दिगम्बर पीढ़ी बसती है। नगर के काफी-हाउसों के प्यालों और साहित्यिक अखबारों की मोटी-मोटी हेडिंगों में स्थान लेने वाली पीढ़ी भूखी, नंगी-दिगम्बर पीढ़ी नहीं है, वह केवल मुखौटा लगाये, अपने लिए, केवल अपने लिए भोग के साधन जुटाने वाली नकली नयी पीढ़ी हैं।

'आखिर कब तक वास्तविक भारत (गाँव में बसे भारत) से नयी लेखनी मुँह मोड़कर जीवित रह सकेगी, कब तक अपने को, अपने लेखन धर्म को धोखा दे सकेगी, यह एक सवाल है, नित नये मुखौटे लगाकर काफी हाउसी साहित्य को जन्म देने वाली पीढ़ी से।'

इस सम्पादकीय लेख में सम्पादक ने कई बातों को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। आज के युवा-लेखन की रिक्तता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि उसमें भारत की आत्मा की पहचान नहीं है। वास्तविकता के नाम पर आज प्रचारधर्मी अवास्तविक लोग जी रहे हैं। पत्रिका में तथ्य आँख

खोल देने वाले हैं। अन्त में सम्पादक लिखता है कि ग्राम-विशेषांक जैसा होना चाहिये, नहीं हो सका। यह भी एक चिन्तनीय स्थिति है। ग्यारह कहानियों में कठिनाई से दो-एक कहानियाँ हैं जिनमें ग्रामांचल का यथार्थ प्रतिध्वनित है। 'कात्यायनी' के इस अंक पर टीका करते हुए 'कहानीकार' पत्रिका के मई-जून सन् १९७० वाले अंक में 'कथा-परिकथा' स्तम्भ में 'विचार केतु' का स्तम्भ-लेखक लिखता है कि 'तमाम पत्र-पत्रिकाओं में जितनी कहानियाँ छप रही हैं, उनमें मुश्किल से पाँच प्रतिशत कहानियाँ गाँवों और गाँवों की समस्याओं पर होंगी। कहते हैं, भारत गाँवों में बसता है, फिर ग्रामीण पृष्ठ-भूमि पर कहानियाँ पढ़ने को क्यों नहीं मिलतीं ? शायद इसलिए कि कथा-कार नहीं लेखक भी बनने के लिए शहर में रहना और काफी हाउस या चाय-घर में बैठना आवश्यक माना जाने लगा है। आवश्यक, सुविधाजनक शब्द है, और, वहाँ से नारे सुविधापूर्वक उछाले जा सकते हैं, आन्दोलन गढ़े जा सकते हैं और गुटों में शामिल हो बड़े पैमाने पर अपने पक्ष में प्रचार एवं दूसरों के खिलाफ गाली-युद्ध चलाया जा सकता है।'

इस टिप्पणी में समीक्षक ने जो पाँच प्रतिशत की बात उठाई है वह अधिक है। शोध से यह संख्या और नीचे आ गई है, जैसा कि इस प्रबन्ध की प्रस्तावना और परिशिष्ट से स्पष्ट है। कठिनाई से एक-दो प्रतिशत कहानियाँ ही ग्राम-भूमि का स्पर्श करती हैं। प्रश्न प्रामाणिकता का है। 'कात्यायनी' के प्रस्तुत आलोच्य ग्राम-विशेषांक की कहानियों में अधिकांश कहानियाँ ओढ़ी हुई ग्राम-धर्मिता से आक्रान्त हैं। पहली लम्बी कहानी 'उड़ि जाओ पंछी' (शिवमूर्ति वेणु) में अकाल की स्थिति का चित्रण है। ग्राम-स्तर पर स्वातंत्र्योत्तर प्रजा-तांत्रिक व्यवस्थाओं का भ्रष्टाचार पाठकों को गहरी निराशा में डुबो देता है। निम्नवर्ग तो पीड़ित है ही, उच्चवर्ग भी उखड़ रहा है। कथाकार रोमांचक ग्राम-चित्र के प्रस्तुतीकरण में सफल होता है परन्तु सब मिलाकर, समवेत रूप से कहानी का जो स्वर निकलता है वह गाँव की 'लुटती लाज' के रूप में कठिनाई से कंठ के नीचे उतरता है। गाँव की समूची लड़कियाँ किसी न किसी के साथ नगर में भाग जाती हैं। यही स्वर 'एक और सीता' (रमेशमणि), 'भूख' (श्यामलाल शुभंकर) और 'मानुषमोल' (मुक्ता शुक्ल) आदि कहानियों में है। कहानी का यह अस्वस्थ, फार्मूला-बद्ध और परम व्यावसायिक रूप है। 'एक और सीता' में गाँव का एक बनिहार है जो नगराकर्षण और आभूषणा-

कर्षण के दोहरे पाटों में पिस जाता है। इस सूचना के साथ ही कि प्रायः ऐसा होता ही है, नारी पराये पुरुष के साथ भाग जाती चित्रांकित है। लगता है कि भोले ग्रामांचल की इस 'लुटती लाज' की रोमानी मुद्रा से नगर-भावापन्न कथाकारों का पिंड छुड़ाना कठिन है। 'भूख' शीर्षक कहानी में गाँव की एक बुढ़िया है जो होमगार्ड के जवानों को अपनी जवान लड़की भेंट कर कुछ किलो चावल की गठरियाँ उड़ा ले जाती है। कथाकार गाँव की गरीबी को कुरुचि-पूर्ण कोण से उठाते हैं। मुक्ता शुक्ल ने अपनी कहानी में सरपंची भ्रष्टाचार को अनावृत किया तो है परन्तु यह जिस संदर्भ से जोड़ा गया है वह बहुत घिसा-पिटा है। ऐसा क्या है कि समस्त कथाकार एक ही कामकेन्द्र पर आ जाते हैं और गाँव में इसका सस्तापन उसकी जिस गन्दी और लिजलिजी स्थिति को उभाड़ता है उसमें उसका वास्तविक समस्यात्मक स्वरूप ओझल हो जाता है। हम कथा के माध्यम से जिस गाँव का दर्शन करते रहते हैं वह वास्तव में नकली गाँव होता है।

दूसरा स्वर है नगराकर्षण का। लोग गाँव छोड़कर भाग रहे हैं, यह एक युगीन यथार्थ है और प्रस्तुत ग्राम-विशेषांक की अधिकांश कहानियों में यह संदर्भ उठाया गया है। 'नीले गहरे दाग' (विजयेन्द्रकुमार), 'आखिरी सलाम' (ललित शुक्ल), 'एक और सीता' और 'उड़ि जाओ पंछी' में कथाकारों ने इस मर्मव्यथा को वाणी दी है। 'आखिरी सलाम' में गाँव छोड़कर भागती पीढ़ी के पीछे गहरी समस्यात्मक पकड़ है। आज भी गाँव में जमींदार-युग के ध्वंसाव-शेष स्वरूप ऊँची जातियों की सामंतशाही अपना कुप्रभाव दिखाती है। पूरी कहानी मुसलमान छुटभैयों की पीड़ा में डूबी हुई है। लगता है हमारी स्वतं-त्रता मिथ्या है और गाँव के लेखे अभी कई बार आजाद होना शेष है। गाँव की सारी पीड़ा जैतूना में केन्द्रित है। माँ अन्धी हो गई, भाई आधा पागल हो गया और बाप की चिलम कौड़ी भर तमाखू के अभाव में बराबर ठण्डी रहती है। 'हालात' (सुरेन्द्र तिवारी) शीर्षक कहानी में उक्त समस्याओं से हटकर एक नये संदर्भ को उठाया गया है और बाढ़-बरसात के सत्यानाशी आक्रमण के बीच अरक्षित गाँवों का रोमांचक यथार्थ प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय गाँव का नवपरिवर्तित यथार्थ हिन्दी कथा-साहित्य और कथा-दृष्टि के लिए एक चुनौती है। किन्तु, इस चुनौती को गंभीर भाव से स्वी-कारने के लिए कोई प्रस्तुत नहीं है। कथा-साहित्य के तीन लब्धप्रतिष्ठ कथा-

कारों ने, जिन्होंने अपनी रचनाओं में मूक ग्रामांचल को सार्थक वाणी दी, आधुनिकता बोध के नये दौर में नयी पत्रिकाओं के माध्यम से अपने को प्रकाशित किया है। शैलेश मटियानी ने सन् १९६७ में 'विकल्प' का, मार्कण्डेय ने सन् १९६९ में 'कथा' का और मधुकर गंगाधर ने १९७० में 'नया' का प्रकाशन आरम्भ किया। ग्राम-कथा अथवा भारतीय लोक-जीवन से जुड़े इन शिल्पियों से सहज ही आशा की गई कि किसी स्तर पर धरती से जुड़े साहित्य को, जिसे युवा साठोत्तरी पीढ़ी ने झपट कर फेंक दिया, पुनः प्रतिष्ठित करेंगे। परन्तु अधिकांश निराशा ही हाथ लगी है।

'कथा' का प्रवेशांक जिस संकल्प के साथ प्रकाशित हुआ उसे और उसकी अन्यान्य रचनाओं को देख कर नहीं लगता है कि जिस व्यक्ति के हाथों इसका साज-सँवार हुआ है वह भारत के गाँव का कथाकार-निवासी है। 'प्रवेश' में कहा गया है, 'कथा का प्रकाशन किसी सीमित मन्तव्य का सूचक नहीं है। सोचा गया है कि 'कथा' प्रकाशन द्वारा साहित्य, संस्कृति और सामाजिक जीवन में निरन्तर उठने वाले प्रश्नों को वास्तविक, परिवर्तनकारी और सृजनात्मक दृष्टि से देखा-परखा जाए और परिवर्तन की गति तेज़ करने के लिए बिखरी तथा भटकी हुई प्रवृत्तियों के सूत्रों को संयोजित करने का प्रयास किया जाए।'

इस संकल्प में 'सीमित मन्तव्य' का अस्वीकार संभवतः ग्राम-कथा अथवा ग्राम-जीवनपरक साहित्यिक संदर्भ के अस्वीकार को संकेतित करता है क्योंकि ग्राम-जीवन और उसकी पृष्ठभूमि पर सृष्ट साहित्य में प्रश्नों की वास्तविकता और परिवर्तनकारी सृजनात्मक प्रवृत्ति का उस दृष्टि से अभाव है जिसे आधुनिकता कहते हैं। 'कथा' आधुनिकता की नयी बोध-कथा है जो समग्र रूप से नगर-सभ्यता से सम्पृक्त है। इसमें 'चलती' प्रवृत्तियों की पकड़ है न कि मार्कण्डेय के सुपरिचित स्वतन्त्र व्यक्तित्व का प्रकाशन है। आधुनिक नयी पत्र-पत्रिकाओं की भीड़ का जो स्वर है वही कुछ विशेष उदात्त रूप में इसमें अनुगुंजित है। सामग्री के चयन और प्रकाशन के, अब कुछ रूढ़ से हो चले, वही घिसेपिटे एकरस स्रोत हैं जो नगर के नये आधुनिक अभिजात वर्ग के जीवन से छन कर आते हैं। किसी समय कथा-साहित्य में ग्राम-कथानकों के द्वारा क्रान्ति का आह्वान करने वाला और उसे उतारने वाला कथाकार उसके पश्चात् घटित साहित्य क्षेत्र की प्रतिक्रांति में खो गया है।

'कथा' के प्रकाशन में एक और दृष्टि जुड़ी है जिसे हिन्दी में 'गंभीर-साहित्य

के प्रस्तोता के संदर्भ में आख्यायित किया गया है। सम्पादन-प्रयास में इसकी झलक भी मिलती है किन्तु इस तथ्य को शायद एकदम नज़रअन्दाज़ कर दिया गया कि हिन्दी गंभीर साहित्य से अधिक जीवन्त साहित्य की तात्कालिक आवश्यकता है जो बिना लाखों-करोड़ों धरती-पुत्रों की संवेदनाओं से जुड़े बिना नहीं आने की है। कथित साठोत्तरी नयी कहानी (अथवा अ-कहानी या सचेतन कहानी आदि) को ज्यों-ज्यों जीवन से जोड़ने का प्रयास होता है त्यों-त्यों वह उससे कटती जाती है। इस पार्थक्य को छिपाने के लिए नये-नये नाम, नारे और आन्दोलन खड़े होते हैं। जिस युग में कथाकार कहानी को जीने की बात कहने लगा उस युग में लगता है कहानी को मरने से कोई बचा नहीं सकता। नगर-जीवन कहानी के लिए कारागृह-सा हो गया। 'कथा' के माध्यम से उसके उबार का अल्प-प्रयास भी हुआ होता तो उसके प्रकाशन का ऐतिहासिक महत्त्व हो जाता। प्रवेशांक के बाद आये उसके अंकों को देख-देख कर बराबर निराशा हुई है विशेष कर इसलिए कि सुपरिचित मार्कण्डेय उनमें कहीं नहीं मिले हैं।

यही स्थिति 'विकल्प' की है। आंचलिक कथाकार अपना परिनिष्ठित 'स्वधर्म' परित्याग कर इसके प्रवेशांक में पाँच पृष्ठों का और उसके बाद वाले अंक में उससे चौगुने पृष्ठों का जो 'वक्तव्य' प्रस्तुत करता है उसमें वह कथाकार नहीं दार्शनिक और चिन्तक बन गया है। वह किसी अनाम मानवीय संकट की बात बहुत धैर्य के साथ उठाता है। छोटे-छोटे पैराग्राफ़ में वह साहित्य की रचना-प्रक्रिया की तह में बहुत सावधानी के साथ प्रवेश करता है और 'सत्यों' को उछालने में संलग्न दीखता है। वह सम्पूर्ण लेखन-परिवेश को छानता है और समाज की टोह लेता है परन्तु आश्चर्य होता है कि दर्जनों ग्रामगंधी पर्वतीय अंचल की कथा-कृतियों का यह कृती चित्रकार कहीं अपने उस 'निजत्व' के विषय में एक शब्द भी नहीं कहता है जिसके संदर्भ में उससे उसका पाठक भलीभाँति परिचित है। लगता है, यह कथाकार का कोई छद्मरूप है। वह जो है उससे भिन्न रूप में किसी कारणवश— संभवतः आधुनिकता के दबाव से— अपने को 'प्रदर्शित' करना चाहता है। यह एक विचित्र अपरिभाषित आधुनिकता का दबाव है जिससे प्रभावित ग्राम-जीवन के कथाकर अपने पिछले स्वरूप में हीनता का अनुभव कर उसे उतार फेंकने को आतुर दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

'वैचारिक साहित्य का कल्पचेता' पत्र 'विकल्प' ग्राम-जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण में और संकलित सामग्री में घोर उपेक्षावान होने के कारण विशिष्ट मौलिकता से परिपूर्ण लग सकता है। उपेक्षा के मूल में व्यावसायिक वृत्ति है। शब्दों के ऊँचे उद्देश्य चाहे जैसे भी व्यक्त किये जाएँ परन्तु कृति की कसौटी एक व्यापक पाठकीय मन है जहाँ समस्त प्रकार के आच्छादन छँट जाते हैं। अल्वेयर कामू की 'देशान्तर' रूप में परिचर्चा चाहे जितने ऊँचे स्वर में जाए, गाँधी के गाँवों की मूल चेतना के तिरस्कार से भारतीय साहित्य में वह तृप्ति नहीं आने वाली है जिसके लिए यह शताब्दी आतुर है। नवलेखन की नयी पत्र-पत्रिकाओं में गाँव लुप्त हो गया है, यह सत्य है, परन्तु मार्कण्डेय और शैलेश मटियानी जैसे स्थापित ग्रामांचल के कथाकारों द्वारा खड़े किये गये वैचारिक कथा-केतु पर ग्राम-जीवन का कहीं कोई चिह्न न हो, यह हिन्दी कथा-साहित्य की एक जीवन्त विसंगति है। उत्तरोत्तर सघन और सुदृढ़ होती जाती उपेक्षा की शृङ्खला में यह सशक्त और सुपरिचित कड़ी बहुत स्पष्ट रूप से पहचान में आ जाती है।

'नया' में उपेक्षा की ये कड़ियाँ ढीली पड़ती दिखाई पड़ रही हैं। इसमें 'कटा हुआ हाथ' लिए सामान्य 'सिसकते हुए लोग' दिखाई पड़ रहे हैं। प्रवेशांक की लगभग आधी कहानियों में ऐसा तलवर्ती लोक-जीवन है जिसमें बदलते गाँव की सम्वेदनाएँ लुप्त नहीं हुई हैं। उसमें चिथरू और कैलसिया भी दिखाई पड़ते हैं। प्लेट और काफ़ीहाउस के साथ बारिश में टूटे हुए और घुनी हुई कड़ियों वाले गाँव के घर हैं। प्रवेशांक किसी फ़तवे के साथ नहीं, ऊँची घोषणाओं के साथ नहीं, अपनी सामान्य कठिनाइयों के इज़हार के साथ प्रस्तुत होता है। वह सातवें दशक के तेवर की रक्षा और भविष्य की संभावनाओं के सदर्भ में गतिशील प्रतीत होता है। दूसरा अंक कथा में ग्राम-चर्चा और बंगला-देश की पीड़ा के साथ प्रस्तुत हुआ और मधुकर गंगाधर का सुपरिचित चेहरा ओझल नहीं होने पाया। हाँ, 'आधुनिकता' का दबाव अवश्य स्पष्ट है क्योंकि प्रवेशांक की कथा-चयन नीति अगले अंक में लड़खड़ाती प्रतीत होती है। लगता है, गाँव की चर्चा मात्र से आज का आधुनिक कथाकार डरता है, कहीं वह 'पुराना' मान कर अपदस्थ न कर दिया जाए। मधुकर गंगाधर क्षेत्रीयता के खाते में 'नया' को डाल दिये जाने की आशंका व्यक्त करते हैं। जाने कैसे यह मान लिया है कि भारत का मानक स्तर अँग्रेजों की दिल्ली है। स्वराज्य

के बाद वह कथा-साहित्य में घुसी तो ग्रामीण बीन-बीन कर साफ़ किया जाने लगा। प्रश्न प्रवृत्ति और दृष्टि का है। यह कोई तर्क नहीं कि समस्त साहित्यकार नगर में रहते हैं तो गाँव की बात लिखे कौन ? प्रश्न गाँव-नगर का नहीं प्रश्न भारत का है। भारतीय दृष्टि न तो कोरी गाँव-दृष्टि है और न वह नगर-दृष्टि है। वह एक समन्वित मुद्रा है। खेत-खलिहान और किसान कथा-साहित्य के 'अछूत' जैसे विषय हो जाएँगे तो कहाँ सन्तुलन रहेगा ?

मार्कण्डेय, शैलेश मटियानी और मधुकर गंगाधर पत्रकार बाद में हैं, वे मूलतः गाँव के साहित्यकार हैं। अतः उनके पत्र में हम उनका स्वर खोजते हैं। 'विकल्प' और 'कथा' में कठिन नागरिक तनाव है। 'विकल्प' आधुनिकता के दर्शन की कथा हो गया है और 'कथा' आधुनिकता के मानक का विकल्प ! 'नया' में जो नयापन है वह किंचित् द्विधा की स्थिति में है। उसका नयापन वास्तव में गाँव की ओर लौटने में है। युवा साहित्यकार नयी पत्रिकाओं के माध्यम से गंभीर उड़ान भर रहे हैं परन्तु प्रतिष्ठित साहित्यकार उन्हें धरती पर उतरने की प्रेरणा भी तो दें ! इन्दौर में जन्मे रमेश बक्षी और जयपुर में जन्मे शरद देवड़ा, जिनके समूचे संस्कार नगर के हैं, 'आवेश' के संयोजन में अथवा 'अणिमा' के सम्पादन में ग्रामांचलों से प्रतिबद्ध नहीं भी हो सकते हैं परन्तु केराकत (जौनपुर) और बाड़ेछाना (अलमोड़ा) में पले मार्कण्डेय और शैलेश मटियानी, जो आपादमस्तक गाँव और अंचल के रंग में रँगे मिले हैं कैसे नयी हवा के झोंके में हिल गये ? हिन्दी साहित्य में मटियानी अपनी कथा के बम्बई वाले छोर पर नहीं, कुमायूँ के पर्वतांचल वाले छोर पर जीवित हैं। मार्कण्डेय स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-जीवन के माध्यम से नयी कहानी के प्रस्तावक और प्रस्तोता हैं तथा मधुकर गंगाधर नगरों के धक्के से टूटते और नगरीकरण की ओर उन्मुख गाँवों के कथाकार हैं। गाँव को स्वीकारने का साहस इनसे सहज अपेक्षित है। इस युग की लखनऊ से प्रकाशित पत्रिका 'कात्यायनी' ने मई सन् १९७० में ग्राम-विशेषांक प्रकाशित किया। प्रसिद्ध पत्रिका 'वीणा' ने इसी वर्ष 'ग्राम-संस्कृति अंक' प्रकाशित किया और सन् १९७१ का अन्त होते-होते इसने सम्पूर्ण मालवा-अंचल पर, उसकी संस्कृति आदि पर दो-दो विशाल विशेषांकों ('मालवी-अंक') का प्रकाशन किया। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी भाषा और भारत-राष्ट्र की सेवा के ठोस क़दम उठने चाहिए।

'आवेश' (१९६८) में शतप्रतिशत नागर आधुनिकता के प्रति समर्पित

व्यक्तित्व सम्पन्न रमेश बक्षी ग्रामजीवन के लिए एक कोना सुरक्षित छोड़ते हैं। 'कल्पना' के नवलेखन विशेषांक में ग्रामजीवन की भारतीय जीवन के संदर्भ में विधिवत् चर्चा प्रारम्भ में ही उभरती है। ग्राम-जीवन के प्रति उपेक्षा का प्रश्न भी उठाया जाता है। 'संचेतना' के 'दो दशक कथा-यात्रा-मूल्यांकन विशेषांक' में भी किसी न किसी कोण से ग्राम-जीवन पुनरुत्थित हो जाता है। 'कल्पना' के नवलेखन विशेषांक (१९६९) के अतिथि सम्पादक डा० शिवप्रसाद सिंह और 'संचेतना' के अतिथि सम्पादक डा० रामदरश मिश्र हैं और दोनों ही ग्राम-जीवन के यशस्वी कथाकार हैं। यह होते हुए भी पत्र-पत्रिकाओं के अन्यान्य विशेषांकों में जो नवीनतम प्रवृत्ति है वह ग्राम-जीवन की उपेक्षा की है।

कथा-साहित्य के अन्तर्गत स्वतंत्रता के पूर्व का युग उपन्यास प्रधान था और पत्र-पत्रिकाओं के 'उपन्यास-विशेषांक' प्रकाशित हुआ करते थे। 'साहित्य-संदेश' और 'आलोचना' के उपन्यास-विशेषांक पर्याप्त चर्चित हो चुके हैं। स्वतन्त्रता के बाद के कथा-दशक कहानियों की गहमागहमी से परिपूर्ण हैं। नवलेखन अथवा युवालेखन से सम्बन्धित प्रतिष्ठित अथवा नयी पत्रिकाओं के विशेषांकों में चर्चा का केन्द्रीय विषय कहानी होता है। कथा-यात्रा अथवा कहानी-विशेषांक के रूप में नई कहानी की उपलब्धियों का मूल्यांकन-प्रयास सोत्साह होता है और पत्र-पत्रिकाओं से हुए मूल्यांकन प्रयास की कमी कथा-गोष्ठियों से पूर्ण हो जाती है। प्रतिष्ठित पत्रों में परिचर्चाओं का भी आयोजन होता है। एक परिसंवाद का आयोजन 'आजकल' के दिसम्बर १९६९ के अंक में हुआ जिसमें जैनेन्द्रकुमार, कमलेश्वर, इन्द्रनाथ मदान, धनंजय वर्मा और महीपसिंह ने भाग लिया। किन्तु इस समस्त गोष्ठी-मूल्यांकन और परिसंवादादि में घूम-फिर कर विचार घिसे-पिटे नवलेखन, नगरबोध और आधुनिकता के चर्चा-रूढ़ आयामों तक रह जाते हैं तथा एक नये प्रकार के आदर्शवादी आग्रह की उलझन से बाहर नहीं निकल पाते। और इस प्रकार कथा-साहित्य में ग्राम-जीवन की उपेक्षा की शृङ्खला उत्तरोत्तर और सघन-सुदृढ़ होती चली गई है।

'आजकल' (दिसंबर १९६९) ने 'हिंदी कहानी : कहाँ से कहाँ तक' शीर्षक से परिसंवाद प्रकाशित कर एक सामयिक काम किया। इसलिए नहीं कि फिर गरमाहट आई, बल्कि इसलिए कि उसके आधारभूत प्रश्न बहुत तीखे और सामयिक हैं तथा जिन लोगों को उत्तर के लिए चुना गया, वे नई-पुरानी पीढ़ी के मिले-जुले प्रतिनिधि लोग हैं। उनके संवाद में बातें दो टूक कही गई हैं।

मगर जो चीज़ हर जगह से फिसलती गई है, परिसंवाद की योजना और प्रश्नों के चुनाव से लेकर उत्तरदाता के दृष्टिकोण तक, वह है ग्राम-जीवन की एकांत की बात। 'कहाँ से कहाँ तक' का उत्तर होना चाहिए 'भारतीय ग्राम-जीवन बोध से अभारतीय नगरबोध तक।' इसे झुठलाना बेमानी है कि आधुनिकता के लेखे गाँव और नगर में अंतर नहीं है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में नागरिकीकरण की एक ऐसी सूक्ष्म दर्प-स्फीत प्रक्रिया है जिसके अभिजात तेवर के आगे ग्राम-जीवन अथवा भारतीय किसान का जीवन आज दुबककर आँखों की ओट हो गया है। संतुलन खो जाने से और समग्र जीवन-स्थिति की गिरावट से अनुभव होता है कि 'नागरिक जीवन एक भँवर है और उसमें चकराने से ही फुर्सत नहीं मिल पाती है।' जैनेन्द्रकुमार बहुत ऊँचाई से बोलते हैं और सही बात मुँह से निकल ही जाती है। उनके संवाद से एक सवाल का जवाब मिल जाता है। जब-जब ग्रामजीवन की बात उठाई जाती है, झल्लाकर कथाकार प्रामाणिक अनुभूति और भोगे हुए जीवन की सचाई की बात सामने कर देता है। जैनेंद्रजी कहते हैं, "भोक्ता स्रष्टा नहीं होता, द्रष्टा ही स्रष्टा होता है।" तब जो कथाकार अपने ही देश की धरती का, वहाँ के कोटि-कोटि लोगों के जीवन का, द्रष्टा नहीं है, वह कथाकार कैसा ?

कमलेश्वर ने बात पते की बताई। "सदियों 'झूठी' बनी रहने के बाद कहानी अब 'सच्ची' हो गई है।" यानी कहानी 'झूठ' से 'सच' तक आई। इसमें एक चीज़ जोड़ दी जानी चाहिये। कहानी झूठ से सच तक आकर भी एक नए किस्म के 'झूठा सच' तक पहुँच गई है, जहाँ विभाजित ग्राम और नगर के बीच गुमसुम एक अथोर-अदेख 'रक्तपात' चल रहा है। धरती का घाव देखनेवाला कोई नहीं। "परिवेश की जड़ता, मोहभंग, टूटन, विसंगति, राजनीतिक नपुंसकता, आर्थिक असंतुलन, यातना और नैतिक मान्यताओं के सामने प्रश्न वाचक मुद्रा" सब दुरुस्त, मगर किस की ? आज की कहानी को देखकर क्या यह नहीं लगता कि यह टूटन और मोहभंग आदि नगर के मुट्ठी भर खाते-पीते, उच्च, मध्य या निम्न-मध्य वर्ग के लोगों का है ? 'स्वातंत्र्योत्तर कहानी' की चर्चा कमलेश्वर जी मौके से करते हैं। बेशक इस युग की 'कहानी इसी दुनिया को पुनर्निर्मित करती है,'' मगर यह उल्लास अब कहाँ है ? यह लहर सन् '५० के लगभग आई थी और फिर क्रमशः गिरती गई। लोक-जीवन छूटता गया और सन् '६० के आते-आते वह सुविधा प्राप्त 'उस दुनिया में जम'

गई। इस दुनिया की धीरे-धीरे चर्चा भी बंद हो गई। कहानियों के साथ उसके विश्लेषण भी टोटल नगर बोध के परिप्रेक्ष्य में आने लगे। धरती की नई करवटें अदेख-अस्वस्थ रहती गईं।

पूछा गया कि "हिंदी कहानी की यात्रा में कहाँ-कहाँ मोड़ आए हैं ?" संवादों में खोज थी सन् '५० के लगभग, जब भारतीय ग्राम-जीवन को नए संदर्भ में नई अर्थवत्ता के साथ पुरस्कृत-प्रतिष्ठित किया गया और '६० के मोड़ पर जब उसका टोटल बहिष्कार-तिरस्कार हो गया। प्रश्न 'महत्त्वपूर्ण' होने और न होने का नहीं, प्रश्न दृष्टि का है। यानी आज का कथापरिसंवादी अथवा कथाकार-समीक्षक 'ग्राम-जीवन' के उल्लेख मात्र से भी कतरा रहा है। हिंदी कहानीकार के सीमित अनुभव क्षेत्र संबंधी प्रश्न का उत्तर भी इसी से जुड़ा हुआ है। बेगानेपन की स्थितियों के मूल में भी यही है क्या ? वास्तव में कथाकार कहाँ से टूटा है जो बेगानेपन की अनुभूति में गल रहा है ? वह स्वयं से टूटा है, अपनी जड़ से कटा है और मुरझा रहा है। शिल्प की रंगीनी और पालिश कब तक उसका आकर्षण बनाए रख सकती है ? नीरस-एकरस काफी हाउसी घुटन से निकलकर पता नहीं लहराते खेतों की मुक्त हवा में कभी साँस लेने की बात वह सोचेगा भी कि नहीं ? धनंजयजी सामाजिक जागरूकता के व्यापक संदर्भों की बात कहते हैं तो किस की बात कहते हैं। आधे-अधूरे संसार की मूल्य-संक्रांति और विघटन के आयाम पूरे भारतीय समाज के कैसे हो सकते हैं ? नई भाषा जो आई वह आफिस से लेकर टी-स्टाल तक की है, न कि खेत-खलिहान की। एक बात और। आधुनिक कहानी की चर्चा के साथ कुछ ऐसी बातें जरूर कही जा रही हैं जिनमें 'वर्तमान' का विश्लेषण न होकर इसी मुद्रा में 'भविष्य' की इच्छित रूपरेखा और संभावना होती है। समय आ गया है कि उसका दुराव-रहित विश्लेषण किया जाए।

महीपसिंह को उसमें 'ठहराव' की स्थिति लक्षित हो रही है। उसके प्रवाह के फैलकर रुक जाने पर बंद हुआ शोर-शराबा अब सुनाई नहीं पड़ रहा है। उन्होंने हिंदी में नई कहानी, सचेतन कहानी और अकहानी देखी है, पर थोड़ा और पीछे जाकर उन कहानियों को भी देखना चाहिए जिनमें कुछ ऐसा जीवंत जीवन था जिसके कथा-साहित्य में आते ही शोर-शराबा शुरू हो गया और जिसके बहिष्कृत होते ही लाख हल्ले के बावजूद सन्नाटा है। ऊपर से वाद-विवाद का वैभव चाहे जितना बड़ा है, परन्तु वास्तविकता यह है कि नगर में

क़ैद होकर कहानी विक्षिप्त हो कर मर रही है। उसे इस मौत से बचाने के लिए नए संवाद की आवश्यकता है।

गाँव के निरस्तीकरण की प्रवृत्ति अत्यन्त गंभीर है। कथाकार प्रजातंत्र और मानवता के साथ जन-भावना की बारम्बार दुहाई देकर भी सृजनात्मक स्तर पर उससे सायास, पूर्वग्रह पूर्वक और अभिजात-अहं के रक्षार्थ अपना पार्थक्य बनाये चल रहे हैं। इस प्रवृत्ति की उत्पत्ति और विकास-प्रस्तार का विस्तृत विश्लेषण इस प्रबन्ध की उपलब्धि है। इसको कृतियों और कृतिकारों के मात्र समीक्षात्मक वर्णन-विवरण का रूप न देकर समग्र-ग्राम-जीवन-विकास के परिप्रेक्ष्य में नये कथा-साहित्य की रचनात्मक उपलब्धियों के मूल्यांकन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उन प्रश्नों को उठाया गया है जो स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्र-विकास और कथा-साहित्य-विकास की विरोधी दिशाओं की विसंगति के संदर्भ में खड़े होते हैं। प्रथम बार कथा-साहित्य में चित्रांकित ग्राम-जीवन की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और संस्थानिक विकासादि की स्थितियाँ और वहाँ की यथार्थ जीवन-स्थितियाँ आमने-सामने रखकर विस्तारपूर्वक विश्लेषित हुई हैं। मानवीय स्तर पर गाँव और नगर में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है और कथा-साहित्य की उस नवीनतम प्रवृत्ति को नवीन ग्राम परिवेश में परखने का उपक्रम हुआ है जिसे 'आधुनिकता' कहते हैं।

प्रबन्ध में उपन्यास और कहानी का यह अन्तर ग्राम-जीवन के अंकन की कसौटी पर अत्यन्त स्पष्टता के साथ लक्षित हो जाता है कि सामाजिक जीवन के प्रति दुराग्रहपूर्ण असम्पृक्ति न होने के कारण उपन्यासों में ग्राम-जीवन आज भी अपने नव-परिवर्तित रूप के साथ झलक जाता है परन्तु वैयक्तिकता की प्रबल अहं केन्द्रित सिमटनशील स्थिति होने के कारण आज की कहानी ग्राम-जीवन से सर्वथा कट गई है। कथा-संदर्भों के उन मूल्यवान संकेतों को भी परखा गया है जो भविष्य के गाँवों को निर्दिष्ट करते हैं तथा जिनके अनुसार बड़ी तीव्रता से अपनी सनातनता विसर्जित कर गाँव नगरीकरण की ओर उदग्र हैं। ग्राम-भाव और नगर-भाव की उस टकराहट को भी जो नवीन कथा-साहित्य में अत्यन्त स्पष्टता के साथ अंकित हुई है, सूक्ष्मता के साथ व्याख्यायित किया गया है। वस्तु तत्त्व के पार्थक्य का प्रभाव शिल्प पर भी अवश्यम्भावी है अतः ग्राम-भितिक कथा-साहित्य के शैली-शिल्प का स्वतंत्र रूप से विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्रबन्ध में कथा-साहित्य के माध्यम से आज के गाँव की समग्र पहचान को, उसके विकास-ह्रास, नवीन गतिविधि, परिवर्तित परिवेश, समस्यायें, मनोदशा और सुख-दुख को तटस्थ भाव से विवेचित किया गया है। आर्थिक और संस्थानिक विकास की दृष्टि से यदि गाँव प्रगति पर हैं तो सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से टूट कर, बिखर कर घोर अधोगति की ओर भी वे अग्रसर हैं। कथा-साहित्य में उनके जो चित्र उभरे हैं वे अधोगति वाले ही अधिकांश हैं। इसके कारणों की तह में प्रवेश का प्रयास किया गया है।

भारत और भारतीय साहित्य का, विशेष कर हिन्दी-साहित्य का अभ्युत्थान 'गाँव के सहित' विकसित-उत्थित होने में निहित है। गाँव को उपेक्षित-अदेख कर के नगरों की घुटन में बजबजाते साहित्य की कुंठा-संत्रासादि आधारित अस्वस्थ उपलब्धियों का प्रचार चाहे जितना किया जाय तथा उससे व्यावसायिक सिद्धि चाहे जितनी प्राप्त हो जाय परन्तु सामूहिक रूप से भारतीय जीवन में नवीन और ऊर्जस्वित मनोजगत् की संरचना संभव नहीं हो सकती।

भारतीय राष्ट्र और भारतीय साहित्य के लिए गाँव स्वयं एक जीवन्त मूल्य है। प्रत्येक प्रकार के जीवन-मूल्यों की अस्वीकृति के अंधड़ में यह अविचल, अखंड और कूटस्थ मूल्य है। वह राष्ट्र की साहित्यात्मा है। उसमें असाधारण सौन्दर्य-क्षमता है। वैज्ञानिक उपलब्धियों का आधुनिक नगर सम्पर्क प्रभाव उसके 'पुरई पालों खपरैलों' वाले ग्राम-तन को भले आमूल-चूल रूपान्तरित कर दे परन्तु उसका अन्तरवर्ती ग्राम-मन अविकृत रहेगा; क्योंकि वही भारत है और वही भारतीय साहित्य है। इस प्रबन्ध में स्वातंत्र्योत्तर-हिन्दी-कथा-साहित्य के माध्यम से इसी विशाल और उदार ग्राम-मन को अन्वेषित करने का एक लघु प्रयास किया गया है।

सहायक पुस्तकादि-विवरण

कथाकार और उनकी कृतियाँ

प्रेमचन्द	सन् १८८०	...	
जयशंकर प्रसाद	१८८९	...	
वृन्दावनलाल वर्मा	१८८९	कभी न कभी	सन् १९४५
		कचनार	१९४८
		अचल मेरा कोई	१९४८
		अमरबेल	१९५३
		मृगनयनी	१९५८
		उदयकिरण	१९६०
विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक	१८९१	...	
राधिकारमण सिंह	१८९१	...	
चतुरसेन शास्त्री	१८९१	उदयास्त	१९५८
राहुल सांकृत्यायन	१८९३	जीने के लिये	१९५०
		बहुरंगी मधुपुरी	१९५४
आचार्य शिवपूजन सहाय	१८९३	देहाती दुनिया	१९२६
उषा देवी मित्रा	१८९७	...	
गोविन्द बल्लभ पन्त	१८९८	प्रगति की राह	१९४८
		जलसमाधि	१९५३
		फारगेट मी नाट	१९५६
ताराशंकर वंद्योपाध्याय	१८९८	गणदेवता	१९४२
उदयशंकर भट्ट	१८९८	लोक परलोक	१९५८
		दो अध्याय	१९६२
		सागर, लहरें और मनुष्य	१९५६
भगवतीप्रसाद बाजपेयी	१८९९	पतवार	१९५२
		भूदान	१९५५

अनूपलाल मंडल	१९००	उत्तर पुरुष	१९७०
पांडेय बेचन शर्मा उग्र	१९००	...	
इलाचन्द्र जोशी	१९०२	...	
रामवृक्ष बेनीपुरी	१९०२	गेहूँ और गुलाब	१९५०
भगवतीचरण वर्मा	१९०३	भूले बिसरे चित्र	१९५९
विनोद शंकर व्यास	१९०३	...	
यशपाल	१९०३	मनुष्य के रूप	१९४९
		झूठा सच	१९५८
प्रतापनारायण श्रीवास्तव	१९०४	विनाश के बादल	१९६४
कृश्न चन्दर	१९०४	जब खेत जागे	१९७०
जैनेन्द्र कुमार	१९०५	...	
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार	१९०६	...	
शांतिप्रिय द्विवेदी	१९०६	...	
हजारीप्रसाद द्विवेदी	१९०७	...	
मन्मथनाथ गुप्त	१९०८	...	
देवेन्द्र सत्यार्थी	१९०८	ब्रह्मपुत्र	१९५६
		दूध गाछ	
		रथ के पहिये	
		कठपुतली	
लक्ष्मीचन्द्र जैन	१९०९	स० ग्यारह सपनों का देश	
नागार्जुन	१९१०	बलचनमा	१९५२
		बाबा बटेसर नाथ	१९५४
		दुखमोचन	१९५७
		बरुण के बेटे	१९६६
		नई पौध	१९६७
		इमिरितिया	१९६८
भगवतशरण उपाध्याय	१९१०	...	
उपेन्द्रनाथ अश्क	१९१०	पत्थर-अल-पत्थर	१९५७
देवीदयाल चतुर्वेदी मस्त	१९११	...	

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय	१२११	ये तेरे प्रतिरूप	१९६६
		नदी के द्वीप	१९५२
शिवप्रसाद मिश्र रुद्र	१९११	बहती गंगा	१९५२
विश्वम्भर मानव	१९१२	...	
विष्णु प्रभाकर	१९१२	धरती अब भी घूम रही है	१९५५
सर्वदानंद	१९१५	माटी खाइ जनावरा	१९६०
रामेश्वर शुक्ल अंचल	१९१५	मरु प्रदीप	१९५१
द्विजेन्द्रनाथ मिश्र निर्गुण	१९१५	...	
अमृतलाल नागर	१९१६	महाकाल	
		बूँद और समुद्र	१९५६
यज्ञदत्त शर्मा	१९१६	इंसान	१९५२
		अंतिम चरण	१९५२
		निर्माण पथ	१९५३
		बदलती राहें	१९५४
		बाप-बेटी	
		परिवार	
		झुनिया की शादी	
		मधु, दो पहलू, इंसाफ	
डा० देवराज	१९१७	...	
गजानन माधव मुक्तिबोध	१९१७	...	
प्रभाकर माचवे	१९१७	परन्तु	१९५१
		एकतारा	१९५२
		द्वाभा	१९५५
		साँचा	१९५६
गंगा प्रसाद मिश्र	१९१७	...	
कर्तारसिंह दुग्गल	१९१७	चोली दामन	१९६८
अनिरुद्ध पाण्डेय	१९१८	ज़िन्दगी की जड़ें	
		मन की आँखें	
भैरव प्रसाद गुप्त	१९१८	मशाल	१९५१
		गंगामैया	१९५३
		सती मैया का चौरा	१९५९

भैरव प्रसाद गुप्त		जंजीरें और नया आदमी	१९५६
		धरती	१९६४
		महफिल	१९५८
		बाँदी	१९७१
ब्रजकिशोर नारायण	१९१८	पत्नी का कन्यादान	
		बावन हाथ	
कंचनलता सब्बरवाल	१९१८	प्यासी धरती सूखे ताल	१९६०
बलभद्र ठाकुर	१९१८	मुक्तावती	१९५८
		नेपाल की वो बेटी	१९५९
		देवताओं के देश में	१९६०
		धने और बने	१९६१
		लहरों की छाती पर	१९६२
फणीश्वर नाथ रेणु	१९२१	मैला आँचल	१९५४
		परती परिकथा	१९५७
		दीर्घतपा	१९६३
		जलूस	१९६५
		ठुमरी	१९५९
		आदिम रात्रि की महक	१९६७
नरेश मेहता	१९२१	वह पथ बन्धु था	१९६३
		प्रथम फाल्गुन	१९६८
अमृत राय	१९२१	बीज	१९५३
		गीली मिट्टी	१९६०
		हाथी के दाँत	
लक्ष्मीकान्त वर्मा	१९२१	...	
उदयराज सिंह	१९२३	भूदानी सोनिया	१९६७
		अँधेर के विरुद्ध	१९७०
रांगेय राघव	१९२३	गदल	१९५५
		कब तक पुकारूँ	१९६७
		विषादमठ	१९४६
		बोलते खंडहर	१९५५

रांगेय राघव		राई और पर्वत	१९५८
		धरती मेरा घर	१९६१
		आखिरी आवाज़	१९६३
शिवानी	१९२३	मायापुरी	
ठाकुर प्रसाद सिंह	१९२४	कुब्जा सुन्दरी	१९६३
		चौथी पीढ़ी	१९६३
विवेकी राय	१९२४	बबूल	१९६७
रामदरश मिश्र	१९२४	पानी के प्राचीर	१९६१
		जल टूटता हुआ	१९६९
		खाली घर	१९६९
		बीच का समय	१९७०
		सूखता हुआ तालाब	१९७१
अमरकान्त	१९२५	ग्रामसेविका	१९६२
		ज़िन्दगी और जोंक	१९५८
		देश के लोग	१९६४
मोहन राकेश	१९२५	...	
विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	१९२५	रीछ	१९६७
श्रीलाल शुक्ल	१९२६	रागदरबारी	१९६९
धर्मवीर भारती	१९२६	चाँद और टूटे हुए लोग	१९५५
		बन्द गली का आखिरी मकान	१९७०
बालशौरि रेड्डी	१९५६	धरती मेरी माँ	१९६९
		स्वप्न और सत्य	१९६८
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना	१९२७	...	
व्यं० दि० माडगूलकर	१९२७	...	
कृष्ण बलदेव वैद्य	१९२७	उसका बचपन	
ओमप्रकाश दीपक	१९२७	...	
सुधाकर पाण्डेय	१९२७	साँझ सकारे	
राही मासूम रजा	१९२७	आधा गाँव	१९६६
		टोपी शुक्ला	१९६८
लक्ष्मीनारायण लाल	१९२७	बया का घोंसला और साँप	१९५३

लक्ष्मीनारायण लाल		धरती की आँखें	१९५१
		काले फूल का पौदा	१९५५
		सूने आँगन रस बरसे	१९६०
आनन्द प्रकाश जैन	१९२७	आठवीं भाँवर	१९६९
काशीनाथ सिंह	१९२७	लोग बिस्तरों पर	१९६८
मुक्तेश्वर तिवारी बेसुध	१९२७	चतुरी चाचा की चिट्ठियाँ	१९६०
बलवन्त सिंह	१९२८	दो अकालगढ़	१९६९
		राका की मंजिल	१९७१
		रात चोर और चाँद	१९४८
		काले कोस	१९५७
		रावी पार	१९६४
केशवप्रसाद मिश्र	१९२८	कोहबर की शर्त	१९६५
		देहरी के आरपार	१९६७
		समाहृत	
देवेन्द्र इस्सर	१९२८	फूल बच्चा और जिन्दगी	
जयसिंह	१९२८	कलावे	१९५९
		हज़ार फूल	
		सात स्वर एक आवाज	
उमाशंकर	१९२८	नीर भर आये बदरा	
		देश नहीं भूलेगा	
शिवप्रसाद सिंह	१९२९	अलग-अलग वैतरणी	१९६७
		आरपार की माला	१९५५
		कर्मनाशा की हार	१९५८
		इन्हें भी इन्तज़ार है	१९६१
		मुरदा सराय	१९६६
राजेन्द्र यादव	१९२९	अपने पार	१९६८
राजकमल चौधरी	१९२९	...	
निर्मल वर्मा	१९२९	...	
शिवसागर मिश्र	१९३०	दूब जनम आई	१९२०
		नींव की मिट्टी	

राजेन्द्र अवस्थी	१९३०	सूरज किरन की छाँव	१९५९
		जंगल के फूल	१९६०
		जाने कितनी आँखें	१९६९
		गंगा की लहरें	१९६३
		एक प्यास पहेली	१९६६
		तलाश	१९७०
		महुआ आम के जंगल	
मन्नू भण्डारी	१९३०	यही सच है	१९६६
शैलेश मटियानी	१९३१	चिट्ठी रसैन	१९६१
		चौथी मुट्ठी	१९६१
		हौलदार	१९६१
		मुख सरोवर के हंस	१९६२
		एक मूठ सरसों	१९६२
		मेरी तैंतीस कहानियाँ	१९६१
		सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ	१९६६
		दो दुखों का एक सुख	
श्रीकान्त वर्मा	१९३१	...	
कमलेश्वर	१९३२	राजा निरबंसिया	१९५७
		कस्बे का आदमी	१९५७
		खोई हुई दिशायें	१९६३
		मांस का दरिया	१९६८
सोमा वीरा	१९३२	धरती की बेटी	
मार्कण्डेय	१९३२	पानफूल	१९५४
		महुए का पेड़	१९५५
		हंसा जाइ अकेला	१९५७
		भूदान	१९५८
		माही	१९६२
		सहज और शुभ	१९६४
		पलाश के फूल	
सुरेन्द्र पाल	१९५२	लोकलाज खोई	१९६३

शानी	१९३३	कस्तूरी	१९६०
		साँप और सीढ़ी	१९७१
		बबूल की छाँव	१९५८
		डाली नहीं फूलती	१९५९
		छोटे घेरे का विद्रोह	१९६४
अवधनारायण सिंह	१९३३	...	
मधुकर गंगाधर	१९३४	मोतियों वाले हाथ	१९६३
		फिर से कहो	१९६४
		यही सच है	१९६५
		सुबह होने तक	१९६९
		हिरना की आँखें	१९६१
		गर्म गोश्त : बर्फीली तासीर	१९६८
		उत्तर कथा	१९७१
डाक्टर कृष्णा अग्निहोत्री	१९३४	टीन के घेरे	१९७०
मधुकर सिंह	१९३४	पूरा सन्नाटा	१९७०
शेखर जोशी	१९३४	कोसी का घटवार	१९५८
मायानन्द मिश्र	१९३४	माटी के लोग : सोने की नैया	१९६६
हिमांशु श्रीवास्तव	१९३५	नदी फिर बह चली	१९६१
		लोहे के पंख	
हिमांशु जोशी	१९३५	बुरूंश तो फूलते हैं	१९६५
		अन्ततः	१९६५
जयप्रकाश भारती	१९३६	कोहरे में खोये चाँदनी के पहाड़	१९५९
जितेन्द्रनाथ पाठक	१९३६	कनेर के फूल और बन्द टट्टर	१९६६
सच्चिदानन्द 'धूमकेतु'	१९३६	माटी की महक	१९६९
रमेश बक्षी	१९३६	...	
दूधनाथ सिंह	१९३६	सपाट चेहरे वाला आदमी	१९६९
रामकुमार भ्रमर	१९३६	तीसरा पत्थर	१९६९
		काँचघर	१९७१
ज्ञान रंजन	१९३६	फेंस के इधर उधर	
गिरिराज किशोर	१९३७	...	

बल्लभ सिद्धार्थ	१९३७	...	
ललित शुक्ल	१९३७	...	
जयनारायण	१९३७	नाम अनाम	१९७०
सिद्धेश	१९३८	हत्या	१९७१
रामजी मिश्र	१९३८	...	
इसराईल अंसारी	१९३८	अचला	१९७०
पानू खोलिया	१९३९	एक किरती और	१९६७
मनहर चौहान	१९३९	...	
गंगाप्रसाद विमल	१९३९	अपने से अलग	१९६९
शंभुनाथ मिश्र	१९३९	...	
सतीश जमाली	१९४०	...	
सुबोध कुमार श्रीवास्तव	१९४३	...	
जितेन्द्र भाटिया	१९४६	...	
कुंअरानी तारा देवी		जीवनदान	
श्रीमती नारायणी कुशवाहा		पराये वश में	
यमुना दत्त वैष्णव अशोक		शैलबधू	१९५९
		ये पहाड़ी लोग	१९७१
बच्चन सिंह		लहरें और कगार	
दुर्गा शंकर मेहता		अनबुझी प्यास	१९५०
हर्षनाथ		धरती, धूप और बादल	
		उड़ती धूल	
		करमू और जगनी	
		एक आँसू	
		राजा रिपुदमन	
		टूटते बन्धन	
		पत्थर और दूब	
		रेखायें और रेखायें	
दयानाथ झा		जमीदार का बेटा	१९५९
राजेन्द्र		सावन की आँखें	
श्याम परमार		मोर झाल	

विद्यासागर नौटियाल		दारोगा जी को मछुए की भेंट	
जगदीश पाण्डेय		गगास के तट पर	१९५८
शिवनारायण उपाध्याय		रोज की क्रान्ति	
रामनारायण उपाध्याय		अनजाने जाने-पहचाने	
प्रकाश सक्सेना		धरती विहँसी	१९५८
भगवती शरण सिंह		अपराजिता	१९५८
राजेन्द्रलाल हांडा		गाँव की डगर पर	१९६६
बल्लभ डोभाल		घाटियों के घेरे	१९७०
रामकुमार		हुस्ना बीबी और अन्य कहानियाँ	१९३८
अभिमन्यु अनन्त शबनम		और नदी बहती रहे	१९७०
		आन्दोलन, एक बीघा प्यार	१९७१-७२
रामचन्द्र तिवारी		सागर, सरिता और अकाल	
अमृता प्रीतम		पिंजर	१९६९
सत्यप्रसाद पाण्डेय		चन्द्रबदनी	१९७१
कृश्न चन्दर		चम्बल की चमेली	१९७१
शिवशंकर शुक्ल	...	मोगरा	१९७०
विलास विहारी	...	अकाल पुरुष	१९७१
गिरिजा शंकर राय	१९३६	बैरिन बांसुरिया	१९६८
कामता प्रसाद ओझा 'दिव्य'		चिटुकी भरि सेनुर	
शांति मेहरोत्रा		...	
हंसराज रहबर		...	
ओंकार श्रीवास्तव		...	
गोपाल उपाध्याय		...	
श्याम व्यास		...	
कुणाल श्रीवास्तव		...	
गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव		...	
निशिकान्त		...	
सुधा		...	

सुषमा शुक्ल	...	
हमीदुल्ला खाँ	...	
लक्ष्मीशंकर द्विवेदी	...	
हृषीकेश	...	
नरेन्द्र देव वर्मा	'सुबह की तलाश'	१९७२

अन्य पुस्तकें—

१—पटेल कमीशन की रिपोर्ट

२—नवलेखन विमर्श-गोष्ठी की प्रपत्र-पुस्तिका

३—व्यक्तित्व की झाँकियाँ—सुधांशु

समालोचना

१. नयी कहानी—संदर्भ और प्रकृति (सं० डा० देवी शंकर अवस्थी)
२. कहानी : नयी कहानी (डाक्टर नामवर सिंह)
३. हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ (सुरेन्द्र चौधरी)
४. आधुनिक हिन्दी-कहानी (डा० लक्ष्मीनारायण लाल)
५. कहानी : अनुभव और शिल्प (जैनेन्द्र कुमार)
६. हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय (उपेन्द्रनाथ अश्क)
७. हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया (डा० परमानन्द श्रीवास्तव)
८. कहानी : स्वरूप और संवेदना (राजेन्द्र यादव)
९. हिन्दी-कहानी (डा० इन्द्रनाथ मदान)
१०. एक दुनिया : समानान्तर (भूमिका) (राजेन्द्र यादव)
११. नई कहानी की भूमिका (कमलेश्वर)
१२. हिन्दी कहानी : दशा, दिशा, संभावना (सं० श्री सुरेन्द्र)
१३. आज की हिन्दी-कहानी (डा० धनंजय)
१४. हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास (डा० लक्ष्मीनारायण लाल)
१५. नयी कहानी की मूल संवेदना (डा० सुरेश सिनहा)
१६. हिन्दी-उपन्यास (डा० सुषमा धवन)
१७. हिन्दी-उपन्यास (डा० शिवनारायण श्रीवास्तव)

१८. हिन्दी उपन्यासकला (डा० प्रतापनारायण टंडन)
१९. प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास (डा० प्रभास चन्द्र शर्मा महता)
२०. हिन्दी साहित्य को कूर्माञ्चल की देन (डा० भगत सिंह)
२१. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन (डा० गणेशन)
२२. हिन्दी उपन्यास : पृष्ठभूमि और परम्परा (डा० बदरीदास)
२३. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास (प्रकाश बाजपेयी)
२४. आज का हिन्दी उपन्यास (डा० इन्द्रनाथ मदान)
२५. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा (डा० रामदरश मिश्र)
२६. हिन्दी उपन्यासों में लोकतत्त्व (डा० इंदिरा जोशी)
२७. हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता (डा० सुखदेव शुक्ल)
२८. हिन्दी उपन्यासों में कल्पना के बदलते हुए प्रतिरूप (डा० शीलकुमारी अग्रवाल)
२९. हिन्दी उपन्यासों की यथार्थवादी परम्परा (डा० जयनारायण मंडल)
३०. हिन्दी-मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (डा० चन्द्रकान्त महादेव वांडिवडेकर)
३१. हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन (डा० ब्रजभूषण सिंह आदर्श)
३२. हिन्दी उपन्यासों में कथा-शिल्प का विकास (डा० प्रतापनारायण टंडन)
३३. हिन्दी उपन्यास साहित्य में आदर्शवाद (डा० सर्वजीत राय)
३४. हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास (डा० सुरेश सिन्हा)
३५. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद (डा० त्रिभुवन सिंह)
३६. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि (डा० सत्यपाल चुघ)
३७. हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय)
३८. हिन्दी उपन्यास-कोष (डा० गोपाल राय)
३९. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और चरित्र-विकास (डा० बेचन)
४०. छायावादोत्तर हिन्दी गद्य-साहित्य (डा० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी)
४१. हिन्दी साहित्य—एक आधुनिक परिदृश्य (सच्चिदानन्द वात्स्यायन)
४२. स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य (सीताराम)
४३. दिशाओं का परिवेश (डा० ललित शुक्ल)
४४. विवेक के रंग (सं० डा० देवीशंकर अवस्थी)
४५. बदलते परिप्रेक्ष्य (डा० नेमिचन्द्र जैन)

४६. समकालीन हिन्दी-साहित्य : आलोचना को चुनौती (डा० बच्चन सिंह)
४७. आस्था और मूल्यों का संक्रमण (डा० कृष्णबिहारी मिश्र)
४८. चिन्तन अनुचिन्तन (डा० कृष्णानन्द 'पीयूष')
४९. आधुनिक परिवेश और नवलेखन (डा० शिवप्रसाद सिंह)
५०. हिन्दी गद्यशैली का विकास (डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा)
५१. कहानी का रचना-विधान (डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा)
५२. आधुनिक हिन्दी कहानी का परिपार्श्व (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय)
५३. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी (डा० कृष्णा अग्निहोत्री)

प्रमुख ग्रामभित्तिक कहानियाँ

'धरती अब भी घूम रही है'	विष्णु प्रभाकर	कहानी	१९५५
'गदल'	रांगेय राघव	,,	,,
'रिद्धी बाबू'	भगवतशरण उपाध्याय	,,	,,
'ब्रह्म शांति'	ठाकुर प्रसाद सिंह	,,	१९५९
'सीमा'	बलवन्त सिंह	,,	,,
'गुलमुहर का पेड़'	शानी	,,	१९६१
'अंधी रोशनी'	मधुकर गंगाधर	सारिका	१९६८
'पुष्पहार'	शिवानी	,,	,,
'लाल पलाश'	सुषमा शुक्ल	कहानी	,,
'कुछ करने के लिये'	सुबोधकुमार श्रीवास्तव	धर्मयुग	,,
'एक जननायक का शैशव'	सार्त्र	कल्पना	,,
'आग'	सुधा	ज्ञानोदय	१९६९
'संतप्त लोक'	गोपाल उपाध्याय	धर्मयुग	,,
'एक लैम्प पोस्ट'	रमेश सत्यार्थी	कल्पना	,,
'ब्लेड'	जिनेन्द्र भाटिया	धर्मयुग	,,
'करवटें'	गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव	नई कहानियाँ	१९६८
'कुम्हड़े की सब्जी'	सुबोधकुमार श्रीवास्तव	सारिका	१९६९
'रेवड़'	श्याम व्यास	नई कहानियाँ	,,
'बेकार'	राम जी मिश्र	ज्ञानोदय	,,
'तनहाई'	वल्लभ सिद्धार्थ	सारिका	,,

'कलंकी औतार'	शिवप्रसाद सिंह	धर्मयुग	१९६९
'आदिम हथियार'	,,	,,	,,
'वापसी का सूरज'	अभिमन्यु अनन्त	कल्पना	,,
'बलवा'	सुधा अरोड़ा	धर्मयुग	१९७०
'ऊपर भापर'	मुक्तेश्वर तिवारी	,,	१९६१
'टोना'	मेहरुन्निसा परवेज़	,,	१९७१
'धूल के बगूले'	पृथ्वीराज मोंगा	कहानी	,,
'गाँव में'	अशोक अग्रवाल	धर्मयुग	,,
'मांसाहारी लेखक'	लाडली मोहन	धर्मयुग	१९७२
'बाढ़'	मधुकर सिंह	कहानी	,,
'स्वर्ग की सीढ़ी'	मुक्तेश्वर तिवारी	धर्मयुग	१९६२
'नारद मोह'	,,	,,	१९६१
'आखिरी सलाम'	ललित शुक्ल	कात्यायनी	१९७०
'धुँधलका'	,,	नई कहानियाँ	,,
'खंभा'	सिद्धेश	मंच	,,
'स्मृतियों के धागे'	रामजी मिश्र	कादम्बिनी	१९६८
'रामलीला'	लक्ष्मीनारायण लाल	धर्मयुग	१९७०

निबन्ध

नान्यः पंथाः (डा० शिवप्रसाद सिंह) माध्यम, दिसम्बर, १९६५।

शहरों पर शहर बस रहे हैं, लेकिन...(डा० अमरनारायण अग्रवाल) धर्मयुग, २७ नवम्बर, १९६६।

ये शहरी सम्बन्ध में जीने वाले लेखक (नागेश्वर लाल) धर्मयुग, ३० जून, १९६८।

भारत का भविष्य (आचार्य रजनीश) धर्मयुग, १९ मई, १९६८।

साठोतरी पीढ़ी के नाम (डा० विश्वनाथ तिवारी) ज्ञानोदय, फरवरी, १९६९।

उपन्यासों की नयी पीढ़ी की संभावनायें और आदर्शवाद (डाक्टर सर्वजीत राय) सम्मेलन-पत्रिका, पौष-फाल्गुन, शक् १८९१।

सामंजस्य की खोज (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) धर्मयुग, २८ सितम्बर, १९६९।

समकालीन उपन्यास : भाषिक प्रयोग (रामस्वरूप चतुर्वेदी) कल्पना, सितम्बर १९६८।

टूटता विश्वास (रेणु : इन्टरव्यू) दिनमान, ३ मई, १९७०।

नयी कहानी की भाषा (पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु') 'कल्पना' अगस्त-सितम्बर, सन् १९६९।

कहानी-विशेषांक

१. 'कहानी' का वार्षिकांक १९५५
 (प्रसिद्ध कहानियाँ—कस्बे का आदमी, गदल, धरती अब भी घूम रही है।)
२. 'कहानी' का वार्षिकांक १९५६।
 (प्रसिद्ध कहानियाँ—डिप्टी कलक्टरी, राजा निरबंसिया, मलवे का मालिक, चीफ की दावत, हंसा जाइ अकेला।)
३. 'कहानी' का वार्षिकांक १९५९, १९६१, १९६६, १९६८।
४. 'ज्ञानोदय' समकालीन भारतीय कहानी-विशेषांक, नवम्बर १९६४, दिसम्बर १९६४ और जनवरी, १९६५।
५. 'संचेतना' दो दशक कथा-यात्रा : मूल्यांकन विशेषांक, सितम्बर-दिसम्बर सन् १९६९।
६. 'कल्पना' नवलेखन विशेषांक भाग १ और २, अगस्त-अक्तूबर, १९६९।
७. 'कृतिपरिचय' युवालेखन विशेषांक, १, २ अक्तूबर-नवम्बर, १९६९।
८. 'कात्यायिनी' ग्राम-विशेषांक, मई १९७०।
९. 'वीणा' ग्राम-संस्कृति अंक मार्च १९७१।

गोष्ठी-विवरण

१. दिसम्बर १९६५ (कलकत्ता) कथा-समारोह।
२. मार्च १९६८ (वाराणसी) नवलेखन विमर्श गोष्ठी।
३. जून १९६८—कथा सम्मेलन, नागपुर।
४. दिसम्बर १९६५—हिन्दी-साहित्य-सभा, दिल्ली।

५. मार्च १९६८--स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी-गोष्ठी, बम्बई ।

६. जनवरी १९६९- ज्ञानपीठ विचार गोष्ठी, दिल्ली ।

प्रथम अध्याय की आधारभूत सामग्री

१. 'योजना' (दिल्ली) के विभिन्न अंक ।

२. उत्तर प्रदेश कृषि-विश्वविद्यालय पंतनगर से प्रकाशित कृषि-बुलेटिन की प्रतियाँ ।

३. भारतीय ग्राम : संस्थानिक परिवर्तन और आर्थिक-विकास (लेखक—डा० पूरनचन्द्र जोशी) ।

४. योजना आयोग द्वारा प्रकाशित पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारूप ।

५. भारतीय स्वतंत्रता का पन्द्रहवाँ-सोलहवाँ वर्ष ।

६. विकास नवनीत (उत्तर प्रदेश सरकार प्रकाशन) ।

७. भारत १९६६, ६७, ६८ ।

८. भारत में आर्थिक नियोजन (भंडारी एण्ड जौहरी) ।

९. भारतीय कृषि-अर्थशास्त्र (डा० म० म० भालेराव) ।

१०. 'आर्थिक जगत्' कलकत्ता, 'दिनमान' दिल्ली, और 'धर्मयुग' बम्बई की फाइल ।

११. इंडियन कौंसिल आफ एग्रिकल्चर इन्स्टीच्युट न्यू दिल्ली से प्रसारित कृषि-बुलेटिनें ।

१२. फर्टीलाइजर असोसिएशन आफ इण्डिया, दिल्ली के प्रकाशन ।

१३. भारत में समाज कल्याण और सुरक्षा (डा० रघुराज गुप्त) ।

१४. 'आज' (वाराणसी) और 'टाइम्स आफ इंडिया' (बम्बई) की फाइल ।

परिशिष्ट–१

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित एक मास का हिन्दी कथा-साहित्य एक सर्वेक्षण

नयी कहानी में ग्राम-भूमि अथवा भारतीय किसान के जीवन की खोज में जुलाई सन् १९६८ की मासावधि में प्रकाशित 'धर्मयुग', 'हिन्दुस्तान', 'कल्पना' 'माध्यम', 'ज्ञानोदय', 'सारिका', 'लहर', 'नयी कहानियाँ', 'कहानी', 'नयी-धारा', 'कादम्बिनी', 'नीहारिका', 'अणिमा' और 'आवेश' से लेकर 'माया', 'सरिता', 'मनोहर कहानियाँ' और नयी पत्रिकाओं में 'कहानीकार', 'नागफनी', 'नीरा', 'लोकरंजन', 'अनाम', 'सम्भावना', 'कृतिपरिचय', 'युयुत्सा', 'वातायन', 'गल्पभारती', 'हस्ताक्षर', 'अपर्णा', 'ज्योत्स्ना', अनियमित पत्र 'आमुख' और 'नीलपत्र' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों का अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि भारत में भले ही गाँव ही गाँव हैं परन्तु भारतीय कहानियों में कहीं उनका पता नहीं है। दो-ढाई-सौ कहानियों में केवल एक ही प्रामाणिक कहानी ग्राम-जीवन पर मिली है, जिसे 'करवटें' (ले० गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव) शीर्षक के अन्तर्गत 'नयी कहानियाँ' ने प्रकाशित किया है।

'करवटें' में कथाकार नयी ग्राम-भूमि का यद्यपि स्पर्श करता है तो भी पूरी कहानी पर नगर का मध्यवर्ग ही छाया हुआ है। कथाकार कहानीपन और आधुनिकता की रक्षा करता हुआ नयी विकसित खेती के आकर्षण को चित्रित करता है। सिंचाई-सुविधाओं और विकसित बीजों तथा नवीन कृषि-अनुसन्धानों ने जो क्रान्तिकारी विचार-परिवर्तन गाँवों में कर दिये हैं उसकी ओर लोगों का अब ध्यान जाना चाहिए। कहानी में कम से कम गाँव की ओर लौटने का स्वर तो उभरा! और खेती करने की लालसा तो जगी!! लम्बे अरसे बाद चन्दन गाँव में आता है और कीचड़ में फँस जाता है। यह नलकूप का कीचड़ है। अर्थात् विकास के नाम पर जो 'गन्दगी' है उसमें वह फँस जाता है। उसे बहुत खेद होता है कि उसके खेत बटाई पर उठा दिये जाते हैं। घर से नौकरी पर वापस आते समय वह वादा कर के आता है कि हजार-पाँच सौ बैल के लिए भेज देगा पर ट्रेन पर चढ़ते ही उसके सामने खड़े अगणित आर्थिक

प्रश्न उसे सिकोड़ने लगते हैं, बच्चे की वर्षगाँठ, चेस्टर बनवाना, नैनीताल की सैर और उधर बैल ! सवाल उठता है कि क्या बैल की खरीद होगी ? खेती होगी ? उत्तर मिलता है कि पहले सड़ी मध्यवर्गीय नियति से मुक्ति तो मिले ? ग्राम-जीवन के स्वतंत्र विकास में वह बहुत बाधक है। गाँव का किसान शहर में जा कर जब मध्यवर्ग को जीने लगता है तो वह कितना घिसा-पिटा, बासी और निष्क्रिय हो जाता है, इस यथार्थ की, इस संवेदना की टोह में कथाकार है मगर सब मिला कर गाँव आकर चन्दन में खेती का आकर्षण जगना मात्र श्मशान-वैराग्य-जैसा है।

'नयी कहानियाँ' के इसी अंक में ही एक और कहानी 'हक' (ताल्लुरु नागेश्वर राव) ग्राम-जीवन पर है, और बावजूद इसके कि वह हिन्दी की नहीं तेलुगु से अनूदित है--यहाँ उसकी चर्चा आवश्यक है। इसमें आधुनिक समाज की विसंगतियों पर करारा व्यंग्य है। एक गाँव की पंचायत समिति का प्रेसीडेण्ट जो गाँव में स्थापित लंगड़े-लूलों के स्कूल का उद्घाटन कराने के लिए आर०डी०ओ० साहब को आमन्त्रित करने के लिए शहर जा रहा है, बस में बैठे एक व्यक्ति को सीट से नीचे उतर जाने तथा जगह देने के लिए बहुत रोब के साथ डरा-धमका रहा है। बीच में एक जगह वह निरीह-सा व्यक्ति जब उतरने लगता है तो विदित होता है कि वास्तव में एकदम पंगु व्यक्ति है और बैसाखियों पर चलता है। 'व्यंग्य' का विस्फोट पूरे परिवेश को समेट कर छा जाता है। नवगठित पंचायतों और उसके पदाधिकारियों की मनोवृत्तियों का आधुनिकतम परिचय कहानीकार उपस्थित करता है।

इसी तेलुगु कहानीकार की एक और कहानी, जो गाँव की पंचायत-समिति के प्रेसीडेण्ट से ही सम्बन्धित है 'सारिका' ने प्रकाशित की थी, जिसका शीर्षक था 'अफ़सर गाँव में पधार रहे हैं !' प्रोक्यूरमेण्ट अफ़सर अनाज वसूली में गाँव में जाता है। वसूली जिस दर से होने वाली है वह मार्केट रेट से इतना कम है कि किसानों पर अफ़सरों का वसूली में आना वज्रपात सदृश हो जाता है। गाँव वाले अन्त में पंचायत-समिति के प्रेसीडेण्ट पर भार छोड़ देते हैं कि वह जैसे चाहे गाँव की रक्षा करें। प्रेसीडेण्ट ऐसा करता है कि पाँच हजार उसकी जेब में, पाँच हजार अफ़सर की जेब में, उधर ग्रामीण भी खुश और अनाज की वसूली भी हो जाती है यानी सरकार भी खुश ! गाँववासियों की सिधाई, सरलता, निरीहता और लाचारी खूब उभरती है। पंचायत-समिति का प्रेसीडेण्ट

आधा ग्रामीण है और आधा अफ़सर है। जनता और सरकार के बीच उसका मध्यवर्ती रोल बहुत 'आधुनिक' है। अफ़सरशाही और घूसखोरी के साथ अनेक अन्तर्विरोध उभरते हैं। स्वतंत्रता के बाद की प्रमुख ग्रामीण उपलब्धियों में एक पंचायत है और इससे सम्बन्धित ऐसी सशक्त, प्रामाणिक और आधुनिक रचना हिन्दी में देखने के लिए पाठक तरस कर रह जाते हैं। हिन्दी में तो अब आधुनिक पीढ़ी के ग्राम-कथाकार भी नगरबोध ही प्रस्तुत करने में संलग्न दीख रहे हैं। शायद हिन्दी के कहानीकार अब गाँवों में जाते हेठी मानकर शरमाने लगे हैं। जो लिखते भी हैं वे भी सारा रूप नगरबोध का रखते हैं और कहानियाँ एकदम अप्रामाणिक हो उठती है।

इस आलोच्य मास में प्रकाशित 'सारिका' की कहानी 'प्रियदर्शी' (मुद्राराक्षस), 'नीरा' में प्रकाशित 'अलाव पर एक साँझ' (चन्द्रमा भारद्वाज), 'अणिमा' में प्रकाशित 'प्राप्य' (सुदीप) और 'वातायन' की एक कहानी यद्यपि ग्राम-जीवन पर आधारित हैं परन्तु इनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। 'वातायन' की तीन कहानियों में एक नगर की, एक कस्बे की और एक गाँव की है, पर सब मिलाकर नगर-कथा ही मुखर है। गाँव की कहानी बहुत ही सड़े देह भोग पर घहराकर उखड़ जाती है। ग्राम-मर्म का उसमें आंशिक स्पर्श भी नहीं है। 'अलाव पर एक साँझ' में धर्मा फ़ौजदार के अलाव पर एक साँझ बैठे-बैठे ऊपरी बातों में ही कट जाती है। बदलते ग्राम-जीवन का अभ्यन्तर उसमें तनिक भी नहीं खुलता। यही दशा 'अणिमा' की कहानी 'प्राप्य' की है। गाँव में बिजली आती है यानी उसी के रास्ते आधुनिकता आती है। उस वातावरण में नन्दू और अमरो अपरिचित लगते हैं। ट्रेजेडी बिजली के करेन्ट से नन्दू के मौत की है जिसे दोनों का रोमांस चटक बनाता है। यह करेन्ट गाँव नहीं नगर में भी लगता तो कहानी में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। फ्रेम-भर गाँव का है, चित्र जो बना है वह नगर का ही है। गाँव का नामोल्लेख मात्र ग्राम-जीवन नहीं है।

इसी किस्म की अप्रामाणिकता 'सारिका' की कहानी 'प्रियदर्शी' में है। मुद्राराक्षस ने इस चर्चित कहानी में अकाल का चित्रांकन किया है किन्तु यह अकालभूमि सर्वथा अपरिचित है। कहानी में फूहड़पन भी कम नहीं है। मरे हुए कुत्ते की लाश के लिए छीना-झपटी हो रही है। मुरदों की सड़ी दुर्गन्ध फैल रही है। इसी बीच टपक पड़ता है एक साहब ! टोस्ट, गोश्त, जेली-जाम, गाढ़ा दूध और चाय-काफी सिगरेट के साथ फैले हुए समाचार-पत्रों के बीच

रात में अपने बिस्तर पर जिस अस्थिचर्मावशिष्ट औरत को मँगाता है वह उसके साथ आये ठेले वाले की स्त्री है। लौटते समय वह फ्रेंचलेदर में डबल-रोटी का चूरा लेकर घर जाती है तो उसका पति उसे सत्यनारायण बाबा के प्रसाद की भाँति ग्रहण करता है। आदि से अन्त तक नगरबोध की स्पिरिट विधा और कथ्य की बुनावट को प्रभावित कर रही है। संत्रास की उद्दीपक परिस्थितियाँ बनावटी हैं। यह वास्तविक ग्राम-भूमि नहीं, लेखकीय संत्रास-भूमि है। वह दढ़ियल साहब एक साकार विसंगति है। व्यंग्य एकदम अनखुला रह जाता है। अकाल पर लिखी गयी मार्कण्डेय की कहानी 'दानाभूसा', भैरवप्रसाद गुप्त की 'चरमबिन्दु' और रामदरश मिश्र की 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' जैसी सफल कहानियों से सर्वथा भिन्न यह कहानी है जिसमें भयंकरता और वीभत्सता का रंग गाढ़ा करने के प्रयत्न में कहानी खत्म हो गयी है। आखिर इसमें भारतीय कृषक-जीवन का कौन-सा पहलू उभरता है ? ग्राम-भूमि का स्पर्श करने वाले हर कथाकार से हम अपेक्षा रखते हैं कि वह बदलते ग्राम-जीवन के मर्म में प्रवेश कर उसे खोलेगा। अकाल के नाम के साथ जुड़े कुछ फ़ार्मूले, अफ़वाह और शिगूफ़े की दहशत, उबकाई और घृणा के लिजलिजेपन के चटक रंग में भर कर पेश कर देना पर्याप्त नहीं। मोहन राकेश का एक क्लर्क पाकेट में रामायण के साथ 'फ्रेंचलेदर' लिये रहता है तो हिन्दी-जगत् नाक-भौं सिकोड़ता है। यहाँ तो वह पाकेट से मुँह के पास तक पहुँच गया है। अकाल पीड़ित गाँव में खाद और परिवार-नियोजन के उपकरण को लेकर पहुँचने वाला वह साहब जो आते ही एक टूटे-फूटे वीरान टिनशेड में जमता है और सर्वप्रथम औरत की चाहत व्यक्त करता है, निश्चय ही अप्रामाणिक व्यक्ति है। यदि वह विकास-अधिकारी की सुपरिचित मुद्रा और परिवेश में होता तो कदाचित् कहानी कुछ कम अवास्तविक हो पाती परन्तु यहाँ तो समाँ ही कुछ और है।

इसी मास में अकाल की ही पृष्ठभूमि पर एक और कहानी बँगला और हिन्दी की लिंक पत्रिका 'अनाम' (सिलीगुड़ी) में देखने में आयी जिसका शीर्षक है 'सूखा', और यह पूर्व प्रकाशित किसी बँगला-कथा से अनूदित है। संयोगवश सुनील गंगोपाध्याय की इस कहानी में भी वही परिवेश अंकित है जो 'प्रियदर्शी' में है। बीअर, स्काच, सिगरेट और मुर्ग-शोरबा के बीच कुछ पत्रकार और जैण्टिलमैनों-द्वारा मोटर खराब हो जाने पर एक डाक बँगले में आराम-कुरसी

पर बैठकर न्यूज तैयार करने के लाइट मूड में देखा गया यह 'सूखा' है और अन्त में कुएँ पर जाकर कुछ युवतियों के शिकार-संदर्भ भी टँके हैं ! क्या यह आवश्यक है कि गाँव के सूखा-क्षेत्र अथवा अकाल-भूमि में 'शरीफ़' लोगों को पहुँचा कर सर्वप्रथम उनके सेक्स को उभाड़ा जाय ? वास्तव में नगर-जीवन के परिप्रेक्ष्य में जो ग्रामांकन होगा उसका यही हृश्र होगा। इनमें नागरिक मनोवृत्तियाँ तो उभड़ती हैं परन्तु ग्राम-जीवन तो ढँका का ढँका ही रह जाता है। वास्तव में हिन्दी कहानी पर नगरबोध इस प्रकार छाया है कि ग्राम-भूमि पर जा कर भी लेखक उसे उतार नहीं पाते और आदतवश उसे ही वहाँ टाँक कर छुट्टी पा लेते हैं ! 'अपर्णा' में इसी मास प्रकाशित शैलेश मटियानी की कहानी 'लघुशंका' को लेकर कतिपय पत्रिकाओं में इस ढंग की चर्चा हुई कि यह अप्रामाणिक है। कहा गया कि यह निर्णय नहीं हो पाता है कि यह कहानी किसी गाँव की है या अंचल से सम्बन्धित है। वास्तविकता यह है कि उक्त कहानी शुद्ध नगर-भूमि पर आधारित है। काफी जोरदार और जिन्दा भाषा में अत्यन्त निचली सतह के लोगों को उकेरा गया है जिससे भ्रम होता है। लोकोन्मुखता और ग्रामांकन में अन्तर हैं। ग्रामांचल एक विशेष मनोदशा है। ग्राम-मन की एक विशिष्ट संस्कृति है। इस ग्राम-मन का स्पर्श नगर की पृष्ठभूमि पर लिखी कहानियों में भी हो सकता है मगर यह साधारण कथाकार के लिए साध्य नहीं। धर्मवीर भारती की कहानी 'गुलकी बन्नो' और मन्नू भण्डारी की 'रानी माँ का चबूतरा' यद्यपि नगर-जीवन की कहानियाँ हैं परन्तु उनकी लोकोन्मुखता में गँवई-जीवन का अन्तःस्पर्श है।

इस मास में प्रकाशित 'धर्मयुग' की 'तोता कहानी' (जमील हासमी) और 'बेमाता' (विष्णु प्रभाकर), 'हिन्दुस्तान' की 'शीश महल' (बदीउज्जमा), 'सारिका' की 'बीच की दरार' (गंगाप्रसाद विमल) और 'दूसरी अर्थी' (मेहरुन्निसा परवेज़), 'नयी कहानियाँ' की 'मरद की बात' (शालिग्राम) लोकोन्मुख हैं मगर इनमें नगरभूमि होने के कारण हल-बैलों वाली दुनिया तो नहीं ही है, वह एक विशेष सरल-तरल रागात्मक कृषक-व्यक्तित्व भी नहीं झलकता है। 'बेमाता' में एक कुम्हार पत्नी है उजली, वैसी ही जैसी गँवई की कुम्हार-पत्नियाँ होती हैं। गँवई नारी की ही भाँति उसे भी बहुओं के आने पर बेटों के पराये हो जाने का तीखा अहसास होता है मगर इस संदर्भ में, इस अहसास की प्रतिक्रिया में ग्राहक आने पर अपने गढ़े खूबसूरत बबुओं (खिलौनों) को पटक कर तोड़

देना यह ग्राम-भाव नहीं है। यह नगरबोध है जिसमें एक विशिष्ट बौद्धिक स्तर स्पष्ट है। 'बीच की दरार' आरम्भ तो होती है एक गाँव के बूढ़े को लेकर और ऐसा लगता है कि उसके सहारे ग्राम-भूमि की कुछ नवीनताएँ उभरेंगी परन्तु पहाड़ी कस्बा धनोल्टी के डिप्टी कलक्टर के परिवार पर उनके सप्ताहान्त तक दौरे से न लौटने पर एक भीषण संत्रास छा जाता है, बर्फ का सत्यानाशी उपद्रव इस संत्रास को और घना बनाने लगता है। अन्त में इसी माहौल में पाठकों को 'कथ्य से सीधे साक्षात्कार' के लिए खड़ा कर लेखक किनारा कस लेता है और वह बूढ़ा और उसका गाँव-जीवन खाद बन जाते हैं। 'कहानी' में प्रकाशित अशोक सेकसरिया की कहानी 'गरीबी' में एक शहर का निवासी नौकरी छूटने पर अपने घर आ जाता है। और तनावों को दूर करने के लिए काफी हाउस, शराबखाना आदि जगहों का चक्कर लगाने के साथ काफ्काई अन्दाज में, गरीबी के दुष्ट अहसास के साथ साहित्यिक-जायजा लेने लगता है। यहाँ सोचा जा सकता है कि नगर के लोगों के तनावों को दूर करने वाले स्थल क्या काफी हाउस और शराबखाने ही हैं ? क्या कथाकार अपने पात्रों को कुछ और पैदल चलाकर हलका होने के लिए नगर-भूमि के बाहर ग्रामांचल में नहीं पहुँचा सकता ? प्रेमचन्द की कहानी 'गुल्ली-डण्डा' गाँव की कहानी नहीं है, नगर के ही एक इंजीनियर साहब हैं जो अपने पुराने गँवार बाल-मित्र गयाराम मजदूर के साथ गुल्ली-डण्डा जमाये हुए हैं और पूरी कहानी पर मर्मस्पर्शी ग्राम-बोध छाया हुआ है। सवाल दृष्टि का है। आज दृष्टि ही बदल गयी है और उस पर ऐसा चकाचौंध छाया हुआ है कि वह अनन्यभाव से उस नगर और महानगर-बोध से जुड़ी है जो परम्परा-विखण्डन की एक मानसिक प्रक्रिया है जो हिन्दी के कथा-जगत् पर छायी है। लगभग तीन दर्जन पत्र-पत्रिकाओं में अकेले 'माध्यम' की दोनों कहानियाँ परम्परा को पुरस्कृत करती मिलीं, गोकि दोनों की पृष्ठभूमि नगर ही है। 'माटी का अभिमान' (अविनाश सरमण्डल) की निवेदिता में अनमेल विवाह की कड़वाहट तो है पर अन्ततः विद्रोहहीन मानसिक समझौता है भी जो परम्परा और मर्यादा के दायरे में में आता है। दूसरी कहानी 'टूटा त्रिभुज और एक सरल रेखा' (लक्ष्मीनारायण चौरसिया) के 'तीसरे' को बड़ी खूबी से नकारा गया है। राजेश (पति) के आगे मोहन (प्रेमी) का आकर्षण सुनीता को खींच नहीं पाता है। आधुनिक नारी-द्वारा यह पति और प्रेमी दोनों को सहेजने का फार्मूला आधुनिकता-बोध से

अनुप्राणित नयी कहानी में खूब चल रहा है। २८ जुलाई के 'धर्मयुग' में प्रकाशित अरविन्द गोखले की कहानी 'कन्या-दान' में भी यही थीम है। तिलोत्तमा अपने प्रेमी धनंजय और पति जनार्दन दोनों को सहेजती है। पति को छोड़ने के १५ वर्ष बाद बेबी के विवाह में कन्यादान के लिए वह पति को घसीट लाती है और इस मौके पर प्रेमी को टाल देती है। इस मास की सारिका में भी इस थीम पर एक कहानी 'और विवशता' (केवल सूद) आयी। सवाल नारी के सहज होने का उठाया गया। पतिव्रत धर्म के घिसे मुखौटे के बीच विवाहिता 'वह' अपने प्रेमी को आफिस-टेबल पर फैले कागजों की तरह अपने से लिपटा लेना चाहती है लेकिन एक विडम्बना से मुक्ति पाते ही दूसरी विडम्बना सामने तैयार रखती है! 'कहानी' में प्रकाशित 'निरावरण' (निरुपमा सेवती) और 'नीहारिका' की 'शिकार' शीर्षक कहानी की भी यही थीम है।

वास्तविकता तो यह है कि नयी कहानियों में फार्मूले ही फार्मूले हैं जिनमें सीमित नगर-बोध होने के कारण गहरी एकरसता है। कुछ फार्मूले मनोविज्ञान क्षेत्र से लिये गये और कुछ पश्चिमी देह-भोग-वाद से। मध्यवर्ग की आर्थिक विवशताएँ हैं ही और इस बीच ओढ़ी हुई आधुनिकता के बीच से उस संत्रास, कुण्ठा, आक्रोश और व्यर्थतानुभूति पर लोग झपटे। सब को समेटकर इस मास के 'ज्ञानोदय' में एक जानदार रचना आयी रामजी मिश्र की 'बोझ' जिसमें एक उम्र की पीड़ा खुलती है। पुरानेपन की अनुभूति, टूटन, खोखलापन, व्यर्थता, अस्वाभाविक हँसी, मनोव्याधि, ऊब, अरुचि, सुन्नता, संत्रास, प्यार न कर सकने की विवशता, गलत सन्दर्भों में जुटान, बेहूदापन, सड़ांध और गलत ढंग से जी गयी जिन्दगी, आधुनिकता-बोध के सारे आयाम सुधा के जीवन में अपनी छोटी बहन बन्दना की परियों की कहानी कहने की जिद, पापा के ब्लडप्रेशर और मम्मी की गहरी डुबान के परिप्रेक्ष्य में खुलते हैं। 'ज्ञानोदय' के इसी अंक में 'टुकड़ों के बाद' मनहर चौहान की कहानी है जिसमें नयी कहानी के फार्मूलों की भीड़-भाड़ में आधुनिकता-बोध का एक प्रामाणिक स्वर मिलता है। इसमें विज्ञान की चुनौतियाँ ब-मुकाबले प्रेम यहाँ अंकित है और इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि क्या विज्ञान प्रेम की तरलता को सुखा देगा? कहानी की पात्रा आरती एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की लेडी सर्जन है। उसका प्रेमी पंकज स्कूटर-एक्सीडेण्ट में मर रहा है। उसका हृदय वह निष्कम्प-हस्त निकाल कर कपूर में प्रत्यारोपित कर देती है और इस सम्बन्ध से मि० कपूर

की ओर बेतरह झुकाव हो जाता है। उन्हें देखकर उसकी देह झंकृत हो जाती है। पर मि० कपूर उससे प्रेम नहीं करते हैं क्योंकि वे विवाहित हैं। वह मुनीश की ओर बढ़ती है मगर पंकज-हृदयी मि० कपूर बराबर उसके मन को भटका रहे हैं और एक दिन इस विचार के साथ कि अभी तो पंकज के जिस्म का एक टुकड़ा जीवित है, और भी टुकड़े जी सकते थे और तब वह कहाँ-कहाँ जाती, वह कपूर से मुक्ति पा लेती है ! सेक्स, अनियन्त्रित भोग, यौन-पवित्रता के विरुद्ध बगावत, देह-व्यापार और विवाह को नकार नयी कहानी के वे आयाम हैं जो आधुनिकता के पर्याय हैं। इस मास 'हिन्दुस्तान' में 'प्रेमिका' (जितेन्द्र कुमार), 'सारिका' में 'सहजयोग' (भालचन्द्र ओझा), 'आवेश' में 'चीख' (अवधनारायण सिंह), 'नयी कहानियाँ' में 'पोस्टमार्टम' (गंगाप्रसाद मिश्र) और 'लहर' में 'टुकड़े-टुकड़े' (राजेन्द्रकुमार वर्मा) प्रकाशित कहानियाँ इसी का उद्घाटन करती हैं। इनके बीच 'कहानीकार' में प्रकाशित 'अन्धा जिस्म' (शम्भूनाथ मिश्र) जैसी कहानियाँ जिनमें स्व-पत्नी-प्रेम उभरता है भी धीरे-धीरे नयी कहानियों में स्थान बना रही हैं। परन्तु अद्भुत साहस आया है इपीडस काम्प्लेक्स के फार्मूले को फ़िट करने में अशोक आत्रेय की कहानी 'मेरे पिता की विजय' (सारिका) शीर्षक रचना में। सेक्स के बाद आधुनिकता की दूसरी दिशा है संत्रास, महानगरीय व्यर्थताबोध, अकेलेपन की अनुभूति और खोखलापन। इन्हीं अनुभूतियों को लेकर 'चेहरे' ('कल्पना' : गिरिराज किशोर) का कथानायक निरुद्देश्य सायकिलिंग कर रहा है। नगरबोध और आधुनिकता का गहरा नशा नयी पत्रिकाओं पर दिखाई पड़ रहा है। अ-कथा का झण्डा भी उन्हीं के हाथ में है। 'नागफनी' का पैंसठोत्तर कथा-विशेषांक भी इसी जुलाई में प्रकाशित हुआ है जिसमें ऊब, अनिश्चय, विद्रोही सन्दर्भ, टूटन और सेक्स छाया है। 'गल्प-भारती' और 'हस्ताक्षर' जैसी कहानी-पत्रिकाएँ नव-लेखन का प्रतिनिधित्व करने के लिए 'लड़की' को कहानियों के केन्द्र में रखना नहीं भूलती हैं।

तब सवाल रह जाता है गाँव का, भारतीय किसान के जीवन का। कुल-की-कुल नयी कहानी नगर-जीवन की हैं जिसका केन्द्रीय व्यक्तित्व है 'लड़की' ! उसके इर्दगिर्द काफी हाउस, रेस्तराँ, रोड, लान, कालेज, बस, केबिन, चाय, शराब, नियोनलाइट और फ्लेट आदि टँके हैं। बहुत दूर छूट गयी है हल-बैल और खेत-खलिहान की दुनिया ! कहीं पंचायत, विकास, ट्रेक्टर, पंपिंगसेट और

नये कृषि-विकास और बदलते ग्राम-जीवन की आहट नहीं। आज का कथाकार आधुनिक संत्रास-टूटन और तनावों को उभारता तो है पर क्या ये बातें मात्र नगरों में ही हैं ? क्या भारतीय जीवन नगर-जीवन का पर्याय हो गया है ? इस प्रश्न के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत समसामयिक कथा-साहित्य को देखकर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि देश के विशाल भू-भाग से कटा, नगरों में सिमटा अहंकेन्द्रित कथाकार किस प्रकार देश की असली बीहड़ समस्याओं से कतराया हुआ है।

परिशिष्ट–२

हिन्दी के चार श्रेष्ठ अनांचलिक उपन्यास जिनमें समकालीन लोक-जीवन रेखांकित हुआ है।

स्वतन्त्रता के बाद आयी आंचलिकता की लहर के बाद पुनः हिन्दी-कथा-साहित्य में ग्राम-जीवन की उपेक्षा का एक जबरदस्त दौर आया। परन्तु, सन्तोष की बात है कि विगत पाँच वर्षों के भीतर भारतीय लोक-जीवन को प्रतिष्ठित करने वाले हिन्दी के चार ऐसे श्रेष्ठ अनांचलिक उपन्यास युगपत् प्रकाशित हुए जिनमें नाना प्रकार की विसंगतियों और विडम्बनाओं में छटपटाती ग्रामात्मा की सही पहचान है। गाँव की पीड़ा क्या है ? आजादी के पश्चात दशक पर दशक बीतते गए और बावजूद विकासी यत्न के गाँव टूटते गये। वे नरक होते गए और भले आदमियों के लिए रहने लायक वे बनें, उनमें जीवन आए, इसकी सर्वप्रथम तीखी अकुलाहट 'अलग अलग वैतरणी' (डा० शिवप्रसाद सिंह) के प्रमुख पात्र विपिन में दिखाई पड़ती है। वह एक शिक्षित युवक है और राजनीतिक रास्तों से पृथक शुद्ध मानवीय स्तर पर और मानवीय प्रभावों की जकड़नों से गाँव को मुक्त कराने के लिए संघर्षरत होता है। ठीक यही पीड़ा डाक्टर विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के उपन्यास 'रीछ' (१९६७) और डा० रामदरश मिश्र की कृति 'जल टूटता हुआ' (१९६९) में है। 'रीछ' का नायक विमल साम्यवादी मार्ग से और 'जल टूटता हुआ' का नायक 'सतीश' गांधीवादी राह पर से गाँव की गलाजत को साफ करना चाहता है। चौथी कृति 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल) का साक्षी रंगनाथ अन्वेषण के मार्ग से गाँव की रिसती तह में प्रवेश करता है। सुधारयत्नों की विफलताओं ने उसे शुद्ध द्रष्टा बना दिया है। 'गाँव का क्या होगा ?' जैसी मार्मिक धड़कन विपिन और सतीश में सम्वेदनाओं की सघनता के कारण वाचिक रूप में प्रत्यक्ष है। ('अलग अलग वैतरणी' पृष्ठ ६८७ और 'जल टूटता हुआ' पृष्ठ ५७०) विमल में विक्षोभ और कड़वाहट अधिक है और उक्त पीड़ा उसकी प्रतिक्रियाओं में अभिव्यक्त होती है क्योंकि वह बार-बार नगर से टकराता है। रंगनाथ में उक्त पीड़ा की स्थिति अप्रत्यक्ष है। इसीलिए वह गाढ़ी होती गई है। इसका विस्फोट तब

होता है जब वह अन्त में भाग खड़ा होता है, यह सोचते हुए कि वह कहाँ लुटेरों के गिरोह में आ गया। गाँव के जड़, अन्ध परम्परित और गंवारनींतिक धक्के से उसके हितचेतकों का भाग खड़ा होना एक रोमांचक सत्य है। सतीश उखड़ गया, विमल शहीद हो गया, रंगनाथ भाग गया और उपन्यास के सभी भले पात्रों के पलायन पर विपिन ने भी गाँव छोड़कर नगर की शरण ले ली। इस प्रकार उपन्यासकारों ने गाँव के अनिश्चित भविष्य को गहरी अँधेरी पर्तों में डुबा दिया।

ये अँधेरी पर्तें 'अलग अलग वैतरणी' में बहुत स्पष्ट हैं। उसमें गाँधीवाद-साम्यवाद जैसा कहीं कोई आग्रह नहीं है और न ही किसी विशिष्ट शैली का व्यामोह है। बहुत सहज भाव से गाँव के असहज पात्रों और परिवर्तित स्थितियों के गठबन्धन से उत्पन्न उन अवरोधों का प्रस्तुतीकरण हुआ है जिनके रहते इन इकाइयों में न तो जनतांत्रिक भावना के विकास की सम्भावना शेष रह जाती है और न जीवन में सामान्य मानवीय स्तर की सुरक्षा हो पाती है। कृति में परम्परागत औपन्यासिक शिल्प को नयी ताजगी से प्रभविष्णु बनाया गया है। स्वतन्त्रता के बाद जो राजनीतिक ह्रास सामने आया और उसके बारे में जनसाधारण में जो तीखी अरुचि उत्पन्न हुई उसे देखते अच्छा हुआ कि अपना जीवन जीते ग्रामीणों पर कथाकार ने राजनीतिक रंग नहीं चढ़ाया। इससे उनका चेहरा साफ-साफ प्रकट हो जाता है। लेकिन ऐसा नहीं कि 'अलग अलग वैतरणी' में 'राजनीति' नहीं है। राजनीतिक चश्मे से ग्राम-जीवन को आकार देने का नहीं, उसमें समकालीन ग्राम-जीवन के माध्यम से राजनीतिक पहचान को प्रस्तुत करने का आग्रह लक्षित होता है। ग्रामीण प्रेम, संघर्ष, बिखराव, कुंठा-चित्र, नैतिक ह्रास, बुर्जुआ-पतन ऊब-उदासी, नपुंसकता, स्वार्थपरता पारिवारिक विघटन और विद्रोह को नगर बोधाश्रित 'आधुनिकता' के परिप्रेक्ष्य में रूपायित न करके शिवप्रसाद सिंह ने उनकी मौलिकता और विशिष्टता की रक्षा की है। यह और बात है कि उन स्थिति-चित्रों से अनायास 'आधुनिकता' रेखांकित और पारिभाषित होती चलती है। नगर की प्रतिक्रियात्मकता का पक्ष शून्य होने के कारण गाँव का अपना निजी और मौलिक रूप जो उभरा है और भारतीय किसान का जो 'अपना जीवन' कृति में चित्रांकित हुआ है वह अनेक अनेक समाजशास्त्रीय विश्लेषणशील निष्कर्षों की मूल्यवान संभावनाओं से सम्पृक्त है। आँचलिकता उपन्यासों में शिल्प-प्रधानता के कारण ग्राम-जीवन

का पक्ष वैचित्र्य-समायोजन में उलझ गया है और अपेक्षित गांभीर्य के अभाव में उनकी तरल रागात्मकता की झनकार भर शेष रह जाती है। स्वातंत्र्योत्तर ग्राम-जीवन में नव-परिवर्तित परिस्थितियों के दबाव से जो बदलाव आये हैं तथा पुरानी-नयी व्यवस्थाओं की जो टकराहट हुई है उसके यथातथ्य अंकन के लिए झटका देने वाला आंचलिक शिल्प कमजोर पड़ता है। अंचल विशेष के किसी अस्पर्शित आयाम की झाँकी लेकर मात्र चौंकने और अनुरंजित होने से कुछ अधिक परिष्कृत पाठकीय रुचि की माँग 'अलग अलग वैतरणी' जैसी कृतियाँ ही पूरी कर सकती हैं। एक पूर्ण गाँव और एक जिन्दा ग्रामांचल बिखराव के साथ भरपूर कसाव देकर इस कृति में उपस्थित किया गया। जमींदारी के बाद पंचायत के नये प्रोग्राम जो चुनाव चक्र के साथ अशिक्षित गाँव में सत्यानाशी बीज बोते है, बहुत सार्थक कोण से उठाए गये हैं तथा थोड़ा ही ध्यान देकर यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि किस प्रकार ग्राम-पंचायत और संयुक्तराष्ट्र संघ में सुदृढ़ स्वार्थ-पंक्तियों के आधार पर कोई अन्तर नहीं रह गया है! करैता की पंचायत में संयुक्तराष्ट्र-संघ के साथ आश्चर्य नहीं हमें उपन्यास में गाँधी, जवाहर और लोहिया आदि की झलक उसके पात्रों में मिलने लगे, अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्व घटनात्मकता में उभरने लगें। इकाई जब कहीं से ढीली-ढाली नहीं है तो प्रवृत्यात्मक स्तर पर वह समष्टि की झाँकी हो जाती है। गाँव में मात्र पिछड़ापन और अन्धविश्वास तथा गरीबी गँवार-वाद ही नहीं है, और भी बहुत कुछ है, ग्रामात्मा को विश्वात्मा से जोड़ कर यदि नहीं अंकित किया गया तो कृति का स्थायित्व संदिग्ध होगा। करैता के दर्जनों किसान परिवारों की बिखरी कहानियों में एकसूत्रता और उसके मुख्य कथा-केन्द्र के अन्वेषण क्रम से शिवप्रसाद सिंह ने विस्मृत व्यक्ति, परिवार और मानवता के सांस्कृतिक सूत्रों को गाँव के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस माध्यम में चरित्र भाषा और घटनाओं का संघटन सामंजस्य शिल्प की सफलता है। यह सब कुछ गाँव का है, शिवप्रसाद सिंह का नहीं और इसीलिए बहुत ताजा, बहुत मौलिक और बहुत हृदयावर्जक है।

डाक्टर विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की कृति 'रीछ' (१९६७) गाँव के एक प्रभविष्णु व्यक्तित्व के विकास के साथ जुड़े चतुर्मुखी राष्ट्र विकास और उसके अवरोधक गतानुगतिक असामाजिक तत्वों की कहानी है। भूमिका के अनुसार उपन्यास किसी 'मूल्य' और 'धारणा' की प्रतिबद्धता में लिपिबद्ध किया गया

है। साथ ही आन्तरिक स्तर पर हुए लोक-मानस के परिवर्तनों का आकलन हुआ है। यह आकलन पूँजीवाद के उच्छेद और साम्यवादी प्रचार से अंशतः जुड़ा हुआ है अतः इसे राजनीतिक उपन्यासों की कोटि में सरलता से स्थापित किया जा सकता है। प्रश्न है ग्राम-जीवन की पकड़ का। कथाकार इस संदर्भ में कथा को एक गहरी उठान देता है। शैशवकाल से ही विभिन्न प्रभावों के बीच विकसित होता एक प्रतिनिधि ग्रामीण व्यक्तित्व, उत्कट जिजीविषा और आत्म-निर्माण के प्रबल संकल्पों को कर्मठ करों से आकार देता विराट संभावनाओं के साथ उदित होता है और आत्म बलिदान पूर्ण अस्त के साथ ग्राम-विकास की एक प्रेरक कथा छोड़ जाता है। अध्ययन-भूख की शांति के लिये दौड़-दौड़ कर नगर में जाता है और समाज-सेवा की भूख उसे राजनीतिक कार्यकर्ता के स्तर पर बारम्बार गाँव में खींच लाती है। कथा-नायक विमल का कार्यक्षेत्र अपना निजी गाँव चाँदसी है। जहाँ एक उच्च अभिजात वंश में दो 'नम्बरी' हैं। वे पूँजीपति, महाजन, मुखिया, तानाशाह, सूदखोर, नम्बरदार और सब मिलाकर उपन्यासकार की भाषा में 'रीछ' हैं, जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र विकास के अवांछनीय अवरोधक प्रतिगामी तत्व हैं तथा इन्हीं से आजीवन संघर्षरत एक ग्राम-पुत्र का चरित्रांकन आलोच्य कृति में किया गया है। जिस लेखकीय ईमानदारी से विमल को सँवारा गया है उसे देखते कथाकार की प्रतिबद्धता यदि आड़े न आ गई होती, उससे आदर्शवादी बलिदान, बलिदान की भी आदर्शवादी परिणतियों में कथान्त अविश्वसनीय न हो गया होता तो 'रीछ' निस्संदेह एक अद्भुत कृति होती। कथाकार के द्वारा जिये, भोगे और झेले ग्राम-जीवन की तलवर्ती संवेदनाओं से पग-पग पर पाठकों की टकराहट होती है और उसकी जो एक भावात्मक तसवीर उभरती है वह सर्वथा नवीन होती है। आल्हा, रामायण और 'भारत-भारती' की प्रेरणाओं में सुगबुगाते जीवन्त ग्रामांचल को जिन स्वातंत्र्योत्तर सत्यानासी बनाम विकासी प्रवृत्तियों ने झकझोर कर तोड़ दिया उसकी बेजोड़ परख 'रीछ' की उपलब्धि है। कथाकार प्रतिबद्ध होकर कलम उठाता है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यास के पूर्वार्द्ध में उसके हाथ से कलम छूट जाती है और उसका जबरदस्त पात्र अपना निजी ग्राम-जीवन इस आवेग में जीता चलता है कि उसे अपनी धारणा, के अनुसार सहेजने-बटोरने में कथाकार को भारी परिश्रम करना पड़ता है। गाँव से नगर तक तना हुआ एक सामान्य किन्तु महत्वाकांक्षी युवा-जीवन अपने गाँव

को स्वर्ग बनाने के लिए जिन आंतरिक पीड़ाओं, अन्तरसंघर्षों और अवरोधों से गुजरता है, कथाकार उसकी सजीव संवेदना मन में जगा देता है। राजनीति गंध और संघर्ष-धूम की अरुचिकर कड़वाहट होते हुए भी नये गाँव की सही जलन के साक्षात्कार से कोई ऊब नहीं होती है।

अपने गाँव को सँवारने की पीड़ा सबसे अधिक डाक्टर रामदरश मिश्र की कृति 'जल टूटता हुआ' के नायक सतीश में है। 'रीछ' के नायक का संघर्ष बहिर्मुखी है जबकि यहाँ कथा नायक का वास्तविक संघर्षस्थल—उसका-मानस क्षेत्र है। डाक्टर मिश्र में ग्राम-जीवन के स्तर पर आधुनिकता की चुनौतियाँ स्वीकार करने और समस्याओं से सीधे साक्षात्कार की विशिष्टता है। इसका हल्का परिचय उनके उपन्यास 'पानी के प्राचीर' (१९६१) में मिला जिसमें स्वतन्त्रता-पूर्व के पच्चीस वर्ष राप्ती-अंचल की संघर्ष-गाथा के रूप में चित्रांकित है। कथाकार में गांधीवाद के प्रति एक प्रकार का व्यामोह-सा है। जिसकी प्रेरणा में प्रथम उपन्यास का नायक नीरू बचपन से लेकर युवावस्था तक स्वप्न-सिद्धि के लिए भटकता है। वह जिन जीवन-मूल्यों के लिए जूझता है वे स्वराज्य की मंजिल तक पहुँचते-पहुँचते पानी की प्राचीरों से घिरे दिखाई पड़ते हैं और कथाकार को यह विवशताओं का घेरा तोड़ने के लिए दूसरे उपन्यास 'जल टूटता हुआ' (१९६९) की सृष्टि करनी पड़ी। निःसंदेह इस कृति में जनतांत्रिक प्रयोग की विशाल पृष्ठभूमि को अपेक्षित समग्रता प्रदान की गई है। गाँव यहाँ तिवारीपुर गाँव नहीं एक महान भारत देश है जहाँ गाँधीवाद और समाजवाद का रचनात्मक स्तर पर समन्वय होने जा रहा है, जहाँ स्वराज्य पंचायत के मार्ग से उतरते-उतरते भटक जाता है और स्थितियाँ प्रतिगामी शक्तियों के प्रभाव में गड्डमगड्ड हो जाती हैं। स्वराज्य के बाद 'व्यक्ति' का स्थान 'समाज' ने ले लिया और मूल्यांकन की भाषा में 'मैं' का स्थान 'हम' ने ले लिया—कथाकार इस संदर्भ में एक अनुकूल मोड़ लेता है। कथा-साहित्य में, विशेषकर ग्रामभित्तिक उपन्यासों में कैसे यह आश्चर्यजनक परिवर्तन अनायास आ गया, यह लक्ष्य करने की बात है। न तो शिवप्रसादसिंह और न ही रामदरश मिश्र उपन्यास में किसी प्रमुख व्यक्ति की कहानी देते हैं अपितु इनमें सम्पूर्ण ग्राम इकाई की समवेत कथा चलती है। 'जल टूटता हुआ' भी व्यक्ति विशेष का नहीं समग्र गाँव की संघर्ष-गाथा है। पूर्व प्रकाशित उपन्यास से इसकी कड़ियाँ सुदृढ़ता के साथ जुड़ी हुई हैं। समग्रता-संक्रेन्दन दृष्टि से यह एक

क्लैसिकल उपन्यास बन जाता है। कथाकार ऋतु-सुलभ सहज उल्लास के बीच नये ग्रामांचल की पहचान प्रस्तुत करता है। पर कठोर यथार्थ की टकराहट में जहाँ जीवन-सौंदर्य का छोर छूट-छूट जाता है और स्वातन्त्र्योत्तर आशावादिता का दशक अन्त में मोहभंग की कुंठित अनुभूतियों में परिणत होता जाता है, तथा बहुमुखी विशाल योजनाओं के चलते विकाश के बाँध दरक रहे हैं, वहाँ 'जल टूटता हुआ' अपनी प्रतीकात्मकता में तिवारीपुर गाँव की कहानी न होकर स्वदेश-गाथा का समकालीन आलेखन बन जाता है। सत्य और न्याय के लिये लड़ने वाले का पराजित और आहत अहं किसी ओर से कोई आशा की किरण न देख कर अपने में सिमट जाता है और तब भी एक कचोट बराबर बनी रहती है, गाँव का क्या होगा? परपंची और ईश्वरीय न्याय को, गांधीवादी आशावादिता को एक सीमा तक उत्कर्ष मिलना स्वाभाविक था परन्तु अन्ततः स्वार्थान्ध प्रतिस्पर्द्धाओं का नेतृत्व का धुन्ध जो इतना बड़ा सत्य है, कथाकार कैसे नकार सकता है? लगभग तीन दर्जन ग्रामीण पात्रों की सृष्टि करके और समाज के सभी नये-पुराने स्तर आमने-सामने लाकर कथाकार ने प्रेमचन्द के बाद एक विशाल प्रयोग किया और उसे सफलता भी मिली।

उक्त तीनों उपन्यासों से सर्वथा भिन्न नवइयत वाला किन्तु आधारभूत विषय-वस्तु की दृष्टि से उनका ही पड़ोसी और सहधर्मी श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'राग दरबारी' (१९६९) है, इसे लेखक 'अनांचलिक' घोषित कर आगे बढ़ता है। आद्यन्त व्यंग्य-शैली का निर्वाह इसके शिल्प की अद्वितीयता है। शिवपालगंज गाँव में स्थित एक इन्टर कालेज और उसकी गन्दी राजनीति के परिप्रेक्ष्य में आज के अस्त-व्यस्त, मूल्यहीन और आदर्शच्युत राष्ट्रीय जीवन को कथाकार ने व्यंजित किया है। व्यंग्य का मुख्य लक्ष्य आधुनिक विकास है जो नेताशाही-नौकरशाही के दो पाटों में दम तोड़ रहा है। इस समस्त अवमूल्यन का द्रष्टा-भोक्ता बुद्धिजीवी रंगनाथ स्वयं रुग्ण-पीढ़ी का सदस्य है और उद्धत-पीढ़ी अथवा खोखली युवा विद्रोही पीढ़ी के कारनामे उसे स्तब्ध कर देते हैं। गाँव इस सीमा तक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और शैक्षिक-सांस्कृतिक व्याधियों से आक्रान्त है कि बुद्धिजीवियों के लिए यहाँ से पलायन के अतिरिक्त कोई मार्ग शेष नहीं रह जाता है। युवा-विद्रोह, नंगई, परोपजीविता, पीढ़ियों का संघर्ष, गुटबन्दी, उत्कोचवृत्ति, असुरक्षा; संस्थाजीविता, अस्वस्थ नेतृत्व, विघटन और हुल्लड़बाजी आदि जहाँ एक नए जीवन-मूल्य के रूप में पनप रही

हैं, वहाँ सामान्य जीवन की क्या परिकल्पना की जा सकती है ? व्यापक आक्रोश और तीखा विक्षोभ अभिव्यक्ति में व्यंग्य बन कर उतरता है। प्रश्न ग्राम-जीवन के प्रामाणिक चित्रण का तो भी बना रह जाता है। शिवपालगंज में सरकारी, अर्धसरकारी और गैरसरकारी 'गंजहे' तो दिखाई पड़ते हैं जो भ्रष्टाचार के नशे में धुत्त हैं पर कोई किसान नहीं दिखाई पड़ता है। पंचायत, कोआपरेटिव, भूदान की उठापटक में नगरदृष्टि प्रधान हो गई है। वास्तव में गाँव का आलेखन सामान्य जन-जीवन के रास्ते जुटा ही नहीं पाया है। समूचा अंकन कालेज जी गन्दी राजनीति के इर्द-गिर्द बुना गया है और बहुत कुछ मूल्यवान छोर छूट जाने पर भी जो आया है बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। करैता, चाँदसी और तिवारीपुर (क्रम से 'अलग-अलग वैतरणी', 'रीछ' और 'जल टूटता हुआ' के गाँव) नगर से दूर हैं परन्तु शिवपालगंज बहुत निकट है। इसीलिए नगर के धक्के बहुत साफ हैं और साथ ही 'आधुनिकता' के प्रभाव भी। श्रीलाल शुक्ल ने ग्रामगंधी कथा-साहित्य को विशिष्ट शिल्प की गरिमा दी। रामदरश मिश्र और विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का आग्रह शिल्प के प्रति लक्षित नहीं होता है, उनमें सहजता है। शिवप्रसादसिंह में सहजता के साथ मौलिक शिल्प प्रयोग है परन्तु वह कथ्य के साथ इस प्रकार समरस है कि कथा-रस के आस्वादन में अनजाने सहयोगी होता है। 'रागदरबारी' का शिल्प पाठकों का ध्यान पूरी तरह अपने में उलझाये रखता है और उसके माध्यम से उभरा ग्रामांकन भरपूर मनोरंजक होकर भी किंचित हलका हो जाता है। उसमें पूरे गाँव की वह भाषा नहीं जो उक्त तीन उपन्यासों में उभरी है। अनांचलिक होकर भी 'रागदरबारी' विशिष्ट आंचलिकता से ओतप्रोत है। ध्यानाकर्षी स्तर पर यह 'परती परिकथा' से जुड़ी कृति है। 'जल टूटता हुआ' और 'रीछ' में प्रेमचन्द का विकास है तथा 'अलग अलग वैतरणी' प्रेमचन्द और शरतचन्द्र की संयुक्त गमक से परिपूर्ण है। रंगनाथ के शिवपालगंज आगमन और वहाँ से ऊब कर उसके पलायन के बीच 'रागदरबारी' की प्रवेगमयी व्यंग्य-तरंगायित कथा की केन्द्रवर्ती समस्या उसके सम्पूर्ण माहौल का पतनशील प्रवृत्तियों के विषाक्त गुंजलक में जकड़ जाना है और इस संदर्भ में 'अलग अलग वैतरणी', 'रीछ' और 'जल टूटता हुआ' से इसकी कड़ियाँ अत्यन्त सुदृढ़ता के साथ जुड़ी हुई हैं। उसकी व्यथाग्नि तब उघड़ती है जब व्यंग्य-विनोद की राख ऊपर से झर जाती है।

भारत में लोकतांत्रिक प्रयोग के साथ उसकी खोखली-नींव का रहस्योद्-घाटन इन उपन्यासों में शिक्षा-संदर्भ में अधिकाँश हुआ है। 'रागदरबारी' का तो पूरा ठाट ही इसी पृष्ठभूमि पर आधारित है। 'जल टूटता हुआ' में मास्टर सुग्गन तिवारी के माध्यम से प्राइमरी टीचरों की भयग्रस्त दीन हीन स्थिति और हेडमास्टर पाठक जी के माध्यम से माध्यमिक स्कूलों का दिवालियापन चित्रांकित हुआ है। इस संदर्भ का मार्मिक आलेखन 'अलग-अलग वैतरणी' में हुआ है जो उपन्यास के भीतर एक और उपन्यास है। हेडमास्टर के रूप में जवाहरलाल की इमेज को कथाकार बहुत चोट पहुँचाता है। मास्टर शशिकांत जैसे-जैसे उखड़ता और टूटता जाता है 'व्यवस्था' के प्रति एक गम्भीर विक्षोभ-विद्रोह उसके मन के भीतर उमड़ता जाता है। जमींदारी प्रथा के प्रेत विद्यालयों में अड्डा जमाये हैं। इनकी प्रजातांत्रिक हिंसा को देखते राजतांत्रिक जमींदार बहुत भले लगते हैं। 'अलग-अलग वैतरणी' के जैपालसिंह और 'परती परिकथा' के जमींदार जित्तू में अन्तर है परन्तु एक स्तर पर अपने-अपने परि-वेश में वे ही हैं जो 'भले' हैं। अगली पीढ़ी ने बहुत शर्मनाक आदर्श उपस्थित किये। रागदरबारी के वैद्यजी और 'जल टूटता हुआ' के महीपसिंह जैसे 'जमींदार' तो कलंक हैं। जमींदारी संस्था की जड़ इतनी गहराई में थी कि वैधानिक रूप में उखड़ते-उखड़ते भी वह गाँव में जमी है। मनोभूमि के नवा-गत जमींदारों को उक्त उपन्यासों में ग्राम-विकास-बाधक तत्त्व के रूप में चित्रां-कित किया गया है। जमींदारी उन्मूलन के बाद उसका स्थानापन्न कार्यक्रम पंचायत राज के माध्यम में 'राजनीति' का प्रभाव पहुँचता है। 'जल टूटता हुआ' में गांधीवादी आदर्शों के माध्यम से इसे उपस्थित किया गया है, 'रीछ' में इसे शुद्ध राजनीतिक रूप दिया गया है, 'रागदरबारी' और 'अलग अलग वैतरणी' में पुराने घाघ जमींदार अपने छोटे आदमियों के कंधे पर यह बन्दूक रख कर शिकार करते हैं। 'रागदरबारी' का पंचायत-प्रकरण उसके बाह्य भ्रष्टाचारी स्वरूप का प्रोपेगण्डा है तो 'अलग अलग वैतरणी' में उसे आन्तरिक ग्रामनीतिक विकास के रूप में चित्रांकित किया गया है। गाँव में नैतिक पतन और पुंसत्वहीनता की ऐसी जर्दी छाई है कि कहीं से इनका रचनात्मक विरोध होता नहीं दीख रहा है। गाँव की युवाशक्ति छीज रही है। 'रागदरबारी' का रुप्पन ऊपर से जितना ही विद्रोही है, भीतर से उतना ही कायर है। 'रीछ' का विमल विद्रोही प्रखर होकर भी अपनी ही प्रेमिका मंजु की दृष्टि में नपुंसक

है। यह लड़की ऐसी है जो विमल ही नहीं समूचे देश के युवकों के मुँह पर एक जनखे से विवाह कर थप्पड़ लगाती है। कहती है, उसने ऐसा इसलिये किया कि इस देश का नवयुवक नपुंसक है। (पृष्ठ ३१८) शिवप्रसाद सिंह ने इस स्थिति को अपने उपन्यास में चित्रांकित करने के लिए कल्पू और पटनहिया भाभी की एक पूरी मार्मिक प्रासंगिक कथा की सृष्टि की जिसे पढ़कर यह जलता हुआ सवाल मन में उठे बिना नहीं रह सकता कि आखिर कल्पू को वैसा किसने बनाया? क्या यह गाँव के 'पिता' और 'हेडमास्टर' जैसे नामों की सही संस्थाओं की भद्दी दृष्टि नहीं हैं? और कल्पू की ही कतार में हरिया-सिरिया जैसे अन्यान्य नौजवान नहीं आ जाते हैं? प्रजातांत्रिक चेतना की उठान में गाँव के युवक यद्यपि 'दरोगा' जैसी संस्था के भय से मुक्त दिखाई पड़ते हैं और समय पड़ने पर उसे डाँट देते हैं, ('रीछ' पृष्ठ ४८१, 'जल टूटता हुआ' पृष्ठ २८९, 'अलग अलग वैतरणी' पृष्ठ ३७१) तथापि उनका आधुनिकतम विकसित रूप जो रुप्पन बाबू (रागदरबारी) के रूप में निखरा है, निराश ही करता है। वे थाने के सेवक-आलोचक के साथ दलाल भी सिद्ध होते हैं। शिवप्रसाद सिंह की कृति में गुडे जलूस निकालते हैं, 'गुण्डागर्दी नहीं चलेगी।' पूरे सामाजिक ढाँचे का खोखलापन किन्तु बिना हरिजनों के चित्रण के नहीं खुलता है। 'जल टूटता हुआ' में उनके सामाजिक और आर्थिक स्वरूप को उभारा गया है। 'अलग अलग वैतरणी' में इसके साथ ही उनके सांस्कृतिक रूप को भी निखारा गया है। शिवप्रसाद सिंह ने देवीधाम के मेले, मास्टर शशिकान्त की कहानी और कल्पू और पटनहिया भाभी की मर्म गाथा, जैसी स्वतन्त्र चित्रकथा की इकाइयों के रूप में करैता की चमटोल का भी एक बहुत विस्तृत और प्रभावशाली रूप प्रस्तुत किया है जो अपने आप में क्लैसिकल होकर आदर्शवादी भी हो गया है। व्यावहारिक और यथार्थ चित्र इस संदर्भ का उभरा है 'जल टूटता हुआ' में। सन् १९६७ में शिवप्रसाद सिंह का एक बहुत विचारक पात्र सरूप भगत कहता है कि किसी राजपूत-ब्राह्मण की लड़की का हरिजन से प्रेम क्यों नहीं हो जाता है? (पृष्ठ ५७७) तो सन् १९६९ में रामदरश मिश्र के एक ब्राह्मण पात्र की युवती कुमारी कन्या अपने युवा हलवाहे को अपना शरीर सौंपती दृष्टिगोचर होती है। (पृष्ठ ३५०) और तब लगता है कि समय शायद बहुत तेजी से बदल रहा है।

●

लेखकानुक्रमणिका

य

र

ल

व

पुस्तकानुक्रमणिका